शब्दों की वेदी अनुभव का दीप

आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

मुनि दुलहराज

मूल्य ◇ आठ रुपये
प्रथम सस्करण ◇ १६७१
प्रकाशक ◇ कमलेश चतुर्वेदी,
प्रबधक
आदर्श साहित्य सघ, चूरू (राजस्थान)
सहयोगी ◇ श्री राजमल भँवरलाल सकलेचा, बगलौर
मुद्रक ◇ राममूर्ति अग्रवाल,
भारती प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२

SHABDON KI VEDI, ANUBHAV KA DEEP Muni Dulah Raj

प्रस्तावना

'अनाश्रया न शोभन्ते, पण्डिता वनिता लता —' सस्कृत साहित्य की प्राचीन मान्यता है कि पडित, वनिता और लता—ये सव निराश्रित होकर शोभित नही होते। ये आश्रय के सहारे वढते है, विकसित होते हैं। लताए मौन है अत उनके लिए आज भी वह सत्य वदला नही है। वनिताए स्वाश्रय होने को उत्सुक हैं और विश्व के कई अचलो मे हो चुकी हैं, आज पडित भी पराश्रित नही है।

स्वाश्रित और पराश्रित ये सापेक्ष अभिव्यक्तिया हैं। परपरागत आश्रय से मुक्त होने का अर्थ है पराश्रित न होना और नए आश्रय को स्वेच्छया स्वीकृत करने का अर्थ है, स्वाश्रित होना। कोई भी स्वाश्रित ऐसा नही है जो पराश्रित न हो और कोई भी पराश्रित ऐसा नही है जो स्वाश्रित न हो।

आचार्यश्री तुलसी ने आगम-दोहन के कार्य मे अनेक साधु-साध्वियो को व्यापृत और निष्णात किया है। उनका जीवन आगमाश्रित हो गया है। वे आगम के आश्रय के विना शोभित नही होते। उनमे एक मुनि दुलहराजजी हैं। वे प्रारभ से ही इस आगम-दोहन के कार्य मे प्रवृत्त हैं। उन्होने इसी कार्य से शक्ति अर्जित की है, और इसी कार्य मे उनका उपयोग किया है। शक्ति का अर्जन और उपयोग, फिर शक्ति का अर्जन और उपयोग—यह क्रम चलता रहता है।

पूज्यपाद ने लिखा है—

यथा यथा समायाति, सवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ।
तथा तथा न रोचन्ते, विषया सुलभा अपि ॥
यथा यथा न रोचन्ते, विषया सुलभा अपि ।
तथा तथा समायाति, सवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥

जैसे-जैसे उत्तम तत्त्व उपलब्ध होता है वैसे-वैसे विषयो के प्रति अनासक्ति होती है और जैसे-जैसे विषयो के प्रति अनासक्ति होती है वैसे-वैसे उत्तम तत्त्व उपलब्ध होता है। यह विकास का क्रम हर वस्तु पर घटित होता है। आगम-दोहन के कार्य से बहुश्रुतता मिटती है और बहुश्रुतता से आगम-दोहन के कार्य को गति मिलती है।

सामने कोई निश्चित लक्ष्य होता है तो अनायास ही आदमी बहुत जान लेता है। उस निमित्त के बिना उतना जानने का अवसर नही आता। प्रस्तुत पुस्तक मे जो विषयो की विविधता है, उसका निमित्त आगम-दोहन है। इस कार्य के लिए धर्म, दर्शन, राजनीति, आयुर्वेद, नीति आदि-आदि अनेक शाखाओ का अध्ययन अपेक्षित होता है। उसी अध्ययन-ज्योति के कुछ स्फुलिंग प्रस्तुत पुस्तक मे है। वे समय और चिंतन की विभिन्न धाराओ मे अभिव्यक्त हुए है। लेखक ने सहज सरल शैली और भाषा मे इन्हे अभिव्यक्ति दी है।

प्रस्तुत पुस्तक से पाठक को रुचि-परिष्कार और ज्ञान-परिवर्धन दोनो ही प्राप्त होगे।

रायपुर —मुनि नथमल

१५ ६ ७०

य | था | र्थ बो ध

- टेढो-मेढी एक रेखा खीची एक सफेद पन्ने पर।
- वह कुछ अजनबी-सी लगी आखो को।
- उसके पास दूसरी और तीसरी रेखा भी खीच ली।
- अब वहा एक चित्र अनायास ही उभर आया।
- वह उन रेखाओ के माध्यम से झाकने लगा और अमिट हो गया आखो मे।
- मैंने उसे शब्दो का परिधान पहनाया। वे उसके प्रत्येक अश की अभिव्यक्ति कर रहे थे।
- एक चित्रकार आया। योगी था वह।
- निष्कर्म योगी नही, सकर्म योगी।
- नाम और रूप मे उसकी अभिधा है मुनि नथमल।
- उसने तूलिका ली हाथ मे,
- चित्र-रेखाओ की यथार्थ सयोजना की।
- अब वह मूक चित्र स्वय बोलने लगा।
- हे आर्षप्राज्ञ!
- ज्ञान-दर्शन और चारित्र के युगपत् साधक!
- सरस्वती के वरद् पुत्र!
- आकाक्षा और आशसा से कोसो दूर रहकर समपण का मान बढाने वाले साधक!
- तुम्हारा शत-शत अभिनन्दन-अभिवन्दन।
- हम शब्द-चित्र हैं समर्पित।
- तुम्हारी इस अर्द्धशताब्दी के देदीप्यमान, विकासशील चरण-युगल मे।

—मुनि दुलहराज

रायपुर
अक्टूबर, १९७०

विवरणिका

१ महावीर उवाच

२ प्रेरक कथाए

३ विविधा

४ आगम-सम्पादन की दिशा मे

शब्दों की वेदी
अनुभव का दीप

महावीर उवाच

१

महावीर उवाच

वासना-विजय

महाभिनिष्क्रमण से पूर्व महावीर का शरीर गोशीर्ष आदि चन्दनो से तथा अन्य सुरभि चूर्णों से, सुगन्धित पुष्पो से तथा अन्यान्य द्रव्यो से सुवासित किया गया। तदनन्तर उसे सुवासित जल से अभिषिक्त किया गया। भगवान् के शरीर से सुगन्ध की लपटें उठती और अपने आसपास के वातावरण को सुगन्धित बना देती। प्रव्रज्या के साढे चार मास तक यह गन्ध ज्यों की त्यों बनी रही।

कुण्डपुर के बाहर ज्ञातखण्ड उद्यान मे दीक्षा ग्रहण कर भगवान् कर्मार ग्राम की ओर चल पडे। गाव के बाहर एक उद्यान में प्रतिमा मे स्थित हो गए। शरीर की सुगन्ध से दूर-दूर के प्रदेश महक उठे। पुष्पित वनखडो को छोडकर भ्रमर अति दूर से वहा आये। दिव्य गन्ध से आकृष्ट हो भगवान् के सुकोमल शरीर को मृदु कुसुम समझकर बीधने लगे। कई भ्रमर गुनगुनाहट करते हुए मस्ताई मे शरीर से चिपकने लगे और कई भ्रमर मकरन्द को न पाकर रुष्ट हो अपने तीखे मुह से शरीर की चमडी को छेदकर खाने लगे। अपार वेदना हो रही थी परन्तु 'देहे दुक्ख महाफल' के विज्ञान को तत्त्वत जानने वाले भगवान् अकम्प और समभाव अवस्था मे खडे थे।

भगवान् भिक्षाचरी के लिए गाव मे जाते, तो अजितेन्द्रिय युवक सुगन्ध मे मूर्च्छित हो भगवान् के पीछे-पीछे फिरते और कहते—'मुने! हम भी गन्ध द्रव्य दें।' साधनारत भगवान् मौन रहते। तरुणो को यह अखरता। वे भगवान् को उपसर्ग उत्पन्न करते। उनको समभाव से सहते हुए भगवान् आगे चले चलते।

शारीरिक सौन्दय पर मुग्ध होकर स्त्रिया भगवान् से भोग की प्रार्थनाए करती, अनुनय-विनय करती और उनके अवयवो की नैसर्गिक सघटना पर मोहित हो जाती। स्थिरदृष्टि, ध्यानमग्न भगवान् मौन रहते। ललनाए कुपित हो जाती और नाना प्रकार से कष्ट देती।

वेदना-विजय

आस्थिक ग्राम का प्राचीन नाम 'वर्द्धमान' नगर था। मोराग सन्निवेश से विहार कर भगवान् अस्थिक ग्राम मे आए। वहा शूलपाणी का मन्दिर था। भगवान् ने वहाँ रहने के लिए स्वीकृति मागी। 'गाम' नामक व्यक्ति नगर का प्रधान था। उसने भगवान् से कहा—"मुनिवर्य! इस मन्दिर मे कोई रात्रिवास नही कर सकता क्योंकि शूलपाणि यहा रहने वाले प्राणी को (रात्रि मे) मार देता है। आप अन्यत्र स्थान की गवेषणा करें।" भगवान् ने कहा—"देवानुप्रिय! तुम मेरे जीवन-मरण की चिन्ता मत करो। मुझे यहा रहने की अनुज्ञा दो।" उसने अनुज्ञा दे दी। भगवान् एक कोने मे ठहरे और प्रतिमा अगीकार कर स्थित हो गये। रात्रि की वेला मे यक्ष ने भयकर अट्टहास किया। देवालय के बाहर एकत्रित लोग अत्यन्त भयाकुल हो गए। वहा उत्पल नामक पार्श्वापत्ययिक परिव्राजक रहता था। वह अष्टाग निमित्त का जानकार था। उसने अपने ज्ञान से भगवान् को जान लिया। उसे अधृति उत्पन्न हुई, परन्तु रात्रिवेला मे देवायतन मे जाना खतरे से खाली नही था। वे सब बाहर ही ठहरे। अट्टहास को सुनकर भगवान् अक्षुब्ध रहे। तब यक्ष ने हाथी, पिशाच, सर्प का रूप बनाकर उपसर्ग पैदा किए। पर भगवान् अकम्प रहे।

यक्ष का क्रोध बढा। उसने भगवान् के शरीर मे मस्तक वेदना, नासा वेदना, दत वेदना, कर्ण वेदना, अक्षि वेदना, नख वेदना, पृष्ठ वेदना आदि सात मरणान्तिक वेदनाए उत्पन्न की।

वे वेदनाए इतनी तीव्र थी कि साधारण मनुष्य तो एक-एक वेदना

से ही मृत्यु को प्राप्त हो जाय। भगवान् उत्कृष्ट धृति म स्थिर थे। इस प्रकार तीन प्रहर तक भगवान् को अत्यन्त कठोर उपसग सहने पडे। चौथे प्रहर मे एक मुहूर्त मात्र नीद आयी।

पाच प्रतिज्ञाए

भगवान् विहार करते-करते मोराग-सन्निवेश मे गए। वहा 'दुइज्जत' नामक तापस का आश्रम था। उनके कुलपति भगवान् के पिता के मित्र थे। उन्होने भगवान् का स्वागत किया और प्रथम वर्षावास वही व्यतीत करने के लिए प्रार्थना की। आठ ऋतुबद्ध महीनो तक ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भगवान् चातुर्मास के लिए पुन वहा आए। एक 'उटज' मे ठहरे। उस वर्ष वहा अकाल पडा। घास के अभाव मे आश्रम की गायें उटज के पुराने घास को खाने लगी। तापस गायो का निग्रह करते परन्तु भगवान् कुछ नही करते। तापसो को यह अखरा। वे कुलपति के पास गए और सारा वृत्तान्त कह सुनाया। कुलपति भगवान् के पास आए और बोले—"कुमारवर्य! आप जानते ही हैं कि पक्षी भी अपने-अपने घोसलो की रक्षा करते हैं। आपको भी अपने निवासस्थान की रक्षा करनी चाहिए।" भगवान् ने सुना। वहा रहते उन्हे पन्द्रह दिन हो गए थे। 'यह अप्रीतिकर स्थान है'—ऐसा जानकर वहा से चातुर्मास के मध्य मे ही अन्यत्र चले गए। भगवान् ने पाच अभिग्रह किए

१ आज से मैं अप्रीतिकर स्थान मे नही रहूगा।
२ आज से मैं व्युत्सृष्ट-व्यक्त देह होकर विहरण करूगा।
३ आज से मैं मौन रहूगा।
४ आज से मैं अपने हाथो को ही पात्र बनाकर भोजन करूगा।
५ आज स मैं किसी भी गृहस्थ को वन्दन नही करूगा और न उनके सत्कार मे खडा ही होऊगा।

नन्द-उपनन्द

भगवान् ब्रभणगाम नगर मे आए। गोशाला साथ मे था। वहा नन्द तथा उपनन्द दो भाई रहते थे। उस ग्राम के दो पाडे (भाग) थे। एक भाग नन्द के अधीन था, दूसरा उपनन्द के। भगवान् महावीर नन्द पाडे मे नन्द के घर गए। नन्द ने भगवान् को आहार आदि से प्रतिलाभित किया। गोशाला उपनन्द के पाडे मे उपनन्द के घर गया और भिक्षा की याचना की। भिक्षा तैयार नही थी। तब उपनन्द ने बासी चावल देने चाहे। गोशाला ने उन्हे लेने से इनकार कर दिया। उपनन्द को यह उचित नही लगा। उसने अपनी दासी से कहा—"जा, तू इन चावलो को उसी भिक्षुक के ऊपर डाल दे।" दासी ने वैसा ही किया। इस व्यवहार से गोशाला कुपित हो गया। आखें लाल करता हुआ वह बोला—"यदि मेरे धर्माचार्य का कोई तेज या तपस्या का बल है तो इसका घर जलकर भस्म हो जाए।" पास मे ही एक वाणव्यन्तर देव का आयतन था। देवता ने यह जाना। उसने सोचा, भगवान् का तेज अन्यथा न हो। उपनन्द का घर जल गया। घर-वालो ने गोशाला को बहुत बुरा भला-कहा, वह भयभीत होता हुआ भगवान् के पास शीघ्र ही आ गया।

नियति

भगवान् गोशाला के साथ 'सुवर्ण खलय' ग्राम की ओर जा रहे थे। रास्ते मे कई ग्वाले 'खीर' बनाने का उपक्रम कर रहे थे। उनके पास गायो का दूध तथा नये तन्दुल थे। गोशाला ने यह देखा। उसने भगवान् से कहा—'भगवन्! आज यहीं भोजन करें।' भगवान् ने कहा—'यह खीर नही बनेगी। बर्तन फूट जाएगा और खीर जमीन पर गिर जाएगी।' गोशाला को भगवान् के वचन पर विश्वास नही हुआ। वह ग्वालो के पास गया और उनसे कहा—'तीन काल के ज्ञाता ने कहा है कि खीर का यह

पात्र फूट जायगा। अत तुम इसकी सुरक्षा के लिए प्रयत्न करो।' ग्वालो ने पात्र को बास के पत्रो से बाधकर अग्नि पर चढा दिया और उसमे बहुत सारे चावल डाले। कुछ समय बाद अति चावलो से वह पात्र फूट गया। खीर नीचे गिर गई। ग्वालो ने कुछ-कुछ आस्वाद लिया। गोशाला को कुछ नहीं मिला। नियति पर उसका विश्वास दृढ हो गया।

गोशाला

ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भगवान् महावीर चम्पा नगरी मे पधारे। तीसरा वर्षावास यही व्यतीत करने का निश्चय कर लिया। भगवान् सदा तपस्या को प्रधानता देते। इस वर्षावास में दो-दो मास की तपस्या करने का निश्चय किया। तपस्या मे ध्यान और ध्यान मे उत्कटुक आसन से भगवान स्थित थे। प्रथम दो मास बीते। पारणा हुआ। दूसरे दो मास की तपस्या पूर्ण हुई। पारणा चम्पा की बाहिरिका मे किया। वहा से भगवान् 'कालाय' सन्निवेश मे पधारे। एक शून्य गृह मे ठहरे। गोशाला साथ था। भगवान् एकान्त मे जा ध्यान मे लीन हो गए। गोशाला द्वार पथ पर बैठ गया। उसी नगर का सिंह नामक श्रेष्ठी पुत्र अपनी गोष्ठया दासी के साथ रमण करने वहा आया। सर्वप्रथम उसने शून्य गृह को ध्यान से देखा कि कोई भीतर तो नहीं है। भगवान् तथा गोशाला उसे नही दीखे। गोशाला ने उन्हे क्रीडा करते देख लिया। जब वह रमण कर जाने लगा तब गोशाला ने कहा—छी-छी! सिंह को क्रोध आया। उसने गोशाला को खूब पीटा। वह भगवान् के पास गया और कहा—'भगवन्! लोग मुझे पीटते हैं, आप उसका निषेध नहीं करते।' भगवान् ने कहा—'तू सयम क्यो नही रखता? उपयुक्त स्थान को छोडकर बाहर क्यो बैठा रहता है?'

चक्रवर्ती महावीर

सुरभिपुर के पास वाली गगा नदी को पार कर भगवान् 'थूणाग' सन्निवेश की ओर आगे बढे। नदी के तट की चिकनी मिट्टी मे भगवान् के पैरो की रेखाए उत्कीर्ण हुई। पूष नामक सामुद्रिक शास्त्री ने रेखाओ को देखकर सोचा—'यह चक्रवर्ती होगा। एकाकी है। मैं इसकी इस कुमार अवस्था मे उपासना करू। आगे चलकर यह सेवा मेरे लिए लाभप्रद होगी।' वह भगवान् के पास गया। भगवान् प्रतिमा मे स्थित थे। भगवान् को देखकर उसने सोचा—'मेरा ज्ञान निरर्थक है। क्या इन रेखाओ से युक्त व्यक्ति अकिचन श्रमण हो सकता है? चलो, ऐसी विद्या से मुझे क्या?' इतने मे ही देवराज इन्द्र वहा आए। भगवान् की स्तवना कर पूष से कहा—'तुम लक्षण विद्या नही जानते। यह महात्मा अपरिमित लक्षण वाला है। इसके आभ्यन्तर लक्षण भिन्न हैं। शास्त्रवाणी कभी झूठी नही होती। तुम्हारा यह अनुमान कि यह चक्रवर्ती होगा, सही है। यह पुण्यात्मा धर्म-तीर्थ का चक्रवर्ती है। देवेन्द्र और नरेन्द्रो से पूजित है।' सामुद्रिक शास्त्री पूष को सन्तोष हुआ। अपने ज्ञान की अविकलता पर उसे हर्ष हुआ और वह भगवान् के अतिशयो की मन-ही-मन प्रशसा करता हुआ आगे बढ चला।

नौका मे महावीर

भगवान् 'सुरभिपुर' ग्राम मे पधारे। वहा गगा नदी को पार करने के लिए एक नौका मे बैठे। अन्यान्य लोग भी उसमे बैठे। 'सिद्धयात्र' नामक नाविक नौका खे रहा था। उस नौका मे 'खेमलक' नामक व्यक्ति शकुन शास्त्र का पारगत विद्वान् भी था। नौका चली।

खेमलक ने कहा—'शकुन के अनुसार नाव मे बैठे हुए हम सब व्यक्तियो की मृत्यु होगी। किन्तु हमारे मध्य मे बैठे हुए इन महान् ऋषि के प्रभाव से

हम जीवित रह सकेंगे।' नौका कुछ आगे बढी। इधर देव नागकुमार के राजा सुन्द्रष्टा ने भगवान् को नौका मे बैठे हुए देखा। पूर्वजन्म का वैर उभर आया। उसने भगवान् से बदला लेना चाहा। (पूर्वजन्म मे यह नागकुमार एक सिह था और भगवान् ने अपने पूर्वजन्म मे जब वासुदेव थे, तब उस सिह को मारा था।) आवेग बढा। नागकुमार देव ने नदी मे सवतक वायु की विकुर्वणा कर नौका को उलटना चाहा, परन्तु उसका प्रयत्न सफल नही हुआ। कम्बल सम्बल नामक नागकुमार देव वहा आए। सुन्द्रष्टा को उपसर्ग करने से रोका। सविधि नदी को पार कर भगवान् नौका से उतरे। ईर्यापथ का प्रतिक्रमण कर आगे चले।

चार प्रकार के पुरुष

भगवान् ने कहा—देवानुप्रियो! मनुष्य चार प्रकार के होते है

१ उदित-उदित

२ उदित-अस्तमित

३ अस्तमित-उदित

४ अस्तमित-अस्तमित

जिनका जीवन प्रारम्भ से अन्त तक उदित रहता है वे उदित-उदित हैं। जैसे—भरत चक्रवर्ती।

भरत ने अपने जीवन के प्रारम्भ मे चक्रवर्ती के सुख भोगे, इसलिए उनका जीवन उदित था और अन्त मे भावना की पवित्रता से वे मुक्त हुए अत अन्त मे भी वे उदित ही रहे। इस प्रकार वे उदित-उदित थे।

जिनका जीवन प्रारभ मे उदित रहता है और अन्त मे अस्तमित हो जाता है, वे उदित-अस्तमित हैं। जैसे—ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती।

ब्रह्मदत्त ने जीवन के प्रारम्भ मे चक्रवर्ती के सुख भोगे किन्तु अन्तत नरक मे जाना पडा। अत वह उदित-अस्तमित था।

जिनका जीवन प्रारम्भ मे अस्तमित रहता है और अन्त मे उदित हो

जाता है, वे अस्तमित-उदित हैं। जैसे—हरिकेशी चाण्डाल।

हरिकेशी जन्मना चाण्डाल थे। इसलिए उनका जीवन प्रारम्भ से अस्त-मित था परन्तु बाद में भागवती दीक्षा ग्रहण कर वे मुक्त हुए। तब उनका जीवन उदित हुआ। इस तरह वे अस्तमित-उदित थे।

जिनका जीवन प्रारंभ में अस्तमित रहता है और अन्त में भी अस्तमित हो जाता है, वे अस्तमित-अस्तमित हैं। जैसे—कालसौकरिक कसाई।

कालसौकरिक प्रारम्भ से ही कसाई का कार्य करता था और मरने के पश्चात् नरक में गया। अतः वह अस्तमित-अस्तमित था।

एक अभ्यर्थना

भगवन्! जिसने विसर्जन को सब कुछ माना वह तेरे से कुछ मांगे यह नहीं होना। विसर्जन में आनन्द है, सजन में दुःख। मैं देता ही चलू, प्रत्यादान की भावना को भूल जाऊं—यही शान्ति का मार्ग है।

भगवन्! तुम्हारी स्मृति मात्र से हृदय में आनन्द की लहरें उछलने लगती हैं। तुम्हारा जीवन अन्तर्-चेतना का प्रतीक था। पग-पग पर कला की स्फुट अभिव्यक्ति होती थी। तुमने केवल जीवन का ही पथ प्रशस्त नहीं किया अपितु मृत्यु की अनन्त शृंखला पर भी विजय पा ली। तुम्हारी कष्ट-सहिष्णुता को पढ़-सुनकर सारा वपु रोमांचित हो उठता है। 'देहे दुक्खं महाफलम्' के तुम साक्षात् अन्वेष्टा थे। देह का मोह बन्धन का कारण है, यह तुमने जाना और उसका उत्कर्ष आदर्श सामने रखा।

तुम महान् थे—इसलिए नहीं कि तुमने हमें जीवन-दर्शन दिया परन्तु इसलिए कि तुम स्वयं जीवन-दर्शन बन गए। तुम आदर्श का पाठ पढ़ाते-पढ़ाते स्वयं आदर्श बन गए। कला की अभिव्यक्ति करते-करते स्वयं अभि-रूपणीय कला बन गए। तुम्हारी आत्मा से परमात्मा बनाने की कला की अभिव्यंजना आज भी रह-रहकर याद आ रही है।

परन्तु देव! आज देश कुछ बदला-सा प्रतीत होता है। उसमें अब नव-

चेतना नही रही। वह जीता है तो केवल एक आधार पर कि उसका अतीत समुज्ज्वल रहा है। अतीत के गीत मधुर होते हैं परन्तु उसके रटन मात्र से वर्तमान सुधरता नही। अत वर्तमान, अतीत या भविष्य का ऋणी नही है। उसका अपना अस्तित्व है। वर्तमान जब अतीत से प्रेरित होकर अनागत को पकडता है तब उसमे चाकचिक्य पैदा होता है—वह अपने को 'सत्य शिव सुन्दर' के रूप मे प्रकट करता हुआ आगे बढता है। तब वही अतीत और अनागत बन जाता है।

विष क्या है ?

भगवान् विहार करते-करते चम्पापुरी आ पहुचे। धर्म-देशना समाप्त हो चुकी थी। एक जिज्ञासु श्रमणोपासक ने पूछा—"आर्यदेव ! साधु के लिए विष क्या है ?"

भगवान् ने कहा—"विभूषा, स्त्री-ससर्ग और प्रणीतरस का भोजन ही विष है।

विभूषा से काम, काम से सम्मोह और सम्मोह से ज्ञान का नाश होता है।

स्त्री-ससर्ग ब्रह्मचर्य का घातक है। ब्रह्मचर्य के नाश से चरित्र का नाश होता है और चरित्र नष्ट होते ही सारा जीवन अस्तव्यस्त हो जाता है।

प्रणीतरस के भोजन से विकार उत्पन्न होता है। ज्यो-ज्यो सरस अहार खाया जाता है, त्यो-त्यो लोलुपता बढती है—गृद्धि से अब्रह्मचर्य-सेवन की भावना बनती है और अब्रह्मचर्य सेवन से सर्वनाश हो जाता है।

विभूषा, स्त्री-ससर्ग और प्रणीतरस भोजन ऐसा विष है, जो केवल एक ही जन्म मे नही, जन्म-जन्मान्तर तक अपना प्रभाव दिखाता है—मारता रहता है—यह तालपुट विष है।

विभूषा इत्थि ससग्गो पणीय रस भोयण।
नरस्सत्त गवेसिस्स,विस तालउड जहा ॥—दशवैकालिक ८।५६॥

काम-राग-निवारण का उपाय

भगवान् महावीर राजगृह के उपनगर नालन्दा मे समवसृत थे। शहर के वहि मर्गि के उद्यान मे धर्मदेशना का प्रवन्ध था। हजारो धर्मानुरागरक्त धर्मोपासक निर्ग्रन्थ-प्रवचन को सुन अपने-अपने आवासो की ओर लौट चुके थे। साधुओ की परिषद् जुडी। सभी के लिए जिज्ञासुओ के समाधान का एकमात्र केन्द्र निर्ग्रन्थ-ज्ञान पुत्र ही तो थे। एक श्रमण ने आगे आ, विधिवत् वन्दन कर, वद्धाजलि हो पूछा—देवाधिदेव ! हमने सयम जीवन ग्रहण किया है, महाव्रतो को आजीवन पालन करना हमारा सकल्प है। परन्तु जन सम्पर्क या अन्यान्य कारणो से मन सयम से बाहर निकल जाय तो हम क्या करें ? काम-राग-निवारण का सफल उपाय क्या है ? यही जिज्ञासा है हमारी।

भगवान् ने कहा—काम-राग-निवारण के लिए भेद-ज्ञान का आलम्बन लो। यह सोचो 'न सा मह नोवि अहवितीसे'— 'वह मेरी नही है और न मैं ही उसका हू।' आतापन लो, कष्ट-सहिष्णु वनो, सुकुमारता को छोडो, कामनाओ का अतिक्रमण करो, दोपो को छेद डालो, राग-द्वेप को छोड दो—यही काम-राग-निवारण का उत्तम मार्ग है।

आयावयाही चय सोगमल्ल, कामे कमाही कमिय खु दुक्ख।
छिंदाहि दोस विणएज्ज राग, एव सुही होहिसि सपराए॥

—दशवैकालिक २।५॥

श्रुत क्यो ?

भगवान् महावीर से पूछा गया—भगवन् ! श्रुत क्यो सीखना चाहिए ?

भगवान् ने कहा—आयुष्मन् ! पाच कारणो से श्रुत सीखना चाहिए

(१) ज्ञान के लिए, (२) दर्शन के लिए, (३) चारित्र के लिए, (४) कदाग्रह का अन्त करने के लिए और (५) यथार्थ भावो को जानन

के लिए।

आयुष्मन् !

ज्ञान से हेय और उपादेय का विवेक होता है।

दर्शन से श्रद्धा दृढ़ होती है।

चारित्र से प्रतिरोधात्मक शक्ति का विकास होता है।

कदाग्रह का अन्त करने से समभाव की वृत्ति पनपती है।

यथार्थ भावों को जानने से गन्तव्य-पथ प्रशस्त हो जाता है।

पर्चाहि ठाणेहि सुत्त सिक्खेज्जा—

णाणट्ठयाए, दसणट्ठयाए, चरित्तट्ठयाए, वुग्गहविमोयणट्ठयाए, अहत्थे वा भावे जाणिस्सामीति कट्टु।

श्रुत की वाचना

एक व्यक्ति जिज्ञासाओं से भरे हृदय को लिए गुरु के पास आया और गुरु से श्रुत की वाचना देने के लिए प्रार्थना की। गुरु ने कहा—

—आयुष्मन् ! श्रुत की वाचना हर एक को नही दी जा सकती। इसके लिए पात्रता चाहिए।

—भगवन् ! यह कैसे ?

—आयुष्मन् ! चार व्यक्ति वाचना पाने के योग्य नही होते।

—वे कौन से, भगवन् ?

—आयुष्मन् ! जो अविनीत हो।

जो विकृति प्रतिबद्ध हो।

जो कलह को उपशान्त करने वाला न हो।

जो मायावी हो।

—भगवन् ! श्रुत की वाचना पाने के योग्य कौन हैं ?

—आयुष्मन् ! जो विनीत हो।

जो विकृति प्रतिबद्ध न हो।

जो कलह को उपशान्त करने वाला हो।
जो अमायावी हो।

पलिमंथू

किसी ने भगवान् महावीर से पूछा—भगवन् ! पलिमथू (विरोध) कितने प्रकार के होते हैं ?

भगवान् ने कहा—आयुष्मन ! पलिमथू छह प्रकार का होता है

१ कुचेष्टा—प्रमाद।
२ मुखरता।
३ चक्षु की लोलुपता।
४ तिन्तिनिकता।
५ अतिलोभ।
६ भिद्या-निदान करण।

आयुष्मन् !

कुचेष्टा सयम का पलिमथू है।
मुखरता सत्य वचन का पलिमथू है।
चक्षु की लोलुपता ईर्या पथ का पलिमथू है।
तिन्तिनिकता एषणा गोचर का पलिमथू है।
अतिलोभ मोक्ष मार्ग का पलिमथू है।
भिद्या-निदान करण मोक्ष मार्ग का पलिमथू है।

प्रश्न समाधान

राजगृह से विहार कर भगवान् महावीर चम्पापुरी पधारे। सघ के बहुत से साधु-साध्वी वहा एकत्रित थे। सभी जिज्ञासु मुमुक्ष अपनी-अपनी शकाओ का समाधान पा रहे थे। एक नवदीक्षित साधु ने विनम्रता से पूछा—आर्यदेव ! अहिंसा क्या है ?

—आर्य ! 'सव्व भूएसु सजम'—प्राणी मात्र मे सयम-समता रखना ही अहिंसा है।

—भगवन् ! अहिंसा क्यो ? इसका व्यावहारिक पक्ष क्या है ?

—आर्य ! सभी प्राणी जीना चाहते हैं, मरना कोई नही चाहता।[1] यही अहिंसा का व्यावहारिक पक्ष है।

—भगवन् ! अहिंसा का पारमार्थिक पहलू क्या है ?

—आर्य ! हिंसा से आत्मा का घात होता है, पतन होता है। इसीलिए अहिंसा का पालन अनिवार्य है—यही इसका पारमार्थिक पहलू है।

भगवान् महावीर राजगृह मे समवसृत थे। हजारो व्यक्ति दर्शनार्थ आ-जा रहे थे। एक परिव्राजक ने पूछा—भगवन् ! साधु का स्वरूप क्या है ?

भगवान् ने कहा—आर्य ! जो मोक्षाभिलाषी है, जिसकी समस्त कामनाए मिट चुकी हैं, वह साधु है।

—भगवन् ! यह ठीक है। दीक्षित होनेवाले मोक्षाभिलाषी होते ही हैं—उनकी कामनाए भी अल्प होती है। तो क्या गृह त्याग करने वाले सभी साधु ही हैं ?

—आर्य ! ऐसा नही है। जो सम्यग् ज्ञान और दर्शन के धारक है, जो सयम और तपस्या मे निरन्तर रत रहते हैं, वे ही सही माने मे साधु हैं। असाधु को साधु मानना मिथ्यात्व है, पाप है।

भगवान् चले जा रहे थे—उग्र विहार उनके जीवन का एक अग था। चिलचिलाती धूप मे शिष्यो के कण्ठ सूख रहे थे। सभी तितिक्षा से आगे

---

१ सव्वे जीवावि इच्छति, जीविउ न मरिज्जउ (दशवैकालिक ६।१०)

वढ रहे थे। रास्ते मे दाहिने पार्श्व मे एक तालाव दीखा। पानी की लहरें दोनो तटो के वीच टकराकर अनन्त मे विलीन हो जाती थी।

एक शिष्य ने पूछा—भगवन् ! यह पानी सजीव (सचित्त) है या निर्जीव (अचित्त) ?

भगवान् अनन्त-ज्ञानी थे। वे सव कुछ जानते थे। उन्होंने कहा—आर्य ! यह पानी निर्जीव है।

—भगवन् ! इसे हम पी लें ?

—नही ! मेरी आज्ञा नही है।

—ऐसा क्यो ?

भगवान्—शिष्यो ! तुम जानते नही, आज यदि मैं तुम्हे इस पानी को पीने की आज्ञा देता हू, तो भविष्य के लिए यह एक नई परम्परा वन जायगी। अनागत काल के साधु-साध्वी इसका प्रयोग करने लगेंगे। छद्मस्थता के कारण वे सजीव और निर्जीव का भेद नही कर सकेंगे। इस अनर्थ से वचने के लिए ही मैं तुम्हे आज्ञा नही दे सकता।

शिष्यो ने 'तहत वचन' कहकर आज्ञा शिरोधार्य की।

उन दिनो ज्ञात पुत्र भगवान् महावीर राजगृह के उद्यान मे स्थित थे। प्रवचन समाप्त हो चुका था। शिष्य गाव के अनेक पाडो मे से भिक्षा लेकर लौट आए थे। एक शिष्य ने भगवान् को वन्दन कर वद्धाजलि हो, पूछा—भगवन् ! हम शहर मे जाते है। सामुदायिक भिक्षा के निमित्त हम उच्चावच घरो मे भिक्षा के लिए घूमते हैं। वहा राजा, राजामात्य (मन्त्री, सेनापति आदि), सेठ आदि हमसे हमारा आचार गोचर पूछते है—उन्हे हम क्या उत्तर दें ?

—आर्य ! निग्रन्थ प्रवचन विनय मूल है। प्रवचन की लघुतादि की सम्भावना के कारण जहा-तहा खडे रहकर गृहस्थो से सभापण की आज्ञा नही है। गुरु या स्थविर जहा स्थिर हो, वही पर समाधान ढूढने को उन्हे कहना चाहिए।

२

प्रेरक कथाएँ

अपराधी कौन ?

लगभग दो सौ वर्ष पुरानी बात है। पंजाब के किसी गांव में प्रवचन—चालू था। लोग आ-जा रहे थे। बड़े-बूढ़े, नर-नारी, हरिजन-महाजन सभी प्रवचन सुनने में लीन थे। एक स्त्री आयी। दूर से ही यथावत् वन्दन कर एक ओर बैठ गई। प्रवचन पूरा हुआ। सब अपने-अपने घर की ओर चल पड़े। वह प्रवचनकर्ता मुनि के पास गई और विनम्र शब्दों में बोली—"गुरुदेव ! आप अशरण के शरण हैं, अत्राण के त्राण हैं। विधाता ने मुझे विधवा बना डाला। मेरे भाग्य फूट गए। विधवा नारी को अपने इस समाज में सुख कहां ? मैं दुखी हूं। धर्म में मेरी रुचि है। सारा समय धर्म-कार्यों में बीते, यही अभिलाषा है। परन्तु समाज इसमें भी बाधक बनता है। एक अर्ज है। मेरे घर आज आप गोचरी पधारें। भोजन-दान में मुझे कृतार्थ करें।"

गुरु—"बहन ! सुख-दुःख जीवन की अवस्थाएं हैं। वे बदलती रहती हैं। सुख में अपकर्ष और दुःख में दीनता न आए यही सुखद जीवन है। कर्मों का विपाक होता है। सुख-दुःख पैदा होते हैं। इसके लिए दूसरों को कोसना अज्ञान है। मैं बूढ़ा हो चला हूं। चल-फिर नहीं सकता। अपने शिष्य को गोचरी भेजूंगा।"

वह वहां से चली गई। उसका नाम सुशीला था। अभी वह पूरे यौवन में प्रवेश ही न कर पायी थी कि क्रूर काल ने उसके पति नरेन्द्र को उससे छीन लिया। वह अकेली थी। उसके इस घर में आने के बाद सास-ससुर और एक छोटी ननद—तीनों चल बसे थे। घर सम्पन्न था पर अकेली को जीवन दूभर-सा लगने लगा।

गुरु के आदेशानुसार तरुण मुनि छोटे-बड़े सभी घरों में मधुकरी वृत्ति से भोजन लेते हुए सुशीला के घर भी आ पहुंचे। मुनि-दर्शन से उसकी रोम-राशि भड़क उठी। सविधि भोजन लेने के लिए मुनि से आग्रह किया। यथोचित भोजन ले मुनि जाने लगे। उसने कहा—"गुरुदेव ! इतनी जल्दी क्यों करते हैं ? मुझ अभागिन से दो-चार बातें तो कर लें।"

मुनि—"अकेली बहन से बात करना मुनि को नहीं कल्पता।"

सुशीला—"किन्तु विधि और अपवाद दोनो साथ-साथ चलते है। वह विधि ही क्या जिसमे अपवाद न हो ? अस्तु, इन तर्कों से मेरा कोई सम्बन्ध नही। अपना प्रयोजन आपसे स्पष्ट कर दूं। आप देखते हैं मेरे माथे का यह सिन्दूर अभी सूखा नही है। यौवन की मादकता मुझमे पूर्ण रूप ले रही है। वासनाएँ उत्तरोत्तर बढती जा रही हैं। प्रेम अन्धा होता है, वह अवस्था नही देखता। फिर मेरी अवस्था भी तो उसके अनुकूल है। आप मे भी तरुणाई अगडाई ले रही है। बचपन मे दीक्षित हो जाने के कारण आप यौवन की सुखद मादकता को कैसे समझ सकते है ? मैं आपसे प्रणय की याचना करती हू।"

मुनि अवाक् रह गए। सामने देखा कि घर का द्वार भी बन्द है। उन्होने कहा—"बहन ! अपनी सज्ञा को सभालो। विवेकहीन बातें तुम्हें शोभा नही देती। दु ख मे व्यक्ति मान भूल जाता है। उसमे हिताहित का ज्ञान मन्द हो जाता है। सभलो, और अपनी चेतना को बटोरकर मूल स्वरूप मे आओ।"

सुशीला—"मुनिवर ! आपका उपदेश असामयिक है। जीवन सुख का आगार है, लेने वाला चाहिए। आखो से दिखाई पडने वाले सुखो को छोडकर परोक्ष के सुखो की लालसा नगण्य है। ऐहिक सुख इन्द्रिय-सापेक्ष हैं। उनका पूर्ण पाक यौवन मे होता है। खिलते यौवन को शारीरिक कष्टो मे गुजारना अव्वल दर्जे की मूर्खता है। आप विश्वास करें, मेरा कथन झूठा नही होगा। आप मेरी प्रार्थना स्वीकार करें।"

मुनि—"ओह ! कितनी विडम्बना ? अपनी कुत्सित भावना की पूर्ति के लिए सच्ची बात को भी झूठी ठहराने का प्रयत्न करती हो। किन्तु तुम्हें याद रहना चाहिए कि मैं मुनि हू। ब्रह्मचर्य मेरा सवस्व है। वह आत्मा का धर्म है। शरीर भौतिक है। वह भले ही नष्ट हो जाय किन्तु आत्म-गुण को मैं कलकित नहीं कर सकता।"

सुशीला—"आप इतने क्यो सकुचाते है ? यहा मेरे और आपके सिवाय कोई तीसरा व्यक्ति नही है। बात कोई जान भी नही पायेगा। और यदि आप मेरी कामना पूर्ण नहीं करते तो आप जानते हैं मैं आपके जीवन को कलकित कर दूगी। आप पर आरोप लगाऊगी। अभी चिल्ला-

कर लोगो को इकट्ठा कर लूगी। आप तब क्या करेंगे ? आरोप जीवन का अभिशाप है। आप सोचें और एक बार ..."

मुनि—"बहन ! तुम नही जानती, मुनि जीवन और मरण में कोई विशेष अन्तर नही समझता। आदर्श मृत्यु विशुद्ध जीवन की परिचारिका है। वह अप्रतिबद्ध है। आज नही तो कल मरना सबको पडेगा। फिर जीवन को कलकित करना तो मूर्खता ही है। मैं तुम्हे फिर समझाये देता हू, तुम हठ न करो, नही तो अनिष्ट हो जायेगा।"

किन्तु वह अपने आग्रह पर अडी हुई थी। मुनि ने देखा कि वह अपने निश्चय को नही बदलती। उन्होने अपना आत्मबल सभाला और अपने ही हाथों से अपनी जीभ को बाहर खीच धडाम से जमीन पर गिर पडे।

सुशीला हकबका गई। साहस बटोरकर मुनि के पास आयी। छाती पर हाथ रखा, नाडी देखी किन्तु प्राण-पखेरू उड गए थे। नाडी गतिहीन थी। हृदय की धडकन बन्द हो चुकी थी। उसने सोचा—'अब क्या होगा ? एक मुनि की हत्या ? हाय राम ! अब मैं क्या करू ? लोग मुझे क्या कहेगे ? मेरा जीवन कैसे बीतेगा ? हाय ! हाय !! अनर्थ हो गया।'

वह अपने घर के बगीचे में गई। चारो ओर सन्नाटा था। उसने एक गड्ढा खोदा। शव को उसमे गाडकर ऊपर मिट्टी थोप दी। कापती-कापती खडी हुई।

यह सब कुछ हुआ किन्तु सुशीला का अन्तरमन शान्त नही हो सका। वह मन ही मन अपने कार्य पर रोने लगी।

शाम हो गई। वृद्ध मुनि शिष्य की प्रतीक्षा मे बेचैन बैठे थे। थोडी-सी खडखडाहट से उन्हे शिष्य के आगमन की आशका होती। वे लकडी के सहारे उठते और नीचे झाककर देखते। किन्तु

उन्होने सोचा—'अजीब बात है। शिष्य को गए पाच-सात घटे हो गए। वह नही लौटा—क्यो ? क्या उसे किसी ने बहका तो नही लिया ? नही, नही, वह समझदार है। दूसरो के बहकाने में वह क्यो आए ? कही दुर्घटना-ग्रस्त तो नही हो गया ? कही मुनि-व्रतो से डरकर वह भाग तो नही गया ? नही-नही, वह कष्ट-सहिष्णु है। मैं उसे जानता हू। मुझ पर उसका अचल अनुराग है। वह मुझे छोडकर जा नही सकता। अभी आ

जाएगा।' इसी प्रकार सोच रहे थे कि दो-चार श्रावक वन्दनार्थ आ पहुंचे। उनसे मुनि ने सारी बात कह सुनाई।

कुछ ही समय मे सारे शहर मे शिष्य के गायब होने की बात फैल गई। सभी लोग तलाश मे लग गए। इधर-उधर दौड-धूप की। कोई स्टेशन की ओर गया तो कोई आसपास के गावो मे गया। किन्तु सब निराश होकर लौट आए।

शिष्य के न मिलने से वृद्ध मुनि को आघात-सा लगा। वे हाफते-हाफते उठे और खुद उसकी तलाश मे चले। दो-चार कदम आगे बढे होगे कि मूर्च्छित हो गिर पड़े। कुछ देर बाद उन्हे होश हुआ। उन्होने देखा, शिष्य तब तक भी नही आया है। वे निराश हो गए।

तीन वर्ष बीत गए। इधर शिष्य की चिन्ता गुरु को बेचैन किए हुए थी, उधर सुशीला को उसका अकृत्य नोच-नोचकर खा रहा था। वह जब एकान्त मे होती तब उसे वह कृत्य याद आ जाता और वह फूट-फूटकर रो पडती। सान्त्वना उसे तभी मिलती जब वह घटो अकेली रो-रोकर आसू बहा लेती। किन्तु उसका मन उसे दूसरी ओर प्रेरित कर रहा था। वह कहता—अपनी बात दूसरो से कह दो, दुःख हल्का हो जायेगा। वह कहती—'नही, ऐसा नही करूगी। यह खतरे का रास्ता है।' द्वन्द्व चलता रहा। कभी वह हारती तो कभी मन। आखिर उसने निश्चय किया कि वह अपनी बात गुरु के समक्ष रख देगी। इस विचार से वह काप उठी। भय और आशका का सचार हुआ। एक ओर जीवन का सम्मान और दूसरी ओर आत्मग्लानि। दोनो विचार उसको कुरेदने लगे किन्तु उसके दृढ निश्चय ने उसको उबार लिया।

प्रातःकाल नहा-धोकर वह गुरु-वन्दना के लिए घर से निकली। उन्हे वन्दन कर एक ओर बैठने लगी, गुरु ने पूछा—"बहन आज बहुत दिनो बाद आयी हो। क्या अपने पीहर चली गयी थी?" उसने लज्जित स्वर मे उत्तर दिया—"नही, वैसे ही नही आ सकी। आज आपसे कुछ निवेदन करने आयी हू।"

"कहो, क्या कहना चाहती हो?" गुरु ने कहा।

"सबके सामने नही, एकान्त मे कुछ कहूगी।"

-

गुरु ने अपने श्रावको को वहा से हट जाने को कहा। सब वहा से चले गए। गुरु को अकेले देख उसने कहा—"गुरुदेव, आज मैं अपने पाप का प्रायश्चित्त करूगी।"

गुरु—"कैसा पाप ?"

सुशीला—"बहुत बडा पाप, जिसके कहने से पहले ही दिल दो टुकडे हुआ जाता है। क्या आप मुझे क्षमा करेंगे ?"

गुरु—"हा-हा, कहो तो कैसा पाप किया है तुमने ?"

सुशीला—'आप अपने शिष्य को भूले नही होगे। मैंने उन्हे मार डाला। मैं हत्यारिन हू। आप मुझे प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करें।'

गुरु—"हूँ! क्या कह रही हो ? मेरे शिष्य को मार डाला ? क्यो ? मुझे विश्वास नही होता तुम्हारे वचन पर। कहो—साफ-साफ कहो। घबराओ नही, बहन।"

सुशीला—"मैं अपने पाप को छिपाकर दुगुना पाप करना नही चाहती। मैं नही जानती थी कि ऐसा अनर्थ हो जायेगा। सोचा था—मुनि है, पिघल जायेंगे। किन्तु देखते-देखते अनिष्ट हो गया।" उसने सारी घटना ज्यो की त्यो कह सुनाई, "गुरुदेव! मैं हत्यारिन हू। मुझे प्रायश्चित्त दें।"

गुरु—"अभागिन! तुमने वह पाप किया है जिससे छूटना आसान नही है। तुमने मुझे वह क्षति पहुचाई है जिसकी पूर्ति जीवनदान से भी नही होगी। तुमने मेरे जीवन को मौत मे परिणत कर दिया। किन्तु तुम प्रायश्चित्त करना चाहती हो ? कल आना। मुझे कुछ सोच लेने दो।"

सुशीला ने सुख की सास ली। वन्दन कर अपने घर की ओर चल पडी।

इधर गुरु के हृदय मे शिष्य की स्मृति ताजी हो गई। वे तिलमिला उठे। अपने गुरुत्व को भूल-से गए। उन्होने सोचा—'हाय! इस चाण्डालिनी ने मेरा सर्वस्व छीन लिया। मेरे फूले-फले बगीचे को इसने उजाड दिया। मै भी इसके जीवन मे आग लगाऊगा। तिल-तिल कर इसे जलाकर ही सुख की सास लूगा।'

गुरु ने षड्यन्त्र रचा। दूसरे दिन सुशीला समय पर वहा आ पहुची।

उसने वन्दन किया और एक अपराधी की भाति एक कोने मे खडी हो गई। गुरु ने कहा—"बहन ! मैं बूढा हू। सुनता कुछ कम हू। जोर-जोर से सारी बाते सुनाओ।"

सुशीला ने सरल-सहज भाव से सारी घटना कह सुनाई। बात पूरी होते ही पाच-छह व्यक्ति जिनको गुरु ने अपने पीछेवाले कमरे मे छिपा रखा था बाहर आए। सुशीला कुछ सहमी और सोचने लगी—शायद इन्होने मेरी सारी बात जान ली है।

गुरु ने कहा—"सुना तुमने ? इसने मेरे प्यारे शिष्य को मारा है, इसने मुझे लूटा है। यह समाज के उज्ज्वल मुख पर धब्बा है। इसे पूरा दण्ड मिलना चाहिए।"

सुशीला ने सोचा—'हाय ! यह क्या ? जिनको मैंने अपने मन की बात कही उन्होने भी मुझे धोखा दिया। जिस बेल पर फल लगते है वही उन्हे खाने लग जाय—यह कितना अन्याय है ? यदि मैं हत्या की बात इन्हे नही कहती तो ये भला कैसे जान पाते ? मैंने सरलता बरती, इन्होने वक्रता की। खैर, जो होना था सो हो चुका। मैं इसे भी एक प्रायश्चित्त समझकर सह लूगी।'

इधर उन व्यक्तियो ने कुछ सोचा, विचारा और कहने लगे—"गुरुदेव ! सुशीला ने आपके शिष्य की हत्या की है। यह पापिन है, दण्डनीय है। परन्तु आपने उससे भी ज्यादा पाप किया है। आपको उससे भी बडा दण्ड मिलना चाहिए।"

गुरु—"है ! यह क्या ? मैने पाप ? कैसा पाप ? क्या कह रहे हो ?"

लोग—"हॉ-हा, आपने पाप किया है। आज साय हम इसका निर्णय करेंगे।" सुशीला की ओर मुडकर उन्होने कहा—"बहन ! तुम साय आना।"

प्रवचन के विशाल मडप मे एक ओर गुरुजी बैठे है, दूसरी ओर हजारो लोगो की भीड लगी थी। सुशीला एक ओर आखे गाडे खडी थी। वे पाचो व्यक्ति वहा आए। सारे मडप मे सन्नाटा था। सबके मन मे कुतूहल था— 'क्या होगा ? क्यो आज हमे एकत्रित किया गया है ?' इन्ही शकाओ की

उधेडबुन मे सारे लगे हुए थे। गुरु ने सोचा—क्या भडाफोड होगा ? मैंने कोई गलती तो नही की। क्या होगा ?

शहर का एक मुख्य व्यक्ति उठा और ऊचे मच पर आकर बोलने लगा—"हम सदा से धर्म के अनुरागी रहे है। गुरु मे हमारी अटूट श्रद्धा रही है। परन्तु यह कहते हुए मुझे खेद होता है कि आज हमे अपनी श्रद्धा का केन्द्र-विन्दु बदलना पड रहा है। गुरु गभीर होते हैं। उनका उदर विशाल होता है। वडी से वडी बात वे पचा जाते हैं। दूसरो के मर्मों को वे प्रकाश मे नही लाते। कडवे-मीठे घूट वे प्रसन्नता से पी जाते हैं। किन्तु आज हमारे ये गुरु पथ से च्युत हो गए। वहन सुशीला उनसे अपने पाप का प्रायश्चित्त चाहती थी। गुरु ने षड्यन्त्र रचा। हमे छिपाकर इसकी सारी बात सुनाई। मर्म-प्रकाशन के ये अपराधी है। इन्हे दण्ड मिलना चाहिए।"

उपस्थित लोगो ने वक्ता का समथन किया और यह तय हुआ कि आज से वे उन्हें अपना गुरु नही मानेंगे। गुरु को होश हुआ। वे मन ही मन दु ख पाने लगे। अब क्या होता ? अवसर बीत चुका था।

सुशीला से उन लोगो ने कहा—"वहन ! तुमने भारी पाप किया है। उसका दण्ड भी तुम्हे मिल ही गया। प्रायश्चित्त हो चुका। घर जाओ और सुख से जीवन बिताओ।"

मर्म-प्रकाशन भी हत्या से कम नही है, यही इस आख्यायिका का रहस्य है।

अपराध और दण्ड

मिथिला के नरेश नमि अभिनिष्क्रमण कर रहे थे। नगरी की सारी जनता शोकाकुल थी। नमि प्रव्रज्या-ग्रहण के लिए उपस्थित हुए। इन्द्र ब्राह्मण का रूप बनाकर और नमि के वैराग्य की परीक्षा करने उपस्थित हुआ।

इन्द्र ने कहा—"महाराज ! आप प्रव्रजित हो रहे हैं। इससे पूर्व क्या

उसने वन्दन किया और एक शरणार्थी की भाति एक कोने में खड़ी हो गई। गुरु ने कहा—"बहन ! मैं बड़ा हूं। सुनता कुछ कम हूं। जोर-जोर से सारी बातें सुनाओ।"

सुशीला ने सरल-सहज भाव से सारी घटना कह सुनाई। बात पूरी होते ही पाच-छह व्यक्ति जिनको गुरु ने अपने पीछेवाले कमरे में छिपा रखा था बाहर आए। सुशीला कुछ सहमी और सोचने लगी—शायद इन्होंने मेरी सारी बात जान ली है।

गुरु ने कहा—"सुना तुमने ? इसने मेरे प्यारे शिष्य को मारा है, इसने मुझे लूटा है। यह समाज के उज्ज्वल मुख पर धब्बा है। इसे पूरा दण्ड मिलना चाहिए।"

सुशीला ने सोचा—'हाय ! यह क्या ? जिनको मैंने अपने मन की बात कही उन्होंने भी मुझे धोखा दिया। जिस बेल पर फल लगते हैं वही उन्हें खाने लग जाए—यह कितना अन्याय है ? यदि मैं हत्या की बात इन्हें नहीं कहती तो ये भला कैसे जान पाते ? मैंने सरलता बरती, इन्होंने वक्रता की। खैर जो होना था सो हो चुका। मैं इसे भी एक प्रायश्चित्त समझकर सह लूंगी।'

इधर उन व्यक्तियों ने कुछ सोचा, विचारा और कहने लगे—"गुरुदेव ! सुशीला ने आपके शिष्य की हत्या की है। यह पापिन है, दण्डनीय है। परन्तु आपने इससे भी ज्यादा पाप किया है। आपको इससे भी बड़ा दण्ड मिलना चाहिए।"

गुरु—"हैं ! यह क्या ? मैंने पाप ? कैसा पाप ? क्या कह रहे हो ?"

लोग—"हां-हां, आपने पाप किया है। आज सायं हम उसका निर्णय करेंगे।" सुशीला की ओर मुड़कर उन्होंने कहा—"बहन ! तुम सायं आना।"

प्रवचन के विशाल मंडप में एक ओर गुरुजी बैठे हैं, दूसरी ओर हजारों लोगों की भीड़ लगी थी। सुशीला एक ओर आंखें गाड़े खड़ी थी। वे पाचों व्यक्ति वहां आए। सारे मंडप में सन्नाटा था। सबके मन में कुतूहल था—'क्या होगा ? क्यों आज हमें एकत्रित किया गया है ?' इसी सवाल की

उधेड़बुन में सारे लगे हुए थे। गुरु ने सोचा—क्या भंडाफोड़ होगा ? मैंने कोई गलती तो नहीं की। क्या होगा ?

शहर का एक मुख्य व्यक्ति उठा और ऊँचे मंच पर आकर बोलने लगा—"हम सदा से धर्म के अनुरागी रहे हैं। गुरु में हमारी अटूट श्रद्धा रही है। परन्तु यह कहते हुए मुझे खेद होता है कि आज हमें अपनी श्रद्धा का केन्द्र-बिन्दु बदलना पड रहा है। गुरु गंभीर होते हैं। उनका उदर विशाल होता है। बड़ी से बड़ी बात वे पचा जाते हैं। दूसरों के मर्मों को वे प्रकाश में नहीं लाते। कड़वे-मीठे घूंट वे प्रसन्नता से पी जाते हैं। किन्तु आज हमारे ये गुरु पथ से च्युत हो गए। बहन सुशीला उनसे अपने पाप का प्रायश्चित्त चाहती थी। गुरु ने षड्यन्त्र रचा। हमें छिपाकर इसकी सारी बात सुनाई। मर्म-प्रकाशन के ये अपराधी हैं। इन्हें दण्ड मिलना चाहिए।"

उपस्थित लोगों ने वक्ता का समर्थन किया और यह तय हुआ कि आज से वे उन्हें अपना गुरु नहीं मानेंगे। गुरु को होश हुआ। वे मन ही मन दुःख पाने लगे। अब क्या होता ? अवसर बीत चुका था।

सुशीला से उन लोगों ने कहा—"बहन ! तुमने भारी पाप किया है। उसका दण्ड भी तुम्हें मिल ही गया। प्रायश्चित्त हो चुका। घर जाओ और सुख से जीवन बिताओ।"

मर्म-प्रकाशन भी हत्या से कम नहीं है, यही इस आख्यायिका का रहस्य है।

अपराध और दण्ड

मिथिला के नरेश नमि अभिनिष्क्रमण कर रहे थे। नगरी की सारी जनता शोकाकुल थी। नमि प्रव्रज्या-ग्रहण के लिए उपस्थित हुए। इन्द्र ब्राह्मण का रूप बनाकर और नमि के वैराग्य की परीक्षा करने उपस्थित हुआ।

इन्द्र ने कहा—"महाराज ! आप प्रव्रजित हो रहे हैं। इससे पूर्व क्या

यह आपका कर्तव्य नही हो जाता कि आप अपनी नगरी मे सुरक्षा के समस्त साधनो को जुटाकर फिर अभिनिष्क्रमण करते ?"

राजर्षि नमि ने कहा—"ब्राह्मण ! ससार का स्वरूप विचित्र-सा है। यहा बहुत बार मनुष्य 'मिथ्या-दण्ड' का प्रयोग करते है। जो अपराधी होते है, वे छूट जाते है और निरपराध व्यक्ति दण्डित होते हैं। ऐसी स्थिति मे सुरक्षा कैसी ?"

यह आगमकालीन एक प्रसग है। इसमे राजर्षि नमि ने एक शाश्वत सत्य को अनावृत किया है।

अच्छाई और बुराई, अपराध और अनपराव—ये सब आपेक्षिक तथ्य है। जहा अपेक्षा है, वहाँ व्यक्ति, क्षेत्र, काल और अपना मनोभाव उससे जुड जाते है। इस चतुर्विध सयोजन से एक सत्य को परखा जाता है। वहा वह सत्य अन्तिम सत्य नही रहता, आपेक्षिक बन जाता है। वहा उसकी कोई निश्चित इयत्ता नही होती, अत निष्कर्ष या परिणाम भी भिन्न-भिन्न होते है।

जो व्यक्ति धर्म-सघ मे है और यदि वह अपने सघ की मर्यादाओ की अवहेलना या अस्वीकार करता है तो वह अपराधी समझा जाता है। राज-नीति के क्षेत्र मे, अपने-अपने गुट के नियमो का अनादर या अस्वीकार अप-राध माना जाता है और सामाजिक क्षेत्र मे समाज की पारस्परिक नीतियो की अवहेलना अपराध समझा जाता है। क्षेत्रो की भिन्नताओ के कारण अपराधो के स्वरूप मे भी भिन्नता आ जाती है। इसी प्रकार काल और व्यक्ति के आधार पर भी अपराध की परिभाषा भिन्न-भिन्न होती है।

एक व्यक्ति छोटा या बडा अपराध करता है, किन्तु वह उतना वाक्पटु है कि अपने अपराध को छिपाकर, दूसरे के सिर मढ देता है। दूसरा व्यक्ति अपने बचाव मे सक्षम नही है। फिर भी वह अपने आपको निर्दोष घोषित करने के लिए अनेक प्रयत्न करता है परन्तु वह सफल नही होता। इसका कारण केवल यही नही कि अपराध करने वाला वाक्पटु है, परतु उसके साथ एक शक्ति काम करती है, जो अपनी नही है, अपने आश्रय की है, जिससे कि वह उस अपराध से छूट जाता है, और दूसरा व्यक्ति अपराध नही करने पर भी दण्डित होता है, क्योकि उनका सहयोगी इतना प्रबल और

शक्तिशाली नही है, तो इसका यह अर्थ हुआ कि अपराध को पोषण सहयोग से मिलता है। यदि सहयोग न हो तो अपराध अपनी मौत मर जाता है। वह पनप ही नही सकता।

एक प्रश्न होता है कि अपराध-रहित व्यक्ति दण्डित क्यो होता है ? इसके अनेक कारण है। उनमे एक है—अपने आपको खोकर भी दूसरे का प्रसन्न रखने की मनोवृत्ति और दूसरा है बुराई के प्रतिकार हेतु साहस का अभाव। ये दोनो कारण उसके सहजात नही हैं, परिस्थिति से उत्पन्न होते हैं। वह सोचता है—व्यवहार का पालन जीवन का अनिवार्य अग है, क्योकि प्रत्येक व्यक्ति का जीवन व्यावहारिक भूमिकाओ पर चलता है। व्यवहार की अपेक्षा कर वह मानसिक शान्ति बनाए नही रख सकता और जहा अशान्ति होती है, वहा उसके पदच्युत होने की आशका बनी ही रहती है। वह व्यवहार का पोषण करता है। उसमे अनेक व्यवहार उसकी विचारधारा से टकराते हैं, परन्तु वह उनमे अविचलित होते हुए, व्यवहार मे समझौता करता है—यह उसकी सैद्धान्तिक पराजय है, किन्तु व्यावहारिक विजय है। इस विजय के आलोक मे वह इतस्तत मित्र बनाते हुए एक सुन्दर व्यावहारिक जीवन की पृष्ठभूमि तैयार करता है और उसी पर बढ़ता चला जाता है। यह पद्धति एक मे नही, सबमे मात्रा-भेद से पायी जाती है। जब इसमे मात्रा का अतिरेक होता है, तब हम उसे चापलूस कह देते है और जब उचित मात्रा का निर्वाह नही होता, तब हम उसे उद्दण्ड कह देते है। मात्रा का सतुलन व्यावहारिक जीवन का मर्यादा-सूत्र है, और इसकी उपेक्षा नही करनी चाहिए।

परन्तु जब व्यक्ति दण्डित होता है, तब उनके विचार विद्रोह करते है और वह अपराध या अपराधी को अनावृत करने के लिए उतावला हो उठता है। इस आवेश का कभी कभी अत्यन्त दु खद अवसान होता है, परन्तु इसको रोकना अत्यन्त कठिन है। वह व्यक्ति यह सोचता है कि जब मैं अत्यन्त निर्दोष हू, तब दण्डित क्यो होऊ ? क्या यह मेरे स्वतत्र चैतन्य का अनादर नही है ? क्या मैं इस दण्ड को स्वीकार कर अपनी क्लीवता नही दिखा रहा हू ? क्या मैं प्रतिकार करने मे असमर्थ हू ? क्या नेता ने मुझे अपराधी समझकर दण्ड दिया है या मुझको अनपराधी समझते हुए भी किसी

दूसरे व्यक्ति के अपराध को मुझ पर मढकर, उसको बचाने के लिए, मुझे दण्डित किया है ? क्या मेरे प्रति कोई ऐसा वातावरण बनाकर मुझे अपमानित करने का तो यह उपक्रम नही है ? ऐसे ही अनेक प्रश्न उसके मन को कचोटते है और उसमे अव्यक्त विद्रोह की आग भभक उठती है, किन्तु असहाय होने के कारण वह उस आग मे तिल-तिल कर जलता है और तव तक जलता रहता है, जब तक कि उसे समाधान नही मिल जाता।

आज सारे सगठन इस तथ्य के साक्षी हैं। आज के सारे न्यायालय भी इसके अपवाद नही है। वे तर्क की धुरी पर घूमते हैं। वहाँ न्याय और अन्याय तर्क के कषोपल पर कसे जाते हैं। जिसका तर्क जितना प्रबल और शक्तिशाली होगा, वह जीत जाएगा, फिर चाहे वह झूठा ही क्यो न हो। यही व्यवहार का मार्ग है, इसे कोई झुठला नही सकता।

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि

ग्रामानुग्राम विचरते हुए भगवान् महावीर राजगृही मे पधारे। उद्यानपाल ने महाराज श्रेणिक को यह शुभ-सवाद दिया। राजा की चिराभिलाषित मनोभावना पूर्ण हुई। अपने कुटुम्ब को साथ ले वन्दनार्थ चला। हजारो सामन्त व नगर के सम्भ्रान्त व्यक्ति साथ थे।

जाते-जाते उसने देखा कि एक ओर महर्षि प्रसन्नचन्द्र ध्यान कर रहे है। वे अडोल थे। वन्दना करने को राजा उनके पास गया। उनकी ध्यानस्थ सौम्य-मुद्रा को देख राजा गद्‌गद् हो उठा। प्रेम मे विह्वल हो उसने कहा—"धन्य है आप। आपने ससार का पार पा लिया। धर्म-जागरिका मे आप सचेत है। आप प्रतिपल जागरूक हैं। परिषह सहने मे आप समर्थ है। आपको देख मेरे नेत्र अनिमेष हो रहे हैं। आज मैं धन्य हू।" श्रेणिक गुण-गान कर रहा था। मुनि मौन थे। श्रेणिक चला गया। मुनि मौन खडे थे। राजा के जाने के बाद कोई व्यक्ति वहाँ आया। मुनि को देख उसके हृदय मे द्वेष उमड आया। क्रोध से आखे लाल हो गई। वह

बोला, "रे जालिम ! ढोंग रचते तुझे शर्म नहीं आयी ! तू बहुत हो चुका अकर्मण्य ! शत्रुओं ने तेरे समस्त राज्य को अस्त-व्यस्त कर डाला है। तू भयभीत हो यहां साधु बना बैठा है। यह तेरे लिए शोभा नहीं देता। पुरुषत्व को संभाल। उठ, अपने बल-पराक्रम से शत्रुओं पर विजय पाने की चेष्टा कर। यदि कुछ और देरी हुई तो सर्वनाश हो जायगा। साधु-वेश को छोड दे, जल्दी उठ और अपना कर्तव्य संभाल।"

मुनि ध्यानस्थ थे। वे मौन खड़े थे। सभी बातें सुनी। ध्यान टूट गया। वे बोले नहीं। आर्तध्यान करने लगे। मन ही मन सोचा—'अरे ! यह क्या ? मुझे साधु हुए देख शत्रुओं ने राज्य हड़पना सरल मान लिया है। अकाल क्यों उन्हें मरने की लालसा हो रही है ? मैं साधु बना तो क्या ? मेरे जीवित रहते शत्रु मेरे राज्य पर अधिकार नहीं कर सकते। निर्दय शत्रुओं ने मेरे राज्य को नष्ट कर दिया। यह मेरे लिए असह्य है। मैं अभी वहां जाऊंगा और एक-एक कर सबको मृत्यु की गोद में भेज दूंगा। इसी प्रकार की कल्पनाओं में प्रसन्नचन्द्र राजर्षि अपने श्रामण्य को भूल गए। कल्पना कुछ आगे बढ़ी। मन ही मन संक्लिष्ट परिणामों का वेग बढ़ा। शत्रुओं पर चढ़ाई की। दण्डा-दण्डी लड़ने लगे।

प्रवचन चालू था। भगवान् देशना दे रहे थे। हजारों नर-नारी प्रवचन का आनन्द लूट रहे थे। समता का साम्राज्य था। प्रवचन पूरा हुआ। लोग अपने-अपने घर लौट गए। श्रेणिक भगवान् के पास आया। उसके मन में कौतूहल था। कुछ जिज्ञासाएँ थी। बद्धांजलि हो भगवान् से पूछा—भगवन् ! आप सर्वविद् हैं। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि घोर तपस्या कर रहे हैं। सुदुष्कर करणी कर रहे हैं। यदि इस अवस्था में उनका आयुष्य पूरा हो जाय तो वे किस गति में जा सकेंगे ?

भगवान्—पहली नरक में।

राजा—अरे ! यह क्या ? इतने घोर तपस्वी और पहली नरक ! यह कैसी संगति ? एक ओर तपस्या की उत्कृष्टता है, दूसरी ओर भगवद् वाणी की यथार्थता है। इतने घोर तपस्वी नरक में जाएँगे—यह विश्वास करने योग्य नहीं। परन्तु भगवद्वाणी भी तो अयथार्थ नहीं हो सकती। श्रद्धा और अविश्वास के झूले में वह झूलता रहा।

दूसरे व्यक्ति के अपराध को मुझ पर मढकर, उसको बचाने के लिए, मुझे दण्डित किया है ? क्या मेरे प्रति कोई ऐसा वातावरण बनाकर मुझे अपमानित करने का तो यह उपक्रम नही है ? ऐसे ही अनेक प्रश्न उसके मन को कचोटते है और उसमे अव्यक्त विद्रोह की आग भभक उठती है, किन्तु असहाय होने के कारण वह उस आग मे तिल-तिल कर जलता है और तब तक जलता रहता है, जब तक कि उसे समाधान नही मिल जाता।

आज सारे सगठन इस तथ्य के साक्षी हैं। आज के सारे न्यायालय भी इसके अपवाद नही है। वे तर्क की धुरी पर घूमते है। वहाँ न्याय और अन्याय तर्क के कषोपल पर कसे जाते हैं। जिसका तर्क जितना प्रबल और शक्तिशाली होगा, वह जीत जाएगा, फिर चाहे वह झूठा ही क्यो न हो। यही व्यवहार का मार्ग है, इसे कोई झुठला नही सकता।

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि

ग्रामानुग्राम विचरते हुए भगवान् महावीर राजगृही मे पधारे। उद्यानपाल ने महाराज श्रेणिक को यह शुभ-सवाद दिया। राजा की चिराभिलाषित मनोभावना पूर्ण हुई। अपने कुटुम्ब को साथ ले वन्दनार्थ चला। हजारो सामन्त व नगर के सम्भ्रान्त व्यक्ति साथ थे।

जाते-जाते उसने देखा कि एक ओर महर्षि प्रसन्नचन्द्र ध्यान कर रहे है। वे अडोल थे। वन्दना करने को राजा उनके पास गया। उनकी ध्यानस्थ सौम्य-मुद्रा को देख राजा गद्गद् हो उठा। प्रेम मे विह्वल हो उसने कहा—"धन्य है आप। आपने ससार का पार पा लिया। धर्म-जागरिका मे आप सचेत हैं। आप प्रतिपल जागरूक है। परिषह सहने मे आप समर्थ है। आपको देख मेरे नेत्र अनिमेष हो रहे हैं। आज मैं धन्य हू।" श्रेणिक गुण-गान कर रहा था। मुनि मौन थे। श्रेणिक चला गया। मुनि मौन खडे थे। राजा के जाने के बाद कोई व्यक्ति वहाँ आया। मुनि को देख उसके हृदय मे द्वेष उमड आया। क्रोध मे आखे लाल हो गई। वह

बोला, "रे जालिम ! ढोंग रचते तुझे शर्म नही आयी ! बस बहुत हो चुका, अकर्मण्य ! शत्रुओं ने तेरे समस्त राज्य को अस्त-व्यस्त कर डाला है। तू भयभीत हो यहा साधु बना बैठा है। यह तेरे लिए शोभा नही देता। पुरुषत्व को सभाल। उठ, अपने बल-पराक्रम से शत्रुओं पर विजय पाने की चेष्टा कर। यदि कुछ और देरी हुई तो सर्वनाश हो जायगा। साधु-वेश को छोड दे, जल्दी उठ और अपना कर्तव्य सभाल।"

मुनि ध्यानस्थ थे। वे मौन खडे थे। सभी बातें सुनी। ध्यान टूट गया। वे बोले नही। आर्तध्यान करने लगे। मन ही मन सोचा—'अरे ! यह क्या ? मुझे साधु हुए देख शत्रुओं ने राज्य हडपना सरल मान लिया है। अकाल क्यों उन्हें मरने की लालसा हो रही है ? मैं साधु बना तो क्या ? मेरे जीवित रहते शत्रु मेरे राज्य पर अधिकार नही कर सकते। निर्दय शत्रुओं ने मेरे राज्य को नष्ट कर दिया। यह मेरे लिए असह्य है। मैं अभी वहा जाऊगा और एक-एक कर सबको मृत्यु की गोद मे भेज दूगा। इसी प्रकार की कल्पनाओं मे प्रसन्नचन्द्र राजर्षि अपने श्रामण्य को भूल गए। कल्पना कुछ आगे बढी। मन ही मन सक्लिष्ट परिणामो का वेग बढा। शत्रुओं पर चढाई की। दण्डा-दण्डी लडने लगे।

प्रवचन चालू था। भगवान् देशना दे रहे थे। हजारो नर-नारी प्रवचन का आनन्द लूट रहे थे। समता का साम्राज्य था। प्रवचन पूरा हुआ। लोग अपने-अपने घर लौट गए। श्रेणिक भगवान् के पास आया। उसके मन मे कौतूहल था। कुछ जिज्ञासाएँ थी। बद्धाजलि हो भगवान् से पूछा—भगवन् ! आप सर्वविद् है। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि घोर तपस्या कर रहे हैं। सुदुष्कर करणी कर रहे हैं। यदि इस अवस्था मे उनका आयुष्य पूरा हो जाय तो वे किस गति मे जा सकेंगे ?

भगवान्—पहली नरक मे।

राजा—अरे ! यह क्या ? इतने घोर तपस्वी और पहली नरक ! यह कैसी भ्राति ? एक ओर तपस्या की उत्कृष्टता है, दूसरी ओर भगवद् वाणी की यथार्थता है। इतने घोर तपस्वी नरक मे जाएँगे—यह विश्वास करने योग्य नही। परन्तु भगवद्वाणी भी तो अयथार्थ नही हो सकती।

श्रद्धा और अविश्वास के झूले मे वह झूलता रहा।

आगे पूछा—भगवन, अब ?

भगवान्—दूसरे नरक मे।

उत्तर सुनते ही राजा सकपका गया। सोचा—यह क्या ? प्रश्न के साथ नरक-वृद्धि। प्रश्न किए ही क्यो जायें ? किन्तु प्रश्न विना रहा भी कैसे जाय ? फिर पूछा—भगवन्, अव ?

भगवान्—तीसरे नरक मे।

राजा का विस्मय वढा। फिर पूछा, फिर नरक-वृद्धि। ज्यो पूछना त्यो नरक-वृद्धि होती। छठे नरक पर्यन्त उत्तर सुन चुका था।

बद्धाजलि हो उसने पूछा—भगवन्! धृष्टता क्षमा करे। मन नही मानता कि ध्यानस्थ मुनि को यह गति सम्भाव्य है किन्तु आपके वचन भी तो अयथार्थ नही हो सकते। भगवन्! अव उनकी गति क्या होगी ?

भगवान्—सप्तम नरक मे।

राजा को कुछ तसल्ली हुई। जिज्ञासा बढी। उसने प्रश्नो का ताता लगा दिया। पूछने-पूछते नरको की परिसमाप्ति हो गई। हर्ष बढता गया। पुन पूछा—भगवान्, अव ?

भगवान्—प्रथम स्वर्ग मे।

—हाँ-हाँ, यह उचित है। प्रश्न आगे बडे। स्वर्गो की वात भी आगे बढी।

भगवान् ने कहा—राजन्! मुनि को केवल ज्ञान हो गया है। वे मुक्त हो गए। राजा ने सुना—वह किंकर्तव्यविमूढ वना भगवान् की मुखमुद्रा की ओर अनिमेष देखता ही रहा। उसने पूछा—भगवन! क्षमा करें। क्या मैं स्वप्न तो नही देख रहा हू ? यह क्या ? सप्तम नरक तक की स्थिति को पाने वाला मुनि कुछ ही क्षणो मे मुक्त हो जाय, यह कैसे ?

भगवान् ने कहा—राजन्! वात कुछ ऐसी ही है। तुम वन्दन कर जब वहा से आगे चल पडे तव किसी व्यक्ति ने महर्षि से कुछ अनगल वात कही। वात मुनि के हृदय मे लगी। ध्यान मे परिवर्तन हुआ। वे मन-ही-मन अपने शत्रुओ की अनिष्ट कल्पना करने लगे। लाखो को मार डाला। अध्यवसाय बुरे वनते गए। इतने मे ही एक व्यक्ति आया। मुनि की

वन्दना की, गुणगान किए। तपस्या के गुण गाये। मुनि सचेत हुए। उन्हे अपने श्रामण्य का भान हुआ। विचारो मे उथल-पुथल मची। सोचा, यह क्या-कर दिया मैंने? धिक्कार है मेरी आत्मा को! हाय, यदि इन अध्यवसायो मे मेरी मृत्यु हो जाती तो मेरी क्या गति होती? विचार उन्नत बनते गए। पवित्रता बढी। विचारो ही विचारो से जो नरक के भाव सचित किए थे, वे टूटने लगे। सारे टूट गए। होते-होते घातिकर्म चतुष्टय का क्षय हुआ। केवली बने और अघाति कर्मो के नष्ट होते ही मुक्त हो गए—यही उसकी कहानी है।

चार मित्र

किसी नगर मे चार मित्र रहते थे। उनमे घनिष्ठ मित्रता थी। एक बार वे इकट्ठे होकर बोले—बताओ, कौन कैसे जीता है?

राजकुमार ने कहा—मैं अपने पुण्य-बल से जीता हू।

मन्त्री-पुत्र ने कहा—मैं अपने बुद्धि-कौशल से जीता हू।

श्रेष्ठि-पुत्र ने कहा—मैं अपने सौन्दर्य के बल से जीता हू।

वणिक्-पुत्र ने कहा—मैं अपने चातुर्य के बल से जीता हू।

चारो ने यह निर्णय किया कि कही अन्यत्र जाकर इसकी परीक्षा की जाय।

वे चारो एक अज्ञात नगर मे पहुचे। वहा उन्हे कोई नही जानता था। वे एक उद्यान मे ठहरे। तीनो मित्रो ने वणिक्-पुत्र से कहा कि वह शीघ्र ही भोजन की व्यवस्था करे।

वणिक्-पुत्र बाजार मे गया और एक वृद्ध बनिये की दूकान पर जा पहुचा। उसकी दूकान पर ऐसे ही बहुत भीड रहती थी और सयोगवश उस दिन कोई उत्सव था। ग्राहको की इतनी भीड थी कि वह बनिया उसे निपटा नही सकता था। भीड बढती जा रही थी। बनिया हैरान था। वणिक्-पुत्र ने अच्छा अवसर देखा। वह दूकान के अन्दर आया और ग्राहको

को नमक, तेल, घृत, गुड आदि देने लगा। शाम को वनिये ने हिसाब मिलाया तो उसे बहुत लाभ हुआ। वह वणिक्-पुत्र से सन्तुष्ट हुआ और उसे भोजन का निमन्त्रण दिया। वणिक्-पुत्र ने कहा—'मेरे तीन साथी और हैं, मैं उनके बिना भोजन नहीं कर सकता।' वनिये ने उसके सभी साथियों को बुला भेजा। भोजन-ताम्बूल आदि से उनका सत्कार किया और वणिक्-पुत्र को पाच रुपये भेंट देकर सम्मानपूर्वक विदा किया।

दूसरे दिन श्रेष्ठि-पुत्र की बारी आयी। तीनो साथियों ने कहा कि आज भोजन की व्यवस्था तुम्हे करनी है। उसने अपना शृंगार किया और वहा से चला। सीधा वेश्याओं के मुहल्ले में पहुचा। वहा देवदत्ता नामक एक वेश्या रहती थी। वह पुरुषों से द्वेष करती थी। अनेक राजकुमार व श्रेष्ठि-पुत्र उसे पाने को लालायित रहते थे, परन्तु वह किसी के वश में नहीं आती थी। उसने श्रेष्ठि-पुत्र का रूप देखा, तो उस पर मोहित हो गई। उसने अपनी दासी को भेज उसे अपने घर बुला भेजा। वह वहा पहुचा। वेश्या ने भोजन करने के लिए आग्रह किया। उसने कहा—'मेरे तीन साथी उद्यान में बैठे हैं। उनके बिना मैं भोजन नहीं कर सकता।' वेश्या ने उन्हें भी बुला भेजा। भोजन आदि से उनका बहु-मान कर अपने मुख्य अतिथि श्रेष्ठि-पुत्र को सौ रुपये भेंट किए।

आज तीसरा दिन था। मन्त्री-पुत्र की आज बारी थी। भोजन की व्यवस्था उसे करनी थी। वह नगर में गया। जाते-जाते एक स्थान पर उसने लोगों की भीड देखी। जानने की उत्सुकता बढी। लोगों से पूछा। लोगों ने सारी बात बताई। वह न्यायालय था, वहा एक विचित्र मुकदमा चल रहा था, दो सौतों के बीच झगडा था। एक के एक बेटा था, दूसरी के नहीं। जिसके पुत्र नहीं था वह अपनी सौत के लड़के को बहुत प्यार करती थी, उसे स्नेह से खिलाती-पिलाती। बच्चा उससे इतना हिलमिल गया था कि वह अपनी मा के पास नहीं जाता था। सारे दिन वहीं खेलता। मा भी निश्चिन्त थी। उसके मन में कभी सन्देह नहीं हुआ।

कुछ दिन बीते। दोनों सौतों में कुछ अनबन हो गई। वह कहने लगी कि यह पुत्र मेरा है और दूसरी कहती—पुत्र मेरा है। झगड़ा बढ़ता गया। दोनों न्यायालय पहुची। उन्होंने अपनी सारी बात न्यायाधीश के सामने

रखी। न्यायाधीश किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। बहुत प्रयत्न करने पर भी वह नही जान सका कि बच्चे की असली माँ कौन है ?

मन्त्री-पुत्र वही खडा था। उसने सारी स्थिति जान ली। उसने न्यायाधीश से कहा—"यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं इसका फैसला करू।" न्यायाधीश यही चाहता था। उसने आदेश दे दिया।

मन्त्री-पुत्र ने दोनो स्त्रियो को अपने पास बुलाया और ताडना देते हुए कहा—"यदि तुम सच-सच नही बताओगी तो मैं अभी इस लडके के दो टुकडे कर दोनो को एक-एक टुकडा दे दूगा।" यह सुनते ही लडके की मा रोकर कहने लगी—"सरकार! मुझे मेरा पुत्र नही चाहिए। उसे मेरी सौत को दे दिया जाय। यदि वह जीता रहा तो मैं उसे देख तो लिया करूगी।" दूसरी सौत प्रसन्न हो रही थी। उसने सोचा कि जीत मेरी है किन्तु बात कुछ और ही हुई। मन्त्री-पुत्र ने न्यायाधीश से कहा कि यह लडके की असली मा है। न्यायाधीश बहुत प्रसन्न हुआ। उसने मन्त्री-पुत्र का सम्मान किया। उसके तीनो साथियो को अपने घर भोजन करवाया और उसे एक हजार रुपए दे सम्मानपूर्वक विदा किया।

चौथे दिन तीनो साथियो ने राजपुत्र से कहा कि वह अपने पुण्य-बल का परिचय दे। राजकुमार वहा से चला। उद्यान मे एक विशाल वृक्ष के नीचे बैठ गया।

सयोगवश उस दिन उस नगर के राजा की मृत्यु हो गई थी। उसके कोई पुत्र नही था। सामन्त मन्त्रियो ने सोचा, अब राजगद्दी पर किसे बिठाया जाय। उन्होने एक उपाय ढूढ निकाला। एक विशिष्ट घोडे को शृगारित कर, विधिवत् पूजा कर उसे नगर मे छोड दिया और कहा कि यह घोडा जिस व्यक्ति के पास जा हिनहिनायेगा, वही हमारा राजा होगा।

घोडा शहर के मुख्य मार्गों मे होता हुआ उद्यान मे जा पहुचा, जहा राजकुमार बैठा था। उसने उसके आसन पर पैर रखे और जोर-जोर से हिनहिनाने लगा। मन्त्रीगण आए। अपने भावी राजा को देख प्रसन्न हुए। विधिवत् उसे अपने नगर मे ले गए। राजपुरोहितो ने राज्याभिषेक किया। उसने अपने तीनो साथियो को बुला लिया। सब बडे आनन्द से रहने लगे।

को नमक, तेल, घृत, गुड आदि देने लगा। शाम को बनिये ने हिसाब मिलाया तो उसे बहुत लाभ हुआ। वह वणिक्-पुत्र से सन्तुष्ट हुआ और उसे भोजन का निमन्त्रण दिया। वणिक्-पुत्र ने कहा—'मेरे तीन साथी और है, मैं उनके बिना भोजन नहीं कर सकता।' बनिये ने उसके सभी साथियों को बुला भेजा। भोजन-ताम्बूल आदि से उनका सत्कार किया और वणिक्-पुत्र को पाच रुपये भेंट देकर सम्मानपूर्वक विदा किया।

दूसरे दिन श्रेष्ठि-पुत्र की बारी आयी। तीनों साथियों ने कहा कि आज भोजन की व्यवस्था तुम्हे करनी है। उसने अपना शृगार किया और वहा से चला। सीधा वेश्याओ के मुहल्ले मे पहुचा। वहा देवदत्ता नामक एक वेश्या रहती थी। वह पुरुषो से द्वेष करती थी। अनेक राजकुमार व श्रेष्ठि-पुत्र उसे पाने को लालायित रहते थे, परन्तु वह किसी के वश मे नही आती थी। उसने श्रेष्ठि-पुत्र का रूप देखा, तो उस पर मोहित हो गई। उसने अपनी दासी को भेज उसे अपने घर बुला भेजा। वह वहा पहुचा। वेश्या ने भोजन करने के लिए आग्रह किया। उसने कहा—'मेरे तीन साथी उद्यान मे बैठे है। उनके बिना मैं भोजन नही कर सकता।' वेश्या ने उन्हे भी बुला भेजा। भोजन आदि से उनका बहु-मान कर अपने मुख्य अतिथि श्रेष्ठि-पुत्र को सौ रुपये भेंट किए।

आज तीसरा दिन था। मन्त्री-पुत्र की आज बारी थी। भोजन की व्यवस्था उसे करनी थी। वह नगर मे गया। जाते-जाते एक स्थान पर उसने लोगो की भीड देखी। जानने की उत्सुकता बढी। लोगो से पूछा। लोगो ने सारी बात बताई। वह न्यायालय था, वहा एक विचित्र मुकदमा चल रहा था, दो सौतो के बीच झगडा था। एक के एक बेटा था, दूसरी के नही। जिसके पुत्र नही था वह अपनी सौत के लडके को बहुत प्यार करती थी, उसे स्नेह से खिलाती-पिलाती। बच्चा उससे इतना हिलमिल गया था कि वह अपनी मा के पास नही जाता था। सारे दिन वही रहता। मा भी निश्चिन्त थी। उसके मन मे कभी सन्देह नही हुआ।

कुछ दिन बीते। दोनो सौतो मे कुछ अनबन हो गई। वह कहने लगी कि यह पुत्र मेरा है और दूसरी कहती—पुत्र मेरा है। यह बढता गया। दोनो न्यायालय पहुची। उन्होने अपनी सारी बात न्यायाधीश के सामने

रखी। न्यायाधीश किंकर्तव्यविमूढ हो गया। बहुत प्रयत्न करने पर भी वह नही जान सका कि बच्चे की असली मां कौन है ?

मन्त्री-पुत्र वही खडा था। उसने सारी स्थिति जान ली। उसने न्यायाधीश से कहा—"यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं इसका फैसला करू।" न्यायाधीश यही चाहता था। उसने आदेश दे दिया।

मन्त्री-पुत्र ने दोनो स्त्रियो को अपने पास बुलाया और ताडना देते हुए कहा—"यदि तुम सच-सच नही बताओगी तो मैं अभी इस लडके के दो टुकडे कर दोनो को एक-एक टुकडा दे दूगा।" यह सुनते ही लडके की मा रोकर कहने लगी—"सरकार! मुझे मेरा पुत्र नही चाहिए। उसे मेरी सौत को दे दिया जाय। यदि वह जीता रहा तो मैं उसे देख तो लिया करूगी।" दूसरी सौत प्रसन्न हो रही थी। उसने सोचा कि जीत मेरी है किन्तु बात कुछ और ही हुई। मन्त्री-पुत्र ने न्यायाधीश से कहा कि यह लडके की असली मा है। न्यायाधीश बहुत प्रसन्न हुआ। उसने मन्त्री-पुत्र का सम्मान किया। उसके तीनों साथियो को अपने घर भोजन करवाया और उसे एक हजार रुपए दे सम्मानपूर्वक विदा किया।

चौथे दिन तीनो साथियो ने राजपुत्र से कहा कि वह अपने पुण्य-बल का परिचय दे। राजकुमार वहा से चला। उद्यान मे एक विशाल वृक्ष के नीचे बैठ गया।

सयोगवश उस दिन उस नगर के राजा की मृत्यु हो गई थी। उसके कोई पुत्र नही था। सामन्त मन्त्रियो ने सोचा, अब राजगद्दी पर किसे बिठाया जाय। उन्होंने एक उपाय ढूढ निकाला। एक विशिष्ट घोडे को शृगारित कर, विधिवत् पूजा कर उसे नगर मे छोड दिया और कहा कि यह घोडा जिस व्यक्ति के पास जा हिनहिनायेगा, वही हमारा राजा होगा।

घोडा शहर के मुख्य मार्गो से होता हुआ उद्यान मे जा पहुचा, जहा राजकुमार बैठा था। उसने उसके आसन पर पैर रखे और जोर-जोर से हिनहिनाने लगा। मन्त्रीगण आए। अपने भावी राजा को देख प्रसन्न हुए। विधिवत् उसे अपने नगर मे ले गए। राजपुरोहितो ने राज्याभिषेक किया। उसने अपने तीनो साथियो को बुला लिया। सब बडे आनन्द मे रहने लगे।

स्त्रियो की करतूते

पुराने ज़माने की बात है। बसन्तपुर नाम का नगर था। वहा धनदत्त नाम का एक सेठ रहता था। उसकी पुत्रवधू का नाम सुभद्रा था। वह प्रतिदिन स्नान करने नदी पर जाती थी। एक दिन वह स्नान कर रही थी कि श्रेष्ठि पुत्र देवदत्त ने उसे देख लिया। उसने कहा—

सुण्हाय ते पुच्छइ एस नदी पइरसो हिय तरगा।
एते च नदी रुक्खा अह च पादेमु ते पणतो॥

अर्थात्—हे देवी! प्रचुर तरगो वाली यह नदी तुझे पूछ रही है कि क्या तूने अच्छी तरह मे स्नान कर लिया? नदी के ये वृक्ष और मैं तुम्हारे चरणो मे प्रणत हू।

उसने उत्तर देते हुए कहा—

"सुहगा होतु नदी ओ चिर च जीवतु जे नदी रुक्खा।
सुण्हाय पुच्छमाण घत्ती हामो पिय काउ॥"

अर्थात्—कुमार! नदी सौभाग्यवती हो। ये नदी के वृक्ष चिरजीवी हो। सुस्नात ऐसा पूछने वालो को हम प्रिय मानकर ग्रहण करती हैं।

स्त्री के वचन सुनकर देवदत्त के दिल मे उससे मिलने की अभिलाषा उत्पन्न हुई। किन्तु वह उसका घर नही जानता था। पास मे ही एक वृक्ष के नीचे कई स्त्रियाँ बैठी थी। वह उनके पास गया। उनको बहुत से फल-फूल दिए और पूछा—वह स्त्री, जो अभी-अभी स्नान कर रही थी, कौन है? उन्होने कहा—वह धनदत्त सेठ की पुत्रवधू है और अमुक गली मे रहती है। वह उससे मिलना चाहता था। उसकी उत्कण्ठा बढी। एक दिन का भी विरह उसके लिए असह्य था।

देवदत्त वही एक वृक्ष के नीचे बैठ गया। इतने मे ही एक भिखारिन वहा आयी। वह भिक्षा चाहती थी। देवदत्त ने उसे कुछ फल दिए। वह सन्तुष्ट हुई। उसने कहा—मेरे योग्य कोई कार्य हो तो कहे। उसने कहा—धनदत्त सेठ की पुत्र-वधू से मैं मिलना चाहता हू। तुम उसको जाकर मेरा सम्वाद सुनाओ और प्रत्युत्तर मे जो कुछ वह कहे वह मुझे जल्दी सुना जाना। मैं तुम्हे पुरस्कार दूगा।

वह भिखारिन दौड़ी-दौड़ी सुभद्रा के यहां गई और उससे सारी बात कही। सुभद्रा उस समय कपड़े धो रही थी। भिखारिन की बात सुनते ही वह तिलमिला उठी। उसने अपने मसिलिप्त हाथों से एक चांटा मारा। भिखारिन के गाल पर उसकी पांचों अंगुलियां अंकित हो गईं। वह रोती-रोती कुमार के पास आयी और उससे कहा—"वह तो तुम्हारा नाम तक सुनना नहीं चाहती।" कुमार ने निःश्वास छोड़ते हुए कहा—"खैर।"

आज कालपंचमी का दिन था। सुभद्रा अपनी सखियों के साथ अशोक वन में क्रीडा करने आयी थी। कुमार भी ठीक समय पर वहां पहुंचा। दोनों की आंखें मिलीं। वे आपस में प्रेमालाप करने लगे। दोनों अशोक वृक्ष के नीचे सो रहे थे। इतने में ही धनदत्त सेठ वहां आ निकला। उसने अपनी पुत्रवधू को पहचान लिया। किन्तु अन्य पुरुष के साथ उसे देख, उसने सोचा—'यह मेरा लड़का तो नहीं है। क्या मेरी पुत्रवधू पर-पुरुष में आसक्त है?' वह उसके पास आया और सुभद्रा के पैर से एक नूपुर निकाल घर की ओर चला गया। नूपुर खोलते ही सुभद्रा जाग गई थी। उसने अपने श्वसुर को पहचान लिया किन्तु लज्जावश कुछ बोल नहीं सकी।

दूसरे दिन की बात है। सुभद्रा ने अपने पति से कहा—"पतिदेव! आजकल गर्मी का मौसम है। प्रचण्ड गर्मी से जी मचलाता है। यदि आपकी इच्छा हो तो अशोक वन में जाकर कुछ दिन रहें।" पति ने सुभद्रा की बात मान ली। दोनों एक वृक्ष के नीचे आराम कर रहे थे। कुछ ही क्षणों के बाद सुभद्रा ने अपने पति को जगाते हुए कहा—"हाय! यह क्या? क्या यह आपके कुल के अनुरूप है?"

पति ने कहा—"क्यों? क्या बात है?"

सुभद्रा ने कहा—"बात क्या है! अभी-अभी आपके पिता यहां आये थे और मेरे पांव से एक नूपुर निकालकर ले गए। क्या यह उनके अनुरूप कार्य है? वे बूढ़े हो चले हैं, फिर भी इस प्रकार की चेष्टा करते नहीं शर्माते।"

पति ने कहा—"कोई बात नहीं। मैं कल प्रातःकाल ही इस बात की जांच करूंगा।"

प्रातःकाल का समय था। कुमार ने अपने पिता से पूछा। पिता ने कहा—"हूं! यह क्या? चोर कोतवाल को दण्ड देता है। मैंने नूपुर नहीं

निकाला। भला तू भी कितना सयाना है कि तूने स्त्री की वात पर विश्वास कर लिया। हा, मैं तुझे कहे देता हू कि तेरी स्त्री के लक्षण मुझे ठीक नही लगते। वह किसी अन्य पुरुष के पास आती-जाती है। मैंने अपनी आखो से उसको दूसरे पुरुष के साथ क्रीडा करते देखा है।"

विवाद वढ गया। सुभद्रा ने कहा—"यह मुझ पर लाछन लगाते हैं। अपने पाव से इनको नूपुर निकालते मैंने देखा है। ये अपना दोप छिपाने के लिए मुझे कलकित कर रहे है। मैं यह आरोप सहन नही कर सकती। इस कलक को मिटाने के लिए मैं अग्नि-परीक्षा करूगी। तभी सभी को मालूम पड सकेगा कि सही कौन है और झूठा कौन है ?" सवने वात मान ली।

दूसरे दिन सुभद्रा ने देवदत्त को अपने पास वुलाया और उससे सारी वात कही। देवदत्त घवरा गया। वह कापने लगा। सुभद्रा ने कहा—"घवराते क्यो हो ? मैं सारी वात समेट लूगी।"

उसने देवदत्त को पिशाच का रूप वना यक्ष-मन्दिर मे वैठने को कहा। प्रतिदिन वह मन्दिर मे जाती और यक्ष तथा पिशाच की पूजा कर लौट आती। इस प्रकार कई दिन वीते।

आज अग्नि-परीक्षा का दिन था। सभी घरवाले यक्ष-मन्दिर मे एकत्रित हुए। सुभद्रा अग्नि-परीक्षा के लिए तैयार खडी थी। लोगो ने कहा—"सुभद्रे ! अभी अवसर है, तुम अपना अपराध स्वीकार कर लो। यह मन्दिर पुराना है। यह यक्ष की मूर्ति प्रभावशाली है। जो पाप करता है, उसके पाव यहा चिपक जाते हैं और जो पाप नही करता, वह छूट जाता है।"

सुभद्रा अपने निश्चय पर दृढ थी। वह टस से मस नही हुई। वह यक्ष के सम्मुख गई। विधिवत् पूजा करने के वाद उसने कहा—"ओ यक्ष देवते ! यदि मैंने अपने पतिदेव और इस पिशाच को छोडकर मन मे भी अन्य पुरुष की वाछा की हो तो मेरे पाव यहा चिपक जायँ।"

सव उत्कण्ठा से देख रहे थे। श्वसुर धनदत्त को यह निश्चय था कि सुभद्रा ने पाप किया है और इसके पाव अवश्य चिपक जाएगे, किन्तु पाव नही चिपके। सुभद्रा छूट गई। उसे अपनी जीत पर गर्व था। धनदत्त को नीचा देखना पडा।

यक्ष को सुभद्रा की करतूत पर हँसी आयी। उसने सोचा, 'सुभद्रा ने मुझे भी ठग लिया है।' स्त्रियो के चरित्र को कौन जान सकता है।

सेठ धनदत्त का लोगो ने बहुत तिरस्कार किया। पुत्रवधू पर झूठा आरोप लगाने के कारण लोगो ने उसे बुरा-भला कहा। वह तिरस्कार की घूट पी घर आ गया। आज से उसका जीवन ही बदल गया। वह न भरपेट भोजन करता और न गहरी नीद ही लेता। चिन्ता के कारण उसे नीद नही आती। कई रातें उसने जगते-जगते बिताई। उसने सोचा—घर मे रहने से मुझे क्या लाभ ? छोटे-बडे सब मेरा तिरस्कार करते है। अच्छा हो यदि मैं यहा से चला जाऊ। वह अपने घर से निकल पडा।

राजा के कानो तक यह बात पहुची। राजा ने उसे अपने पास बुलाया और उसे अपने अन्त पुर का रक्षक बना दिया। वह सारी रात जागता रहता और अन्त पुर का पहरा देता।

इस प्रकार कई दिन बीते। अन्त पुर के पास ही राजा का प्रधान हाथी बधा रहता था। राजा की एक रानी प्रतिदिन उस हाथी के सिर पर पाव रखकर नीचे उतरती और हस्तिपाल के पास चली जाती। वह हस्तिपाल मे आसक्त थी। पौ फटते-फटते वह लौट आती। राजा इस बात से अनजान था।

आधी रात बीत चुकी थी। रानी अपने प्रेमी के पास जाने लगी। द्वारपाल ने उसे देख लिया। वह धीरे-धीरे उसके पीछे-पीछे चला और उसकी सारी चेष्टाए जान ली। उसने सोचा—'ओह ! कितना व्यामोह ? इतने कठोर अनुशासन व रक्षा के घेरे मे रहने वाली ये देविया भी यदि इस प्रकार स्वच्छन्द विहार करती हैं तो भला स्वच्छन्द विचरण करनेवाली स्त्रियो का तो कहना ही क्या ?' वह अपने काम को छोड वही सो गया। प्रात काल सारे लोग अपने-अपने काम मे लग गए। वह नही उठा। राजा ने उसे मुश्किल से उठाया। उसने सारी बात राजा से कह दी। उसने कहा—"महाराज ! एक देवी को तो मैंने अपनी आखों से देखा है। न जाने आपकी कितनी रानिया इस प्रकार करती होगी।" राजा अवाक् रह गया। उसे अपने रानियो के सतीत्व पर गर्व था। उसने रानियो की परीक्षा करनी चाही।

राजा ने एक कृत्रिम हाथी वनवाया और उसे दूर खडा कर दिया। एक दिन राजा न अपनी समस्त रानियो से कहा कि वे वारी-वारी उस पर चट-कर नीचे उतरें। सभी रानियो ने खुशी-खुशी राजाज्ञा का पालन किया। किसी को यह पता नही था कि हाथी कृत्रिम है। अन्त मे उस रानी की वारी थी जो हस्तिपाल मे आसक्त थी। वह राजा के पास आयी और कहा—"राजन्! मुझे तो हाथी पर चढते डर लगता है।" राजा ने उसके लिए सीटी मगवाई और उस पर उसे चटने को कहा। वह चढते-चटते बीच मे ही नीचे आ गिरी। राजा ने एक पत्थर फेंका। उसके लगते ही कराहने लगी।

राजा ने यह जान लिया कि यही रानी कुलटा है। उसने कहा—"मदोन्मत्त हाथी के सिर पर पाव रखकर नीचे उतरते तुझे डर नही लगता, और आज एक कृत्रिम (भडमय) हाथी पर चटते भय लगता है। लोहे की साकल से आहत होने पर भी तू मूर्च्छित नही हुई और आज एक ककड की चोट से कराहने लगी है।"

महावत अपनी इच्छानुसार न होने पर रानी को साकल से मारता था। राजा ने रानी के शरीर को देखा था। उस पर साकल के चिह्न थे। वह उसे खुशी-खुशी सह लेती थी। राजा रुष्ट हुआ। उसने आज्ञा दी कि रानी, महावत और हाथी को दण्ड दिया जाय। तीनो को एक पर्वत पर ले जाया गया। महावत ने कहा—"हाथी को यही मार दिया जाय।" हाथी का एक पाव ऊचा वाध दिया। लोगो ने कहा—"यह पशु है—इसका क्या दोप है?" राजा का रोप कम नही हुआ। राजा ने हाथी के तीनो पाव ऊपर वाध दिए। एक पाव जमीन पर था। हाथी चिघाडने लगा। लोगो को दया आयी। उन्होने राजा से कहा—"हस्तिरत्न का क्यो नाश कर रहे है?" इस वार राजा का मन पिघला। उसने हाथी के वन्धन खोल दिए। वन्धन खुलते ही हाथी का रोप वढा। वह लोगो को मारने दौडा। सारे लोग घवराए किन्तु हाथी को वश मे करना साधारण वात तो थी नही। राजा ने महावत से पूछा—"क्या तुम इस हाथी को वश मे कर सकते हो?" उसने कहा—"हा, महाराज! किन्तु एक शर्त है। यदि आप हम दोनो को अभयदान दें तो मैं अभी हाथी पर नियन्त्रण कर सकता हू।" राजा ने दोनो को छोड दिया। महावत ने अपने अकुश से हाथी को वश मे कर लिया।

त्याग और भोग का विवेक

एक बार की बात है, चन्द्रगुप्त ने राजा नन्द को बाहर निकाल दिया था। नन्द के मन्त्री का नाम सुबन्धु था।

सुबन्धु चन्द्रगुप्त के मन्त्री चाणक्य से ईर्ष्या करता था। वह उसके बुद्धि-कौशल से बहुत जलता और हर समय चाणक्य के छिद्र देखता रहता। एक दिन उसने राजा नन्द से कहा—"राजन् ! मैं आपका नमक खाता हू। मैं नहीं चाहता कि आपसे कोई बात गुप्त रखू। आप मुझे धन दें या न दें, मैं तो आपके हित की बात ही कहूगा। यही मेरा परम कर्तव्य है। आप नही जानते, चाणक्य बहुत कुटिल है। उसने आपकी माता की हत्या की है।"

राजा सुनते ही अवाक् रह गया। वह अपने अन्त पुर मे गया और अपनी धाय से पूछा। धाय ने कहा—"राजन् ! मन्त्री ने जो बात कही है वह सत्य है।" राजा को रोष आया और उसके मन मे चाणक्य के प्रति घृणा उत्पन्न हो गई।

प्रात काल का समय था। दरबार जुडा हुआ था। राजा उच्च सिंहासन पर बैठा था। सारे सामन्त अपने-अपने स्थान पर बैठे थे। चाणक्य आया। राजा का अभिवादन किया, किन्तु राजा ने उसकी तरफ आख उठाकर भी नही देखा। चाणक्य ने सोचा—'दाल मे काला है। राजा रूठ गया है। अब यहा रहने मे कोई लाभ नही।' वह अपने घर आया और सारी सम्पत्ति पुत्र-पौत्रो मे बाट दी। फिर गन्ध-पूर्ण चूर्ण इकट्ठा कर एक पत्र लिखा। गन्धक के साथ पत्र को एक डिब्बे मे रखा। फिर एक के बाद एक इस तरह चार मजूषा में उसे रखा। उस मजूषा को एक सुगन्धित कोठे मे रख उसे कीलो से जड दिया। फिर जगल मे इगिनीमरण अनशन ग्रहण किया।

राजा ने जब सही बात धाय से जानी तब उसे बहुत दु ख हुआ। चाणक्य के प्रति प्रेम उमड आया। वह उससे मिलने के लिए उत्कठित हो उठा। अपने मन्त्रियों तथा रानियों को साथ ले वह जगल की ओर चला, जहा चाणक्य रहता था। राजा ने देखा कि चाणक्य एक वृक्ष के नीचे बैठा

राजा ने एक कृत्रिम हाथी बनवाया और उसे दूर खड़ा कर दिया। एक दिन राजा ने अपनी समस्त रानियों से कहा कि वे बारी-बारी उस पर चढ़कर नीचे उतरें। सभी रानियों ने खुशी-खुशी राजाज्ञा का पालन किया। किसी को यह पता नहीं था कि हाथी कृत्रिम है। अन्त में उस रानी की बारी थी जो हस्तिपाल में आसक्त थी। वह राजा के पास आयी और कहा—"राजन्! मुझे तो हाथी पर चढ़ते डर लगता है।" राजा ने उसके लिए सीढ़ी मंगवाई और उस पर उसे चढ़ने को कहा। वह चढ़ते-चढ़ते बीच में ही नीचे आ गिरी। राजा ने एक पत्थर फेंका। उसके लगते ही कराहने लगी।

राजा ने यह जान लिया कि यही रानी कुलटा है। उसने कहा—"मदोन्मत्त हाथी के सिर पर पांव रखकर नीचे उतरते तुझे डर नहीं लगता, और आज एक कृत्रिम (जड़मय) हाथी पर चढ़ते भय लगता है। लोहे की सांकल से आहत होने पर भी तू मूर्च्छित नहीं हुई और आज एक कंकड़ की चोट से कराहने लगी है।"

महावत अपनी इच्छानुसार न होने पर रानी को सांकल से मारता था। राजा ने रानी के शरीर को देखा था। उस पर सांकल के चिह्न थे। वह उसे खुशी-खुशी सह लेती थी। राजा रुष्ट हुआ। उसने आज्ञा दी कि रानी, महावत और हाथी को दण्ड दिया जाय। तीनों को एक पर्वत पर ले जाया गया। महावत ने कहा—"हाथी को यहीं मार दिया जाय।" हाथी का एक पांव ऊंचा बांध दिया। लोगों ने कहा—"यह पशु है—इसका क्या दोष है?" राजा का रोष कम नहीं हुआ। राजा ने हाथी के तीनों पांव ऊपर बांध दिए। एक पांव जमीन पर था। हाथी चिंघाड़ने लगा। लोगों को दया आयी। उन्होंने राजा से कहा—"हस्तिरत्न का क्यों नाश कर रहे हैं?" इस बार राजा का मन पिघला। उसने हाथी के बन्धन खोल दिए। बन्धन खुलते ही हाथी का रोष बढ़ा। वह लोगों को मारने दौड़ा। सारे लोग घबराए किन्तु हाथी को वश में करना साधारण बात तो थी नहीं। राजा ने महावत से पूछा—"क्या तुम इस हाथी को वश में कर सकते हो?" उसने कहा—"हां, महाराज! किन्तु एक शर्त है। यदि आप हम दोनों को अभयदान दें तो मैं अभी हाथी पर नियन्त्रण कर [illegible] दूं।" राजा ने दोनों को छोड़ दिया। महावत ने अपने अंकुश से [illegible] को वश में कर लिया।

त्याग और भोग का विवेक

एक बार की बात है, चन्द्रगुप्त ने राजा नन्द को बाहर निकाल दिया था। नन्द के मन्त्री का नाम सुबन्धु था।

सुबन्धु चन्द्रगुप्त के मन्त्री चाणक्य से ईर्ष्या करता था। वह उसके बुद्धि-कौशल से बहुत जलता और हर समय चाणक्य के छिद्र देखता रहता। एक दिन उसने राजा नन्द से कहा —"राजन्! मैं आपका नमक खाता हू। मैं नही चाहता कि आपसे कोई बात गुप्त रखू। आप मुझे धन दें या न दें, मैं तो आपके हित की बात ही कहूगा। यही मेरा परम कर्तव्य है। आप नही जानते, चाणक्य बहुत कुटिल है। उसने आपकी माता की हत्या की है।"

राजा सुनते ही अवाक् रह गया। वह अपने अन्त पुर म गया और अपनी धाय से पूछा। धाय ने कहा—"राजन्! मन्त्री ने जो बात कही है वह सत्य है।" राजा को रोप आया और उसके मन मे चाणक्य के प्रति घृणा उत्पन्न हो गई।

प्रात काल का समय था। दरबार जुडा हुआ था। राजा उच्च सिहासन पर बैठा था। सारे सामन्त अपने-अपने स्थान पर बैठे थे। चाणक्य आया। राजा का अभिवादन किया, किन्तु राजा ने उसकी तरफ आख उठाकर भी नही देखा। चाणक्य ने सोचा—'दाल मे काला है। राजा रूठ गया है। अब यहा रहने मे कोई लाभ नही।' वह अपने घर आया और सारी सम्पत्ति पुत्र-पौत्रो मे बाट दी। फिर गन्ध-पूण चूण इकट्ठा कर एक पत्र लिखा। गन्धक के साथ पत्र को एक डिब्बे मे रखा। फिर एक के बाद एक इस तरह चार मजूषा मे उसे रखा। उस मजूषा को एक सुगन्धित कोठे मे रख उसे कीलो से जड दिया। फिर जगल मे इगिनीमरण अनशन ग्रहण किया।

राजा ने जब सही बात धाय से जानी तब उसे बहुत दुख हुआ। चाणक्य के प्रति प्रेम उमड आया। वह उससे मिलने के लिए उत्कठित हो उठा। अपने मन्त्रियो तथा रानियो को साथ ले वह जगल की ओर चला, जहा चाणक्य रहता था। राजा ने देखा कि चाणक्य एक वृक्ष के नीचे बैठा

है। चारो ओर गोबर के उपले चिने हुए हैं। राजा उसके पास आया और प्रसन्न हृदय से क्षमायाचना की और उसे नगर लौट चलने के लिए कहा।

चाणक्य ने कहा—"राजन्! मैं नगर मे चलकर क्या करू ? मैंने सब कुछ छोड दिया है। अब नही जा सकता।" राजा ने बहुत कहा किन्तु चाणक्य नही माना।

मत्री सुबन्धु ने कहा—"राजन्! यदि आप आज्ञा दें तो मैं चाणक्य की पूजा करू।" राजा ने आज्ञा दे दी।

सुबन्धु को अच्छा अवसर हाथ आ गया था। राजा के चले जाने के बाद उसने उपलो मे आग लगा दी। चाणक्य जलकर भस्म हो गया। यह बात सारे गाव मे फैल गई। सुबन्धु बहुत प्रसन्न हुआ। वह राजा के पास गया और कहा—"राजन्! चाणक्य की सारी सम्पत्ति मुझे मिलनी चाहिए।" राजा ने उसे सारी सम्पत्ति दे दी।

सुबन्धु की खुशियो का ठिकाना नही था। वह चाणक्य के घर गया। उसने देखा कि घर मे एक कोठरी बन्द है। उसे कुछ जिज्ञासा हुई। उसने कपाट खोलने का प्रयत्न किया किन्तु वह खुला नही। उसने दोनो द्वार तोड डाले। वह अन्दर गया। सुगन्ध की लपटें आ रही थीं। उसने देखा कि एक डिब्बे मे एक पत्र पडा है। उसने वह पत्र पढा। पत्र मे लिखा था—'इस डिब्बे मे चूर्ण है। उसको सूघने के बाद जो स्नान करेगा, अलकार धारण करेगा, ठण्डा जल पीएगा, महती शय्या पर शयन करेगा, यान पर चढेगा, सगीत सुनेगा और इसी तरह अन्य इष्ट विषयो का सेवन करेगा, साधुओ की भाति नही रहेगा, वह मृत्यु को प्राप्त होगा, और इनमे विरक्त हो जो साधु की तरह रहेगा वह नही मरेगा।' सुबन्धु ने उसकी परीक्षा की। दूसरे व्यक्ति को गन्ध सुघाकर शब्दादि इष्ट भोग सेवन करवाये। वह मर गया। सुबन्धु मरना नही चाहता था। वह साधुओ की तरह अकाम रहने लगा।

मृत्यु के भय से अकाम रहने पर भी जैसे सुबन्धु साधु या त्यागी नही कहा जा सकता वैसे ही अस्ववशता के कारण भोगो को न भोगने से कोई त्यागी नही कहा जा सकता।

धन की उपासना

ससार एक अजीब नाट्य-गृह है। यहा के कण-कण मे हृदय-प्लावक नृत्य की झाकी मिलती है। चेतन ही क्यो, जड भी नाचता है। यहा का पुरुष नट है और नारी नटी। सभी आते है, अपना-अपना अभिनय पूरा कर चले जाते हैं। जितने अभिनेता उतने ही अभिनय। अभिनयो की समानता यत्र-तत्र दृष्टिगोचर हो जाती है, परन्तु एकता नही दिखती। अभिनयो के प्रकार मे आकाश-पाताल का अन्तर है। यही तो ससार है। नृत्य की मोहिनी, हृदय की अनुरक्ति, मान का माधुर्य, स्वार्थ की अनवरतता और अतृप्त आकाक्षाओ की मोहकता जब चेतना पर हावी होती है, तब अभि-नय की अभिव्यजना कुछ और ही प्रकार की होती है, तब अभिनेता उसमे तन्मय हो जाता है—अपना अस्तित्व ही भूल जाता है।

धन ने कहा—मेरी अभ्यर्थना कहा नही हुई ? जिनमे चेतना का अत्यन्त विकास था, उनको मैंने अपने पाश मे बाधा। उनको मैंने दास बनाया। बधने पर भी, दास होने पर भी, वे मुझे अपने भुजपाश मे लपेटे रहे और चिरकाल तक सुखाभास की मधुर अनुभूति मे खोये रहे।

असूर्यपश्या कोमलागी युवतियो को मैंने दुनिया दिखाई और उनके सतीत्व को क्रय-विक्रय की सँकरी पगडडी पर ला खडा किया। मनस्वी महर्षियो का उत्कट तपोबल मेरे लुभावने चरणो पर कितनी बार नही लुटा। राजा-महाराजा और सम्राटो ने मेरी अभ्यर्थना इसलिए की कि मै उनकी शक्ति का एकमात्र स्रोत था। हर्म्यवासी धन-कुबेरो ने मेरी अभ्यर्थना इसलिए की कि मैं उनके अस्तित्व का आदि-अन्त था। घास-फूस की टूटी-फूटी झोपडी मे चलने-फिरने वाले नर-ककालो ने मुझे देव-कुसुमवत् इसलिए धारण किया कि मैं उनके आन-पान का आधार-स्तम्भ था। मैंने युद्ध करवाये तो शान्ति का प्रेरक भी मैं ही रहा। मैंने भ्रातृत्व व बन्धुत्व आदि सम्बन्धो को कबन्ध कर डाला, परन्तु कबन्ध-सम्बन्धो को भी मैंने ही सही सम्बन्ध मे बदला है। मैं प्रलय का आदिरूप हू, परन्तु सृष्टि का भी आदिबीज मैं ही हू। मैं उपास्य हू, उपासक हू और उपासक की साधना भी मैं ही हू। यह पवित्र त्रिवेणी की धारा अविरल बहती रही है

और आज भी वह जनमानस पर अपना प्रभाव लिए चल रही है। मेरी उपासना गुणों की उपासना है। इसलिए तो कवि-हृदय ने कहा— 'सर्वे गुणा काञ्चनमाश्रयन्ति'। मैं सर्वार्थ सिद्धपद्र हू। मैं अनाथो का नाथ, अबन्धु का बन्धु, अमित्र का मित्र हू और हू मैं एक अमृत की तरंग जो उछलती है, फुदकती है और आकाश को छूने सतत छलांगें मारती है।

धन की इस गर्वोक्ति पर साधु-मानस कुछ विचलित हो जाता है। परन्तु मोहाविल सारे हृदय इसकी रसमय धारा मे आकण्ठ डूबे हुए हैं और वे स्वय इस धारा के आर-पार को जानने के लिए इसी की आखो मे देखते है। इसके इंगित पर मनुष्य अपने मन के चुने हुए मोतियो को भी इस पर वार देता है। इसकी मदान्धता मे सम्बन्ध कबन्ध हो जाते है अथवा 'वादरायण' सम्बन्ध मे परिणत हो जाते हैं। इसी तथ्य को इस कथा की स्फुट किरणो के माध्यम से देखें।

भयानक अंधेरी रात थी। 'साय-साय' जगल के बीच मार्ग खोजता हुआ एक युवक निर्लक्ष्य चला जा रहा था। काटो की चुभन और मार्ग मे बिखरे पत्थरो की ठोकर से वह गिरता-पडता, पुन सभलकर चलने का प्रयास कर रहा था। हजार प्रयत्न करने पर भी उसे मार्ग नही मिला। हताश हो वह पेड के नीचे सो गया। करवट बदलते आधी रात बीत गई। नीद नही आयी। नीद की परम शत्रु है चिन्ता। 'चिन्ता दहति सजीवम्'— चिन्ता उसे नोच-नोचकर खा रही थी। स्मृति के गहरे विवर्त्त मे सचित वेदना और आनन्द के सभी कण एक-एक कर उछलने लगे।

उसे अपना बचपन याद हो आया। सोने के झूले और सोने-चादी के खिलौनो मे क्रीडा करने के दृश्य आखो के सामने नाचने लगे। यौवन की मादकता, वैभव का अजस्र प्रवाह, समस्त सुख-सुविधाओ की अनुकूलता और सम्पूर्ण मगलमय वातावरण मे धन कुबेर की इकलौती पुत्री के साथ अपना परिणय, सुहाग-रात, चन्द्रमुखी के लुभावन हाव-भाव के सारे दृश्य प्रत्यक्ष होते गए। उसने सोचा—'कितना सुखी था मैं! सुरेन्द्र के सुख भी मेरे मानवीय सुखो की तुलना मे नगण्य थे। ऐसा मानकर मैंने क्या-क्या सुखोपभोग नही किए? लक्ष्मी मेरी चेरी थी। भाई, बहन, भतीजे— सभी मेरा समादर करते क्योकि मेरी प्रतिभा, अर्थार्जन की निपुणता और

नेतृत्व की अटूट शक्ति, उन्हे पराभूत किए थी। कुटुम्ब का प्रत्येक कार्य मेरे इंगित पर चलता। कितना सौभाग्यशाली था मैं ! मैंने धन कमाना सीखा, परन्तु साथ-साथ मे उसे लुटाना भी जानता था। दानवीरो मे मै अग्रणी था। करोडो का धन लुटाया। परन्तु हाय ! निदयी दुर्दैव ! ! तेरी परछाईं पडते ही सब कुछ स्वप्नवत विलीन हो गया। सर्वप्रथम तू ने माता-पिता के वियोग के धधकते अगारो पर चलाया। वैभव की अटूट धारा के तूने खण्ड-खण्ड कर दिए। गगनचुम्बी अट्टालिकाओ को तूने दमडी के मोल बिकाया। भाई-भतीजे सभी मुझे छोड चले गए। एकमात्र पुत्र को भी तूने छीन लिया। तू समवर्ती कहलाता है—परन्तु मैं कैसे मानू कि तू समवर्ती है ? तेरा वर्ताव पक्षपातपूर्ण नही—यह कौन विज्ञ मानेगा ? जो कुछ हुआ सो हुआ, परन्तु तू इतने पर भी नही रुका। वेदना की तीव्र अनुभूतियो मे भी मैं धैर्य लिए चलता रहा। परन्तु तुझे यह नही रुचा। मुझे दर-दर का भिखारी बनाकर ही तूने सुख की सास ली। आज मेरे पास खाने को अन्न का एक दाना भी नही।

'क्या करू ? कहा जाऊ' ?—'इसी चिंता की उधेडबुन मे वह खोया जा रहा था। दु ख के दावानल मे वह जल रहा था परन्तु उस जलन मे आन्तरिक शून्यता नही थी, एक हृदय की अनुभूति थी। उसने सोचा—दु ख अमृत है, यदि कोई उसे पचा सके। दु ख हलाहल है, उनके लिए जो उसे पचाना नही जानते। चिंता की तीखी अनुभूति मे स्मृत भी विस्मृत-सा हो जाता है। वह सब कुछ भूल गया। परन्तु एक बात उसे याद आयी। घर से निकलते समय उसकी पत्नी ने कहा था—'आपकी भगिनी आज भी ऐश्वर्य के बीच पल रही है। आप उसके पास जा कुछ सहायता मागें। वह आपका सम्मान करेगी और अपने पूर्व उपकारो को याद कर आपके इस दयनीय दैन्य का नामशेष कर देगी।' पत्नी ने ठीक कहा था। सहायता मागने मे दोष ही क्या है ? वह दूसरी थोडे ही है—इस प्रकार चिंतन की धारा आगे बढी। उसे नीति-वाक्य याद हो आया। उसने कहा—'दु खावस्था मे बन्धु-जन से याचना नही करनी चाहिए।' परन्तु दैन्य की दारुणता ने उसे भगिनी के गृह की ओर प्रस्थान करने के लिए बाध्य किया।

सूर्योदय हुआ। वह वहा से चला। फटी हुई पगडी, स्यूति-सकुल

सव्यान कन्था को लज्जित करने वाली धोती, फटे हुए जूते, म्लान मुख—इस दयनीय दशा से वह आशा और निराशा की स्थपुट-भूमि को पार करता हुआ चला जा रहा था। आशा का अनुबन्ध मधुर होता है। इसमे शारीरिक और मानसिक सभी वेदनाए विलीन हो जाती हैं।

सप्त-भौम हर्म्य पर उसकी वहन वासन्ती वसन्त का आनन्द ले रही थी। सखियो और दासी-समूह से परिवृत वह नीले आकाश की शून्यता मे खोयी जा रही थी। इतने मे ही एक दासी ने उसे अगुली-निर्देशपूर्वक वताते हुए कहा—'स्वामिनी ! वह देखो, आपका भाई आ रहा है।' वहन ने देखा, उसकी आखें फटी रह गई। उसने यह कल्पना नही की थी कि उसका सहोदर इस दयार्द्र अवस्था मे यहा आयेगा। मन मे विकल्पो का ज्वार आया। उसने सोचा—इस अत्यन्त श्रीहीन व्यक्ति का भाई के रूप मे सत्कार कर मैं अपने श्वसुरालय या सखियो मे हास्यास्पद कैसे वनू ?

'री चेटी ! तू पागल है, कहा है मेरा भाई ? उन्मत्ते ! तू अन्धी है। मध्याह्न के सूर्य के प्रखर ताप मे भी तुझे नही दीख रहा है। लगता है, तूने मदिरा पी है।'

'स्वामिनी ! आप कुछ भी कहे, यह आपकी इच्छा है। प्रसन्न हो अथवा खिन्न, वह निश्चित ही आपका सहोदर है।'

'पगली ! तू मेरे विपुल वैभवशाली पितृकुल को कलकित करने के लिए क्यो उतावली हो रही है ? तू मेरे सहोदर की सम्पन्नता को क्या जाने ? जा, दूर हट। आखो के सामने मत रह।' उसने अपनी सखियो की ओर मुडकर कहा—"सखियो ! इस दासी की अनर्गल वातो पर ध्यान मत देना। यह कभी-कभी उन्मत्त हो जाती है। यह जिसे मेरा सहोदर वता रही है, वह मेरे पिता के घर मे 'चुल्ली-दीपक' (रसोइया) है।"

इतने मे सुवन्धु अपनी वहन के द्वार पर आ पहुचा। अपनी स्वामिनी की आज्ञानुसार दासी ने उसे पशुशाला की ओर जाने का सकेत किया। वह वहा गया। कुछ ही देर मे दासी उसके सामने खट्टी छाछ से भरा एक सिकोरा और वासी रोटी का एक टुकडा रखकर चली गई। पशुशाला की नीरवता, रोटी की कठोरता, छाछ की कटुता और भगिनी के आयमिक व्यवहार से उसका अन्त करण रो उठा। उसने सोचा—'भाग्य का विपाक

बडा विचित्र होता है। धन क्षीण हो गया, ऐश्वर्य विलीन हो गया, भूख सतप्त कर रही है, परिजन दूर चले गए है, कौटुम्बिक मुंह नही दिखाते। बहन ने भी मेरा तिरस्कार किया। अहो! विचित्र है धन की महिमा। इसके आगे मानव का मूल्य कौडी जितना भी नही है। इसके बिना नैसर्गिक सम्बन्ध भी शलथित हो जाते हैं। चेतनाहीन होते हुए भी यह चेतनशील को निष्प्राण बना देता है। हन्त! यह जड की महिमा है। इस सामाजिक स्थिति का अतिक्रमण कैसे हो? धन-सग्रह के दोषो को जानते हुए भी मुझे उसका सग्रह करना होगा, क्योकि उसके बिना समाज मे कोई गति नही।'

वह उठा। पशुशाला के एक ओर उस छाछ और रोटी को भूमिसात् कर वहा से चलता बना।

'उद्योग कर्म मे कौशल लाता है'—यह सोच उसने परदेश को प्रस्थान किया। 'उद्योगी पुरुष के पास लक्ष्मी आती है'—यह सोचकर तत्काल उसने व्यवसाय प्रारम्भ किया। निपुणता से प्रचुर धन का अर्जन किया। थोडे समय मे ही पहली स्थिति को पा, समस्त कार्य-कलाप की व्यवस्था कर, पुन अपने देश को चला। बीच मे वह नगरी दीखी, जहा उसकी सहोदरी रहती थी और जहा आकाश के बीच सारी स्मृति लिखी हुई थी।

'मदान्ध बहन ने जो किया सो किया। उससे मुझे क्या? बहन से मिलू, पुन उसका बन्धु भी बनू और धन के प्रदर्शन से उसकी दृष्टि को निर्मल करू'—यह सोचकर उसने अपने भृत्यो को भेज अपने आगमन की सूचना बहन को दी। भ्राता के आगमन की सूचना मिलते ही बहन रोमाचित हो उठी। उसकी रोमराजि खिल उठी। वह ससम्भ्रम अपने भौम पर चढी। बहुत परिकरो से परिवृत घोडो के रथ पर आते हुए अपने बन्धु को देखकर वह प्रसन्न हुई। उसने अपनी सखियो को बुलाकर अगुली के इशारे से अपने भाई को दिखाया। आकाश को चाटती हुई वह बोली—'सखियो! देखा, यह है मेरा भाई। अरे, कहा गई वह दिनान्धा, जिसने उस वराक को भी मेरा भाई कहा था।' इतने मे भाई भी उसके घर के पास आ पहुचा। वह उसके स्वागत के लिए बाहर गई, वर्धापन किया

और भाई को अन्दर चलने के लिए अनुरोध किया।

भाई ने कहा—'अभी यहा ठहरने का इच्छुक नही हू, शीघ्र ही अपने घर जाना चाहता हू। मार्ग मे जाते हुए सोचा, तुझसे मिलू, सो मिल लिया हू।'

"वन्धो! ऐसा क्यो कहता है? क्या यहा आकर विना भोजन किए ही चला जाएगा? क्या यह उचित है? क्या तू मुझे लज्जित करना चाहता है? भोजन पका हुआ है, अदर चल।' भाई का हाथ खीचते हुए वहन ने कहा।

'वहन! तेरा अनुरोध मैं टाल नही सकता। भोजन करना ही होगा। परन्तु मुझे पशुशाला मे ले चल। मैं यहा भोजन नही करूगा।" सारी स्मृति को सद्यस्क करते हुए भाई ने कहा।

'हाय! तुझे क्या हो गया है? क्या तू किसी आतक से ग्रस्त है? मुझे पीडित मत कर। क्या भला मेरा भाई इस पशुगोचर मे बैठेगा? यह कभी नही होगा। मैं अपने पितृकुल के सम्मान को इन कृत्यो के द्वारा नीचा नही करना चाहती। जिस वहन के पास वैभव का अजस्र प्रवाह है वह अपने भाई, जो स्वय लक्ष्मी-पुत्र है, को रत्नजटित पट्टे पर विठाकर भोजन करायेगी। पितृकुल का वैभव नारी को अतल ऊचाई पर चढा देता है—आज तू यह क्यो भूल रहा है?' वहन ने एक ही स्वर मे कह डाला।

'नही, वहन! मैं तो वही जाऊगा। वही मेरे लिए उचित स्थान है।' इतना कह वह पशुशाला की ओर वढा। वहन ने उसे मनाया, प्रार्थना की, अनुनय-विनय की, पर सब व्यर्थ।

सुवन्धु वहा से चलता हुआ पशुशाला मे आ पहुचा। पशुओ के मल-मूत्र की दुर्गन्ध से सिर फटने लगा, परन्तु उसने धैर्य नही खोया। एक ओर वने चवूतरे पर जा वैठा। ऐश्वर्य के पीछे जैसे मदान्धता आती है, वैसे ही विपुल वैभवशाली भाई की परछाई का अनुसरण करती हुई वहन भी वहा आ पहुची। थोडी देर मे ही सोने-चादी के वर्तनो मे विविध पक्वान्नमय भोजन भाई के आगे प्रस्तुत किए गए। दो नौकर पखो से हवा कर रहे थे। वहन ने भाई से भोजन करने के लिए अनुरोध किया। भाई

ने अपने नौकरो द्वारा लाए गए रुपये, मोती, हीरे, मणि आदि मे भरे हुए पात्रो को आगे कर उन्हें भोजन करने के लिए आदेश दिया ।

'भाई ! आज तू निश्चित ही पागल हो गया है । क्या ये भी भोजन करेंगे ?' वहन ने मुसकराते हुए कहा ।

'हा, वहन ! यह भोजन इस ऐश्वर्य के अधिकारी का ही है, दूसरा कौन करेगा ?' भाई ने गम्भीर होते हुए कहा ।

'भाई ! मैं यह नही समझ सकी, तेरा आशय क्या है ? तू पागल की तरह क्यो वातें कर रहा है ?' वहन ने अपने पूर्वाचरित को भूलते हुए कहा ।

'भगिनी ! मैं मत्त नहीं हुआ हू, सत्य कह रहा हू । मुझे कौन जिमाए ? यह तो इनका सत्कार है, इनका सम्मान है, इनकी ही कृपा मानता हू जिससे पुन मैं तेरा भाई हो सका हू । क्या वह दिन भूल गई ,जिस दिन मुझे रसोइया कहकर वहुत ही सतुष्ट हुई थी । यह वही पशुशाला है, जिसमे मुझे विठाया गया था और मिट्टी के सिकोरे मे खट्टी छाछ और सूखी रोटी परोसी गई थी ।' उसने उठकर सकेतित भूमि को खोदकर वह सिकोरा उसके सामने ला रखा ।

भाई के अप्रत्याशित तीखे वचनो से उसका पाषाण-हृदय विधा जा रहा था । लोभ के पाषाण-हृदय पर बाणो की वौछार हो रही थी । एक ओर कर्ण-कटु शब्दो से उसका मन पीडित हो रहा था तो दूसरी ओर स्वय के आचरण की स्मृति उसे नोच-नोचकर खा रही थी । वह सिर नीचा किए पृथ्वी मे समा जाने की वाट देख रही थी । भाई ने आगे कहा—

'वहन ! यह लक्ष्मी वादलो की छाया है । कभी किसी प्रदेश को आवृत करती है और कभी किसी को । इसका क्या अभिमान, क्या मदान्धता ! तुमने अपने निर्धन वन्धु का इतना अपमान किया, जिसकी आशा नही की जा सकती थी । वहन, वसन्त मे लहलहाने वाले वृक्षो को भी पतझड का सामना करना पडता है । भला इस नाट्य-गृह मे किस व्यक्ति की एक-सी दशा रही है ? कौन अभिनेता एक-सा अभिनय कर रहा है ? वहन ! तुमने अपने भगिनीत्व को दूषित किया है । यह मेरा-तुम्हारा अन्तिम मिलन है । सुख से रहो, मैं अपने घर जा रहा हू ।'

रत्नवणिग्

एक वार एक वनिया रत्नो की टोह मे घर से निकला। चलते-चलते वह रत्न-द्वीप मे जा पहुचा। वहा रत्नो के ढेर पडे थे। कोई रखवाला नही था। उसने त्रैलोक्य सुन्दर वहुमूल्य रत्नो की गाठ वाधी। वह उसे अपने घर ले जाना चाहता था किन्तु रास्ते मे चोरो का भय था। उसने सोचा और एक उपाय ढूढ निकाला।

उसने रत्नो की गाठ एक सुरक्षित स्थान मे रख दी। फटे-पुराने कपडे पहने। पागल की तरह अभिनय करता हुआ वह उसी रास्ते मे चला जहा चोर रहते थे। जाते-जाते हाथ मे कुछ ककड ले लिए। चोरो को देखते ही वह जोर से वोल उठा—"देखो रत्नवणिग् जा रहा है।" वार-वार यह कहता हुआ और ककडो को जोर-जोर से ऊपर उछालता हुआ वह चला जा रहा था। कई चोर उसके पास आए। ककडो को देख वापस चले गये। तीन दिन तक इसी प्रकार करता रहा। चोरो ने जान लिया कि यह पागल है।

चौथे दिन वह अपने रत्नो की गाठ ले उसी रास्ते से निकला। चोरो ने उसे पहचाना और पागल समझ उसकी ओर ध्यान नही दिया। प्रसन्न होता हुआ, वह तीव्र गति से अटवी को पार कर रहा था। रास्ते मे प्यास लगी। वह छटपटाने लगा। पानी की खोज की। पानी नही मिला। देखते-देखते एक तलाई नजर आयी। उसमे अनेक मृग मरे पडे थे। थोडा पानी पिया, उसमे दुर्गन्ध आ रही थी। पानी चर्वीमय हो गया था। वह वहा गया, श्वास को रोक, स्वाद की ओर ध्यान न दे, उस जल को पी गया। प्यास वुझी। वह रत्नो को ले अपने घर सुरक्षित पहुच गया।

नोली

दो भाई थे। वे धन कमाने सौराष्ट्र गये। एक वर्ष मे एक हजार रुपये कमाये। उन्हें एक नोली मे रख, वे अपने घर आ रहे थे। दोनो वारी-वारी से नोली लेते। जब एक के पास वह होती तब दूसरा ऐसा सोचता कि इसे मारकर नोली को मैं क्यो न ले लू। दोनो के मन मे एक-दूसरे को मारने के अशुभ परिणाम आये।

वे अपने गाँव के पास आये। बड़े भाई के पास नोली थी। उसने सोचा—धिक्कार है मुझे, थोडे से धन के लिये मैं अपने जन्मजात भाई की हत्या करने की सोच रहा हू। उसे दु ख हुआ। उसने छोटे भाई से सारी बात स्पष्ट कह डाली। छोटे भाई ने कहा—मेरे मन मे भी कुछ ऐसे विचार आते रहे हैं।

दोनो ने सोचा—धन अनर्थ का मूल है। सारे दोष इसी से पैदा होते हैं। उन्होने उस नोली को एक नदी मे डाल दिया। नदी मे गिरते ही एक मछली ने उस नोली को निगल लिया।

एक मछलीमार आया। उसने कई मछलियाँ पकडी। वह उन्हे बाजार मे बेचने गया।

दोनो भाई घर पहुचे। बूढी माँ बहुत ही खुश हुई। उसने अपनी बेटी से कहा—"तुम्हारे भाई आये हैं। बाजार से मछली ले आओ। उसी का भोजन बनाओ।"

वह दौडी-दौडी बाजार गई। एक मछली खरीदकर घर ले आयी। माँ बाहर बैठी अपने बेटो से बात कर रही थी। बेटी ने उस मछली को काटा। अन्दर से नोली निकली। लोभ बढा—यदि मैं इसे छिपा लूगी तो यह मेरी हो जायेगी। यह सोच उसने उसे छिपा लिया।

माँ ने उसे छिपाते देख लिया था। वह अन्दर आयी। बेटी से पूछा—"तेरी गोद मे क्या है?" वह कुछ नही बोली।

माँ ने फिर पूछा। पर वह बोली नही। मा को क्रोध आया। उसने अपनी बेटी के मर्म-प्रदेश मे जोर से प्रहार किया। वह उसी क्षण मर गई।

दोनो भाई अन्दर आये। बहन भूमि पर मरी पड़ी थी। उसके पास ही वह नोली भी पड़ी थी। उन्हे विस्मय हुआ। सोचा, इसी धन ने हमारी बहन के प्राण लिये है। यह अनर्थ की जड है।

उन्हे वैराग्य हुआ। ससार खारा लगा। वे दोनो दीक्षित हो गये।

वन्दनीय कौन ?

किसी नगर मे एक तपस्वी साधु रहते थे। उनके एक शिष्य था। एक बार वे अपने शिष्य को साथ ले भिक्षा लेने निकले। रास्ते मे उनके पैर के नीचे एक छोटा-सा मेढक आ गया। पैर पडते ही वह मर गया। शिष्य ने यह देखा। उसने अपने गुरु से कहा—"आपके पैरो से एक मेढक मर गया।"

गुरु ने कहा—"नही, वह तो पहले से ही मरा पडा था, मैंने नही मारा।" शिष्य चुप रह गया।

सायकाल का समय था। प्रतिक्रमण की बेला थी। गुरु ने आलोचना नही की। शिष्य ने सहज भाव से कहा—"कृपा कर मेढक की आलोचना करना न भूलें।" गुरु ने सुना अनसुना कर दिया। शिष्य ने फिर कहा। गुरु बोले नही। शिष्य ने फिर अत्यन्त नम्र शब्दो मे कहा। गुरु को क्रोध आ गया। वे आगबबूला हो उठे और कहा—"तू मुझे शिक्षा दे रहा है? दुष्ट कही का!" यह कह रजोहरण ले उसके पीछे दौडे। रात का समय था। दीखा नही। बीच मे ही एक पत्थर के खम्भे से सिर टकरा गया। वे मर गये। ज्योतिष देवो मे जा उत्पन्न हुए। वहाँ से च्युत हो दृष्टिविष सर्प-योनि मे उत्पन्न हुए। वही जगल मे रहते। नगर मे नही जाते।

उस नगर का अधिपति एक राजा था। उसके एक पुत्र था। एक बार एक सर्प ने राजपुत्र को डस लिया। सारे राज्य मे शोक छा गया। वैद्यो का इलाज निष्फल गया। मान्त्रिको के मत्र बेकार हुए। राजा ने सभी गारुडिको (सपेरो) को बुला भेजा। वे आये। उन्होने अपनी सर्प

विद्याओ से सर्पों का आह्वान किया। सभी सर्प मडल मे आये । मुख्य गारुडिक ने सर्पों से कहा—"जिसने राजपुत्र को डसा है, वह यही इस मडल मे ठहरे और वाकी के सव चले जायँ।" सारे सर्प चले गये। एक सर्प मडल मे ठहरा। गारुडिक ने उस सर्प से कहा—"तुमने राजपुत्र को डसा है, या तो तुम अपना विप वापिस पी लो या इस अग्नि मे कूद पडो।"

वह अगधन कुल का सर्प था। इस कुल के सर्प वमन किए हुए विप को वापिस नही पीते। वह अग्नि में कूद पडा। जलकर भस्म हो गया। सर्प के मरते ही राजपुत्र भी मर गया।

राजपुत्र के मरते ही रनिवास मे कोलाहल छा गया। राजा क्रोधित हो गया। सर्पों के प्रति उसके मन मे रोप उमड आया। उसने घोपणा करवाई कि 'जो मुझे साप का सिर ला देगा, मैं उसे प्रति सिर एक-एक सोने की मुहर दूगा।' लोगो ने यह सुना। धन के लोभ से वे सापो को मारने लगे।

वह दृष्टिविप सर्प (गुरु का जीव) भय के मारे दिन मे वाहर नही आता। रात को वाहर निकलता, इधर-उधर घूम वापस विल मे चला जाता। सर्पो को ढूढते-ढूढते लोग वहाँ भी आ गये। रात्रिचरो ने उसका विल देख लिया। उस पर कुछ औपधि रखी। वह वाहर आने के लिए वाधित हुआ। उसने सोचा—'मैंने क्रोध का विपाक देख लिया। यदि मैं अभिमुख वाहर निकलता हू तो मेरी दृष्टि पडते ही वाहरवाले मर जाएँगे। मैं ऐसा पाप क्यो करूँ ?' यह सोच उसने पिछले भाग से निकलना शुरू किया। पहले पूंछ वाहर निकाली। गारुडिको ने पूछ काट ली। फिर ज्यो-ज्यो निकला त्यो-त्यो उसके टुकडे कर दिये। ज्योही उसका सिर काटा त्योही एक देवी ने उसे उठा लिया।

पिछली रात का समय था। राजा सुख की नीद सो रहा था। स्वप्न मे उसे एक देवता दीखा। देवता ने कहा—"राजन् ! सर्पों को मरवाना छोड दे। तेरे घर पुत्र का जन्म होगा, यह मैं वरदान देता हू। पुत्र का नाम 'नागदत्त' रखना।"

वह दृष्टिविप सर्प मरकर इसी राजा के घर पुत्र रूप मे उत्पन्न हुआ। सारे गाँव मे खुशियाँ मनाई गई। उसका नाम 'नागदत्त' रखा गया। वह छोटी अवस्था मे ही दीक्षित हो गया।

पूर्वजन्म मे वह तिर्यंच योनि मे था, इसलिए उसे भूख बहुत अधिक लगती। रात्रि मे वह खाता, सारे दिन उपशान्त रहता तथा धर्म मे सस्थित हो आत्म-रमण करता। वह जिस गच्छ मे था उसमे चार श्रमण और थे। चारो तपस्वी थे। एक चार माह की तपस्या करता, दूसरा तीन मास की, तीसरा दो मास की और चौथा एक मास की। वे इतने-इतने महीनो का अन्तर डाल भोजन करते।

एक बार एक रात मे एक देवी वन्दना करने आयी। क्रमश चारो तपस्वी उठे। अन्त मे क्षुल्लक उठा, देवी ने चारो का अतिक्रमण कर क्षुल्लक को वन्दना की। तपस्वी साधुओ को यह व्यवहार बुरा लगा। वे रूठ गये। चातुर्मासिक तपस्वी ने देवी से पूछा—"यह कैसा व्यवहार? हम इतनी घोर तपस्या कर रहे हैं, हमे छोड रसलोलुप रात्रिभोजी को वन्दना करना कहा तक उचित है?"

देवी ने कहा—"हम भाव-श्रमण को वन्दना करती हैं जो पूजा-सत्कार से परे है। जो इनकी सतत कामना करते हैं तथा अभिमानी हैं, उन्हे हम कभी वन्दना नही करती।"

तपस्वी साधु उस क्षुल्लक साधु के प्रति ईर्ष्या रखने लगे। देवी ने सोचा—ये इसका तिरस्कार न कर बैठें, ऐसा उपाय करना चाहिए। वह उसी के पास रहने लगी।

दूसरे दिन क्षुल्लक भिक्षा के लिए गया। कुछ भोजन ले आया। अपनी विधि के अनुसार उसने बडे साधुओं को भोजन के लिए बुलाया। सर्व-प्रथम चातुर्मासिक तपस्यावाले आये। मन मे ईर्ष्या तो थी ही। उन्होने भोजन के पात्र मे थूक डाला। क्षुल्लक को तनिक भी क्रोध न आया। वही उसी क्षण हाथ जोड बोला—"मुझे क्षमा करें। मैं आपके इगित को समझ नही सका। थूकने के लिए समय पर पात्र नही ला सका।" बाकी के तीनो तपस्वियो ने भी ऐसा ही किया, किन्तु क्षुल्लक विचलित न हुआ। सभी से पहले की तरह क्षमा-याचना की। चारो तपस्वी उसके धैर्य को देख स्तम्भित रह गये। उनको अपने जीवन पर दु ख हुआ।

उन्होने सोचा—हम तो केवल शरीर को तपानेवाली तपस्या करते है। वास्तव मे सच्चा तपस्वी यह क्षुल्लक है, जो अपने अन्तर को तपा रहा

है। उन्हे सत्य का भान हुआ। ईर्ष्या मिट गई। प्रेम उमड आया। क्षुल्लक को गले लगाया और अपनी भूल स्वीकार की।

देवी फिर प्रकट हुई। उसने तपस्वियो से पूछा—"वन्दना किसे करनी चाहिए ?"

उन्होने कहा—"जिसने क्रोध को जीत लिया है वही वन्दनीय है।" क्षुल्लक ने क्रोध को जीत लिया था। शनै-शनै उसके कर्म नष्ट होते गये। वह केवली बन गया।

अभयकुमार की उपज

एक भगिन गर्भवती थी। उसे आम खाने का दोहद (तीव्र इच्छा) उत्पन्न हुआ। उसने अपने पति से कहा।

उस समय आम का मौसम नही था। पति को चिन्ता हुई। उसने सोचा और एक उपाय ढूँढ निकाला। राजा श्रेणिक के अन्त पुर के बगीचे मे आम के वृक्ष थे। वे बारह मास फलो से लदे रहते थे। भगी वहा गया। बगीचे के अन्दर उसे कौन जाने देता। वह बाहर खडा रहा। वह अवनामिनी व उन्नामिनी विद्याएँ जानता था। अवनामिनी विद्या से उसने वृक्ष की डाली झुकाई, दो-चार आम तोडे और उन्नामिनी विद्या से डाली वापिस ऊपर कर दी। भगिन को आम मिल गये।

प्रात काल राजा बगीचे मे घूमने गया। वह जान गया कि कुछ आम चोरी गये है। उसने सोचा—ऐसा कौन व्यक्ति है जो मेरे अन्त पुर मे आता है ? इसकी जाँच करनी चाहिए। उसने अभयकुमार को बुलाया और कहा—"यदि तुम सात दिन की अवधि मे चोर को उपस्थित नही करोगे तो तुम्हें प्राणदण्ड दिया जाएगा।"

अभयकुमार चोर की गवेषणा करने लगा। कई दिन बीते। एक दिन वह जाते-जाते एक जगह पहुँचा, जहाँ बहुत लोग इकट्ठे हो रहे थे। वहाँ बैलो को लडाया जा रहा था। लोग उत्सुकता से बैठे थे। अभयकुमार ने

लोगो से कहा—"भाइयो! जब तक दोनो बैल लडने के लिए तैयार न हो तब तक मैं एक कहानी सुनाना चाहता हू। आप सब सुनें।"

लोगो ने बात मान ली। अभयकुमार ने कहा—

"एक नगर मे एक सेठ रहता था। वह दरिद्र था। उसके एक पुत्री थी। वह बहुत रूपवती थी। वह अविवाहिता थी। पिता वर की खोज करता। परन्तु वह निर्धन था। इसलिये उसकी लडकी के साथ कोई विवाह करने को राजी नही होता था। लडकी प्रतिदिन कामदेव की पूजा करती और 'वर' माँगती। प्रतिदिन वह एक बगीचे से फूल चुरा लाती और तन्मयता से अर्चना करती।

कई दिन बीते। बागवान ने उसे चोरी करते देख लिया। मौका पा उसे पकडा। वह सकपका गई। उसने कहा—मैं अब से चोरी नही करूँगी। मुझे मत मारो, छोड दो। माली ने कहा—एक शर्त पर मैं तुझे छोड सकता हू कि विवाह के पहले दिन (सोहागरात) अपने पति के पास जाने से पहले तू मेरे पास आए। लडकी ने 'हाँ' भर ली।

शुभ मुहूर्त्त मे लडकी का विवाह हुआ। उसने अपने पति से सारी बात कही। पति ने कहा—जाओ, अपने वचन का पालन करो। वह आगे चली। रास्ते मे एक राक्षस ने उसे पकड लिया। राक्षस भूखा था। वह उसे खाना चाहता था। लडकी ने अपनी प्रतिज्ञा उससे कही। उसने भी उसे छोड दिया। आगे चलते ही कई चोर मिले। वे उसे अपने घर ले जाना चाहते थे किन्तु उसकी बात सुन वे पिघल गये और उसे छोड दिया। वहाँ से वह माली के पास पहुँची।"

अभयकुमार ने उपस्थित लोगो से पूछा—"यह कहानी है। इसके पात्रो मे किसने दुष्कार्य किया? यह आप बतायें।"

जो ईर्ष्यालु थे उन्होने कहा—पति ने।

जो भूखे थे उन्होने कहा—राक्षस ने।

जो व्यभिचारी थे उन्होने कहा—माली ने।

और हरिसेण ने कहा—चोर ने।

अभयकुमार का उपाय सफल हुआ। उसने उसे पकड लिया। श्रेणिक के सामने हरिसेण को उपस्थित किया। राजा ने उससे पूछा।

चोर ने सारी वात कह सुनाई। अपराध स्वीकार किया। राजा ने कहा—"तुमने चोरी की है। इसकी सजा है मृत्युदण्ड। यह तुम्हे भुगतना पडेगा। परन्तु यदि तुम अपनी दोनो विद्याएँ सिखाओगे तो मैं तुम्हें छोड दूंगा।"

चोर प्रसन्न हुआ और विद्याएँ सिखाने की 'हाँ' भर ली।

राजा सिहासन पर वैठा था, हरिसेण नीचे भूमि पर। विद्या पढानी शुरू की किन्तु राजा उसे समझ नही सका। पूरा प्रयत्न करने पर भी वह उसे जान नही सका। राजा ने कहा—'मातग ! विद्या क्यो नही आती ?' 'आप विद्या लेने वाले ऊँचे वैठे हैं और मैं विद्या देनेवाला नीचे। यह मैं मानता हू कि आप इस देश के अधिपति है और मैं एक अकिंचन चाण्डाल। किन्तु विद्या देने-लेने के प्रसग पर आज हम गुरु-शिष्य है।'

चाण्डाल की वात राजा को जँची। वह अपने सिहासन से नीचे उतरा। उसे ऊपर विठा, आप खुद नीचे जमीन पर वैठ गया। विद्या समझ मे आने लगी। थोडे ही समय मे उसने उसे सिद्ध कर ली।

मुनि मनक

सुधर्मा स्वामी भगवान् महावीर के पाँचवें गणधर थे। उनके वाद जम्बू स्वामी हुए। उनके निर्वाण के वाद आचार्य प्रभव सघ के अधिपति वने। एक वार उनके मन मे यह चिन्ता हुई कि 'मेरे पीछे आचार्य कौन होगा ?' उन्होने अपने साधु-सघ को देखा। इस गुरुतर भार को वहन करने वाला यहाँ कोई नजर नही आया। चिन्तन चालू रहा। आखिर उन्होंने देखा कि राजगृह मे 'शय्यभव' ब्राह्मण उनका उत्तराधिकारी वनने योग्य है। उन्होने अपने दो शिष्यो को वुला भेजा और कहा—"तुम राजगृह जाओ और शय्य-भव के यज्ञवाट से भिक्षा ले आओ। यदि वह भिक्षा न दें तो यह कहकर लौट आना कि—'खेद है, तत्त्व नही जाना जा रहा है'।"

दोनों शिष्य वहाँ गये। भिक्षा न देने पर उन्होने कहा—"यह दु ख की वात है कि तत्त्व नही जाना जा रहा है।"

यज्ञवाट के दरवाजे पर वैठे शय्यभव ने यह सुना। उसने सोचा—ये

साधु उपशान्त है, तपस्वी है। ये झूठ नही बोलते। क्या मैं अभी तक तत्त्व नही जान पाया ? उसे शका हुई। वह अपने अध्यापक के पास आया और उनसे पूछा—'तत्त्व क्या है ?'

अध्यापक ने कहा—'वेद ही तत्त्व है।'

शय्यभव को यह नही जँचा। उसने अपनी तलवार वाहर निकालते हुए कहा—'यदि मुझे आप सही-सही तत्त्व नही वतायेंगे तो मैं आपका सिर काट डालूँगा।' अध्यापक कुछ डरा। उसने कहा—'इस यूप स्तम्भ के नीचे अरिहन्त देव की एक रत्नमयी प्रतिमा है। वह शाश्वती है। अर्हत् प्ररुपित धर्म ही सच्चा तत्त्व है।' शय्यभव को सन्तोष हुआ। वह अध्यापक के पैरो मे गिर पडा। यज्ञवाट की समूची ज़मीन उन्हे दे वह दोनो साधुओ की खोज मे निकल पडा। वे अपने आचार्य प्रभव के पास पहुँच गये थे। वह भी वहाँ आया। आचार्य को वन्दना कर पूछा—'मुझे धर्म का रहस्य वताइये।'

आचार्य प्रभव ने उसे पहचाना और साधु धर्म का मर्म समझाया। शय्यभव प्रव्रजित हुए। वे चौदह पूर्वधर वने।

जव उन्होने दीक्षा ली तव उनकी स्त्री गर्भवती थी। कौटुम्विक लोग कहते—'यह अपनी तरुण स्त्री को छोड साधु वना है। यह अपुत्र है।'

उसकी स्त्री से पूछते—'क्या तू गर्भवती है ?'

वह कहती—'मनाग् (थोडा) आभास होता है।'

यथासमय उसने एक पुत्र को जन्म दिया। वारह दिन पूर्ण होने पर उसका नाम-सस्कार हुआ। गर्भावस्था मे लोगो के पूछने पर वह कहती—मनाग् (थोडा) आभास होता है, इसलिए उसका नाम 'मनक' रखा।

मनक आठ वर्ष का हो चुका था। एक वार उसने अपनी मा से पूछा—'मा ! मेरे पिता कौन है ?'

उसने कहा—'तेरे पिता प्रव्रजित हो गए।'

वह अपने पिता की खोज मे घर से निकला।

उन दिनो आचार्य शय्यभव स्वामी चम्पापुरी मे विहार कर रहे थे। मनक वहाँ पहुँचा। वह गाँव के वाहर ठहरा। आचार्य शौचार्थ वाहर जा रहे थे। मनक ने उन्हे देख वन्दना की, वालक को देखते ही आचार्य के मन

मे प्रेम उमड आया। वालक का मन भी प्रेम से गद्‌गद् हो गया। आचाय ने पूछा—'तुम कहाँ से आये हो ?'

मनक—राजगृह से।

आचार्य—किसके पुत्र या पौत्र हो ? यहाँ क्यो आये हो ?

मनक—मेरे पिता का नाम शय्यभव है, उन्होने दीक्षा ले ली। मै उनसे मिलने आया हू। मैं दीक्षा लेना चाहता हू। क्या आप उन्हें जानते हैं ?

आचार्य—हाँ, मैं उन्हे भली-भाँति जानता हू। वे मेरे अभिन्न मित्र हैं। तुम मेरे पास दीक्षा ले लो।

मनक—हाँ, मैं ऐसा ही करूँगा।

मुनि अपने स्थान पर आये। कुछ सोचा और उसे दीक्षित कर दिया। उन्होंने अपनी योग्य दृष्टि से देखा कि इसकी आयु केवल छह मास की बाकी रही है। इतने अल्प-काल मे इसे विधिपूवक सारे शास्त्रो का अध्ययन नही कराया जा सकता। इसलिये मुझे ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि इस अल्प-अवधि मे भी यह सम्यग्-ज्ञान-दर्शन-चारित्र का पूण अनुष्ठान कर सके।

ऐसा विचार कर आगम के 'पूव' भाग से आवश्यक अग उद्धृत कर एक शास्त्र रचा। उसके दस अध्ययन हुए और उसकी पूर्ति विकाल वेला मे हुई इसलिए उसका नाम 'दशवैकालिक सूत्र' रखा।

सन्देह

राजगृह नगर मे राजा श्रेणिक राज्य करता था। उसकी रानी का नाम चेलना था।

एक वार भगवान् महावीर राजगृह पधारे। महारानी चेलना भगवान् के दर्शनार्थ गई। माघ का महीना था। बहुत जोरो की सर्दी पडती थी। वहाँ से लौटते हुए वैकालिक वेला (सन्ध्या) हो गई। चेलना ने मार्ग मे अवस्थित एक श्रमण को देखा। वह बहुत कठोर तपस्या कर रहा था। उसने कठोर प्रतिमा स्वीकार कर ली थी। रानी के मन मे कम्पन हुआ।

मार्ग मे उसी श्रमण का ध्यान करती हुई अपने महलो मे आ पहुँची।

रात्रि का समय था। रानी महल मे आकर सो गई। सयोगवश रानी का हाथ पलग के नीचे लटक गया। ठड ज्यादा थी। हाथ अकड गया। असह्य वेदना होने से रानी जाग पडी। उसने एक अगीठी मगवाई और अपना हाथ उस पर तपाया। हाथ के तनाव से सारा शरीर ठिठर गया था। आँच से उसमे कुछ चेतना आयी। सहसा उसे खुले आकाश मे वृक्ष के नीचे बैठे तपस्वी साधु की याद आ गई। उसके मुँह से सहसा निकल पडा—"वह तपस्वी अब क्या करेगा ?" राजा श्रेणिक ने यह बात सुनी। उसे रानी के चरित्र पर सन्देह हुआ। उसने सोचा—हो न हो, अवश्य कोई बात है। रानी ने किसी पर-पुरुष को सकेत-स्थान पर पहुँचने का वचन दिया है।

राजा को बहुत क्रोध आया। उसने अभयकुमार को बुलाकर कहा—"जाओ, शीघ्र ही सारे अन्त पुर को जला डालो।" अभयकुमार आज्ञा सुनकर अवाक् रह गया।

तत्पश्चात् राजा श्रेणिक भगवान् महावीर के समवसरण मे पहुँचा। प्रवचन चालू था। धर्म-देशना पूरी हो जाने पर श्रेणिक ने भगवान् से पूछा—"भगवन् ! चेलना पतिव्रता है या नही ?" भगवान् ने कहा—"राजन् ! वह पतिव्रता है।" भगवान् का उत्तर सुनते ही वह व्याकुल हो उठा। भगवान् के वचनो पर उसे पूर्ण श्रद्धा थी। उसने सोचा कि अभयकुमार ने कही सारा अन्त पुर भस्म न कर डाला हो। वह आकुल-व्याकुल हो शीघ्रता से अपने महलो मे लौट आया।

श्रेणिक ने अभयकुमार को बुलाकर पूछा—"क्या तुमने अन्त पुर मे आग लगा दी ?" अभयकुमार ने कहा—"हाँ, महाराज ! मैंने आपकी आज्ञा के अनुसार ही किया है।" श्रेणिक का पारा चढ गया। उसने अतिरोष मे कहा—"शर्म नही आती, तुम भी उसी मे क्यो न जल मरे ?" अभयकुमार ने कहा—"राजन् ! अग्नि-प्रवेश से क्या लाभ ? मैं तो अब दीक्षा लेने की तैयारी कर रहा हूँ। आप निश्चिन्त रहे। मैंने आपके अन्त पुर को नही जलाया है। राजाज्ञा शिरोधार्य करने के लिए केवल एक हस्तिशाला जला दी गई थी।"

राजा अभयकुमार की दूरदर्शिता पर मुग्ध हो गया। अभयकुमार को वैराग्य हो चुका था। भगवान् महावीर के पास दीक्षा ग्रहण कर वे आत्म-लीन हो गये।

परीक्षा

किसी गाँव मे एक ब्राह्मणी रहती थी। उसके तीन लडकियाँ थी। वह यह चाहती थी कि उसकी तीनो लडकियाँ जीवन भर सुख से रह सकें। इसलिये बहुत देखभाल करने के पश्चात् तीनो का विवाह किसी अच्छे घराने मे कर दिया। लडकियो को ससुराल जाते समय शिक्षा देते हुए ब्राह्मणी ने कहा—"देखो! पहले दिन ही अपने पति को लात से मारना।"

लडकियाँ अपनी-अपनी ससुराल चली गई। पहली लडकी ने अपने पति के लात मारी। वह उसके पैरों को दबाते हुए कहने लगा—"तुम्हारे पैरो मे चोट तो नही लगी ?" लडकी ने अपनी माँ से सारी बात कह दी। ब्राह्मणी ने कहा—"बेटी! कोई चिन्ता मत कर। तेरा पति तेरा दास होकर रहेगा।" दूसरी लडकी ने भी अपने पति को लात मारी। उसे कुछ साधारण क्रोध आया किन्तु थोडे समय बाद ही वह स्वत शान्त हो गया। लडकी ने जब ब्राह्मणी से यह बात बताई तब उसने कहा—"बेटी! तू भी निश्चिन्त रह। तेरा पति भी दास होकर रहेगा किन्तु उसको ज्यादा अप्रसन्न मत करना।" तीसरी लडकी ने भी अपने पति के लात मारी। वह रुष्ट हुआ और उसको खूब पीटा और वहाँ से चला गया। लडकी अपनी माँ के पास आयी। माँ ने कहा—'बेटी, तुझे उत्तम वर मिला है। तू होशियारी से रहना, और देवता मानकर उसकी पूजा करना। स्त्रियो के लिए पति ही देवता है। स्त्रियाँ पति-परायण होती हैं।" लडकी अपने पति के पास गई और ज्यो त्यो उसे प्रसन्न करके कहने लगी—"पतिदेव! यह तो परम्परा की बात है। कोई भी दुर्भावना या कौतुकवश मैंने वैसा नही किया।" पति प्रसन्न हो गया।

विनिमय

भगवान् महावीर राजगृह मे समवसृत थे। एक विद्याधर भगवान् को वन्दन कर विद्या साधने के लिए चला। विद्या साधना के मूल मन्त्र के कई अक्षर वह भूल गया था। अत हीमाक्षर-पोष के कारण वह विद्या साधते समय कभी ऊपर को उछलता और कभी नीचे को गिर पडता।

अभयकुमार को यह देख आश्चर्य हुआ। वह उसके पास आया और सारी बात पूछी। विद्याधर ने अपनी बात सही-सही उसे बता दी। अभय-कुमार ने कहा—"यदि तुम मुझे अपनी विद्या सिखा दोगे तो मैं तुम्हारे कार्य को सरल बना दूंगा और तुम सरलता से विद्या को साध सकोगे।" विद्याधर ने बात मान ली।

तत्पश्चात् अभयकुमार ने कहा—"मत्र का जो पद तुम्हे याद हो वह मुझे सुनाओ।" विद्याधर ने मत्र पढ ज्यो का त्यो सुनाया। अभयकुमार मे एक विचक्षणता थी। एक पद को सुनकर पदानुसारी विस्मृत अक्षरो को भी वह जान जाता था। मत्र पद को सुनकर अभयकुमार ने विस्मृत अक्षर बता दिये। मत्र-पद पूरा हुआ। थोडी देर मे ही विद्याधर ने विद्या साध ली। अपनी शर्त के अनुसार उसने अभयकुमार को विद्या सिखाई और वह अपने गन्तव्य स्थान पर लौट गया।

मनक चोर था

बहुत पुरानी बात है। अयोध्या मे सार्थवाह नाम का एक धनकुबेर रहता था। उसके पुत्र का नाम 'मनक' था। उसने अनेक कलाएँ सीखी। चौर्य-कला मे भी वह निपुण हुआ। परन्तु उसे अपनी इस कला पर विश्वास नही हो रहा था। अत उसने इसका क्रियात्मक अनुभव करना चाहा।

सायकाल का समय था। मनक विचारो की उधेडबुन मे इधर-उधर घूम रहा था। रात्रि का अन्धकार धीरे-धीरे बढने लगा। कृष्णपक्ष था।

टिमटिमाते तारो का झिलमिल प्रकाश धरती के अचल को छूने का प्रयास कर रहा था। राजमार्ग जनशून्य हो रहे थे। उसने देखा, उसका परममित्र अगद हाथ मे चाबियो का गुच्छा लिए आ रहा है। उसने उसे बुलाया और घर के अन्दर ले गया। कमरे के एक ओर बिछी गद्दी पर दोनो बैठ गए और गपशप करने लगे। मनक ने बात-ही-बात मे चाबी का गुच्छा ले अपने हाथो से उसे घुमाते-घुमाते ऊपर उछाला। वह एक लकडी के तख्ते पर जा गिरा, जिस पर कुछ मुलायम-सी चीज़ लगी हुई थी। तत्काल उसने वहाँ से उसे उठा लिया और अपने मित्र को दे उसे पहुँचाने गृहाङ्गण से बाहर तक चला आया।

उस तख्ते पर मोम लगा हुआ था। उस पर चाबी का निशान स्पष्ट दीख रहा था। उसके आधार पर उसने एक चाबी बनवाई और अपनी चौर्य-कला की परीक्षा की बाट देखने लगा।

कुछ दिन बीते। अमावस्या की अँधेरी रात मे वह घर से निकला। बाज़ार सारा बन्द हो चुका था। वह एक बन्द दूकान पर गया। वह दूकान उसके परम मित्र अगद की थी। अपने पासवाली चाबी से ताला खोला और दरवाज़ो को खुला रखकर बिछी हुई गद्दी पर बैठ गया। पास मे तेल का दीपक जल रहा था। सामने बहीखाते बिखेर दिए थे और वह कुछ कार्य-लग्न-सा दीख रहा था। कुछ देर बाद वह उठा। तिजोरी खोली और उसमे से तीन बहुमूल्य रत्न ले घर जाने की तैयारी करने लगा। इतने मे पहरेदार 'सावधान-सावधान' का घोष करता हुआ उधर आ निकला। पहरेदार को देखकर वह कुछ सकपकाया। यह स्वाभाविक था, क्योकि चोरी करने का उसका यह पहला अवसर था। परन्तु पुन 'सावधान हो' सुन वह खाँसा। पहरेदार ने देखा—दूकान खुली है, दीया जल रहा है। उसने सोचा—मुनीम या सेठ का लडका कार्य कर रहा होगा। वह आगे सरक गया। पहरेदार के जाते ही मनक उठा और दूकान को बन्द करके घर चला गया। दूसरे दिन सारे शहर मे यह बात फैल गई कि अमुक सेठ की दूकान मे चोरी हो गई। बहुमूल्य रत्नो के चोरी हो जाने से सेठ को गहरी चोट लगी। कोतवाल तक यह बात पहुँची। राजा ने भी सुना। उसे अपनी राज्य-व्यवस्था पर गर्व था। उसने कोतवाल को बुलाकर डाँटा। कोतवाल ने

पहरेदार से पूछा। पहरेदार ने कहा—'कल रात्रि के बारह बजे तक मुनीम जी इस दूकान मे काम कर रहे थे। मैंने प्रत्यक्ष देखा है।' सेठ ने कहा—'यह कैसे सम्भव है ? हमारी दूकान का यह नियम है कि रात्रि के आठ बजे के बाद काम नही किया जाता।' पहरेदार ने कहा—'कुछ भी हो, कल रात्रि मे बारह बजे तक दूकान खुली थी। मैं चोर को अवश्य पकड लूंगा।'

नगर-रक्षक चारो ओर दौड-धूप करने लगे। अपने पडोसी सेठ के पुत्र मनक पर किसी का सन्देह नही था। सन्देह हो भी तो कैसे ! वह स्वय धनकुबेर था, उसे चोरी करने की क्या आवश्यकता थी, वह निश्चिन्त था।

छ महीने बीत गए। पहरेदार को चैन नही था। वह चोर की टोह मे था। एक दिन रात को घूमते-घूमते वह मनक के घर के नीचे विश्राम करने बैठा। मनक सप्तभौम हर्म्य की ऊपर की मजिल मे सोने की तैयारी कर रहा था, अचानक मनक को खाँसी आयी। पहरेदार की स्मृति ताजी हो गई। उसके स्मृति-पटल पर छ महीने पहले की घटना प्रतिबिम्बित हुई। उसने आवाज़ पकड ली। सोचा—हो न हो चोर यही है। यह वही आवाज़ है जिसे मैंने पहले सुना था।

सूर्योदय हुआ। बाजार खुला। उसने अन्यान्य स्रोतो से सारी जानकारी हासिल की और राजा से जा निवेदन किया कि धनकुबेर सार्थवाह का पुत्र मनक चोर है। उसने रत्न चुराए है। राजा विश्वास और अविश्वास के झूले मे झूलता रहा—धनकुबेर का पुत्र चोर ! नगर-सेठ का पुत्र चोर ! नही, नही। यह झूठ कह रहा है। राजा ने पहरेदार को डाटा और उसे सोचकर बोलने के लिए कहा। 'महाराज, कुछ भी हो, चोर वही है। मुझे अपने ज्ञान पर पूर्ण आस्था है—विश्वास है। आप मानें या न मानें—चोर वही है।' पहरेदार ने बलपूर्वक कहा।

राजा ने कहा—'नही। कभी नही। मनक चोरी नही कर सकता। उसका आचरण आज सारे नगर मे आदर्श है। उसका व्यवहार बडे-बूढो को भी कुछ सीखने की प्रेरणा देता है। अपने धनकुबेर बाप का इकलौता बेटा, लक्ष्मी जिसके पैरो को चूमती है, वह चोरी करे, यह कैसे माना जाय ? मैं तुम्हारे कथन पर भी अविश्वास करूँ, यह भी नही जँचता। हाँ, इतना मैं अवश्य कहता हूँ कि तुम यदि उसे चोर साबित नही कर सके तो

तुम्हे फाँसी पर लटकना होगा। फिर तुम्हे माफ नही किया जाएगा। तैयार हो इसके लिए?' पहरेदार के मुँह पर हर्ष की रेखाएँ खिच गई। उसने कहा—'मुझे यह शर्त स्वीकार है। मुझे मरने से कोई डर नहीं।'

राजा के कर्मचारियो ने मनक को राजसभा मे ला उपस्थित किया। राजा को प्रणाम कर उसने वहाँ बुलाने का कारण पूछा। राजा ने कहा—'तुम पर चोरी का अभियोग है। क्या तुमने चोरी की है?'

मनक ने कहा—'महाराज! आप कैसी वातें करते है! मेरी सात पीढियाँ आपसे छिपी नही। मेरा ऐश्वर्य भी आपसे छिपा नही। मैं चोरी क्यो करता? आपको किसी ने वहकाया है।'

राजा ने कहा—'मनक! मैं जानता हूँ तुम अभिजात कुल के हो, परन्तु इस पहरेदार '

राजा वोलते-वोलते रुका। मनक ने कहा—'मैं स्पष्ट कहता हूँ, मैंने चोरी नही की। इस पर भी यदि आपको विश्वास नही होता तो मैं आप जैसा कहें वैसा करने के लिए तैयार हूँ। परन्तु आपको ध्यान मे रहे, मैं नगरसेठ का पुत्र हूँ, यदि अभियोग झूठा सावित हो गया तो राजा ने बीच मे ही कहा—'पहरेदार को फाँसी पर लटकना पडेगा।' राजा को पुन अविश्वास ने आ घेरा। उसने मन-ही-मन मे सोचा—मनक सच कह रहा है। पहरेदार झूठा है। यदि अभियोग सावित नही हुआ तो मेरे सम्मान को भी ठेस लगेगी।

पहरेदार के चेहरे पर भी विश्वास की रेखाएँ परिस्फुटित थी। मनक भी अपने कथन पर दृढ था। अन्त मे यह तय हुआ कि आगामी पूर्णिमा को देवी दुर्गा के स्थान पर 'धीज' कराई जाए। सभी ने यह वात मान ली। उन दिनो इस अन्धविश्वास की सभी अभ्यर्थना करते थे कि देवी के आगे चोर के हाथ चिपक जाते हैं।

मनक के माता-पिता के कानो तक यह वात पहुँची। पिता ने उसे नरम-गरम शब्दो मे समझाया। परन्तु मनक यही कहता गया—'मैंने चोरी नही की।' माँ ने कहा—"वेटे! अभी कुछ नही विगडा है। लक्ष्मी अपनी चेटी है। धन के सामने कौन नही झुकता! अव भी तू सच कह दे। तेरा वाल भी वाँका नही होगा। मैं इस अभियोग से तुझे निकाल दूंगी, इस कलक

से तुझे उबार लूँगी। तुझे 'धीज' करनी होगी। दुर्गा देवी का चमत्कार तुझ से छिपा नही है। चोर के हाथ वहाँ चिपक जाते हैं। सबके सामने क्या तू सारे वश को लज्जित करेगा ? बोल, बेटे ! सच-सच कह दे। क्या तूने चोरी की है ?" माता की ममता रो रही थी। वह विविध प्रयत्न से अपने लाडले पुत्र को समझा रही थी, किन्तु सब व्यर्थ।

मनक ने हँसते हुए माँ से कहा—"माँ ! तुम चिन्ता क्यो करती हो ? साँच को आँच नही। मैं सही मार्ग पर हूँ। तुम मेरा इतना अविश्वास क्यो करती हो ? मैंने चोरी नही की। मैं 'धीज' करूँगा।"

पूर्णिमा का दिन। सारे शहर मे हलचल-सी हो रही थी। बडे-बूढे, बालक-युवा, स्त्री-पुरुष—सभी देवी के मन्दिर की ओर जा रहे थे। सारे मार्ग जनाकीर्ण थे। देखते-देखते मन्दिर के पास अपार जनसमूह एकत्रित हो गया। पाँच-पाँच, दस-दस के समूहो मे लोग कानाफूसी कर रहे थे। मनक के चोर होने का किसी को विश्वास नही था।

समय का चक्र घूमा। प्रतीक्षा के क्षण लम्बे होते है। क्षण बीते, घटे बीते। मध्याह्न का समय आया।

मनक धीज की तैयारी कर रहा था। वह माँ के पास गया। प्रणाम कर कहा—'माँ ! मैं धीज करने जा रहा हूँ। मेरी एक बात मानोगी ?'

'क्यो नही, बेटा। कह, शीघ्र कह। तेरे लिए मैं सर्वस्व न्यौछावर कर दूँगी। बोल बेटा, बोल।'

'माँ ! आज मुझ मे स्तनपान करने की भावना जागृत हुई है। तू मुझे क्षण भर के लिए स्तनपान करा।'

बेटे की इस विचित्र भावना से माँ को झुझलाहट हुई। उसने कहा—'क्या पागलपन है ! क्या बचपना है ! अवस्था का भी तो खयाल रख। बेटा, तू चतुर है, ऐसी बातें शोभा नही देती।'

'माँ ! आज इस उत्कट भावना को पूरी करना ही पडेगा। माँ, देर हो रही है। मुझे इनकार मत कर।'

माँ ने उसकी इच्छा पूरी की। स्तनपान कर वह वहाँ से द्रुतगति मे देवी के मन्दिर की ओर चल पडा। माँ ने अपनी अजस्र अश्रुधारा के बीच उसे विदा किया। एक ही धुन मे वह चला जा रहा था। उसे अपने कला-कौशल पर पूरा भरोसा था। कुछ ही क्षणो मे वह मन्दिर के पास जा

पहुँचा। लोगो ने उसे देखा। राजा, अमात्य, पुरोहित, नगर के गण्यमान्य व्यक्ति उपस्थित थे।

राजा ने कहा—"मनक ! अब भी समय है। व्यर्थ ही अपने को सकट मे मत डाल। तू अपना अभियोग स्वीकार कर ले। इस देवी को साधारण मत समझ। हाथ चिपक गए तो तेरा सारा वश कलकित होगा। अब भी चेत जा। मुझे विश्वास है कि तू हठ के शृंग से उतरकर सत्य के समतल पर आ जाएगा।"

मनक ने गम्भीर होते हुए कहा—"माफ करें। जो कार्य मैंने किया ही नही उसे कैसे स्वीकार कर लूं ? अपनी आत्मा को धोखा दूं ? नही महाराज, यह कभी नही होगा। मैं 'धीज' करने के लिए तैयार हूँ। सकल्प दौर्बल्य का पाठ मैने सीखा ही नही।"

वह ऊँचे स्थान पर बने एक मच पर जा खडा हुआ। उसने देखा, सामने ही नगर के नामी सेठ-साहूकार, मत्री, राजकर्मचारी, निर्धन, धनवान व्यक्ति बैठे है। उच्च स्वर से जनता को सम्बोधित करते हुए उसने कहा—"साथियो ! मुझ पर चोरी का झूठा अभियोग लगाया गया है। मैं आपके सामने 'धीज' करने के लिए उपस्थित हुआ हूँ।" देवी की ओर मुडकर कहा, "देवी भवानी ! तू सब जानती है। मैं ये दोनो हाथ तेरी इस वेदी पर रखकर कहता हूँ कि माँ का स्तन-पान करने के पश्चात् मैंने चोरी नही की। यदि चोरी की हो तो मेरे ये दोनो हाथ यहाँ चिपक जाएँ।" लोगो ने सुना। सभी एकटक उसको देख रहे थे। भावो का आरोह-अवरोह स्पष्ट दीख रहा था।

मनक देवी की वेदी पर पाँच-छह क्षण हाथ रखे रहा। फिर मुडकर राजा से कहा—"यदि कहे तो हाथ उठा लूं या आज्ञा दें तो उन्हे और कुछ देर टिकाए रखूं।" समय बीत चुका था। राजा ने कहा—"हाथ ऊपर उठाओ।" सबके देखते-देखते उसने अपने दोनो हाथ ऊपर उठा लिए। हाथ नही चिपके। वह निर्दोष साबित हुआ। लोगो मे खुशी छा गई। मनक का परिवार हर्ष-विभोर हो उठा। सभी अपने-अपने घर की ओर वापस जा रहे थे। पहरेदार का मुँह ढीला पड गया था। वह जमीन मे गडा जा रहा था। मृत्यु के क्षणो का नैकट्य उसे भयभीत किए हुए था। आसन्न मृत्यु

के आतक से कौन अवसन्न नही हो जाता। वह एक शब्द भी नही वोल सका। उसे देवी पर जो विश्वास था वह भी उठ गया। वह थर-थर काँप रहा था, आँखो के सामने फाँसी का झूलता हुआ फदा नाच रहा था, शूली की अति तीक्ष्ण नोक उसके कोमल-कठोर मन को वीध रही थी। अजस्र अश्रुधारा से नयन धुँधला गए थे। उसने राजा से क्षमायाचना की। राजा का मन दुविधा मे छटपटा रहा था। नगरसेठ के पुत्र पर लगाया गया झूठा आरोप उसे मर्माहित कर रहा था। आग्नेय नेत्र से पहरेदार को घूरते हुए उसने उसकी याचना ठुकरा दी।

सागरचन्द और कमलामेला

द्वारका नगरी मे वलदेव का पौत्र सागरचन्द नामक एक राजकुमार रहता था। वह वहुत रूपवान था। उसी नगरी मे कमलामेला नाम की एक सुन्दर राजकुमारी रहती थी। उसकी सगाई उग्रसेन राजा के नाती धनदेव से हुई थी।

एक वार घूमते-घूमते नारदजी सागरचन्द राजकुमार के पास आये। राजकुमार ने उनका यथोचित आदर-सत्कार किया। उनको उच्च आसन पर विठाकर पूछा—'भगवन्! आप कैसे पधारे? क्या कोई आपने आश्चर्य देखा?'

नारद ने कहा—'हाँ।'

उसने पूछा—'कहाँ?'

नारद ने कहा—'इसी नगरी मे कमलामेला नाम की राजकुमारी वहुत रूपवती है। विश्व मे उसकी समता करने वाली स्त्री मुझे नज़र नही आयी। किन्तु उसकी सगाई हो चुकी है।' सागरचन्द के पूछने पर नारद ने अगली सारी वात उसे वताई। राजकुमार कमलामेला पर मुग्ध हो गया। उसने नारद से पूछा—'उसके साथ मेरा सयोग कैसे हो सकता है?'

नारद ने कहा—'मैं नही जानता।' इतना कह वे चले गये।

राजकुमार कमलामेला के रूप पर मोहित हो चुका था। इसलिये उसे न नींद आती, न भोजन भाता, किसी काम में उसका मन नहीं लगता। उसने राजकुमारी का एक चित्र बनवाया और वह उसी के ध्यान में लीन रहने लगा। प्रतिपल उसका नाम रटता रहता।

उधर नारदजी सागरचन्द से छुट्टी ले सीधे कमलामेला राजकुमारी के पास गये। उसने उनका उचित सम्मान किया। उसने पूछा—'आज आप कैसे पधारे ? क्या कोई आपने आश्चर्य देखा ?' नारदजी ने कहा—'हाँ, एक नहीं दो आश्चर्य देखे हैं। मैंने सागरचन्द राजकुमार जैसा रूपवान पुरुष कहीं दूसरा नहीं देखा और धनदेव जैसा कुरूप व्यक्ति भी नहीं देखा।' सागरचन्द का बखान सुनकर राजकुमारी उस पर मोहित हो गई। धनदेव के प्रति उसे घृणा होने लगी। नारदजी ने उसे आश्वासन दिया।

वहाँ से नारदजी सीधे सागरचन्द के पास पहुँचे। उसे राजकुमारी की सारी बात कह सुनाई। सागरचन्द कमलामेला पर पहले से ही मुग्ध हो रहा था। नारदजी की बात सुनते ही उसकी हालत और बिगड़ गई। वह दिन-रात राजकुमारी के ध्यान में खोया रहने लगा। उसकी यह दशा देख माँ तथा अन्य राजकुमार व्याकुल हो उठे।

एक बार सागरचन्द अमनस्क-भाव से बैठा था। उसका मित्र शवकुमार चुपके से आया और उसने पीछे से उसकी आँखें मीच ली। सागरचन्द को मालूम नहीं हुआ कि कौन है। वह सहजतया बोल पड़ा—'कमलामेला !'

शव ने कहा—'कमलामेला नहीं, कमलमेल।' राजकुमार सकपका गया और उसने अपनी सारी बात उसे बताते हुए कहा कि जैसे भी हो, कमलामेला से मुझे मिलाना होगा।

दूसरे कुमारों ने शव से कहा कि किसी भी तरह से सागरचन्द की इच्छा पूरी करनी चाहिए। शव नहीं माना। तब कुमारों ने मद्य पिलाकर उससे स्वीकृति ले ली। मदिरा का नशा उतर जाने पर शव को होश हुआ। उसने सोचा—हाय ! यह मैंने क्या कर दिया ? मैंने उन्हें झूठा विश्वास क्यों दिया ? परन्तु मुझे अपने वचन पर दृढ़ रहना चाहिए। अब ऐसा उपाय करना चाहिए कि मेरे वचन का सम्यग् निर्वाह हो सके।

उसी दिन से उसने देवी की आराधना शुरू कर दी। कुछ ही दिनों के

बाद देवी उसके सामने आ उपस्थित हुई और इच्छित वर माँगने को कहा। शब ने अच्छा अवसर जान उससे रूपपरावर्तिनी विद्या माँगी। देवी ने उसे विद्या दे दी।

इधर राजकुमारी और धनदेव के विवाह की तैयारियाँ हो रही थी। विवाह की निश्चित तिथि पर शब ने विद्याधर का रूप बनाया और कमलामेला का अपहरण कर वह उसे रैवतक उद्यान मे ले गया। राजकुमार सागरचन्द और अन्य कुमार वहाँ उपस्थित थे। सागरचन्द व कमलामेला का यथाविधि पाणिग्रहण हुआ। दोनो उद्यान मे क्रीडा करते हुए सुख से रहने लगे।

राजकुमारी के अपहरण से लोगो मे खलबली मच गई। चारो ओर क्षोभ छा गया। छानबीन करने पर भी कोई नही जान सका कि राजकुमारी का अपहरण किसने किया है। लोग इधर-उधर दौडे। नारदजी से पूछा। उन्होने कहा—'मैंने राजकुमारी को रैवतक उद्यान मे देखा था। कोई विद्याधर उठा ले गया है—ऐसा लगता है।' यह समाचार जब कृष्ण के पास पहुँचा तो वे दल-बल सहित सग्राम के लिए चल पडे। शबकुमार विद्याधर का रूप बनाकर युद्ध करने लगा और उसने अनेक राजाओ को पराजित कर दिया। अनेक राजा रणक्षेत्र से भाग गये। अब शब कृष्ण के साथ युद्ध करने लगा। कृष्ण को बहुत क्रोध आया। परन्तु कृष्ण के उग्र रूप धारण करने के पहले ही शब अपना असली रूप प्रगट कर कृष्ण के चरणो मे गिर पडा।

कृष्ण ने शब को डाँटा। शब ने कहा—"पिताजी! इसमे मेरा कोई दोष नही है। राजकुमारी झरोखे मे से कूदकर आत्महत्या करना चाहती थी, मैं यह देखकर उसे वहाँ से ले आया।" कृष्ण चुप हो गये। बात बीत चुकी थी। कृष्ण ने धनदेव के पिता उग्रसेन को शान्त करके भेज दिया।

इधर सागरचन्द और कमलामेला सुखोपभोग करते हुए अपना जीवन-यापन कर रहे थे। एक बार भगवान् अरिष्टनेमि उसी नगर मे पधारे। कमलामेला और सागरचन्द दर्शनार्थ गये। भगवान् का प्रवचन सुनकर दोनो ने 'अणुव्रत' ग्रहण किया। अब दोनो का जीवन धार्मिक क्रियाओ मे अधिक बीतने लगा। सागरचन्द अष्टमी-चतुर्दशी को एकान्त मे या श्मशान

मे 'एक रात्रिक-प्रतिमा' को धारण करता था। ऐसे कई दिन बीते।

धनदेव ने सागरचन्द की सारी दिनचर्या जान ली। उसके मन मे राजकुमारी कमलामेला के न मिलने से रोष बढा हुआ था। वह ज्यो-त्यो बदला लेना चाहता था। उसने ताँबे की सुइयाँ बनवाई और उन्हे ले वहाँ जा पहुँचा जहाँ सागरचन्द अपनी प्रतिमा मे एकचित्त हो बैठा था। उसने सागरचन्द की बीसो अगुलियो के नखो मे वे तावे की सुइयाँ चुभो दी। सागरचन्द को असह्य पीडा होने लगी। 'पडिमा' के कारण कुछ नही बोला। समभाव से पीडा को सहन कर उसी समय मृत्यु को प्राप्त हो गया। मरकर वह देव बना।

सागरचन्द के समय पर घर न पहुँचने पर लोग उसे इधर-उधर ढूँढने को दौडे। कही पता नहीं लगा। लोग आक्रन्दन करने लगे। आखिर गुप्तचरो ने पता लगा लिया। सागरचन्द को मरा पडा देख सारे नगर मे क्षोभ छा गया। तावे की कीलो के आधार पर वे लोग ताम्र-कट्टक के पास गये। उससे सही जानकारी मिल गई कि ये ताँबे की सुइयाँ धनदेव ने उससे बनवाई थीं। राजकुमारो को क्रोध आया। वे अपनी सेना लेकर धनदेव से युद्ध करने निकल पडे। धनदेव भी अपने दलबल सहित रणक्षेत्र मे आ डटा। दोनों ओर घोर सग्राम होने लगा। देव सागरचन्द ने अपने ज्ञान से यह जाना और शीघ्र ही रणक्षेत्र मे जा पहुँचा। उसने मध्यस्थता कर दोनो को समझाया। दोनो मान गये। युद्ध बन्द हो गया।

कुछ समय पश्चात् राजकुमारी कमलामेला ने भगवान् के पास भागवती दीक्षा ग्रहण की।

व्रतनिष्ठा

"सुनते हो! आज घर मे खाने के लिये अनाज नही है। दोनो बच्चे चुन्नू-मुन्नू बिलख रहे हैं। दस महीने मैंने ज्यो-त्यो घर-गृहस्थी चला ली। परन्तु अब मेरे बश की बात नही रही। जितना जेवर था वह बिक गया। अब

अडोस-पडोसवाले भी अपनी स्थिति जानने लग गए। वे भी अब हमे सहायता देने से हिचकते है। आखिर इस प्रकार निकम्मे बैठने से तो काम चलेगा नही। कुछ तो करना ही होगा। यदि कुछ नही बना तो जहर खाकर मरना पडेगा। मैं भूखी रह सकती हू किन्तु चुन्नू-मुन्नू को भूख से तडपते नही देख सकती।" सरोज ने एक ही सास मे सारी बात अपने पति नगराज को कह दी।

नगराज अपने नगर का एक प्रतिष्ठित व्यक्ति था। आस-पास के लोग उसे 'राजाबाबू' कहते थे। कई शहरो मे उसकी दूकानें थी। वह सादगी से रहता। गरीबो की मदद करता। उनकी आवश्यक जरूरतो को पूरी करता। व्यवसाय मे उसे लाभ होता। उसके एक स्त्री और दो पुत्र थे। मकान, मोटर, घोडे आदि थे। किन्तु काल का चक्र पलटा। उसका व्यवसाय घाटे मे चलने लगा। मुनीम, गुमाश्ते एक-एक कर रकम हडपने लगे। व्यवसाय बन्द हो गया। जो कुछ ऋण चुकाना था वह आभूषण, मकान, मोटर आदि बेचकर चुका दिया गया। उसने सोचा—पैसा हाथ का मैल है। वह फिर मिल सकता है किन्तु इज्जत मे बब्बा लग जाने से वह फिर नही मिल सकती। वह आज दर-दर का भिखारी है। सरोज की बात उसे काटो-सी चुभी किन्तु वह सत्य थी। उसने कहा—"सरोज ! तू देवी है। तेरे जैसी पत्नी पा मैं धन्य हू। दु ख दिनोदिन बढ रहा है, धैर्य से काम लेना चाहिए। मैं अपने मित्र से पहले ही पचास रुपये उधार ले आया हू। मैं कल ही यहाँ से दूर देश जाने वाला हू। तब तक तू इनमे काम चलाना। मैं शीघ्र ही वापस लौट आऊँगा।"

सरोज ने उसे दु खभरे हृदय से विदा दी—"आपकी यात्रा मगलमय हो।" वह वहाँ से चल पडा। पास मे फूटी कौडी भी नही थी। भटकते-भटकते एक महीने बाद वह एक छोटे-से कस्बे मे जा पहुँचा। भूख के मारे उसका शरीर क्षीण हो गया था। कभी भरपेट भोजन मिलना तो कभी एक कौर भी नसीब नही होता। कभी कुछ मजदूरी कर पेट भरता तो कभी जगल मे फल-फूल खाकर रह जाता। आज वह हार चुका था। वह एक सेठ के घर पहुँचा। पानी मांगा। भरपेट पानी पी चुकने के

बाद उसने सेठ से कहा—"मैं नौकरी करना चाहता हू। आप अपने घर मे मुझे नौकर रख लें।"

सेठ को नौकर की आवश्यकता थी। उसने कहा—"देखो, मेरे यहाँ कई नौकर-चाकर काम करते हैं। सबको अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार वेतन मिलता है। तुम भी खुशी से रह सकते हो। यहाँ तीन प्रकार के काम हैं—

(१) दूसरो से कुछ धान लेना पडे तो एक मन का ४५ सेर लेना और देना पडे तो एक मन का ३५ सेर देना। यदि यह काम करोगे तो तुम्हे मासिक २०) मिलेंगे।

(२) दूसरो को ८० रुपये उधार देकर १०० रुपये लिखना और १०० रुपये लेकर ८० रुपये लिखना। यदि यह काम कर सकोगे तो मासिक १५) मिलेंगे।

(३) तीसरा काम है मेरे अनाज के गोदामो की रखवाली करना। यदि यह काम कर सकोगे तो वार्षिक १ रुपया रोटी-कपडा सहित मिला करेगा।"

उसने सुना, सोचा—यदि पहले दोनो काम स्वीकार करता हू तो अनैतिक बन जाता हू। यदि तीसरा काम स्वीकार करता हू तो काम नही चल सकता। क्या करूँ? उसने सोचा, खूब विचार किया। अन्त मे यह निश्चय किया कि वह चन्द चाँदी के टुकडो के लिये अपना ईमान नही बेचेगा। लक्ष्मी चचल है। वह आती-जाती रहती है। तीसरा काम उसने स्वीकार कर लिया।

आज वह गोदाम का चौकीदार है। अनाज के हजारो बोरे आते-जाते हैं। उनका पूरा लेखा-जोखा वह रखता है। न उसे खाने-पीने की चिन्ता है और न कपडे की। सारी पूर्ति आवश्यकतानुसार हो जाती है।

इधर सरोज ने भी काम ढूढ लिया था। वह दूसरो के घर मे बासन माँजने चली जाती। कभी पिसाई भी कर लेती। उसे दो-तीन रुपये मिल जाते। इससे वह अपना काम चला लेती। पति की कमाई की उसे अपेक्षा नही रहती थी। चुन्नू-मुन्नू भी बडे हो गये थे। उनमे हठ कुछ कम हो गया था। शायद उन्हे भी अपनी वास्तविक स्थिति मालूम पड गई हो।

इसी प्रकार तीन वर्ष वीत गये। सेठ गिरधारीलाल अपने चौकीदार नगराज से प्रसन्न था। उसकी कार्य-तत्परता से वह वहुत सन्तुष्ट था। उसके वलिदान से वह आकृष्ट था। उसने मोचा—'यदि मैं अपने व्यवसाय मे इसको साझीदार वना लूँ तो मालामाल हो जाऊँगा। यह कुलीन व सच्चा व्यक्ति नजर आता है। इसके कुल की परीक्षा करनी चाहिए।'

दूसरे दिन प्रात ही सेठ ने नगराज को वुला भेजा और कहा—"देखो! आज मैं तुम्हारे गाँव की ओर जा रहा हू। वहाँ मेरे कई सम्वन्धी हैं। उनके घर व्याह है। वापिस लौटते तुम्हारे घर हो आऊँगा। कुछ समाचार कहलाने हो तो मुझे कह दो, और कुछ भेजना हो तो मेरे साथ भेज सकते हो।" नगराज ने सुना। आँखें डवडवा आयी। उसने कहा—"मालिक! क्या भेजूँ? भेजने के लिये है ही क्या? तीन वर्षो मे तीन रुपये कमा सका हू। घर पर दो वच्चे और मेरी पत्नी है। तीन रुपये से उनका एक महीने का गुजारा भी नही होगा। मुझे शर्म आती है अपने पुरुपत्व पर। पर मुझे इतना हर्ष जरूर होता है कि मैं इतने कष्ट मे भी नैतिक वना रहा। घर पर वच्चो को प्यार कहना और तीन रुपयो के नीवू लेते जाना। वहाँ नीवू नहीं होते। अचार के काम आ जायेंगे। कुछ सहारा भी लगेगा।" इतना कह चुकने पर उसका गला रुँध गया। वह सिसकता हुआ अपने स्थान पर चला गया।

कई दिनो के सफर के वाद सेठजी नागौर जा पहुँचे। अपने मुनीम का घर पूछते-पूछते उसके घर पहुँचे। नगराज की स्त्री ने उनका आतिथ्य-सत्कार किया। अपने पति के समाचार पा वह पुलकित हो उठी। वियोग मे अपने प्रिय के सन्देश भी साक्षात् उनकी उपस्थिति जितना आनन्द ला देते हैं। वह आनन्दविभोर हो उठी और सेठ से कई प्रश्न भी कर बैठी।

कालचक्र घूमा। उस नगर के राजा का इकलौता राजकुमार अचानक वीमार हो गया। वैद्य वुलाये गये। तान्त्रिक भी आ पहुँचे। राजा-रानी विह्वल हो रहे थे। उनके मन मे रह-रहकर अनिष्ट आशकाएँ आ रही थी। राजकुमार की वेदना असह्य थी। राजवैद्य ने नाडी देखी—ठीक-ठीक रोग को पकडा और वोला—'महाराज! चिन्ता जैसी कोई वात नहीं। रोग असाध्य अवश्य है, किन्तु मेरे पास भी एक असाधारण औषधि है।

वह रोग को शांत कर देगी। परन्तु ' वैद्य रुक गया।

राजा की जिज्ञासा बढ़ी। वह प्रेम-विह्वल हो बोल उठा—'परन्तु क्या? मैं अपने प्रिय पुत्र के लिए सब कुछ कर सकता हू।' वैद्य ने कहा—'महाराज! दवाई का अनुपान है—नीबू का रस। नीबू हमारे देश मे नही होते। यदि चार-पाँच घंटो तक राजकुमार को नीबू न दिया गया तो '

राजा विस्मय मे पड गया। नीबू एक साधारण वस्तु—परन्तु उस समय वह बहुमूल्य बन गई थी। उसने सारे गाँव मे पटह फेरा। प्रत्येक गली-गली मे पटहकार यह घोषणा करके चला जा रहा था—'जो कोई-दो सेर नींबू राजा के महल मे पहुँचायेगा—उसको मुँहमाँगा इनाम दिया जाएगा।' लोगो ने सुना, किन्तु नीबू कहाँ?

उस गली मे भी घोष सुना गया। नगराज की पत्नी सरोज ने उस पटहकार से कहा—"जाओ, राजा से कह दो मैं अभी नीबू लिए महल मे आ रही हू।"

राजा ने सुना। उसकी खुशी का पार न रहा।

सरोज एक थाल मे नीबू सजाकर राजा के पास ले गई। राजा ने उसका सम्मान किया। वैद्य ने उपचार चालू किया। कुछ ही देर बाद राजकुमार को होश आया। उसने पानी माँगा। पानी पी चुकने के बाद उसने कहा—'अब मेरी तबीयत कुछ ठीक है। मुझे और नीबू का रस पिलाओ।' वैद्य की इच्छानुसार उसका उपचार चालू रहा।

दूसरे दिन राजकुमार स्वस्थ हो गया। सरोज को पारितोषिक देना था। वह आयी। राजा ने कहा—"बहन! तूने मेरे पुत्र को जीवन-दान दिया है। जो कुछ चाहो—माँगो।" उसने कहा—"राजन्! मैं कुछ लेना नही चाहती। देश के अधिपति के प्रति मेरा कर्तव्य था, मैंने उसे निभाया है। मेरी वस्तु आपके काम आयी इससे बढकर और क्या हर्ष हो सकता है?" राजा ने उसे मागने के लिये बहुत कहा परन्तु वह राजी नही हुई। तब राजा ने अपने कोषाध्यक्ष से कहा—'जाओ, इसके घर एक लाख नगद, एक लाख का जेवर और अनेक वस्त्रादि भेज दो। यह मेरी बहन है।'

सरोज का काल-चक्र पुन घूमा। दु ख जाता रहा। सुख की घडिया

बीतने लगी। सारे ठाट-बाट पहले-जैसे ही हो गये। वह सुख से जीने लगी।

इधर सेठ गिरधारीलाल को आये आज पूरे चार दिन हो गए हैं। सरोज का आतिथ्य उन्हे आकृष्ट किए हुए था। उसकी सौजन्यता और विनम्र व्यवहार से वे फूले जा रहे थे। उन्होने विदा लेनी चाही। सरोज ने कहा—"आपके शुभागमन से मेरी तकदीर चमक उठी। आप महान हैं। आप जा ही रहे हैं। यह पत्र उन्हे दे देना।"

नगराज ने अपने मालिक को आये देख उन्हे पिछला सारा विवरण बता दिया। पूछा—'घर पर खुशी है।' 'हाँ, सब आनन्द है। परन्तु तुम्हे शीघ्र बुलाया है। क्या तुम जाना चाहते हो ?' 'नही, सेठ साहब ! मैं वहा जाकर करूँ भी तो क्या ? यहाँ मजे मे तो हू। वहाँ घर-गृहस्थी की चिन्ता मुझे मार डालेगी।' 'नही, तुम्हे जाना होगा। एक बार तुम जा आओ।'

सेठ के अति आग्रह से नगराज अपने नगर की ओर चल पडा। जाते-जाते सेठ ने उसे यह कहकर सौ रुपये दिये कि मैं तेरी ईमानदारी पर प्रसन्न हू और ये रुपये तुझे इनाम देता हू। अपना इनाम लिये वह खुशी से चला जा रहा था। रास्ते मे नाना प्रकार के विकल्प उठते, स्वय समाधान करता, फिर उन्ही मे उलझ जाता।

नगर की छोटी-मोटी सडको से होते हुए वह अपने मकान वाली गली मे जाने लगा। उसे अपनी छोटी कुटिया वहाँ दिखाई नही दी। उसे विस्मय हुआ—यह क्या ? क्या मेरी पत्नी-बच्चे सभी मर गए या उन्हे यहाँ से निकाल दिया गया ? वह इसी उधेडबुन मे था कि उसकी स्त्री एक विशाल मकान से बाहर आयी और उसे अन्दर ले गई। वह अवाक् था। उसे सारी घटना कह सुनाई।

उसने मुसकराते हुए कहा—"सरोज ! जानती हो, यह ईमानदारी का प्रभाव है। दु ख मे भी हम अपने नियमो पर अटल रहे—इसी का यह फल है।"

दो रूपक

दो साधक साधना कर रहे थे। नारद घूमते-घूमते वहाँ आ निकले। दोनो ने कहा—"आप देवलोक जा रहे हैं। वापिस लौटते समय विधाता से पूछना कि हमारी मुक्ति कब होगी।" नारद जी वहाँ से चले गये। दो महीनो के बाद नारदजी वापिस आये। प्रथम साधक को कहा—"विधाता ने कहा है कि तुम्हारी मुक्ति चार हजार वर्ष बाद होगी।" सुनते ही वह अवाक् रह गया। सोचा, मैंने दस हजार वर्ष तक तपस्या की, कष्ट सहे, भूख और प्यास सही, शरीर को क्षीण कर दिया, फिर भी चार हजार वर्ष ! मैं इतने दिन और नही रुक सकता। वह साधना को छोड चला गया। नारदजी दूसरे साधक के पास गये। उससे कहा, "विधाता ने तुम्हारी मुक्ति का हाल भी मुझे बता दिया है। जो वह पीपल का पेड है, उसके जितने पत्ते हैं, उतने वर्ष बाद तुम मुक्त हो सकोगे।" साधक ने सुना, सुख की साँस ली। सोचा—जन्म-मरण की परम्परा की एक सीमा तो हुई। मैंने दस हजार वर्ष तपस्या की, कष्ट सहे, शरीर को क्षीण किया। वह निष्फल तो नही गया। वह और भी अधिक उत्साह से भगवान् के ध्यान मे लग गया। नारदजी ने कहा—"धीरज का फल मीठा होता है। साधना मे धैर्य चाहिए।"

कुत्ता एक घर से मिठाई की एक थैली चुरा लाया। एकान्त मे उसे फाड, मिठाई खाने लगा। पूरी मिठाई खा चुकने के बाद नीचे पडे दाने भी चुग लिये, इतने मे एक गधा आया। उसने उस मिठाई के चिकने कागज को खा लिया। घरवालो ने उस थैली को ढूँढा, वह मिली नही। बच्चो से पूछा, सारे घर को छान मारा। आस-पास के बरामदे मे भी देखा—किन्तु कोई पता नही लगा। आखिर सोचा—शायद नौकर ले गया होगा। घोडे को पानी पिला जब वह घर लौटा तो सेठानी ने तडककर कहा, "शर्म नही आती, खाने की चीज भी चोरी कर ले जाते हो, माँगकर ले जाते तो मुझे इतना दुःख नहीं होता। ऐसा चोर नौकर मुझे नही चाहिए। जाओ, अपना रास्ता लो।" नौकर ने कुछ कहना चाहा, किन्तु कौन सुने

उसकी ! उसने सोचा—'किसी दुष्ट ने चोरी की और दण्ड मुझे मिला। हाय रे राम, तेरा न्याय !'

ईर्ष्या का फल

एक गाँव मे एक बुढिया रहती थी। वह गोवर थाप-थापकर अपना गुजर करती थी। एक वार उसने किसी व्यन्तर देव की आराधना की। देव उसकी भक्ति से सन्तुष्ट हुआ। वह प्रगट हुआ। उसने बुढिया से वर माँगने को कहा। बुढिया होशियार थी। उसने सोचा, अवसर को हाथ से नही जाने देना चाहिए। उसने कहा—'यदि आप मुझ पर सन्तुष्ट है तो मेरे गोवर के सारे उपले रत्न वन जायँ। देव की शक्ति अपरिमित होती है। देवता ने कहा—'तथास्तु।' सारे उपले रत्न वन गए। बुढिया धनवान वन गई। उसने चार कोठो वाला एक सुन्दर भवन वनवाया। अनेक दास-दासी रहने लगी। वह सुख से जीवन विताने लगी।

एक दिन बुढिया के घर उसकी एक पडोसिन आयी। उसके घर की सज-धज को देख उसे विस्मय हुआ। वह बुढिया से मीठी-मीठी वातें करने लगी। वातो ही वातो मे उसने जान लिया कि बुढिया इतनी जल्दी कैसे धनी वन गई। वस उसने भी व्यन्तर देव की आराधना शुरू कर दी। भक्ति-भाव से उसने व्यन्तर देव को रिझा लिया। देव प्रसन्न होकर उपस्थित हुआ और उससे वर माँगने को कहा। पडोसिन ने अवसर का लाभ उठाना चाहा। ईर्ष्या तो थी ही। उसने कहा—"मैं चाहती हू कि जो वस्तु तुम बुढिया को दो वह मेरे दुगुनी हो जाय।"

वही हुआ। जो वस्तु बुढिया माँगती उसके घर दुगुनी हो जाती। बुढिया के चार कोठो वाला एक मकान था तो पडोसिन के चार कोठो वाले दो मकान थे। बुढिया के चार घोडे और आठ वैल थे तो उसके आठ घोडे और सोलह वैल थे। इसी प्रकार उसके घर सारी चीजें दुगुनी थी।

बुढिया को जव इस वात का पता लगा तो वह वहुत कुढी। वह पडो-

सिन के इस व्यवहार को सहन नही कर सकी। उसने व्यन्तर देव से वरदान माँगा कि उसके चार कोठो वाला घर गिर पडे और उसके स्थान मे एक घास की झोपडी वन जाय। वैसा ही हुआ। उसकी पडोसिन के दोनो घर गिर पडे और उनके स्थान पर घास की दो झोपडियाँ वन गई।

तत्पश्चात् वुढिया ने दूसरा वर माँगा कि उसकी एक आँख फूट जाय। पडोसिन की दोनो आँखें फूट गई। तत्पश्चात् वुढिया ने कहा—"मैं एक हाथ से लूली और एक पाँव से लगडी हो जाऊँ।" वैसे ही हुआ। पडोसिन के दोनो हाथ-पैर टूट गए।

वुढिया तो ज्यो-त्यो अपना काम चला लेती। किन्तु पडोसिन वेचारी अपग हो चुकी थी। वह पडी-पडी सोचती कि यह सारा असन्तोष का फल है। यदि मैं वुढिया के धन को देखकर ईर्ष्या न करती तो मेरी यह दशा नही होती।

भक्ति और बहुमान

एक ऊँचा पहाड था। उसमे कई गुफाएँ थी। एक गुफा मे शिव की एक मूर्ति थी। एक ब्राह्मण और एक भील शिव की पूजा करते। ब्राह्मण नीचे झील मे स्नान करता। पूजा के कपडे पहनता। एक थाली मे फल-फूल सजाकर ले जाता। पहले शिव मूर्ति को सुगन्धित जल से स्नान कराता। फिर केशर, चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यो से लेप कर पूजा करता। तत्पश्चात् बद्धाजलि हो भक्तिभाव से अर्चना करता। किन्तु उसके मन मे शिवजी के प्रति वहुमान नही था।

भील अपने कार्य से निवृत्त हो मूर्ति की पूजा करने ऊपर जाता। मुँह मे पानी भरकर मूर्ति के ऊपर थूकता। इस प्रकार कई वार कर चुकने के वाद तन्मयता से देखता रहता। उसके पास न फल थे, न फूल थे। किन्तु उसके मन मे शिवजी के प्रति वहुमान था। अटूट श्रद्धा थी। शिवजी उसकी सहज भक्ति से प्रसन्न हुए। प्रतिदिन वे उसके पास उपस्थित होते और

वातचीत करते ।

एक दिन ब्राह्मण ने उनके आलाप-सलाप को सुन लिया। मन मे क्रोध आया। वह मूर्नि के पाम अकवक वकने लगा। उसने कहा—"यह कोई नीच कोटि का शिव है जो एक नीच व्यक्ति के साथ मन्त्रणा करना है। जो शुचिभूत नही है उसके साथ वोलना भी पाप है।"

शिवजी की मूर्ति से आवाज आयी—"यह भील मुझे वहुमान देता है। इसकी श्रद्धा विशुद्ध है। तुम्हारे मे इसकी कमी है।"

एक दिन शिवजी ने अपनी एक आँख निकाल ली। लहू वहने लगा। ब्राह्मण पूजा करने आया। शिवजी की एक आँख न देख रोने लगा। कुछ देर वाद शात हो घर चला गया।

भील आया। उसने देखा कि शिवजी की एक आँख फूट गई है, लहू वह रहा है। उससे न रहा गया। अपना तीर निकाला। उससे अपनी एक आँख वाहर निकाल शिवजी के लगा दी। दूसरे दिन शिवजी ने ब्राह्मण को सारी वात कही। ब्राह्मण को विश्वास हुआ कि उसमे वहुमान की कमी है।

काकिणी की याचना

पाटलिपुत्र मे अशोक नाम का राजा राज करता था। वह चन्द्रगुप्त का पौत्र और विन्दुसार का पुत्र था। उसका पुत्र कुणाल उज्जयिनी नगरी का सूवेदार था।

कुणाल जव आठ वर्ष का था, तव राजा ने स्वय एक पत्र लिखा—"अवीयता कुमार"—कुमार अव विद्याध्ययन करना प्रारम्भ कर दे। सयोगवश उस समय कुणाल की सौतेली माँ पास मे वैठी हुई थी। उसने सोचा, कुमार को नीचा दिखाने का यह अच्छा अवसर है। रानी ने राजा से पत्र माँगा। पत्र रानी के हाथ मे देकर राजा दूसरे कार्य मे लग गया। रानी ने चुपके से एक सलाई लेकर थूक से 'अ' कार पर एक अनुस्वार लगा दिया। अव 'अवीयता' के स्थान पर 'अंधीयता' हो गया।

रानी ने पत्र राजा को लौटा दिया। प्रमादवश राजा ने उसे पुन खोलकर नही देखा। उस पर अपनी मोहर लगाकर उज्जयिनी की ओर रवाना कर दिया।

पत्र कुणाल के पास पहुँचा। कुणाल का परिचायक पत्र पढकर दग रह गया। कुमार के बार-बार पूछने पर भी उसने अपना मौन नही खोला। तब मकुार ने स्वय वह पत्र पढा। उसमे लिखा था—'अधीयता कुमार' —कुमार अन्धे हो जायँ। कुमार दुविधा मे पड गया। उसने सोचा, मौर्य-वश की आज्ञा अप्रतिहत होती है। कोई भी व्यक्ति उमका उल्लघन नही कर सकता, तो भला मैं स्वय अपने पिताजी की आज्ञा का उल्लघन कैसे करूँ ? कुमार ने लोहे की तप्त सलाई लेकर अपनी आँखें नष्ट कर ली।

राजा अशोक ने जब यह बात सुनी, तो उसे बहुत दु ख हुआ। अन्तत उज्जयिनी का प्रभुत्व दूसरे राजकुमार को दे दिया गया और कुमार कुणाल को एक छोटा-सा गाव दे राजी कर लिया।

कुणाल अपना जीवन उसी गाँव मे बिताने लगा।

कुणाल गान-विद्या मे अत्यन्त निपुण था। वह अज्ञात वेश मे गाता-बजाता हुआ देश-देश मे घूमने लगा। एक बार वह पाटलिपुत्र जा पहुँचा। राजा के कानो तक यह बात पहुँची। राजा ने उसका गायन सुनने की इच्छा प्रकट की। तदनुसार राजा अशोक के सामने एक पर्दे के पीछे उसने अपनी गान-विद्या का प्रदर्शन किया। राजा उसकी गान-विद्या से मुग्ध हो गया और उसे कुछ माँगने को कहा।

गायक कुणाल ने अपना परिचय देते हुए कहा—"महाराज ! मैं चन्द्रगुप्त का प्रपौत्र, बिन्दुसार का पौत्र और सम्राट अशोक का नेत्र-विहिन पुत्र हू और आपसे केवल एक काकिणी (एक सिक्का) की याचना करता हू।"

सम्राट अशोक ने यह सुनते ही बहुत दु ख किया। पुत्र-वियोग का घाव ताजा हो गया। पुत्र को देखने की उसकी उत्कठा बढी। पर्दा हटा दिया गया। राजा ने अन्धे कुणाल को गले लगाया और रोते-रोते कहा, "आज तेरी यह दशा हो गयी कि तू काकिणी की याचना कर रहा है।"

राजमन्त्रियो ने अशोक को बताया कि महाराज ! क्षत्रिय भाषा

मे काकिणी के बहाने कुणाल राज्य की याचना कर रहा है। इस पर अशोक ने पूछा—"नेत्र-विहीन मनुष्य राज्य को कैसे चला सकेगा ?" कुणाल ने कहा—"महाराज ! मेरे एक पुत्र है, उसके लिए राज्य की अभ्यर्थना करता हू।"

राजा ने पूछा—"पुत्र कब उत्पन्न हुआ ?"

कुणाल ने कहा—"साम्प्रतम्—अभी हाल ही उसका जन्म हुआ है।"

राजा अशोक ने उसे अपने पास बुला लिया और उसका नाम 'सम्प्रति' रखा। अपने पौत्र को देख वह बहुत प्रसन्न हुआ और अपने वचनानुसार उसे राज्य सौंप दिया।

३

विविधा

मृदुता

मेरे सामने एक नीम का वृक्ष है। उसकी अनेक शाखाएँ हैं, टहनियाँ हैं। टहनियाँ पत्तो से आच्छादित हैं। पवन धीरे-धीरे चल रहा है। उसके चलने से सारे पत्ते हिल रहे हैं, नीचे-ऊँचे झुक रहे है। किन्तु मैं देखता हू कि वृक्ष के तने मे जरा भी कम्पन नहीं है। शाखाएँ भी स्थिर है। टहनियो के कुछ भाग हिल रहे हैं और सारे पत्र-पुष्प प्रकम्पित है।

यह प्रकम्प उनकी मृदुता की गाथा गा रहा है। जो मृदु है, वह वातावरण के साथ सामजस्य स्थापित कर अपने अस्तित्व को बनाए रख सकता है।

तूफान आया। हजारो वृक्ष धराशायी हो गये। मैंने सोचा, यह क्यो ? वातावरण को चीरते हुए तूफान ने कहा—"जो मृदु होता है, नमनशील होता है, मैं उसके चरण चूमकर आगे निकल जाता हू, किन्तु जो मेरे सामने अकडता है, मैं उसे नष्ट कर देता हू।" मैंने सोचा—अकडन स्व के अह का प्रदर्शन है। अह झुकना नही चाहता। वह टूटता है और ऐसे टूटता है कि कोई उसे साध नही सकता।

मृदुता का एक अर्थ है नम्रता। यह मन, वाणी और शरीर, तीनो मे अभिव्यक्त हो सकती है। मन की मृदुता व्यक्ति को अनेक सकल्प-विकल्पो से बचा लेती है। जब मन मृदु होता है, तब अध्यवसायो की पवित्रता स्वय सध जाती है। मृदु मन मे वैचारिक कठोरता भी नष्ट हो जाती है। जब-जब व्यक्ति का मन कठोर हुआ है, तब-तब उसके कृत्यो मे क्रूरता को अभिव्यक्ति मिली है। विचार पहले बनते हैं, और फिर क्रिया। विचारो के अनुरूप क्रिया फलित होती है। यदि विचार मृदु होते हैं तो आचार मे कठोरता कैसे होगी ? विचारो की मृदुता का यह अर्थ नही कि केवल

विचार ही मृदु हो, किन्तु उनकी क्रियान्विति भी मृदु हो, यह उसका फलित है।

किसी का अनिष्ट करने की न सोचना, किमी की अवनति मे प्रसन्नता के भाव न लाना, किसी को धोखा देने की वात न सोचना, किसी को लूटने का मन न करना—ये मानसिक मृदुता के लक्षण हैं। जो इनके विपरीत सोचता है, उसका मन मृदु नही हो सकता।

वाणी मनुष्य की अप्रतिम शक्ति है। यही एक ऐसा माध्यम है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने अमूर्त भावो को मूर्त वनाता है और लोक से सम्पर्क स्थापित करता है। यह सम्पर्क सूत्र जितना स्पष्ट और मृदु होता है, वह दूसरो के हृदय मे उतना ही गहरा उतर सकता है। वाणी की मृदुता का यही रहस्य है।

वाणी की मृदुता का अर्थ है, वाणी की स्पष्टता और कोमलता। उसमे से कही भी अह न झाँके, तव समझ लेना चाहिए कि वह मृदु है।

कठोरता तनाव पैदा करती है और मृदुता तनाव को कम करती है। स्वय की कठोरता दूसरे की कठोरता को उत्तेजित करती है। यह अटल नियम है कि सजातीय की वृद्धि सजातीय से ही होती है। आम आम को पैदा करता है और आक आक को।

तलवार का घाव गहरा होता है पर वाणी का घाव उससे भी गहरा। तलवार के घाव की चिकित्सा हो सकती है पर वाणी का घाव सदा हरा रहता है।

वाणी की मृदुता कभी घाव पैदा नही करती, यह घाव को भरती है।

मन और वाणी की कठोरता जीवन-व्यवहार मे अकडन पैदा करती है। तीनो की समस्थिति जव अभिव्यक्त होती है, तव सभी दोप उत्पन्न होते हैं।

एक राजा ने सुना कि नगर मे एक पहुचा हुआ फकीर आया है। उसका मन कुतूहल से भर गया। वह फकीर को महलो मे आने का निमत्रण दे आया। स्वागत-द्वार वनाए। समूचे मार्ग मे वढिया कालीन विछाई गई। नियत समय पर फकीर अपनी कुटिया से चला। स्थान-स्थान पर स्वागत की तैयारियाँ देखकर मन अह से भर गया। वहुमूल्य कालीन को देखते ही

अह् बाहर फूट पडा। पास के एक गढे मे दोनो पैर कीचड से भरकर धीरे-धीरे कालीन पर चलने लगा। दैहिक गति मे भी अह् का प्रवेश पा चुका था। राजा ने पूछा—"महाराज ! यह क्या ? बहुमूल्य कालीन पर कीचड सने पैरो से चल रहे है ?" फकीर की वाणी पर अह सवार हो चला। बोला—"राजन् ! तेरे अह को मिटाने के लिए।" राजा ने फकीर की आँखो को पढा। उसने देखा कि फकीर का मन, वाणी और शरीर—तीनो अह् से आक्रात है। राजा ने कहा—"महाराज ! अह् से अह नष्ट नही होता। कठोरता से कठोरता नहीं मिटती। अह मृदुता से नष्ट होता है और कठोरता सरलता से।" राजा की मृदु वाणी ने फकीर के अह् को नष्ट कर दिया।

भगवान् महावीर ने मन, वाणी और शरीर की मृदुता को जीवन-विकास का सूत्र माना है। उन्होने कहा —

'तुमसि नाम सच्चेव,
ज हतव्व ति मन्नसि।'

यह मानसिक मृदुता का प्रेरक सूत्र है। उन्होने कहा—

जहा पुण्णस्स कत्थइ,
तहा तुच्छस्स कत्थइ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ,
तहा पुण्णस्स कत्थइ ॥
दिट्ठ मिअ असदिद्ध,
पडिपुण्ण विअजिअ।
अय पिर मणुव्विग्ग
भास निसिर अत्तव्व ॥

यह वाचिक मृदुता का प्रेरक सूत्र है। उन्होने कहा—

णो अत्ताण आसाएज्जा,
णो पर आसाएज्जा ॥
णो अण्णाइ पाणाइ भूयाइ
जीवाइ सत्ताइ आसाएज्जा

—यह कायिक मृदुता का प्रेरक सूत्र है।

एक शब्द मे मन, वाणी और काया की मृदुता का अर्थ है—क्रूरता का विसर्जन। यह क्रूरता चाहे 'स्व' के प्रति हो या 'पर' के प्रति।

कायिक क्रूरता का विसर्जन

सन् १७५२ की लडाई मे अहमदशाह ने लाहौर पर विजय प्राप्त कर ली। वहाँ के सूबेदार मूइन ने हार स्वीकार की। अहमदशाह ने पूछा—'यदि मैं हारता तो तुम मेरे साथ कैसा व्यवहार करते ?'

मूइन ने नि सकोच भाव से कहा—'मैं जीतता तो तुम्हारा सिर काट-कर दिल्ली भेज देता।'

अहमदशाह ने कहा—'अब बताओ, मैं तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार करूँ ?'

मूइन ने एक वीर की तरह उत्तर दिया—'यदि तुम्हारे मे व्यापारी वृत्ति हो तो मुझे गुलाम की तरह बेच सकते हो। यदि तुम्हारे मे कसाई वृत्ति हो तो मुझे मार सकते हो और यदि तुम्हारे मे बादशाह के योग्य सम्मान करने की भावना हो तो मुझे मुक्त कर सकते हो।" यह सुन अहमदशाह की कायिक क्रूरता नष्ट हो गई। उसने उसके सिर पर मुकुट रखा और उसे सम्मान-सहित विदा दी।

वाचिक क्रूरता का विसर्जन

एक रेल के डिब्बे मे तीन व्यक्ति बैठे थे—दो अग्रेज और एक भारतीय। दोनो अग्रेज अपनी भाषा मे भारतीय का उपहास कर रहे थे। भारतीय चुप बैठा था। रेल स्टेशन पर रुकी। भारतीय ने स्टेशन कर्मचारी को बुलाया और अग्रेजी मे पानी लाने को कहा। दोनो अग्रेज उसे अग्रेजी भाषा मे बात करते हुए देख दग रह गये। उन्होने पूछा—'हम आपका उपहास कर रहे थे। आपने हमे टोका नही।' भारतीय ने कहा—'मैं अपने मे मस्त हू। मेरे विषय मे कौन क्या कहता है, इसकी मुझे कोई परवाह नही। वाद-विवाद कर अपनी शक्ति का दुरुपयोग करना नही चाहता।' अब दोनो अग्रेजो के मस्तक उनके चरणो मे झुक गये। वह भारतीय था स्वामी विवेकानन्द। यह था वाचिक क्रूरता का विसर्जन।

मानसिक क्रूरता का विसर्जन

एक था व्यापारी। वह चन्दन बेचता था। एक बार बाज़ार गिरा। व्यापार कम हो गया। व्यापारी की चिन्ता बढी। एक दिन उसकी दूकान के सामने राजा की सवारी निकली। उसने सोचा—काश! राजा की मृत्यु हो जाय तो मेरा सारा माल बिक जाये।

व्यापारी पर दृष्टि पडते ही राजा के मन मे भी उसकी हत्या करने के विचार आए। राजा ने मन्त्री से इसका कारण पूछा। मन्त्री व्यापारी से मिला। बातचीत से उसने सारा वृत्तान्त जान लिया।

अब व्यापारी का मन शान्त और मृदु था। वह राजा के लिये दीर्घायु की प्रार्थना करने लगा। एक दिन राजा उसकी दूकान के सामने से गुजरा। व्यापारी ने मन ही मन प्रार्थना की—'भगवान्! राजा सौ वर्ष जीए।' राजा ने व्यापारी को देखा। उसके मन मे आया—'यह व्यापारी कितना अच्छा है। मैं इसे अपना मित्र बना लूं।'

क्रूरता से क्रूरता का जन्म हुआ और अक्रूरता से अक्रूरता प्रतिफलित हुई। यह है मानसिक क्रूरता का विसर्जन।

हेय और उपादेय

एक बार मुनिश्री नथमलजी ने कहा था, "जिस समाज का अतीत गौरव-गाथाओ से परिपूरित नही, जिसमे वतमान को बनाये रखने के लिए कोई कार्यान्विति नही और जिसमे भविष्य की अभ्युदयकारी कल्पनाएँ नही, वह समाज अपने चैतन्य को बनाये नही रख सकता। वह जड बन जाता है, धीरे-धीरे उसका उत्स सूख जाता है।"

धम-समाज के लिए भी यही बात है। वही धर्म-समाज अपनी सजीवता बनाये रख सकता है, जिसका अतीत गौरवान्वित है, जिसका वर्तमान कार्य-सलग्न है और जिसमे भविष्य को उज्ज्वल, उज्ज्वलतर,

उज्ज्वलतम बनाने का चिन्तन सतत प्रवहमान है। तेरापथ ऐसे ही एक धर्म-समाज का ज्वलन्त उदाहरण है।

बीज मे वृक्ष अन्तर्निहित है, परन्तु व्यक्त नही। उसी प्रकार प्रत्येक क्रान्ति के बीज मे विस्तार गर्भित है अवश्य, परन्तु उस बीज को वृक्ष बनाने वाले ही उस विस्तार का दर्शन करा सकते हैं। सर्वप्रथम क्रान्ति की बात एक-दो व्यक्तियो के मस्तिष्क मे उत्पन्न होती है, तदनन्तर उस पर विचार-विमर्श होता है। चिन्तन चलता है और जब उस चिन्तन मे सत्य के दर्शन होने लगते हैं, तब एक समय उस क्रान्ति को आगे बढाने मे जुट पडते हैं। तब वह क्रान्ति व्यापक बनती है और उसमे नये-नये उन्मेष उभरने लगते हैं।

भगवान् महावीर ने आत्म-दर्शन दिया। वे ज्ञातदर्शी थे। उनके दर्शन के भाष्यकारो ने सत्य को विविध रूप से पकडा। सत्य जो एक ओर अखण्ड था, वह विविध भागो मे बँट गया। बाँटने वालो ने उसे एक और अखण्ड ही माना। यहाँ से उलझन प्रारम्भ होती है। ज्यो-ज्यो चिन्तन आगे बढा सत्य उलझता गया। इसमे सत्य का रूप तिरोहित हुआ और सत्याभास को भी सत्य मान लेने का आग्रह कई विद्वान् आचार्य कर बैठे। उसका जो परिणाम होना था, वही हुआ और एक अखण्ड समाज के खण्ड-खण्ड हो गए। सविग्नपाक्षिक और चैत्यवासियो मे विरोध का प्रारम्भ हुआ और दोनो ओर से अपने आपको सत्य प्रमाणित करने के लिए अनेक ग्रन्थ रचे गए। आगे चलकर वे ग्रन्थ सिद्धान्त बन गये और उनका प्रतिपाद्य मूलकेन्द्र से खिसक गया। यही से भेद की परम्परा बढती गई और यह चिन्ता हुई कि यह कहाँ जाकर रुकेगी।

परन्तु एक बात अवश्य ध्यान देने योग्य है कि जैन समाज सदा जागरूक समाज रहा है। जब-जब आचार-पालन मे शैथिल्य आया, तब-तब क्रातियाँ होती रही। तब समाज ने एक नई करवट ली और उसका सुषुप्त चैतन्य जाग उठा।

जैन मुनियो का एकमात्र लक्ष्य था, परमार्थ साधना। परन्तु ज्यो-ज्यो जनसम्पर्क बढा, लौकिक एषणाएँ बढी, त्यो-त्यो वह लक्ष्य धुँधला हो गया और स्पर्धा या प्रतिस्पर्धा के व्याज से तन्त्र-मन्त्र के आवर्त मे फँस

गया। इनकी अभिव्यक्ति मे यश कामना की पूर्ति अवश्य हुई परन्तु प्रयोक्ता व्यक्ति निर्लिप्त नही रह सके। शासन-प्रभावना के लिए किए जानेवाले कई अनुष्ठानो का अन्तिम परिणाम सुखद नही रहा। विवेकी आचार्यों ने इस पर अकुश रखा परन्तु कही-कही लोकैषणा के चगुल मे फँसकर कई मुनियो ने अनर्थ कर डाला। एक के अपराध से सभी को हानि उठानी पडी।

भगवान् महावीर के समय मे तथा कुछ काल पश्चात् तक भी चौदह पूर्वो का ज्ञान विद्यमान था। ज्योतिष, सामुद्रिक, मन्त्र-तन्त्र, स्वप्नविद्या, शकुनविद्या आदि-आदि समस्त विद्याओ के वे आकर ग्रथ थे। अनेक जैन मुनि चौदह पूर्वधर हुए। भगवान् के निर्वाण के पश्चात् यह ज्ञान घटता गया और वीर निर्वाण के एक सहस्र वर्ष बीत जाने पर केवल एक पूर्व का ज्ञान अवशेष रह गया। देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण एक पूर्वधर थे। जिस प्रकार उन्होने गणिपिटक को सकलित कर ग्रन्थारूढ किया उसी प्रकार उन्होने अपने एक पूर्व के ज्ञान को या उसके अश को लिखने या लिखाने का प्रयत्न क्यो नही किया? यह प्रश्न आज भी असमाहित ही है। सम्भवत जो भी ज्ञान लुप्त हुआ है, उसके पीछे यही भावना रही हो कि हर किसी को हर एक विद्या नही दे देनी चाहिए, जो जितना योग्य हो उसे उतना ही दिया जाना चाहिए। इसी भावना के फलस्वरूप इनका विकास हुआ। कही-कही थोडे से लाभ के लिए बडे-बडे आचार्य भी इन विद्याओ का प्रयोग कर बैठते थे। इससे अनाचार दोष लगता था। स्थूलिभद्र मुनि का सिंह बनकर गुफा के द्वार पर बैठे रहना और दर्शनार्थ आने वाली अपनी बहनो को भयभीत करना इसका स्पष्ट उदाहरण है। इसका परिणाम यह हुआ कि आचार्य भद्रबाहु ने उनको अन्तिम पूर्वो का अर्थ देने मे इनकार कर दिया और चार पूर्वो का ज्ञान अर्थ की दृष्टि से इस छोटी-सी त्रुटि से विच्छेद हो गया। इसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्र भी इसके अपवाद नही रहे हैं। एक बार उन्होने महाराज कुमारपाल से मिलकर अपने आचार्य देवचन्द्र को अपने नगर मे बुला भेजा। श्रीसघ और महाराजा की विज्ञप्ति का आदर करते हुए श्री देवचन्द्राचार्य उस नगर मे आये। प्रवचन मे राजा आदि हजारों सम्भ्रान्त नागरिक उपस्थित थे।

प्रवचनोपरात श्री देवचन्द्राचार्य ने राजा से बुलाने का कारण पूछा। राजा ने तथा हेमचन्द्राचार्य ने तत्काल गुरु के चरण पकडकर कहा—"देव! हमने आपको अपने ही एक विशेष प्रयोजन के लिए बुलाया है। मुझे याद है कि एक बार आपने एक कठियारे से किसी बेल का रस लेकर एक ताम्रखण्ड को भावित किया था और अग्नि के सयोग से वह सारा स्वर्ण बन गया। आप कृपा कर उस बेल का नाम और अन्य सकेत हमे बताएँ।"

इतना सुनते ही श्री देवचन्द्राचार्य का क्रोध उभर आया। उन्होंने मुनि हेमचन्द्र को फटकारते हुए कहा—"तू योग्य नही है। मूँग के पानी जितनी विद्या भी तू नही पचा सका। उसका तुझे अजीर्ण हो गया। तो अब मैं इस मोदक तुल्य विद्या को तुझ जैसे मन्दाग्नि को कैसे दूँ!"

इन उदाहरणो से स्पष्ट है कि इस प्रकार की भौतिक सिद्धियो के लिए जब इन मन्त्र-तन्त्र का उपयोग होने लगा तब परमार्थसेवी जैनाचार्य ने उसे दूसरो को देने से इनकार कर दिया। धीरे-धीरे ज्ञान लुप्त होता गया। फिर भी लगभग पन्द्रहवी शताब्दी तक जैन मुनियो मे तथा अभी कुछ पचास वर्ष पहले तक जैन यतियो मे इन विद्याओ का प्राचुर्य रहा था। मन्त्रो का प्रयोग भौतिक अभिसिद्धियो के लिए जैन मुनि कर सकते हैं या नही—यह सैद्धान्तिक प्रश्न है। मन्त्र-प्रयोग करने वाले मुनि को प्रायश्चित्त आता है, यह जैन सिद्धान्त की मान्यता है।

जैन आगमो मे ऐसा विधान है कि मुनि मन्त्र निमित्त-स्वप्न-फल आदि गृहस्थ को न बताए। इससे यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इन विद्याओ के अर्जन का निषेध नही किन्तु प्रयोग का निषेध है। ज्ञान ज्ञान है, चाहे वह सत्य का हो या असत्य का। सावद्य या निरवद्य वह प्रयोगानुसार बनता है। सावद्य प्रयोग मुनि के लिए अविहित है। गृहस्थ सभी प्रकार के सावद्य या निरवद्य अनुष्ठान करते हैं।

गुरु परम्परा के आधार पर यह ज्ञान योग्य शिष्यो को हस्तातरित होता था। परन्तु योग्य शिष्य न मिलने के कारण वह ज्ञान लुप्त भी हो जाता था। इसलिए शनै-शनै कई प्रकार की विद्याएँ लुप्त हो गई।

इसी बीच जैन समाज मे मुनि और श्रावक से भिन्न एक तीसरी कडी

का उद्गम हुआ। वह कडी थी यतियो की परम्परा। उसने लुप्त हो रहे ज्ञान की धारा को बांधा। यति न पूणरूपेण मुनि ही थे और न श्रावक ही। वे मुनि के कतिपय व्रतो का पालन करते थे और उनके कई व्यवहार गृहस्थो के-मे थे। उन्होने मत्र विद्या की परम्परा को अक्षुण्ण रखा और ममय-समय पर उनके प्रयोगो से जैन शासन की प्रभावना की। आज यति-परम्परा भी प्राय लुप्त हो चुकी है, और यत्र-तत्र कुछ विखरे हुए यति अपने मूल विधि-विधानो को भूल गये हैं। आज इस युग मे जब कि जैन शासन की ओर विद्वानो की एक आशाभरी दृष्टि है, यह आवश्यकता अनुभव होती है कि तीमरी कडी, जो सबको जोडे हुए थी, का पुन निर्माण हो।

उपासना वासना

उपासना और प्रेम दो नही, एक है। उपास्य की स्मृति-मात्र से जब प्रेम का पारावार हिलोरें लेने लगता है, तब उपासना सजीव हो उपासक की हृदयस्थली को आप्लावित करती हुई उपास्य को भी अपने भक्त-पाश मे बाँध लेती है। यह सारी करामात प्रेम की है। प्रेम सहस्राक्ष है। वह देखता नही, उसे स्वय दिखता है। अपने उपास्य की अवस्थिति समस्त चराचर जगत् के अन्दर देखकर वह हर्ष-विह्वल हो उठता है। उस समय जो अनिर्वचनीय अनुभूति उसे होती है, वह अमेय है। उपासना का सागर अतल और गम्भीर होता है। उसकी बाह्य आकृति नयनगोचर हो सकती है, अचना की सामग्री को तोला जा सकता है, परन्तु उसकी गहराई को नही नापा जा सकता। उपास्य के प्रति जो श्रद्धा है, उसे नही तोला जा सकता। जब-जब मानवीय मेधा उसे तोलने का प्रयत्न करती है, तब-तब वह मेधा स्वय तुल जाती है, उसकी गुरुता मे खो जाती है। मैंने प्रेम को उपासना का प्रति रूप माना है। अत इस लघु निबन्ध मे उसी के माध्यम से उपासना के केन्द्र-तत्त्वो को समझाने का लघु प्रयास किया है। प्रेम का प्रतिपक्ष है काम या वासना। अत प्रेम, काम और वासना का स्वरूप-

चिन्तन ही इस निवन्ध का उद्देश्य है ।

आत्मा का आत्मा के प्रति जो अननुमेय आकर्षण है—वह 'प्रेम' कहलाता है, और जब वह प्रेम आत्मा की रसमयी भूमिका से नीचे उतर शरीरगामी बनता है, तब वह 'काम' कहलाता है। यह प्रेम और काम की सुन्दरतम परिभाषा है ।

प्रेम का उत्स हृदय है। हृदय से रस-माधुर्य झरता है और जीवन के कण-कण को मधुर बनाता हुआ आगे वह चलता है। यह रसमय धार ही जन्म-जन्मान्तर के कलुष पापो को पखारती हुई जीवन के महासमुद्र मे जा मिलती है, जीवन पवित्र बनता है। पवित्र जीवन मे ईश्वर अधिष्ठित होता है—'धम्मो शुद्धस्य चिट्ठई'। प्रेम और परमात्मा दो नही, एक है। अपने आराध्य के प्रति तन्मयता ही प्रेम की आदि-रेखा है, और उसकी चरम-सीमा आराध्य का अनुभूत साक्षात्कार है। उपास्य के प्रति अपना समर्पण ही प्रेम का आदि-बिन्दु है और उसका पर्यवसान उपास्य मे लीन हो जाना—स्वय उपास्य बन जाना है ।

प्रेम हरि को रूप है, ज्यो हरि प्रेम-स्वरूप ।
एक ह्वै दो यो लसैं, ज्यो सूरज अरु धूप ।।

काम का उत्स सकल्प है। सकल्प मोहाविल होता है। जिसमे सकल्प-विकल्प, सयोग-वियोग, हर्ष-शोक, सुख-दुख की इच्छाएँ प्रबल नही होती, उसमे काम टिक नही सकता। साधक ने 'काम' को ललकारते हुए कहा—

"काम ! जानामि ते रूप, सकल्पात् किल जायसे ।
नाह सकल्पयिष्यामि, ततो मे न भविष्यसि ।।"

काम शरीर के सौन्दर्य मे मूढ होता है। आत्मा के अमिट सौन्दर्य तक उसकी गति नही होती। शरीर का सौन्दर्य आरोहावरोह-सापेक्ष होता है। बचपन मे यह स्वाभाविक होता है, यौवन मे कृत्रिम पर आकर्षक और वृद्धावस्था मे क्षीण-क्षीणतम हो जाता है। इस सौन्दर्य पर मिटनेवालो मे आवेश और आवेग होता है, विवेक नही ।

प्रेम से नि सृत रसधारा भी मधुर होती है और काम की रसधारा भी मधुर। परन्तु दोनो मे ज़मीन-आसमान का अन्तर है। कहाँ वह निश्छल समर्पण और कहाँ वह वासना का विनिमय ! कहाँ प्रेम का पीयूष

और कहाँ वासना का मुँह मीठा विष !

प्रेम और काम मे एक के प्रति अनुराग अवश्य होता है और प्रेम-अनुरंजित हृदय आपस मे बँधते हैं अवश्य, पर कभी मूढ नही बनते। काम का अनुराग दो दिलो को बाँधता है, मोह के रेशमी धागो से, जो उन्हें व्यामूढ बना देता है। वह घुलता है, घुलता ही जाता है और टूटता है तो टूटता ही जाता है।

लोग कहते है, प्रेम अन्धा होता है, परन्तु हमारा अनुभव है कि प्रेम अन्धा नही होता, काम अन्धा होता है, वासना अन्धी होती है। वासना के वसन्त मे फलने-फूलने वालो को वियोग के पतझड का भी अनुभव करना पडता है, परन्तु प्रेम की हरियाली मे लहलहाने वाला सदा हरा-भरा रहता है।

प्रेम आत्मानुगत होता है, वासना विषयानुगत। प्रेम से दो आत्माओं का सन्धान होता है और चिर-चिरन्तन काल तक वह टिका रहता है। वासना दो शरीरो को बाँधती है और निमित्त पा, पारे की तरह बिखर जाती है। प्रेम आत्मा से नि सृत पीयूषमयी धार है, जो जीवन की ऊबड-खाबड भूमि को शस्य-श्यामला बना देती है। वासना मोह की अनुसगिनी है, जो क्षणिक सुख देकर हरे-भरे जीवन मे भी पतझड ला देती है। पतझड मे श्रीहीन हो जाने वाले वृक्ष भी प्रेम के वसन्त मे लहलहा उठते हैं। परन्तु वासना के पतझड से सूखे हुए दिल हरे-भरे नही हो सकते।

आज लोग वासना को प्रेम का चोला पहनाकर अपनी अभिव्यक्ति की लालसा पूरी करते है। वासना आपातत क्षणिक सुख देती है, परन्तु इसका परिणाम सर्वथा दु खद ही होता है। वासना मे बँधने वाले सयोग से प्रफुल्लित होते हैं और वियोग मे खेद-खिन्न। प्रेम मे यह नही होता।

प्रेम का आदि-अन्त सुखद ही है। वहाँ सयोग और वियोग की स्थिति वस्तु-सत्य नहीं होती। यह भी कहा जा सकता है कि वे प्रेम के अचल को छू नही सकते।

इस विषय मे विद्वान् डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के 'बीज सूत्र' मननीय हैं

१ प्रेम लक्ष्य से युक्त होता है, वासना लक्ष्यहीन है।

२ प्रेम विराट् के लिए उत्सर्ग है, वासना स्वार्थ के लिए मलीमस-भाव है।

३ प्रेम से अमृत-आनन्द का विकास होता है, वासना से मृत्यु और क्षय ही हाथ लगता है।

४ प्रेम के विस्तृत राज्य मे सयम का प्रकाश है, वासना के अँधेरे गह्वर मे भोग की दुर्गन्ध आती है।

५ प्रेम अनन्त है, वासना नितान्त सीमित।

६ एक ही मानस-केन्द्र से प्रेम और वासना का उदगम होना है परन्तु दोनो मे पूर्व और पश्चिम, अन्धकार और प्रकाश का अन्तर है।

मनीषी मुनिश्री नथमलजी के विचार इस विषय को और भी अधिक स्पष्ट कर देते हैं

१ जो वासना मे आपस मे बँधते हैं, वे एक-दूसरे का अनिष्ट करते हैं। उससे पल-पल शरीर, मन और आत्मा की शक्ति क्षीण होती है। प्रेम का मार्ग इससे भिन्न है। उसमे क्षेत्र और काल का अलगाव नही होता—वह व्यापक है। प्रेम से आपस मे बँधने वाले आत्मोपम्य हो जाते हैं।

२ विकार विष का घडा है। उस पर अमृत का ढक्कन लगा है। उसका आरम्भ मधुर भाव से होता है और अन्त कडुवाहट मे। प्रेम अमृत से ढका अमृत का घडा है। उसके आरम्भ और अन्त दोनो मधुर होते हैं।

३ विकार दूसरो के दैहिक सौन्दर्य पर मर-मिटने वाला तामसिक भाव है, प्रेम दूसरो के आत्म-सौन्दर्य (चैतन्य विकास) पर झूम उठने वाला दैवी भाव।

४ प्रेम का आकर्षण व्यक्ति मे दैवी शक्तियो का द्वार उन्मुक्त करता है। वासना का आकर्षण व्यक्ति मे रिक्तता पैदा करता है।

५ प्रेम मे स्पर्धा नही होती, वासना मे स्पर्धा होती है।

६ प्रेम समभाव का प्रतीक है, वासना ईर्ष्या की सहचरी।

प्रश्न उत्तर

(१) धर्म का स्वरूप क्या है ?

धर्म का स्वरूप है आत्मस्थता, स्वभावरमण। यह प्रयोगो या अनुभवो से व्यक्त होता है। प्रयोग जब तीव्र होते हैं तब धार्मिक व्यक्तियो के जीवन मे वह प्रस्फुटित होता है। जब ऐसा होता है तब आप स्पष्ट रूप से उसको समझ सकते हैं।

धर्म मात्र शास्त्रो से नही समझा जा सकता। शास्त्र तो केवल प्रयोग-दिशा बता सकते हैं क्योकि उनमे अनुभूत वाणी का सकलन है। शास्त्र छोटे हो या बडे, लोग जब उनका प्रयोग करते है तब वे सकीर्ण नही रहते, व्यापक बन जाते हैं।

(२) धर्म का लक्ष्य क्या है ?

धर्म का लक्ष्य है अज्ञात का प्रकटीकरण। अनादि आवरण के कारण आज हमारा चैतन्य भी अज्ञात है। सारे चैतन्य को ज्ञात करने का एक-मात्र साधन है धर्म। अन्त करण का उद्‌घाटन इससे होता है।

(३) आज धर्म के प्रति श्रद्धा विचलित हुई है, क्यो ?

आज सबसे बडी विषमता यह है कि जागतिक मानदण्ड बदल गये किन्तु मानदण्डो की बुद्धि नही बदली, वह पुरानी है। यही कारण है कि श्रद्धा ने अपना स्थान बदल दिया।

आवश्यकता यह है कि मानदण्डो के साथ-साथ बुद्धि भी बदले। इस स्थिति को लाने के लिये दृष्टि साफ होनी चाहिए।

(४) धर्म से मोक्ष होता है, पर कब और कैसे ?

धर्म के आचरण के साथ-साथ मोक्ष होता जाता है। ऐसा कभी नही होता कि धर्म का आचरण आज करें और मोक्ष—आत्मशुद्धि हो दो वर्ष बाद। एक आचार्य ने कहा है—'इहैव मोक्ष सुविहितानाम्'—जो धार्मिक व्यक्ति हैं उनका यही वर्तमान जीवन मे भी मोक्ष है। मोक्ष का अर्थ है आत्मिक-शुद्धि, बन्धन-मुक्ति। यह धर्माचरण के साथ-साथ होती रहती

है। जिस क्षण आत्म-पवित्रता होती है, उसी क्षण उतना बन्धन टूट जाता है, उतना अश मोक्ष हो जाता है। धर्मानुभूति और मोक्ष अलग-अलग नही है। उसी प्रकार बन्धनानुभूति और ससार भी अलग-अलग नही हैं।

(५) आज धार्मिक मे भी धर्म से जो लाभ होने चाहिए, वे दृष्टिगत नही होते, क्यो ?

धर्म नितान्त वैयक्तिक है। धर्म का आचरण करने वाला उससे लाभान्वित होता है और अवश्य ही वह लाभ उस व्यक्ति के माध्यम से समाज मे भी सक्रान्त होता है—भले ही वह किसी को दृष्टिगत न हो।

किन्तु आज स्थिति भिन्न है। व्यक्ति धार्मिक आचरण का दिखावा कर मन-सतोष कर लेता है। ऐसी स्थिति मे उसे वास्तविक लाभ नही मिल पाता। और यही कारण है कि उसका जीवन भी उसी रेखा पर चलता रहता है, जिस रेखा पर धर्म न करने वाले व्यक्ति का चलता है।

(६) अणुयुग मे अणुव्रतो से क्या लाभ हो सकता है ?

अणुयुग की सबसे बडी उपलब्धि है अणुबम।

अणुबम अपनी स्थिति मे चलता है और अणुव्रत अपनी स्थिति मे। दोनो का अपने-अपने स्थान पर महत्त्व है। यदि अणुव्रत की भावना सम्यक् प्रकार से पनपे तो सारे विश्व मे विचारक्रान्ति हो सकती है। ऐसी विचार-क्रान्ति का मुख्य आधार होगा मानवता। और उस क्रान्ति के चार फलित होगे

१ मानवीय चेतना का विकास।
२ मानवीय समता का विकास।
३ मानवीय सह-अस्तित्व का विकास।
४ मानवीय अखण्डता का विकास।

यही अणुव्रत का सम्यक् दृष्टिकोण है। मानवीय प्राथमिकता ही सबसे बडा परिणाम है।

(७) धर्म का अन्तिम लक्ष्य क्या है ?

धर्म का अन्तिम लक्ष्य है—विकारो से मुक्ति। मुक्ति के अनेक

विकल्प हो सकते हैं, जैसे इच्छा-मुक्ति, वन्धन-मुक्ति, विकार-मुक्ति आदि। धर्म से व्यक्ति की चेतना का अनावृतीकरण होता है। सारे वन्धन टूट जाते हैं। सारे विकार छूट जाते हैं। यह मुक्ति नैरन्तर्य होती है और जब यह अन्तिम विन्दु पर पहुँचती है तब आत्मा शरीर से भी मुक्त हो जाती है।

धर्म का लक्ष्य गरीबी से मुक्ति नही है। वह तो अच्छे उद्योगो या व्यापारो से मिट सकती है।

(८) क्या अहिंसा से प्रत्येक व्यक्ति को प्रभावित किया जा सकता है ?

हाँ, यदि प्रयोक्ता सच्चे अर्थ मे अहिंसक हो, उसकी अहिंसा के प्रति अटूट निष्ठा हो और वह उसका यथार्थ प्रयोग करना जानता हो।

हिंसा कम या अधिक, समाज के हर क्षेत्र मे है, प्रत्येक कार्य मे है। अहिंसा का विकास काम्य है। अहिंसा की स्वीकृति आत्म-मुक्ति के लिये हुई। परन्तु जब उसका प्रयोग समाज मे किया जाने लगा, तब उसका स्वरूप वदल गया। सामाजिक स्तर पर अहिंसा का मूल्य केवल उपयोगिता मात्र रह गया। जितनी सामाजिक उपयोगिता उतनी अहिंसा। वस्तु-मुक्ति के स्तर पर अहिंसा असीम वन जाती है। इस प्रकार अहिंसा के दो स्तर वन जाते हैं

१ समाज के स्तर पर प्रयुक्त होने वाली अहिंसा।

२ साधना के लिये प्रयुक्त होने वाली अहिंसा।

लोग कहते हैं कि 'अहिंसा' से स्वराज्य मिला। यह ऐकान्तिक मत है। सव जानते हैं कि स्वराज्य-प्राप्ति मे हिंसा का भी आलम्वन कुछ अश मे था। हमे कहना चाहिए कि—स्वराज्य-प्राप्ति मे केवल हिंसा ही नही अहिंसा का भी अतीव महत्त्वपूर्ण योग रहा।

(९) व्रत क्या है ?

व्रत का शाब्दिक अर्थ है—आच्छादित करना, ढकना। गहराई मे इसका अर्थ है मानसिक ग्रन्थियो (सस्कारो) को खोलना, मुक्त करना। एक शब्द मे व्रत का अर्थ है मुक्ति। मुक्ति का साधन मुक्ति ही हो सकती

है, बन्धन नही। व्रत अपने आपको खोलने की प्रक्रिया है। दूसरे शब्दो मे यही यथार्थ मे स्वतन्त्रता है। व्यक्ति जब अपनी गहराई मे जाकर अपने अस्तित्व को अभिव्यक्त करता है, तब तक वह स्वतन्त्रता मे स्थापित होता है और यही व्रत का कार्य है।

(१०) अणुव्रत ऐसा कौन-सा उपक्रम प्रस्तुत करता है जिससे मनुष्य अपने स्वभाव की ओर बढ सके ?

प्रेरक तत्त्व के बिना गति नही होती। प्राचीन काल मे प्रेरक तत्त्व था परलोक-सुधार। आज यह तत्त्व उतना प्रमुख नही रहा, जितना वह पहले था। ऐसी स्थिति मे कोई प्रेरक तत्त्व नही है। अणुव्रत आन्दोलन प्रेरक तत्त्व उपस्थित करता है। उसके साथ दोनो प्रेरणाएँ हैं।

१ *बन्धन से मुक्ति—वर्तमान-जीवन की पवित्रता।*

२ दु ख से मुक्ति की प्रेरणा।

ये दोनो प्रेरणाएँ मनुष्य को अपने वास्तविक स्वभाव की ओर बढने मे प्रेरित करती हैं।

जीवन-दर्शन

विहार की तपोभूमि मे पैर रखते ही अतीत काल की स्मृति सजीव हो उठती है। भगवान् महावीर ने इस भूमि की जनता को अपनी अमर वाणी से अमृतत्व की ओर ले जाने का सुप्रयास किया था। यही से सत्य और अहिंसा का सन्देश दूर-दूर तक फैलाया गया था।

आज महावीर हमारे सामने नही हैं, किन्तु उनकी वाणी आज भी अमर है और अपनी अपूर्व शक्ति से जन-जीवन को पवित्र बना रही है।

आज के इस वैज्ञानिक मानव ने परमार्थ से चिपके रहना पागलपन माना है। यह उसका मिथ्यात्व है—व्यक्ति परमार्थ मे चिपका रहे या नही, परन्तु इतना तो सत्य है कि परमार्थ से ही व्यवहार पवित्र बन सकता

है। यही शान्ति का स्रोत है और बन्धन-मुक्ति का द्वार है।

प्रस्तुत निबन्ध परमार्थ के आलोक मे जीवन-साधना का पथ प्रशस्त करता है और भगवती वाणी के अणु-अणु मे कितना गूढार्थ है इसकी एक सुन्दर झाँकी देता है।

परमार्थ की भूमिका पर खडे रह सकने के लिए भगवान् महावीर ने अध्यात्म का दृढ आधार दिया। साथ-साथ व्यवहार को सुखद और सुन्दर बनाने के लिये भी उनकी अमृत वाणी की पवित्र गगा ने अध्यात्म की सीमाओ मे सतत प्रवहमान रहकर जनजीवन को लहलहाया है। उन्होने कहा—केवल जीना ही जीवन नही, कलापूर्वक जीना ही जीवन है। कला जीवन को माँजती है और उसके ऊबड-खाबड मार्ग को समतल बना देती है। समतल जीवन खुली पोथी की तरह है, जब जी चाहे उसे पढा जा सकता है। जैन-आगम सुखपूर्ण जीवन का एक सुन्दर और सहज रेखाचित्र खीचते हैं, जिसके अनुशीलन से मरणशील प्राणी भी अमरत्व को पा सकता है। इस धरती का प्राणी अमरत्व की ओर लपके, यह हास्यास्पद है। परन्तु धैर्य के सहारे पलने वाले व्यक्ति इसी मरण-धर्मा शरीर मे अमरत्व पा सकते हैं। असम्भव कुछ नही है, धैर्य और निष्ठा का जहाँ अजस्र प्रवाह बहता है वहाँ असम्भव भी सम्भव बन जाता है।

प्रत्येक प्राणी मे तीव्र अभीप्सा होती है। वह आत्यन्तिक सुख की टोह मे जीवन की घडियाँ विताता है। ऐसे अवसर पर जैनागम उसे दो सकेत—बन्धन और अबन्धन का विवेक देते हैं—

> पमाय कम्म माहसु
> अप्पमाय तहावर (सूत्रकृताग १।८।३)

प्रमाद—कर्म-बन्ध है और अप्रमाद—अकर्म अबन्धन है। साथ-साथ उसकी भौतिक सुखाभिलाषा को मोडने के लिए उसे कहते हैं—'मा अप्पेण लुपहा बहू' (सूत्रकृताग १।३।४।७)—अल्प विषय-सुख के लिए महान् परमार्थ सुख का विध्वस मत कर।

यह सकेत सुखद-जीवन का पहला सोपान है और यह सस्कार जीवनानुयायी है।

वह जीवन के कँटीले पथ पर आगे बढता है। परन्तु काम, मोह, मद

आदि की गहरी खाइयो मे उसके फिसल पडने की पग-पग पर सम्भावना वनी ही रहती है। वह अवलम्वन चाहता है। जब उसकी चाह तीव्र होती है तब राह स्वय वन जाती है, 'जहाँ चाह तहाँ राह'। वह आगे वढता है। ये वाक्य उसके कानो मे गूँजने लगते हैं—

'कामा दुरतिक्कमा' (आचाराग १।२।५)—विषय-कामनाएँ दुरतिक्रम है, उनका पार पाना दुष्कर है। ये शब्द उसे हतोत्साह नही करते, परन्तु उसमे प्रतिरोधात्मक शक्ति का द्वार खोल देते है। वह द्विगुणित वेग से उस पर विजय पाने आगे वढ चलता है। वह सोचता है—

'काम कामी खलु अय पुरिसे, से सोयइ जूरइ तिप्पइ पिड्डइ परितप्पइ' (आचाराग १।२।५)—काम भोग दु ख के कारण है, काम-कामी पुरुष निश्चय ही शोक करता है, विलाप करता है, मर्यादा से भ्रष्ट हो जाता है तथा दु खी और सतप्त होता है।

इसलिए 'कामे कमाहि कमिय खु दुक्ख' (दशवैकालिक १।२।५) —कामनाओ को मिटाने से दु ख स्वय नष्ट हो जाता है।

इसी आशय से आचार्य ने कहा—'आयावयाहि चय सोगमल्ल, छिदाहि दोस विणएज्जराग' (दशवैकालिक २।५)—इन्द्रियो को तपा, सुकुमारता को छोड, दोपो का छेदन कर और राग-भावनाओ का अपनयन कर। यह कामनाओ को दूर करने का मार्ग है।

इस प्रकार वह जीवन की ऊँची-नीची भूमि मे कभी गिरता हुआ, कभी सँभलता हुआ आगे वढता है। 'एकोह वहु स्याम' की भावना का विस्तार होता है। तव वह अपने ज्ञातिजनो के मोहपाश मे वँध जाता है। अनुराग वढता है, वन्धन दृढ होता चला जाता है। वह उनके लिए अर्थ और काम की सुविधाएँ जुटाता है, क्योकि उसमे उसका अपनत्व है, अद्वैत है। उन्हे ही वह शरण मानकर अपने स्वरूप को विस्मृत कर देता है। स्वरूप का विस्मरण ही पराशक्ति है। अर्थ का विस्तार होता है, परन्तु-उसका अन्त कहाँ। वह मर-पचकर भी सन्तुष्ट नही होता। अर्थ का प्राचुर्य उसे त्राण नही देता। तव उसे आगम वाणी याद आती है—'वित्तेण ताण न लभे पमत्ते'—अर्थ त्राण का साधन नही है। और 'इहखलु नाइ सयोगा नो ताणाए वा णो शरणाए वा'—इस लोक मे या परलोक मे ज्ञाति-सयोग

दु ख से रक्षा करने मे और मनुष्य को शान्ति देने मे समर्थ नही है।

वह त्राण चाहता है। उसकी खोज मे वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि जो मृत्यु पर विजय प्राप्त करा सकता है वही सच्चा त्राण है। आगम के आलोक मे वह सोचता है—

'सच्चस्स आणाए से उवट्ठिए मेहावी मार तरइ' (आचाराग १।२।३)—जो सत्य के आचरण मे उपस्थित है वह मेधावी मृत्यु को जीत लेता है। 'सच्च भयव'—सत्य ही भगवान् है। वह सत्य की उपासना मे लीन हो जाता है। सत्य मे जब वह ओतप्रोत हो जाता है तब उसे कल्याण-श्रेय के दर्शन होते हैं। वह सत्य से चिपट जाता है।

सत्य के आने पर अन्यान्य दूसरे गुण भी आने लगते हैं। सत्य की स्रोतस्विनी मे स्नात उसके हृदय मे 'आयुतुले पयासु' (सूत्र १।१०।३)—आत्म-समत्व की भावना प्रबल होती है तब स्वत्व और परत्व का द्वैत विलीन हो जाता है। साम्य-भावना के ऊँचे शिखर पर पहुँचकर वह—'सव्व जग तु समयाणुपेही' (१।१०७)—सारे जगत् को समभाव से देखने वाला हो जाता है। वह—'मेत्ति भूएसु कप्पए' (उत्तराध्ययन ६।२)—मैत्री का विस्तार करता है और अपने अचल मे समस्त जीवधारी प्राणियो को समेट लेता है। इतना कर लेने पर उसे अन्तर्मन की आवाज सुनाई देती है। वह 'पर' से सिमटकर 'स्व' मे आ जाता है। सुख-दुख की लम्बी शृखला को देखकर वह उसके कर्ता को खोजता है। मोहवश दूसरो को सुख-दु ख का कर्ता मानकर अपने-आपको सन्तुष्ट करना चाहता है, परन्तु असन्तोष के कारण वह तिलमिला उठता है। चिन्तन, मनन और निदिध्यासन से उसे आगम की वह वाणी स्पष्ट प्रतीत होने लगती है—'सय कड णन्न कड च दुक्ख' (सूत्र १।१२।११) दु ख स्वकृत होता है, अन्यकृत नहीं।

उसने मूल ढूँढ लिया। 'स्व' को वह पकडता है और आगम के विशद आलोक मे उसे प्रकाश की दो-चार किरणो से अभिसिक्त करता है। किरणो के माध्यम से वह 'स्व' को सम्बोधित कर यह कहता है—

'पुरिसा तुममेव तुम मित्त (आचाराग १।३।३)
'अप्पा कत्ता विकत्ताय' (उत्तराध्ययन १।१४)
'अप्पाण मेव अभिणिगिज्झ एव दुक्खोपमुच्चसि' (आचाराग १।३।३)

"आत्मन् ! तू ही मेरा मित्र है। आत्मा ही सुख-दु ख का कर्ता और हर्ता है। अत आत्मा का निग्रह कर। ऐसा करने से तू समस्त दु खो से छूट जाएगा। इस साधना पद्धति मे उसे अपने लक्ष्य के दर्शन होते हैं। इस गुरु-मत्र से वह पुलकित हो उठता है। परन्तु 'आत्म-निग्रह' कैसे हो ?—इस प्रश्न की उधेडबुन मे वह आगे वढता है। सहसा उसके हृदय मे प्रकाश होता है और वह उस अनुभूत अल्पस्थायी प्रकाश मे यह वाक्य पढता है कि—

'पासिम ! दविए लोयालोय पवचाओ मुच्चइ' (आचाराग १।३।३) —देख ! साधक लोक-प्रपचो से दूर रहकर ही आत्म-निग्रह कर सकते हैं, मुक्त हो सकते हैं।

वह गार्हस्थ्य मे रहकर भी आसक्ति से वचता है। गार्हस्थ्य के कार्यों को करके भी उनमे लिप्त नही होता। वह समस्त प्रपचो से दूर रहने की भावना वनाये रखता है और धीरे-धीरे उनसे मुक्त भी होता रहता है।

आत्म-समत्व और आत्म-निग्रह की भावनाओ को लेकर वह जीवन की सँकरी पगडडी पर चरण वढाता है। ज्यो-ज्यो लक्ष्य की दूरी मिटती है त्यो-त्यो भावनाएँ पवित्र वनती चली जाती है। उस समय उसकी अन्तर्वाणी से जीवन-धारणा के वे सनातन तथ्य उद्‌गीर्ण होते हैं जिनके साक्षात् दर्शन योगियो को ही सम्भव है। हर्षोत्फुल्ल वाणी से वह कह उठता है—

"नाइ वाएज्ज कचण"—किसी जीव की हिंसा मत करो।

"न विरुज्झेज्ज केणइ"—किसी के साथ वैर-विरोध मत करो।

"मेत्ति भूएसु कप्पए"—सभी के प्रति मैत्री भाव रखो।

"पुव्वकम्मक्खयट्ठाए इम देह समुद्धरे"—इस देह का लालन-पालन केवल पूर्व-कर्मो के क्षय के लिए करो।

मैत्री और अनासक्त योग के महासिन्धु मे गहरी डुवकियाँ लेता हुआ वह जीवन-रथ को अपने इगित से चलाता है। साधना के दिव्य आलोक मे वाह्य प्रसारित भावनाओ की विकलता को देखकर अन्तर्निरीक्षण की ओर वढता है। जव कभी मोह की लहरें उसे अपने वक्षस्थल मे छिपा लेना चाहती हैं तव वह कुछ घवरा जाता है। कष्टो की अन्वित-शृखला से वह रोमा-चित हो उठता है। उसे धैर्य नही रहता। ऐसी अवस्था मे उसकी सुषुप्ति को जागरण मे वदलने का प्रयास आगम वाणी करती है।

कष्टो को कष्ट मानकर सहन करने वाले 'कायर' होते हैं।
दु ख को सुख मानकर सहने वाले 'वीर' होते है।
परन्तु दु ख को सुख मे बदलने वाले 'महावीर' होते है।
आगम वाणी कहती है—

'अन्नस्स दुक्ख अन्नो न परियाइयइ, अन्नेण कड अन्नो नो पडिसवेदेइ'—दूसरे के दु ख को दूसरा नही बटा सकता, दूसरे के काम का फल दूसरा नही भोग सकता। 'पत्तेय पुण्ण पाव, पत्तेय झझा, पत्तेय सन्ना, पत्तेय मन्ना एव विन्नू वेयणे'—पुण्य और पाप अपना-अपना है, कर्म का क्षय भी अपना-अपना है, सज्ञा, मनन और वेदना ये सभी अपनी-अपनी है।

उस व्यक्तिवादी प्रेरणा से उसका पौरुप जाग उठता है और तब वह उन दु खो को सहर्ष स्वीकार करता है। उन्हे सुख मे बदलकर वह अपने जीवन मे आनन्द-भाव का अजस्र स्रोत वहा देता है।

अब उसकी काम-वासनाएँ अभीप्सा मे, अहकार समर्पण मे, व्याकुलता विसर्जन मे और पदार्थासक्ति भक्ति मे परिवर्तित हो जाती है। आत्मा को वह निबन्ध करता हुआ चलता है और चलता ही जाता है जब तक कि उसका लक्ष्य स्वय उसका स्वागत करने के लिए सम्मुख नही आ जाता। 'णो जीविय णो मरणाभि कखी'—जीवन और मरण की कामनाओ से दूर, बहुत दूर रहकर वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

वह स्वय लक्ष्य बन जाता है

जैनागम के आलोक मे 'जीवन-पद्धति' का यह एक रेखाचित्र है। इस चित्र मे वे सामान्य रेखाए अकित की गई है जो जीवन की आदि-बिन्दु हैं—जीवन इन्ही से प्रारम्भ होता है और उनकी पूर्णता मे ही समाहित हो जाता है। जीवन की अथ और इति की इन रेखाओ मे जीवन को प्रकाशित कर आगम के प्रकाश को अनावृत करने का प्रयत्न करना अभिलषणीय है।

ताली दोनो हाथो से बजती है

'अयोग्य पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभ'—यह अनुभूति की वाणी है। व्यवहार भले ही इससे अलग हो पर यह अपने-आप मे सत्य है। अनुभूति व्यक्ति-सापेक्ष है, पर है वह सत्य का ही अश। व्यवहार भी सापेक्ष है, पर वह सत्य हो भी सकता है और नहीं भी।

व्यक्ति सस्कारो का पुतला है। व्यवहार की भाषा मे वह योग्य या अयोग्य अपने निमित्तों के आधार पर बनता है। परन्तु सिद्धान्त की वाणी इसे स्वीकार नहीं करती। वह कहती है—व्यक्ति अनन्त शक्ति का स्रोत है। उपयुक्त निमित्त व अनुकूल पुरुषार्थ से शक्ति का स्रोत फूट पड़ता है और उसका निर्मल जल आत्म-अध्यवसायों का अभिषेक करता हुआ परमानन्द के महासमुद्र मे जा मिलता है। यह उसके 'अथ से इति' तक की कहानी है।

जैन-कर्मवाद केवल एकान्तग्राही विचार नहीं है। वह कर्म को उतना ही महत्त्व देता है जितना कि पुरुषार्थ को। पुरुषार्थ भी उतना ही प्रधान है जितना कि काल, स्थिति और नियति। कर्म, पुरुषार्थ, काल, स्वभाव और नियति का सकलन ही व्यक्ति है। इन्हीं की अनुकूल उपलब्धि और अनुपलब्धि से वह (व्यक्ति) योग्य या अयोग्य बनता है।

सभी व्यक्ति एक ही काम के लिए योग्य या अयोग्य नही हो सकते। उनका सही चुनाव ही कुशल नेतृत्व की प्रधान कला है। कार्य-क्षेत्र की कमी नही है तो कार्य करने वालो की भी कमी नहीं है। कमी है केवल सही योजको की। कहाँ कैसी योजना की जाय? यह कठिन है। इसमे व्यक्ति की वृत्तियो के सूक्ष्म विश्लेषण की आवश्यकता होती है। इसके अभाव मे कोई भी योजना सुधर नहीं सकती। सही योजना के बिना व्यक्ति की निर्माणात्मक शक्तियाँ भी सुषुप्त व चेतनाहीन बन जाती है। वह अयोग्य ठहरता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति जिस कार्य के लायक हो उसको उसी मे लगाया जाय तो उसकी योग्यता स्वय मुखरित हो उठती है।

कार्य के लिए कार्यकर्ता जुटाने जाते है। सभी की कुछ-न-कुछ अपेक्षाएँ और महत्त्वाकाक्षाएँ रहती है—उनकी आशिक पूर्ति भी होती रहे तो निराशा नही होती। परन्तु जब उनकी महत्त्वाकाक्षाओं को विकसित होने का उचित

अवसर नहीं मिलता तब कुछ और ही स्थिति बनती है। स्वार्थ का आघात गहरा होता है। उसकी चोट व्यक्ति को कार्य-विमुख कर देती है। यह क्लीवता है, परन्तु सभी व्यक्ति इससे ऊपर उठ गए हो ऐसी आशा नही की जा सकती। साधक अवस्था साधना की अवस्था है, सिद्धि की नही। कार्यकर्ता साधक है, सिद्ध नही। चिकने पत्थर पर पडते ही पैर फिसल जायँ इसमें कोई विशेषता नही, न फिसले यह कठिन है।

जहाँ सगठन होता है वहाँ अनेक अपेक्षाएँ भी साथ जुडी होती हैं—इससे इनकार नही किया जा सकता। परन्तु यह भी इतना ही सत्य है कि व्यक्ति भी विभिन्न अपेक्षाओ से जुडा होता है। दोनो की अपनी-अपनी मर्यादाएँ हैं—दोनो सत्य है। उनकी उपेक्षा नही की जा सकती।

व्यक्ति जन्म से ही कार्यकर्ता नही बन जाता। काल के व्यवधान से और कार्यक्षमता से उसमे योग्यता बढती है और वह चमक उठता है। उससे व्यक्ति को स्वय सन्तोष होता है और साथ-साथ सेवा भी होती है। जहाँ उसे असन्तोष होता है वहाँ स्वय को अलाभ और सगठन को भी हानि नही तो लाभ भी नही होता। दोनो का सामजस्य या सकलन होता है तब जीवन-धारा समतल मे बहने लगती है, आनन्द का स्रोत फूट पडता है और कार्य मे वेग और पूर्णता आती है।

'एक हाथ से ताली नही बजती' यह आलकारिक भाषा है। इसके माध्यम से एक चिरतन सत्य की अभिव्यक्ति हुई है। जहाँ द्वन्द्व है वहाँ इसका प्रयोग होता है। अकेले व्यक्ति मे वे समस्याएँ उत्पन्न ही नही होती जो समूह मे होती हैं। कोई भी सदस्य अपेक्षा के बिना जी नही सकता। हाँ, यह सत्य है कि अपेक्षाओ में प्रति व्यक्ति तारतम्य होता है। परन्तु इसका यह अर्थ नही कि जिसको ज्यादा अपेक्षा हो वह दीन और जिसको अल्प अपेक्षा हो वह उत्तम। ऐसे भेद से व्यवहार नही चल सकता। केवल ज्ञान-प्रधान क्षेत्र मे यह सह्य नही हो सकता। पालन शक्ति व आत्म-विशुद्धि की अपेक्षा से आचार मे तरतमता होती है। परन्तु व्यवहार-काल मे ऐसा होना उचित नही लगता।

व्यक्ति अपेक्षाओं से जुडा होता है यह चिरतन सत्य है। यह क्यो है—इसका समाधान नही किया जा सकता। पर यह है—इतना दृढता के साथ

कहा जा सकता है। कोई भी कार्य सुकर तभी होता है जबकि उसके पीछे श्रद्धा हो, लग्न हो, सातत्य हो और प्रसार हो। ये व्यक्ति के स्वतन्त्र गुण हैं और उचित निमित्तो से इनका उपबृहण भी होता है। परन्तु इन गुणो के साथ-साथ 'उचित निर्देशक' या सरक्षक की भी आवश्यकता होती है। इसके अभाव मे अपवाद रूप ही कोई अपनी सिद्धि तक पहुँच पाया हो।

कार्यकर्ता मे विनय और नेता मे वात्सल्य की अपेक्षा है। यदि किसी भी ओर से कमी होती है तो कुछ बनता नही। नेतृत्व भी एक कला है। हर एक व्यक्ति नेता नही बन सकता। पाश्चात्य विद्वान् डिक्कार्लसन ने नेता के बारह गुण गिनाए है—

१ शीघ्र निर्णायकता।
२ आत्म-निर्भरता।
३ धैर्य।
४ सघर्षशील जीवन मे विश्वास।
५ दूसरो को अपनी शालीनता का भान करा सकने की निपुणता।
६ पराजय से शिक्षा-ग्रहण करने की सतर्कता।
७ दूसरे नेताओ से घुल-मिल जाने की कला।
८ कठिन से कठिन कार्यों को हस्तगत करने की साहसिकता
९ कार्यकर्ताओ को जुटाने की कार्यक्षमता।
१० अपने साथियो व अनुयायियो का प्रतिनिधित्व करने मे प्रसन्नता।
११ सहयोगियो के गुणानुवाद मे सतत जागरूकता।
१२ उच्चादर्शो के लिए सतत सघर्षशीलता।

उपर्युक्त गुणो का जिस एक व्यक्ति मे सकलन होता है वह सफल नेता बन सकता है। इसमे असभाव्यता भले ही जान पडे, परन्तु आज तक के इतिवृत्त मे जितने भी नेता हुए हैं, जिन्होने अपने बुद्धि-वैभव से जनता का नेतृत्व किया है उनमे मात्रा के तारतम्य से इन गुणो का अवश्य समावेश हुआ है। उपर्युक्त गुणो मे १, ५, ७ और ११ बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं।

एक बार आचार्यश्री ने कहा था कि—"आज के युग मे कार्यकर्ताओ की कमी नही हैं—सही कमी तो उचित नेतृत्व की है। यह पूर्णत सही है। आज के नेताओ मे ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थ, अभिमान आदि अवगुण समा-

विष्ट है। वे अपने साथियो को पीछे रखकर केवल अपना नाम ही करना चाहते हैं। वे 'ऋजु-सूत्र' बने रहते हैं। भूत-भविष्य का उनमे चिन्तन नही—ऐसी स्थति मे वे अपने आपको चिरकाल तक बनाये रखने का स्वप्न मात्र देखते है। 'कार्य किसी का, श्रेय किसी को'—इस सिद्धान्त को मान-कर वे चलते हैं।

अच्छाइयाँ सबमे होती है। अवसर पर भी यदि अपने साथियो की अच्छाइयाँ प्रकट नही की जाती, या उन्हे प्रकट होने का अवसर ही नही दिया जाता या अवसर आने पर भी वह उसमे बाधक बन जाता है तब नेतृत्व मे शका हो जाती है और यह अनन्तानुबन्धी शृखला कार्यकर्ताओ मे अविश्वास पैदा कर देती है। यह अनुभव की बात है कि जिस प्रकार कार्य-कर्ता को अपने स्वार्थो का त्याग करना पडता है उसी प्रकार नेताओ को भी अपने स्वार्थ छोडने होते है। जिस प्रकार साधक को तर्जना, भर्त्सना सहनी पडती है उसी तरह सरक्षक को भी अनेक निराशाएँ या अन्यान्य मानसिक या दैहिक सक्लेश सहने पडते है—जहाँ इतनी क्षमता होती है वही अभि-लषित सिद्धि वरमाला लिए खडी रहती है। विनय के अभाव मे आत्मीयता या आत्मीयता के अभाव मे विनय नही होता। दोनो का सामजस्य ही पूर्णता की ओर सफल प्रयास है। महान् नेता वह है जो योग्यता के आधार पर अपने साथियो का उचित सम्मान करे। कार्यकर्ता और नेता दोनो अन्योन्या-श्रित है। ताली दोनो हाथो से बजती है, एक से नही।

तपस्या क्या, क्यो और कैसे ?

भारतीय सस्कृति मे तीन विचारधाराओ का समावेश हुआ है—यहाँ के तीन दर्शन—वैदिक, जैन और बौद्ध सदा से अपनी-अपनी आत्म-परक भावनाओ से जन-जीवन को प्रभावित करते रहे हैं। जीवन-मुक्ति तीनो का अन्तिम लक्ष्य था और इसकी प्राप्ति के लिए विभिन्न साधनो का अवलम्बन लिए वे चलते रहे—वैदिक और मनीषियो ने लक्ष्य-पूर्ति के

लिए अन्यान्य साधनो के साथ-साथ तपस्या को भी एक प्रमुख साधन माना। बौद्ध परम्परा ने उसको गौण रूप से मान्यता दी।

तपस्या का अर्थ

जिस क्रिया के द्वारा इन्द्रिय और मन पर निग्रह किया जाता है उसे तप कहते हैं।

तपस्या का उद्देश्य

मानव-जीवन का उद्देश्य है जीवन-मुक्ति। तपस्या उसका साधन है। दूसरे शब्दो मे तपस्या का उद्देश्य है जीवन-शुद्धि। गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—"भगवन्! तपस्या क्यो करनी चाहिए?" भगवान् ने कहा—'गौतम! केवल अपने कर्मों के निर्जरण के लिए—आत्म-शुद्धि के लिए तपस्या करो। इहलोक के लिए तपस्या मत करो, परलोक के लिए तपस्या मत करो, कीर्ति-श्लाघा या प्रशसा के लिए भी तपस्या मत करो।" भगवान् की वाणी मे जीवन की परमार्थता की ओर सकेत है। अध्यात्म-भाव अभ्युदय के लिए नही—आत्म-पवित्रता के लिए है। तपस्या उत्कृष्ट अध्यात्म-भाव है। इसके गर्भ मे कष्ट-सहिष्णुता, अनुद्विग्नता, आत्मविश्वास, आस्तिक्य आदि सहज गुण सन्निहित हैं।

तपस्या की परिणति आत्मानन्द है। तपस्या का अपर नाम सयम है। आरम्भ मे मनुष्य सरल था। माया आदि कषाय उससे कोसो दूर थे। तब उसे तपस्या की आवश्यकता नहीं थी। उसकी क्रियाएँ, उसका चिन्तन-मनन परमार्थ की परिक्रमा किए चलता था। छल, कपट, छद्म से वह अनजान था। उसके जीवन का प्रत्येक चरण तप पूत था। वह सुखी था।

धीरे-धीरे काल की अलक्षित गति के साथ वह बदला। अब वह विलासी था। उसे आनन्द की खोज थी—जीवनानन्द की नहीं, शरीरानन्द की। यहाँ विषमता का विष चूने लगा। उसने मुँह मीठे विष को चखा, उलझनें बढी। उन्हे सुलझाने चला। परन्तु पग-पग पर बिछे छल और वचना के जाल मे वह उलझता ही गया और इतना उलझा कि उसने

निकलना असम्भव नही तो दुसाध्य तो अवश्य ही हुआ। विलास ने उसे खोखला बना दिया। अब उसमे आँधी और तूफानो के बीच अकम्प खडे रहने की शक्ति नही रही। बिना घबराए और बिना कांपे वह जीवन-नौका को खेने मे असमर्थ रहा। जिसमे पौरुष की चिनगारियाँ सदा उछलती थी, आज वह कतराई आँखो से अपनी रक्षा के लिए दूसरो की ओर देखता है। यह स्वकृत परिस्थिति है। वह इन्द्रियो का दास बन गया। मदारी के वश मे ज्यो बन्दर नाचता है, वह भी इन्द्रियो के इशारे पर नाचने लगा। विलास से विक्षीण अनुभूतियो की स्मृति मात्र से उसका जी दहल उठता। इन्द्रिय-सुख मे वह शान्ति खोजता रहा, परन्तु उसे जब यह भान हुआ कि शाति विषयभोग मे नही, त्याग मे है तब उसका विवेक जाग उठा। विवेक की चोट जब आत्म-प्रदेशो को प्रकम्पित करती है तब शान्ति के स्रोत फूट पडते है। सयम का स्रोत वह चला और जीवन की असगतियो को मिटाता हुआ मानव को सुख और शान्ति के महासमुद्र मे विलीन कर दिया। सागर मे सरिता समाती है, मनुष्य भी शाति मे समाहित हो गया। यही तपस्या का उद्देश्य है।

आज बौद्धिक जागरण का युग है। प्रकृति की बाँहो मे पलने वाले आज के मनुष्य स्वगत प्रकृति को भूल-से जा रहे हैं। उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति मे दैहिक कामना है। वे उपासना करते है, परन्तु उसमे भी उपास्य के साथ विनिमय होता है। जहाँ विनिमय है वहाँ प्रवचना है। वे तपस्या करते है, परन्तु वह दूसरो के पराभव के लिए या दैहिक समृद्धि की आकाक्षा से। परिणाम की विफलता उन्हे मार्ग-च्युत कर देती है। तपस्या फलवती नही—यह उनका चिन्तन बन जाता है। पूर्व दशाब्दियो मे राज-नैतिक सुफल के लिए तपस्या का आलम्बन लिया जाता रहा है। उसमे सफल और विफल होने के वृत्तान्त हम पढते रहे हैं। यह मानव-बुद्धि की नादानी है कि वह एक तुच्छ लक्ष्य के लिए महान् अर्थ को खो देता है। भगवान् महावीर ने कहा—'मा अप्पेण लुपहा बहु'—अल्प-सिद्धि के लिए महान् साध्य को मत खपाओ। 'जो ऐसा करता है वह मूढ है। आज मनुष्य मूर्ख नही, मूढ ज्यादा है। मूर्ख व्यक्ति अपना इतना अनिष्ट नही करता जितना मूढ व्यक्ति कर लेता है। तपस्या का प्रयोग आत्म-पवित्रता

के लिए होना चाहिए था, वह स्वार्थ-सिद्धि के लिए होता है—यह बुद्धि मात्र है।

तपस्या में श्रद्धा की उतनी ही अनिवार्यता है जितनी कि भूख और प्यास मिटाने के लिए रोटी और पानी की। श्रद्धा के बिना तपस्या फल नहीं देती। नारद जी किसी जंगल से गुजर रहे थे। एक ओर उन्होंने देखा, एक योगी युग-युगान्तर से तपस्या कर रहा है। योगी ने नारद जी से कहा—"महर्षिराज! आप ब्रह्मा के पास जा रहे हैं। कृपा कर आप ब्रह्माजी से पूछें कि मेरी मुक्ति कब होगी? मुझे तपस्या करते दस हजार वर्ष बीत चुके हैं।" नारदजी ने कहा—"ठीक है।" वे वहाँ से कुछ दूर गए कि उन्होंने एक दूसरे योगी को भी तपस्या करते हुए देखा। उसने भी अपनी मुक्ति की अवधि जानने को कहा। कुछ वर्षों बाद नारदजी पुन उसी अरण्य में आए और पहले योगी से कहा—"जीवन-मुक्ति के लिए अभी तुम्हें दस हजार वर्ष तपस्या करनी होगी, ऐसा ब्रह्माजी ने कहा है।" योगी ने यह सुना। वह अवाक् रह गया। तपस्या के प्रति अश्रद्धा होने लगी और अश्रद्धा के भावों की द्रुतता ने उसे पथ-च्युत कर दिया। वह अविश्वास के गहन विवर्त में बुरी तरह फँस गया। नारदजी आगे बढ़े। दूसरे योगी से कहा—"जीवन-मुक्ति के लिए अभी तुम्हें युग-युगान्तर तक तपस्या करनी होगी। देखो, इस वट-वृक्ष के जितने पत्ते हैं, उतने वर्ष तक तुम्हें तप तपना होगा। योगी मुसकराया, उसकी श्रद्धा के पंख फड़क उठे। मुख पर हर्ष की रेखाएँ खिच गईं। उसने कहा—"धन्य हू मैं। क्या इतने वर्षों के बाद मेरी मुक्ति अवश्य हो जायेगी? मैं दस हजार वर्ष से तपस्या कर रहा हू। उसी का यह सुपरिणाम है कि मेरे मुक्त होने की अवधि मात्र वट-वृक्ष के पत्तो जितनी रह गई है।" वह पुन अपने योग में लीन हो गया। यह दृष्टान्त है। इसका हार्द है कि तपस्या में श्रद्धा और धैर्य का योग होने पर ही वह फल देती है।

तपस्या के प्रकार

प्रत्येक धर्म-परम्परा में तपस्या के भिन्न-भिन्न अनुष्ठान होते रहे ह। जैन परम्परा में तपस्या पर बहुत बल दिया गया है और उसके विविध

अनुष्ठानो की विधियाँ आगम-साहित्य व आगमेतर साहित्य मे उपलब्ध है। उनका व्यवस्थित निरूपण और आचरण का लेखा-जोखा हमे मिलता है। जैन दृष्टि के अनुसार मुख्यत तप दो प्रकार का होता है—बाह्य तप और आन्तरिक तप। बाह्य तप के छह भेद है—अनशन, अनोदरिका, भिक्षाचरी, रस-परित्याग, कायक्लेश और प्रतिसलीनता। इनमे व्रत, उपवास, जितेन्द्रिय का सयम, एकान्तवास, भूख, प्यास या अन्याय दैहिक कष्टो को समभावपूर्वक सहना आदि भावनाओ को तपस्या माना जाता है।

आन्तरिक तप के छह प्रकार है

प्रायश्चित —कृत दोष की आलोचना।

विनय — समस्त प्रवृत्तियो को विनत रखना।

वैयावृत्य —ग्लान, शैक्ष तथा गुरु आदि की सेवा करना।

स्वाध्याय —कालादि की मर्यादा से अवगत हो स्वाध्याय करना, धर्म-ग्रन्थो का पठन-पाठन, जिज्ञासा का समाधान आदि।

ध्यान —अकम्प होकर आत्मलीन होना।

व्युत्सर्ग —क्रोधादि कषायो को छोडना आदि।

प्रथम छह बाह्य निमित्तो की अपेक्षा रखते हैं अत उन्हें बाह्य तप कहा जाता है और अन्तिम छह मोक्ष-साधना के अन्तरिम कारण होने से उन्हें आन्तरिक तप कहा जाता है। अथवा तप दो प्रकार के हैं—सकाम और अकाम। एकमात्र मोक्ष-साधना की दृष्टि से किया जाने वाला तप सकाम है और इसके सिवाय अन्यान्य उपलब्धियो के लिए किया जाने वाला तप अकाम है। सकाम तप की अत्यन्त उपादेयता है।

अथवा तपस्या के तीन प्रकार ये हैं—शारीरिक तप, वाचिक तप और मानसिक तप।

शौच, आर्जव, ब्रह्मचय आदि का पालन करना शारीरिक तप कहलाता है।

प्रिय, हितकर, सत्य और अनुद्विग्न वचन बोलना, स्वाध्याय मे रत रहना वाचिक तप है।

आत्म-निग्रह, मौनभाव, सौम्यता, मन-प्रसक्ति आदि मानसिक

तप कहलाते है। इनमे मानसिक तप उत्कृष्ट है।

अथवा गीता के अनुसार तप के तीन प्रकार है—सात्विक, राजस और तामस। जो निरीह होकर श्रद्धा से तप तपा जाता है वह सात्विक तप है।

जो सत्कार, पूजा, प्रतिष्ठा के लिए या दम्भ से तप किया जाता है वह राजस तप है।

जो मिथ्यात्व से अभिप्रेरित हो या दूसरो की हिंसा के लिये शरीर को तपाया जाता है वह तामस तप कहा जाता है।

गणधर गौतम ने भगवान् से पूछा—"भगवन् ! तपस्या का क्या प्रतिफल है ?" भगवान् ने कहा—"तपस्या से व्यवदान आत्मशुद्धि होती है।"

यह विज्ञान या तर्क का युग है। जो प्रत्यक्ष है वह सही है—यह चार्वाकी दृष्टि विज्ञान की छत्रछाया मे पल रही है। इसी को सीमान्तनी दृष्टि मानकर आज का मनुष्य अपने अतीत के विस्तीर्ण वैभव को विस्मृति के गहरे गर्त मे ढकेलता जा रहा है। तपस्या भी आज के युग मे तथाकथित धार्मिक पडो के कारण तिरस्कृत हो रही है और विज्ञान उस तपस्या की गहराई को नापने मे असमर्थ रहा है। वह अङ्कगणित के आधार पर आनुमानिक तथ्यो के अचल को पकडकर उडता है—पर अनन्त आकाश का छोर उससे अस्पृष्ट ही रहा है। अनन्त के पाने के लिए अनन्त वनना पडता है, सान्त से वह कभी हाथ नही लगता। ध्वनि छडी की तरह उसे तपस्या की ध्वनि को आत्मा पर ध्वनित कर ही उसकी अतल गहराई को समझना होगा।

तेरापथ शासन तपस्या का प्राणवान् शासन है। आचार्यश्री तुलसी उसके नवम अधिनायक हैं। इससे पूर्व पूर्वाचार्यो की सतत प्रेरणा से इस शासन मे आश्चर्यकारी तपस्याए हुई हैं। मोक्षार्थी मुनियो और साध्वियो ने तपस्या के उत्कृष्ट अनुष्ठानो से शासनश्री को वटाया है। आचार्यश्री वहुधा यह कहते है—"शासन का आधार तपस्या है। सारा सयम जीवन, सत्प्रेरणाए, अभीष्ट कार्यसिद्धि आदि तपस्या से प्रसूत होते है। तपस्वी साधु-साध्वियो को जव मैं देखता हू या उनकी लोम-हर्पकारी तपस्या के विवरण को पढता हू तव मैं फूला नही समाता। हर्प-विभोर

हो उठता हू और तपस्वियो की अप्रतिम सहिष्णुता, दृढता और आत्मबल के सतत प्रवाही स्रोत मे डुबकियाँ लेने लग जाता हू।"

तेरापथ के दो सौ वर्षो के इतिहास मे अनेक तपस्वी साधु-साध्वियो का वर्णन है। बहुत से साधु-साध्वी आजीवन के लिये एकान्तर तप (एक दिन के अन्तर से आहार) करते है। अनेक साधु २०, ३०, ४०, ५० दिनो की तपस्या भी करते हैं।, ५, ७, ८ और १० दिनो की तपस्या तो साधारणतया होती ही है। पानी के आधार पर सर्वाधिक १०८ दिन की तपस्या यहाँ हो चुकी है। उबली हुई छाछ का नितरा हुआ पानी पीकर तो दो, चार, छह, आठ, नौ और बारह महीनो की तपस्या हो चुकी है। वैज्ञानिक बुद्धि से प्रभावित लोग आज इन तथ्यो को सत्य नही मानते, परन्तु उन्हे आज भी इन तथ्यो का साक्षात् दर्शन इस धर्म-सघ मे हो सकता है।

साधु-साध्वियो मे ही नही, श्रावक-श्राविकाओ मे भी तपस्या करने की परिपाटी है। पर्युषण पर्व (भाद्रव मास) मे प्रत्येक जैन धर्म-सघ मे तपस्या की लौ जल उठती है और यही त्याग-प्रधान श्रमण सस्कृति का प्रतीक है।

तपस्याओ के बहुत से प्रकार होते हैं। अपने-अपने सामर्थ्य से उसका आचरण किया जाता है। जैन-दृष्टि के अनुसार तपस्या चाहे एक दिन की हो या ज्यादा उसमे, निराहार रहना अनिवार्य है। कई व्यक्ति तपस्या के दिनो मे पानी नही लेते और कई लेते भी है। परन्तु अति विस्मयकारी बात तब होती है जब तपस्वी व्यक्ति भरपेट भोजन करता है और छह-छह महीनो तक पानी नही पीता। चाहे सर्दी हो या गर्मी, वह यथाकाल भोजन करता है, पर पानी नही लेता। इस अवधि मे वह अन्यान्य तपस्याएँ भी करता है, ग्लान की सेवा भी करता है—एक शब्द मे दिन और रात सेवा मे रत रहता है। आज तक हमने ऐसी तपस्या न सुनी, न देखी। निराहार रहकर, केवल पानी पीकर १०८ दिनो की तपस्या हमने सुनी है। परन्तु १८० दिन तक भिक्षा मे उपलब्ध भोजन करते हुए पानी नही पीना अणु-शक्ति पर आत्म-शक्ति की विजय है। पाठको की जिज्ञासा के लिए हम महान् तपस्वी मुनिश्री सुखलालजी की तपस्या का विवरण प्रस्तुत करते है। उस विवरण से आप यह सहज जान सकेंगे कि आत्म-शक्ति कितनी

अपरिमित है—मानवीय बुद्धि इसे कब तोल सकी है ? सागर की अतुल गहराई को भला कौन नाप सका है ?

मुनिश्री सुखलालजी का जन्म १९५९ माघ शुक्ला द्वितीया को राजस्थान के अन्तर्गत गोगुन्दा मे हुआ। तेरह वर्ष की अवस्था मे आपने तेरापथ के अष्टमाचार्य श्री कालूगणी के पास जैन-मुनि की दीक्षा ग्रहण की। आपको साधु बने ४७ वर्ष हो चुके हैं और इनमे १७ वर्ष तक आप निराहार रहे हैं। आप कई बार पानी न पीने की तपस्या कर चुके हैं। इस वर्ष १८० दिन तक बिना पानी के रहकर आपने रेकार्ड स्थापित किया है। पारणे के दिनो मे आप भोजन और दूध, छाछ, मट्ठा आदि लेते थे। आप कई वर्षो से मन्त्री मुनि की परिचर्या मे हैं। आपकी तपस्या का वर्णन निम्नोक्त है—

आपकी तपस्या का अब तक का पूरा विवरण —

उपवास	बेला	तेला	चोला	पचोला	छव	सात	आठ	नौ	दस
१९५३	४४४	४७१	१७६	८६	७	७	३	३	१

ग्यारह	बारह	तेरह	चौदह	पन्द्रह	सोलह	सत्रह	अठारह	बीस
१	१	१	१	१	१	१	१	१

इक्कीस	बाईस	इकतीस	पैंतीस	छत्तीस	चालीस	चौवालीस
१	१	१	१	१	१	१

तपस्या कुल दिन—६१७५
वर्ष १७ मास १ दिन २५

आहार करते हुए जल नही पीने की तपस्या का विवरण —

सवत् २००१ मे १०९ दिन तक आहार किया, लेकिन पानी नही पिया।

सवत् २०१४ मे १२१ दिन तक आहार किया, लेकिन पानी नही पिया।

सवत् २०१५ मे १८० दिन तक आहार किया लेकिन पानी नही पिया, जिसमे उपवास १२३ दिन और पारणा ५७ दिन।

तपस्या एक अनुचिन्तन

भगवान् महावीर से पूछा गया—"भगवन् ! तपस्वी कौन है ? तपस्या का प्रथम सोपान क्या है ? तपस्या का परिणाम क्या है ?"

भगवान् ने उत्तर दिया—"जो व्युत्सृष्ट-त्यक्त देह है—जिसका देहाध्यास छूट गया है, वह तपस्वी है।"

तपस्या का प्रथम सोपान है—चय सोगमल्ल सुकुमारता का त्याग।

तपस्या का परिणाम है—व्यवदान-आत्म-शुद्धि।

जैन परम्परा की तपस्याएँ अपनी कठोरता और पवित्रता के लिए विश्रुत है। भगवान् महावीर के बारह वर्ष का साधना-काल तपस्या से अनुस्यूत था। वे जानते थे साध्य खपाने से मिलता है। उन्होने मन, वाणी और शरीर को खपाया। वे उत्कृष्ट तपस्वी थे। उन्होंने कम-से कम दो दिन की और अधिक-से-अधिक छह मास की तपस्या की। इन तपस्याओ मे वे निराहार रहते, पानी भी नही लेते। इसको जैन-दृष्टि से 'चौविहार तपस्या' कहते है। इस तपस्या के बल पर उन्होने अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त की और साधना के उत्कर्ष मे उन्हें केवल-ज्ञान की प्राप्ति हुई। तपस्या के दिनो मे वे कभी-कभी जगल मे चले जाते और किसी वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग कर खडे हो जाते। ध्यान मे लीन हो एकाग्र बन जाते। देहाध्यास छूट जाता। मच्छर या मधुमक्खियाँ उनके शरीर को काटती, और भी उपद्रव होते, परन्तु वे अपने ध्यान से टस से मस नही होते। आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक कष्टो को वे सहते। वे तप शूर थे। तपस्या से निसृष्ट तेज उनके भव्य आनन पर प्रस्फुटित था। इसी तपस्या के द्वारा उनकी सकल्प-शक्ति शतगुणित हो गई थी। जो इष्ट था वही होता। मानो नियति उनके हाथो मे कठपुतली बन गई हो।

तपस्या का एकमात्र लक्ष्य है—आत्म-शुद्धि

भगवान् ने कहा—"इस लोक के निमित्त तपस्या मत करो, परलोक के निमित्त तपस्या मत करो, कीर्ति या श्लाघा के लिए तपस्या मत करो, सिर्फ आत्म-शुद्धि के लिए तपस्या करो। इसका आशय है—केवल आत्मा

की पवित्रता के लिए तप करो। तप के आनुषगिक फल के रूप मे यदि कीर्ति, यश और अन्य सुविधाएँ मिलें तो उन्हे विवशता मान, उन्हे बन्धन मानते हुए उनसे मुक्ति पाने का प्रयत्न करो।"

प्रत्येक अनुष्ठान किसी न किसी लक्ष्य से किया जाता है। लक्ष्य का निर्धारण व्यक्त या अव्यक्त रूप से पहले होता है और फिर कार्य का आरम्भ। लक्ष्यहीन कार्य किसी लक्ष्य तक नही पहुँचाता। आज लोग तपस्या के वास्तविक लक्ष्य को भुलाकर ऐहिक अभिसिद्धियाँ प्राप्त करने के लिए उसका प्रयोग करते हैं। राजनयिक नेता इसको अपना समर्थन-सूत्र मानकर चलते हैं। यह धोखा है, अन्याय है। यही कारण है कि तपस्या का जो आत्म-शुद्धिपरक परिणाम होना चाहिए था, वह उन्हे प्राप्त नही होता और जब कुछ ऐहिक सफलता मिल जाती है तब वे इसका (तपस्या का) यही अतिम परिणाम मान इतने मात्र से सतोष कर लेते हैं।

तपस्या का इतिहास पुराना है। भगवान् महावीर से पहले भी तपस्या होती थी। भगवान् ऋषभदेव की तपस्या का वर्णन आता है। अक्षय तृतीया उसका प्रबल प्रमाण है। आज भी जैन-जगत् मे तपस्याओ के विभिन्न अनुष्ठान चलते हैं—

एकान्तर तपस्या—एक दिन के अन्तर से आहार लेना।

वर्षीतप—एक वर्ष तक निरन्तर एकान्तर तप करना।

अठाई—आठ दिनो तक निराहार रहना।

मासखमन—एक महीने तक निराहार रहना।

छह मासी—छह मास तक केवल उबली हुई छाछ का नितरा हुआ पानी पीकर रहना।

नव मासी—नवमास तक केवल उबली हुई छाछ का नितरा हुआ पानी पीकर रहना।

अनशन—जीवन-पर्यन्त निराहार रहना और इसकी उत्कृष्टता मे पानी तक का भी परित्याग कर देना।

उपवास—एक दिन तक निराहार रहना।

अवमौदर्य—भूख से कम खाना।

रस-परित्याग—विगय, घी, दूध, दही, मिठाई आदि का परित्याग

करना, आदि।

ये तपस्याएँ बहुत प्रचलित हैं। इनके अलावा और भी अन्यान्य तपस्याएँ होती हैं—कोई दो, चार, यावत् अस्सी दिनो तक निराहार रहता है—तपस्या यथाशक्ति की जाती है। इनकी किसी भी मुमुक्षु के लिए अनिवार्यता नही, उपादेयता है। जैन परम्परा मे इन्हे 'वाह्य तप' कहा जाता है क्योकि इनमे वाह्य पदार्थों की अपेक्षा रहती है। प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान आदि आभ्यिन्तर तप के प्रकार है। इनमे मानसिक सयम की प्रधानता होती है। तपस्या के द्वारा शरीर मे पीडा होती है—इसमे कोई दो मत नहीं, पनन्तु उस शारीरिक कष्ट को समभाव से सहने मे जो आत्म-पवित्रता होती है उसका भी निपेध नही किया जा सकता।

'देहे दुक्ख महाफल'—दैहिक कष्टो को समभाव से सहना महा फलदायक होता है। यह भगवान् महावीर की तप पूत वाणी से निसृत अनुभूति का एक कण है। 'दु खात्मक तप ' यह एक विचारधारा है। उनका तर्क है कि भूख-प्यास आदि शरीर के सहज धर्म हैं। उनका निषेध देह की दृष्टि से अहितकर है। धर्म शरीर से ही सभव है। इसीलिए कहा गया है—'शरीर माध्य खलु धर्म साधनम्'। व्रत शारीरिक स्वभावो का निरोध पथ्यकर, हितकर नहीं होता।

देहासक्त व्यक्तियो का यह तर्क एकान्तत अनुपयुक्त नही कहा जा मकता। परन्तु जिनका विवेक जाग्रत है, जो जागरण की भूमि को दृढतम वनाने मे लगे हैं, जिनकी परमार्थ दृष्टि देह के उस पार भी एक जलती लौ देख सकती है, उनको शारीरिक कष्ट विचलित नही कर सकता। कष्ट के प्रत्येक चरण मे वे अभिनव जागृति का नाम सुनते हैं और इस घोप की निरन्तरता की वे वाछा करते है। शरीर का ममत्व क्षीण वन जाता है। विदेह-साधन के सुफल की प्रथम अवाप्ति उन्हे आनन्द-विभोर किये देती है। वे आगे वढते है और वढते ही चलते हैं।

रोग की चिकित्सा की जाती है। शल्य-चिकित्सा के समय रोगी को असह्य वेदना होती है। परन्तु उस वेदना के गर्भ मे आरोग्य छिपा रहता है। अत वह रोगी आरोग्य की मधुर कल्पना मे असह्य वेदना को भूल जाता

है, वेदना को सहने मे आनन्द मानता है। अल्प स्वार्थ-आरोग्य के लिए जब भीषण से भीषण यातनाएँ, नियन्त्रण आदि सहन किए जा सकते है, तब जिनके समक्ष मोक्ष या आत्म-शुद्धि का विशाल लक्ष्य होता है—वे भूख, प्यास, शीत-ताप, आदि कष्टो को अकिञ्चितकर समझते हैं तो इसमे विस्मय ही क्या है ? वेदना का उद्भव स्थान मन है। मन जिसमे सुख और दुःख की परिकल्पना करता है उसी मे उसे उनकी अनुभूति होने लगती है। इसीलिए यह सत्य है कि सुख-दुःख पदार्थाश्रित नही, भावनाश्रित है—'सर्वं परवश दुःख, सर्वं आत्मवश सुखम्।' तपस्या आत्म-वशता का प्रतीक है। इसमे शारीरिक कष्ट है, दुःख नही। वेदना अनुभूतिजन्य होती है। परवश मे प्रत्येक व्यक्ति अनगिनत कष्टो को सहता है और उसे वेदना की तीव्र अनुभूति होती है, परन्तु प्राप्तव्य की कुछ मधुर कल्पनाओ मे वह उन्हे सहता है। तपस्या मे कष्टो की उदीरणा की जाती है। उदीरित कष्ट वेदना की अनुभूति कराते है, किन्तु वह इतनी तीव्र नही होती। अत इस स्ववशता से आनन्द ही आनन्द होता है।

विज्ञान ने अणु की शक्ति को मापा परन्तु अणु से भी सूक्ष्मतम आत्मा की शक्ति को मापने के लिए उसके पास शक्ति कहाँ है ? अनन्त को अनन्त से ही मापा जा सकता है। अपरिमित को परिमित से नापना अज्ञान है। विज्ञान भी इस बात की खोज मे है कि व्यक्ति कितने दिनो तक निराहार रह सकता है। अनेक प्रयोग चले, नीबू के रस और पानी के आधार पर अनेक दिन तक जीवित रह सकने की बात प्रमाणित हुई। परन्तु जैन तपस्या के तथ्यो की जानकारी पर वे आश्चर्यान्वित ही रहे। गाधीजी ने भी उपवास, अनशन आदि के प्रयोग किए। परन्तु वे भी बहुधा नीबू का रस लेते थे। जैन विधि इससे भिन्न है। जो भी तपस्या होती है उसमे प्रत्येक व्यक्ति को निराहार रहना ही पडता है। पानी का ग्रहण वैकल्पिक है। कई पानी ग्रहण करते हैं, कई नही। तेरापथ मे पानी ग्रहण किए बिना २२ या २४ दिन की सर्वाधिक तपस्या हुई है, पानी के आधार पर १०६ दिन की। नीबू या अन्यान्य रसो का सर्वथा वर्जन होता है। जो लम्बी तपस्या छह मास की, या नौ मास की या इससे भी ज्यादा करते हैं, वे गरम छाछ मे से नितरा हुआ पानी पीते है। ऐसी सर्वाधिक तपस्या ३३६ दिन की हुई है।

यह सहसा विश्वास नही किया जा सकता कि इतने दिन तक कोई व्यक्ति निराहार रह सकता है। परन्तु जो प्रत्यक्ष है उसके लिए दूसरे प्रमाणो की कल्पना व्यर्थ है। अभी-अभी आचार्यश्री तुलसी की वयोवृद्ध शिष्या भूराजी ने यह तपस्या की थी। दो साध्वियो ने साथ-साथ तपस्या शुरू की। एक ने १८० दिन (छह मास) की तपस्या की और एक ने ३३६ दिन (११ मास ६ दिन) की। तपस्या मे आत्म-शक्ति की प्रधानता तो है ही, परन्तु शारीरिक सस्थान और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का भी पूरा महत्त्व है।

तपस्या के साथ-साथ 'अभिग्रह' भी किए जाते हैं। 'अभिग्रह' जैन-दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है—अमुक प्रकार के सयोग न मिलने पर आहार आदि न करने की प्रतिज्ञा। यह विशेष दृढता का सूचक है। जो लम्बी तपस्याएँ करते हैं वे प्राय अभिग्रहपूर्वक ही पारणा करते हैं। कई उपवास आदि मे भी इसका प्रयोग करते है। तपस्या करने वाला अपने मन-ही-मन सकल्प करता है कि तपस्या पूरी हो जाने पर यदि मुझे अमुक पदार्थ मिलेगा, या अमुक व्यक्ति मुझे भिक्षा देगा या अमुक प्रकार से देगा या अमुक कहते हुए देगा, भिक्षा देने वाला अमुक वस्त्र पहने होगा, अमुक आसन से बैठा, खडा या सोया होगा आदि। और भी इस प्रकार सैकडो अभिग्रह हो सकते है—यह सकल्प प्रकाश मे नही लाया जाता। अपने अति निकट के व्यक्ति को भी इसका भान तक नही होने दिया जाता। तपस्या की पूर्ति के दिन जब पूर्वकृत सकल्प के अनुसार सारी बातें मिल जाती हैं तब भोजन ग्रहण किया जाता है अन्यथा तपस्या को आगे बढा दिया जाता है। कई बार ऐसे विचित्र 'अभिग्रह' किए जाते है कि उनका 'फलना' कभी सम्भव नही लगता। ऐसी स्थिति मे तपस्वी को काफी कष्ट झेलने पडते है।

अभी सरदारशहर मे साठ-वर्षीय मुनिश्री सुखलालजी ने एक नई प्रकार की तपस्या कर सबको आश्चर्य मे डाल दिया। आपको दीक्षित हुए ४७ वर्ष हो चुके हैं और तभी से आप निरन्तर तपस्या मे लीन हैं। आपका सारा जीवन आज भी एक पहेली है, रहस्य से भरा पडा है। रेगिस्तान की चिलचिलाती धूप मे ज्येष्ठ मास में दो-दो घटो तक तप्त शिलाखण्ड पर लेटे रहना सहज क्रम-सा बन गया है। वे कभी निरन्तर

आहार नही करते। कभी दो-दो दिन के अन्तर से, कभी तीन-तीन दिन के अन्तर से और कभी चार-पाँच दिन के अन्तर से भोजन लेते है और यह क्रम वर्षो से चालू है। आपने कई बार पानी न पीने की कठोर तपस्या की है। अभी कई महीनो से आप पाँच-पाँच दिन के अन्तर से आहार करते हैं। आहार के दिन रोटी, साग, दूध, छाछ, दही आदि लेते हैं—पानी नही लेते। पुन पाँच दिन तक निराहार रहते है। पानी न लेने की तपस्या आप कई बार कर चुके है। अभी-अभी आपने १८० दिन तक पानी न पीने का रेकार्ड स्थापित किया है।

यह वर्ष तपस्या का उत्कर्ष-काल कहा जा सकता है। अभी-अभी एक साध्वी ने ३३६ दिन तक निराहार तपस्या कर सबको विस्मय मे डाल दिया है। उनके दर्शन करने हजारो व्यक्ति आज भी यहाँ एकत्रित होते हैं। भौतिकता पर अध्यात्म की विजय से सीना फूल उठता है। उनकी तपस्या लोमहर्षक और जीवन के प्रत्येक चरण मे प्रेरणादायी है।

तपस्विनी साध्वीश्री भूराजी की अवस्था ७३ वर्ष की है, और आपको दीक्षित हुए ४५ वर्ष हुए हैं। आत्म-साधना के साथ जन-जागरण भी आपका उद्देश्य है। नैतिक नियमो के प्रसार के लिए जगह-जगह पाद-विहार करती हैं और यथाशक्य उनका प्रचार करती हैं। इस वर्ष राजस्थान प्रान्त के अन्तर्गत 'लावासरदारगढ' मे आप थी और वही पर तपस्या प्रारम्भ की। ३० अप्रैल, १९५९ को ३३६ दिन की तपस्या की पूर्णाहुति हुई। इसके पूर्व भी आपने अनेकविध तपस्याएँ की हैं। यह कहा जाय कि आपका समूचा साधक-जीवन तपस्यामय है तो अतिशयोक्ति नही होगी।

तपस्या से आपका शरीर सूखकर काँटे के समान और पारदर्शक हो गया है। नसें और पसलियाँ मानो गिनी जा सकती हो। इस शारीरिक क्षीणता के बावजूद आपका चिन्तन भरपूर और स्वस्थ है।

इतनी लम्बी तपस्या के साथ तेरह बोलो का आपने अभिग्रह भी किया था।

इस अभिग्रह के पूर्ण होने पर आपने ३३६वें दिन सानन्द 'पारणा' किया। इस लम्बी तपस्या के साथ-साथ आपकी अन्यान्य तपस्याओ का वर्णन यो है—आपने आछ के आगार से इकतीस और तेंतीस दिनो की

तपस्या की है।

पानी के आगार से आपने निम्नलिखित तपस्याएँ की है—उपवास २१००, वेला २००, तेला ११३, चोला ४५, पचोला ४६, ६ की तपस्या १०, ७ की ११, ९ की १, १० की १, ११ की १, १४ की १ और १५ की १ तपस्याएँ की है।

धन्य हैं तप शूरा साध्वीश्री भूराजी।

अहिंसा और उसकी अर्हता

गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—"भंते! किं दुक्ख?"—दु ख क्या है? भगवान् ने कहा—"आरंभज दुक्ख"—हिंसा दु ख है।

मनुष्य ने यह जाना। दु ख जिज्ञासा की वृत्ति बनी। उस जिज्ञासा के आलोक मे उसने दु खोत्पत्ति के कारणो को ढूंढ निकाला। उसने पाया कि मनुष्य तीन कारणो से हिंसा मे प्रवृत्त होता है

१ पूजा-प्रतिष्ठा के लिए,

२ जन्म-मरण से मुक्त होने के लिए,

३ दु ख-निवृत्ति के लिए।

पहला कारण उसकी लोकैषणा, वित्तैषणा, भोगैषणा और पुत्रैषणा की ओर सकेत करता है। दूसरा कारण व्यक्ति की धार्मिक परम्पराओ के पालन तथा उपासना के बाह्य-पर्यावरणो से परिवृत्त होने की भावना का साक्षी है और तीसरा सुखावाप्ति की प्रदीप्त आकाक्षा का प्रतिनिधित्व करता है।

ये वस्तु-सत्य हैं। सामाजिक भूमिका मे इन्हे सर्वथा नकारा नही जा सकता। किन्तु इन वृत्तियो को उच्छृङ्खल बनाकर व्यक्ति सुखपूर्वक जी नही सकता। तीनो वृत्तियो के तीन दृश्य-परिणाम है

१ एषणाएँ व्यक्ति को उन्मत्त बनाती है।

२ रूढ-धार्मिक सस्कारो से व्यक्ति को यथार्थ दर्शन नही हो पाता।

३ केवल दु ख-निवृत्ति के विचारो से साधन-विवेक लुप्त हो जाता है।

फिर गौतम ने पूछा—"भते ! किं दुक्ख ?"

भगवान् ने कहा—"असाय दुक्ख"—असात दु ख है। दूसरे शब्दो मे जो मानसिक प्रतिकूलताए है, वह दु ख है। गौतम ने पूछा—"इसका कारण क्या है ?" भगवान् ने कहा—"इसके तीन कारण है

१ देहाध्यास,

२ अधर्म-प्रतिपत्ति या धर्म-उपेक्षा,

३ वक्रता।

ये तीनो कारण मनोवैज्ञानिक है। इनके दृश्य परिणाम तीन है—पहले कारण से व्यक्ति मे ममत्व की तीव्रता उत्पन्न होती है। दूसरे कारण से पाप की अकार्यता नष्ट हो जाती है और तीसरे कारण से व्यक्ति की स्पृष्टताएँ विलुप्त हो जाती हैं।

निष्कर्ष की भाषा मे हम कह सकते है कि शारीरिक और मानसिक दु खा का हेतु हिंसा है।

सुख-दु ख की अनुभूति व्यक्ति-व्यक्ति की अपनी होती है। आत्म-तुला की भावना का विकास हुए बिना व्यक्ति हिंसा से उपरत नही हो सकता। हिंसा से उपरत वही व्यक्ति हो सकता है जो मृतार्चा है, जो धर्म-विद् है और जो अजु-सरल है।

शरीर-परिकर्म व्यक्ति को स्वनिष्ठ बनाता है। स्वनिष्ठा अच्छी है, यदि वह आत्मा के प्रति हो। शरीर के प्रति निष्ठा ममत्व पैदा करती है और ममत्व व्यक्ति को मूढ बना देता है। मूढता जडता लाती है और जड व्यक्ति 'स्व' से आगे कुछ नही देखता।

धर्म-विद् वह है जो क्रिया की प्रतिक्रिया का अनुसवेदन करता है। जो जानता है कि जिसे मैं मारना चाहता हू, वह मैं ही हू, जिसे मैं ठगना चाहता हू, वह मैं ही हू—वह धर्म-विद् है।

सरलता आत्म-पवित्रता की सूचक है। बाह्य पर्यावरणो मे जो चाक-चिक्य है, बाह्य जगत् के लुभावने और मोहक रगो मे जो आकर्षण है—उससे आत्मा मे वक्रता पैदा होती है। सरलता स्वभाव है, वक्रता विभाव।

विभाव विभाव को ही पैदा करता है, स्वभाव को नही। यह बाह्य जगत् मे स्थित होने की प्रक्रिया है। वहि स्थिति आत्म-विमुखता को उत्पन्न करती है। आत्म-विमुखता हिंसा है।

अब हम आज के सदभ मे इन तीन कारणो का पर्यालोचन करें—

१ शरीर परिकर्म—शरीर को केन्द्र मानकर व्यक्ति चला। शरीर के प्रति ममत्व बढा। उसके प्रसाधन की जिज्ञासा ने हजारो-हजारो साधनो को जन्म दिया। साधन बढे पर समाधान नही मिला। असमाहित मन मे स्पर्धा ने जन्म लिया और उसने शब्द की तरगो की तरह स्पर्धाओ की एक लम्बी श्रृखला को उत्पन्न किया। अतृप्ति की ज्वाला मे झुलस-झुलस-कर व्यक्ति अशान्त और बेचैन बन बैठा।

२ अधर्म पतिपत्ति—यह हिंसा का परिणाम है। इसने व्यक्ति को दृश्य-दर्शी बना डाला। उसने वतमान को प्रमाण मान, अतीत और अनागत को झुठलाना चाहा। उसने अदृश्य-दर्शी को चुनौती दे डाली। यह उसका अपना मनोभाव था, जो गूढ सस्कारो की अभिव्यक्ति का सूचक था। इससे क्रूरता बढी और क्रूरता मे समत्व का बोध लुप्त हो गया। हम एक हैं, हमारा जीवन एक है, हमारा लक्ष्य एक है, हममे समानताए अधिक हैं, असमानताए कम—यह समत्व-बोध नष्ट हो गया। दूरी बढी, उसने व्यक्ति-निष्ठा को जन्म दिया। सामुदायिकता का नाश हो जाने से, सब पर ही पर दिखने लगा। यह असमत्व भाव आज सर्वत्र प्रसर्पण कर चुका है। यदि इसको नही रोका गया तो मनुष्य मनुष्य को निगल जायेगा।

३ वक्रता—आज यह राजनीति का प्रमुख शस्त्र है। सभ्य शब्दो मे इसे कूटनीति कहा जाता है। आज के युग मे कूटनीति की परिपूर्णता, सफलता और असफलता की सूचक है। चाणक्य का नाम 'कौटिल्य' इस-लिए पडा कि वह कुटिल-कूटनीतिज्ञ था। कूटनीति राज्य-व्यवस्था मे उपादेय है और आज तो उसकी उपादेयता अपरिहार्य-सी बन गई है। किन्तु इसका परिणाम स्वल्पावधि मे भले ही अनिष्टकर न हो, किन्तु लम्बे काल मे यह अनेक बुराइयो को जन्म देती है।

शासन मे इसकी अपरिहार्यता ने शासित को सदेहशील बनाया और

इससे उसमे अविश्वास पैदा हुआ। अविश्वास निश्चिन्तता का बाधक है और इससे अशान्ति सदा बनी रहती है।

इन सब अपरिहार्य अनिष्टताओ को मिटाने का एकमात्र साधन है अहिंसा। दूसरे शब्दो मे इसे अशस्त्र की साधना भी कह सकते हैं। अशस्त्र वही हो सकता है, जो सब मे स्व का अनुसवेदन करता है। इसीलिए भगवान् ने कहा—ज हतव्व सि मन्नसि त तुम चेव—आदि-आदि। इसने व्यक्ति को सरल बनाया, स्वभावस्थ कर डाला।

अशस्त्र व्यक्ति मृतार्चा (आत्मस्थ) होता है, धर्मविद् होता है और सरल होता है। जो सरल होता है, वह दूसरो के हनन मे अपना हनन देखता है, दूसरो को परवश करने मे अपनी परवशता देखता है, दूसरो के परिताप मे अपना परिताप देखता है, दूसरो के निग्रह मे अपना निग्रह देखता है और दूसरो की हिंसा मे अपनी हिंसा देखता है—ये अहिंसा के परिणाम हैं।

मैं मानता हू कि भगवान् ने यह जो कहा—'सव्वेपाणा न हतव्वा, न अज्झावेयव्वा'—कोई प्राणी हन्तव्य नही है, अज्ञापयितव्य नही है, परितापितव्य नही है, परिग्रहीतव्य नही है और उद्रावेतव्य नही है। यह कोई उपदेश की भाषा नही है, अपितु यह अदृश्यदर्शी के प्रत्यक्ष अनुसवेदन की अभिव्यक्ति है। इसमे जीवो की समस्त अर्हताओ का दिग्दर्शन है, सवेदन है। जब उन्होने यह जान लिया कि मुझे सुख प्रिय है और दु ख अप्रिय, तब दूसरो को भी ऐसा ही है—'सव्वे पाणा सुख साया, दुक्खपडिकूला'—तब भला दूसरो को मारने, पीडित करने, सतप्त करने या परवश करने मे दूसरो का क्या अधिकार है ?

इस अनुसवेदन पर अहिंसा का विकास हुआ, आत्मौपम्य की सृष्टि हुई और एकत्व का उपबृहण हुआ।

तितिक्षा और अभय के महान् प्रयोग

अहिंसा का आधार तितिक्षा और अभय है। जो कष्टो को सहने मे कतराता है, वह अहिंसक नही हो सकता।

भगवान् ने कहा—'कसेहि अप्पाण'—आत्मा को तपा—अहिंसा तपने

से सधती है। ताप तितिक्षा की कसौटी है। जो तपना जानता है, वह उज्ज्वलतम रेखाओ को अपने मे प्रतिबिम्बित कर सकता है। यह तितिक्षा का परिणाम है।

भगवान् ने कहा—'जरेहि अप्पाण'—आत्मा को खपा। साध्य खपने से सधता है। भगवान् ने कहा—'नत्थि असत्थ परेण पर'—अहिसा मे पर पर नही है। उसमे स्पर्धा नही है, पराभव नही है। जो दूसरो का पराभव करता है या स्वय पराभूत होता है, वह अहिसक नही हो सकता।

शस्त्र भय है, भय-जनक है। अशस्त्र अभय है, अभय-जनक है। अहिसक 'अकुतोभय' होता है। उसमे प्रतिकार और प्रतिरोध का सामर्थ्य होता है। वह हिसा को परास्त कर विजयी बनता है। परन्तु उसकी विजय का मार्ग निराला है।

'का अरई के आणदे'—यह अहिसा की चरम परिणति है। अहिसक के लिए क्या अरति और क्या आनन्द ? वह इनसे परे है।

निष्कर्ष की भाषा मे हम यो कहे—

१ अहिसा स्वतत्र चेतना का अनावृतिकरण है।

२ अहिसा का आधार तितिक्षा और अभय है।

३ अहिसक वह है जो पराभूत नही होता।

४ अहिसक वह है जो परिस्थितियो से गृहीत नही होते हुए अपने बन्धनो को काट डालता है।

५ अहिसा से तितिक्षा, तितिक्षा से अपराभव, अपराभव से स्पष्टता और स्पष्टता से अभय का विकास होता है।

जिज्ञासा समाधान

गौतम गणधर ने पूछा—भते ! दु ख क्या है ? सुख क्या है ? मोक्ष क्या है ? मोक्ष के साधन क्या है ?

भगवान् ने कहा—गौ ! 'जे पावे कम्मे कडे कज्जई, कज्जिसई से

दुहे'—पाप-कर्म ही दुख है—जो पाप-कर्म अतीत मे किए थे, वर्तमान मे करते है और भविष्य मे करेगे—यही दुख है। कर्म भव-भ्रमण का हेतु है। भव-भ्रमण दु ख है। जो परापेक्ष सुख है, वह दुख है।

भगवान् ने कहा—भो! 'जे निज्जिण्णे से सुहे—' जो निर्जरण-कर्मो का क्षय है, वही सुख है—कर्म-निर्जरण आत्म-विशुद्धि है—आत्म-विशुद्धि शाश्वत सुख है—जो आत्म-सापेक्ष सुख है—वही सुख है।

भगवान् ने कहा—भो! 'सति मोक्ख'—शान्ति मोक्ष है। शान्ति आत्मौपम्य बुद्धि का फल है। उसका उद्‌गम स्थान आत्मा है। शान्ति आत्म-स्वभाव है—इसकी उत्पत्ति की कल्पना व्यवहार मात्र है। यह अतीन्द्रिय है।

भगवान् ने कहा—भो! 'विज्जया चेव चरणेण चेव'—मोक्ष के दो साधन हैं—विद्या-ज्ञान और चरण-क्रिया। हेय-उपादेय को जानने का साधन ज्ञान है—ज्ञान तभी फलवान बनता है जब वह क्रियान्वित होता है—क्रिया-शून्य ज्ञान या ज्ञान-शून्य क्रिया विशेष फलवती नही होती है।

ज्ञान और क्रिया

दो परिव्राजक भगवान् महावीर के पास आए। एक ज्ञानवादी था, दूसरा क्रियावादी। दोनो मे विवाद था। एक ज्ञान को ही मोक्ष का साधन मानता था, दूसरा क्रिया को ही। दोनो एकान्तवादी थे। ज्ञानवादी ने कहा—

विज्ञप्ति फलदा पु सा, न क्रिया फलदा मता।
मिथ्या ज्ञानात् प्रवृत्तस्य, फल प्राप्ते रस भवात् ॥१॥

क्रियावादी ने कहा—नही-नही, यह मिथ्यावाद है, क्रिया ही सर्व-फल-साधिका है—

क्रियैव फलदा पुसा, न ज्ञान फलद मतम्।
यत- स्त्रीभस्मभोगज्ञो न ज्ञानात् सुखि तो भवेत् ॥२॥

भगवान् ने मुसकराते हुए कहा—भो! आप दोनो एकान्तवादी हैं। एकान्तवाद पूर्ण सत्य तक नही पहुँचता। वह तो केवल उसके अचल मात्र को छूकर ही रह जाता है। एकान्तवाद से मिथ्याभिनिवेश आता है। आशिक सत्य की अपेक्षा से तुम दोनो सत्य हो और पूर्ण सत्य की दृष्टि मे

दोनो मिथ्या हो। दोनो का समन्वित रूप ही सत्य है।

मैं कहता हू—'विज्जाचरण पमोक्ख'—ज्ञान और क्रिया दोनो के समन्वय से मोक्ष होता है। न तो केवल ज्ञान से ही, न केवल क्रिया से ही मोक्ष मिल सकता है। 'अप्पणा सच्च मेसेज्जा, मेत्ति भूएसु कप्पए'— यह ज्ञान और क्रिया का चिन्तन-सूत्र है—उनको जोडने वाली कडी है—ज्ञान से जानो और क्रिया से हेय को छोडो, उपादेय को ग्रहण करो।

दोनो परिव्राजक परम तुष्ट हो 'ज्ञानक्रियाभ्या मोक्ष' कहते हुए अपने-अपने आश्रम की ओर चले गए।

बन्धन-मुक्ति का मार्ग

गणधर गौतम भगवान् महावीर के अनन्य भक्त—अन्तेवासी शिष्य थे। वे प्रश्न करते और भगवान् स्वय उनका समाधान करते। गुरु-शिष्य का सम्वाद अन्य सभी निर्ग्रन्थो के लिए उत्कृष्ट पाथेय बन जाता—वही उनके सयम जीवन का सबल रहता—उसके सहारे वे आत्म-साधना करते और आगे चरण उठाते हुए परम पद को प्राप्त हो जाते। ज्ञान का सार उसके आचरण मे है।

गौतम स्वामी ने पूछा—भन्ते! बन्धन क्या है? और बन्धनमुक्ति का उपाय क्या है?

भगवान् ने कहा—दु ख ही बन्धन है। राग-द्वेप कर्म के बीज है। कम मोह से उत्पन्न होते है, भव-भ्रमण-जन्म-मरण का हेतु कर्म है—जन्म-मरण ही दु ख है।

पदार्थासक्ति से मोह पैदा होता है, मोह से स्नेह पैदा होता है, स्नेह से राग बढता है, राग से द्वेप बढता है, राग-द्वेष से बन्धन बढता है—यह चक्र चलता ही रहता है, जब तक कर्मो का अन्त नही हो जाता। बन्धन-मुक्ति का मार्ग है वीतराग भाव। 'सिणेहि असिणेहकर'— यह वीतराग भाव का स्वरूप है—जो स्नेह करने वालो मे भी अस्नेहशील रहता है वह वीतराग है। यह अति कठिन है—द्वेप करने वालो पर द्वेष न किया जाय यह कठिन होते हुए भी दु साध्य नही है। राग करने वालो पर राग न किया जाय यह परम दु साध्य है।

दु ख-मुक्त कौन है? जो दोप-मुक्त है।

दोप-मुक्त कौन है ? जो स्नेह-मुक्त है।
स्नेह-मुक्त कौन है ? जो मोह-मुक्त है।
मोह-मुक्त कौन है ? जो सयोग-मुक्त है—वीतराग है।
राग-द्वेप वन्धन है और वीतराग भाव वन्धन-मुक्ति का साधन।

विशोधी के स्थान

वैशाली के लोगो मे आज अपार हर्प था। भगवान् के पदार्पण की वात मारे नगर मे फैल गई। लोग स्नानादि मे निवृत्त हो, नये-नये परिधान व अलकारो से सुसज्जित हो गाव से दूर भगवान् के स्वागत के लिए गए। पाद-विहार करते हुए भगवान् महावीर अपने शिष्यो सहित लोगो का अभिवादन स्वीकार करते हुए 'गुणशील' उद्यान मे ठहरे। प्रवचनोपरान्त एक जिज्ञासु श्रमणोपासक ने पूछा—"भगवन् ! विशोधी के स्थान कौन-कौन है ?" भगवान् ने कहा—"लज्जा, दया, सयम और ब्रह्मचर्य—ये चारो मोक्षाभिलापी के लिए विशोधी-स्थान है।

लज्जा, पापभीरुता से व्यक्ति सवल वनता है। मवल व्यक्ति मे अध्यात्म-भावना का जागरण होता है—अध्यात्म भावो से समता का स्वीकरण और मोक्षाभिमुखता आती है।

दया से आत्म-रक्षा का भाव प्रवल वनता है—मर्वभूतात्म भूत की भावना का विकास होता है।

सभी जीवो मे स्वात्मत्व का दर्शन 'सयम' की ओर प्रेरित करता है। सयम से निग्रह वढता है और निग्रह से पर कल्पित दु ख नही होते।

निग्रह का उत्कर्ष है—ब्रह्मचर्य। वीर्य-धारण से कष्ट सहने की क्षमता वढती है—ब्रह्मचर्य का असर शरीर पर होता है—यह ऐकान्तिक सत्य है, ब्रह्मचर्य से आत्मोन्मुखता का विकाम होता है, यह सार्वभौम सत्य है।"

महाव्रतो की परम्पराओ का इतिहास

भारत की जनता के लिए 'व्रत' शब्द नया नही है। यहाँ के प्राचीनतम साहित्य मे इस शब्द का प्रयोग अनेक स्थलो मे हुआ है। भारतीय दर्शन व्रतो का दर्शन है। यहाँ का जन-मानस व्रतो के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखता है। जैन, बौद्ध और वैदिक—ये तीनो परम्पराएँ व्रतो के माध्यम से फली-फली और आज भी उन्ही के प्रसार व प्रचार के लिए प्रयत्नशील है। अत व्रतो की परम्परा पुरानी है।

सभी प्राणियो मे सामर्थ्य का तारतम्य होता है। सामर्थ्य दो प्रकार का होता है—शारीरिक और आत्मिक। ये दोनो अन्योन्याश्रित नही हैं। किसी मे शारीरिक सामर्थ्य अधिक हो सकता है और आत्मिक कम, जैसे—सिंह, हाथी, पहलवान आदि। किसी मे शारीरिक सामर्थ्य की न्यूनता और आत्मिक सामर्थ्य की प्रबलता हो सकती है, जैसे—तपस्वी, ब्रह्मचारी, सयमी आदि। शारीरिक सामर्थ्य परापेक्ष है, आत्मिक सामर्थ्य आत्मापेक्ष। शारीरिक सामर्थ्य विभाव है, आत्मिक सामर्थ्य स्वभाव। व्रत आत्म स्वभाव या आत्म सामर्थ्य का प्रतीक है। हाँ, इस तथ्य को ओझल नही किया जा सकता कि व्रत-पालन मे भी शारीरिक-सस्थान की भी पूर्ण अपेक्षा रहती है—परन्तु यह एकान्तिक नियम नही हो सकता क्वचित् इसका अपवाद भी होता है।

भारतीय दर्शनो मे व्रतो के मुख्य दो विभाग किये गये हैं—अणुव्रत और महाव्रत। छोटे-छोटे व्रतो को अणुव्रत कहते है और बडे व्रतो को महाव्रत। जैन दृष्टि के अनुसार जो व्रत अपवादयुक्त होते है—देशव्रत होते हैं, वे अणुव्रत और जो व्रत अपवाद-रहित होते हैं—पूर्ण होते हैं, वे महाव्रत कहे जाते हैं। प्रस्तुत निबन्ध मे जैन-दृष्टि से महाव्रतो के विकास-क्रम पर कुछ प्रकाश डाला जाएगा।

जैन-दर्शन का आधार 'आगम-साहित्य' है। आगमो के आदि प्रवक्ता भगवान् महावीर थे। गणधरो ने उनका सृजन किया और उत्तरवर्ती आचार्यो ने उसे विशेष विस्तृत व जनयोग्य बनाने मे प्रयास किया। भगवान् ऋषभ इस अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थङ्कर थे। तीर्थङ्कर से पहले वे एक

अनुपम व्यवस्थापक के रूप मे प्रस्तुत हुए और सयम ग्रहण के बाद साधु सघ का श्रीगणेश किया। वहाँ से महाव्रतो की परम्परा चालू होती है। भगवान् ऋषभदेव के उत्तरवर्ती तीर्थङ्करो ने महाव्रतो का निरूपण किया, इसमे कोई सन्देह नही। किन्तु, किन-किन तीर्थङ्करो के समय मे कौन-कौन-से कितने महाव्रत रहे, यह इतिहास के अभाव मे निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर के सघ की, महाव्रतो की परम्परा का हमे अनेक आगम-ग्रन्थो मे उल्लेख मिलता है। परन्तु बाकी के बावीस तीर्थङ्करो की परम्परा का कही भी विस्तृत उल्लेख नही मिलता। समुच्चय मे नाममात्र का उल्लेख मिलता है।

उत्तराध्ययन-सूत्र मे वर्णित केशीकुमार और गौतम गणधर का सवाद प्राचीन तीर्थङ्करो की परम्पराओं के बारे मे कुछेक तथ्यो की ओर सकेत करता है। मुनि केशीकुमार भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के साधु थे और मुनि गौतम भगवान् महावीर की परम्परा मे दीक्षित हुए थे। केशीकुमार ने गौतम से कहा—"हे गौतम ! जब भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर का अन्तिम लक्ष्य एक है, तब धर्म मे भेद क्यो ? भगवान् पार्श्वनाथ ने 'चतुर्याम' धर्म का उपदेश किया और भगवान् महावीर ने 'पञ्चयाम' या पचमहाव्रत के धर्म का। क्या यह भेद सशय मे नही डालता ?" गौतम ने उत्तर देते हुए कहा—"हे मुने ! धर्म तत्त्व का सम्यग् ज्ञान प्रज्ञा द्वारा ही हो सकता है। प्रज्ञा सभी मे समान नही होती। प्रथम तीर्थङ्कर के मुनि ऋजुजड और चरम तीर्थङ्कर के मुनि वक्रजड होते है, किन्तु मध्य के बावीस तीर्थङ्करो के मुनि ऋजुप्राज्ञ होते हैं। अत उन अधिकारियों की प्रज्ञा के तरतम भाव के आधार पर ही धर्मव्रतो का—महाव्रतो का निरूपण किया गया है। प्रथम तीर्थङ्कर के साधु ऋजुजड थे। सरल होने पर भी वे तत्त्वो को कठिनता से समझते थे। अन्तिम तीर्थङ्कर के साधु वक्रजड हैं। परमार्थ को कठिनता से समझते हैं—समझ लेने पर भी उसका आचरण वक्रता से करते हैं। उनमे जडता बहुत होती है। बीच के बावीस तीर्थङ्करो के साधु ऋजुप्राज्ञ होते हैं—परमार्थ को शीघ्र समझ भी लेते हैं और बुद्धि से उसका सही आचरण भी करते हैं।

उपरोक्त उद्धरण से यह अनुमान किया जा सकता है कि प्रथम और

अन्तिम तीर्थङ्करो के समय मे पाँच महाव्रतो की और बीच के बावीस तीर्थङ्करो के समय मे चार महाव्रतो की परम्परा रही हो। किन्तु इतने मात्र से सन्तोष नही हो जाता। आज के इस साधन-प्राचुर्य के युग मे इतने मात्र से ही सन्तोप मान लेना बुद्धिगम्य नही होता। आज के युग मे एक-एक शब्द की सूक्ष्म छानवीन होती है और यथाशक्ति उस पर विचार किया जाता है। बौद्धो के एक-एक शब्द पर विचार हुआ है और बडे-बडे निबन्ध या पुस्तकें भी लिखी गई हैं। यही आजकल जैन-सघ के प्रगतिशील आचार्यश्री तुलसी कर रहे हैं। जैनागमो के एक-एक शब्द का अन्वेपण हो रहा है। कार्य प्रगति पर है।

सत्य एक है, अखण्ड है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार उसके खण्ड किये जाते हैं। वे सत्याश भी पूर्ण-अखण्ड सत्य के ही पूरक होते हैं। महाव्रत एक है, अखण्ड है और पूर्ण है। उसे हम अहिंसा कह सकते हैं। प्रज्ञा के तारतम्य के आधार पर उसके अनेक भेद हुए।

आगम साहित्य मे महाव्रतो की छह परम्पराएँ मिलती हैं

१ एक महाव्रत की परम्परा।

२ दो महाव्रतो की परम्परा।

३ तीन महाव्रतो की परम्परा।

४ चार महाव्रतो की परम्परा।

५ पाच महाव्रतो की परम्परा।

६ छह महाव्रतो की परम्परा।

ये छह परम्पराए सैद्धान्तिक हैं। अन्तिम तीन परम्पराओ का स्पष्ट उल्लेख आगमो मे हुआ है—वे दोनो सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रही हैं। इसका विस्तार यथास्थान किया जाएगा। किन्तु, प्रथम तीन परम्पराए कब और कैसे रहीं, इसका कोई उल्लेख नही मिलता। अत वे सैद्धान्तिक हैं, उनके व्यावहारिक रूप अज्ञात हैं।

एक महाव्रत की परम्परा

'अहिंसा शाश्वत धर्म है'—यह एक व्रतात्मक धर्म का निरूपण है। उपलब्ध आगमो मे 'आचाराङ्ग सूत्र' सर्वप्राचीन माना जाता है। उसमे इसका स्पष्ट उल्लेख हुआ है। धर्म का स्वरूप बताते हुए भगवान् कहते

हैं—सभी प्राणी, सभी भूत, सभी जीव और सभी सत्वों को नहीं मारना चाहिए, उन पर आज्ञा नहीं चलानी चाहिए, उन्हें दास की तरह अधिकार में नहीं रखना चाहिए, उन्हें सन्ताप नहीं देना चाहिए, उन्हें प्राणों से रहित नहीं करना चाहिए—यही धर्म शुद्ध है, नित्य है, शाश्वत है।

यह अहिंसा के स्वरूप का निरूपण है। यही धर्म है, शाश्वत है, नित्य है, अनन्त है। अतः यह समझा जा सकता है कि अहिंसा ही महाव्रत है। अन्यान्य आचार्यों ने भी इसे माना है। दशवैकालिक सूत्र के प्रशस्त चूर्णिकार अगस्त्यसिंह मुनि ने लिखा है—'अहिंसा ही परम धर्म है—यही मूल महाव्रत है। शेष महाव्रत तो इसी के अर्थ विशेष के द्योतक हैं—'जेण अहिंसा परमो धम्मो सेसाणि महव्वताणि एतस्सेव अत्थविसेसगाणीति'।

धर्म का मौलिक रूप समता का आचरण है। अहिंसा समता का अपर नाम है। समता की अखण्डता एकमात्र अहिंसा में भी देखी जा सकती है और अन्यान्य सत्य, ब्रह्मचर्य आदि में भी।

अहिंसा ही धर्म है—शेष महाव्रत उसकी सुरक्षा के लिए हैं। यह विचार आगमोत्तरकाल साहित्य में बहुत दृढ़ता से प्रस्थापित हुआ है।

परन्तु 'एक महाव्रत' की परम्परा कब और कैसे रही, यह अभी अन्वेषण का विषय है। इसकी व्यावहारिक परम्परा की अज्ञातावस्था में भी इसकी उपयोगिता व सर्वग्राहिता का निषेध नहीं किया जाता। यह तर्क गम्य भी है कि हिंसा और अहिंसा ये दो मूल तत्त्व हैं और शेष सभी इन्हीं के परिवार हैं।

दो महाव्रतों की परम्परा

यह परम्परा भी सैद्धान्तिक अवश्य है। इसका व्यवहार काल अभी तक अज्ञात है। दो महाव्रतों का निरूपण आगमों के अनेक स्थलों पर हुआ है। सभी में समान रूप से हुआ हो ऐसी बात नहीं है। उत्तराध्ययन सूत्र में 'सत्य और अहिंसा'—यह दो व्रतों का निरूपण है। सूत्रकृतांग में 'अहिंसा और अपरिग्रह' इन दो व्रतों का प्रतिपादन है। प्रश्नव्याकरण, स्थानाङ्ग में भी इन्हीं दो व्रतों का शब्दान्तर से निरूपण हुआ है। परन्तु अहिंसा महाव्रत को सभी ने स्वतन्त्र महत्त्व दिया है।

उत्तराध्ययन में 'सत्य' के द्वारा अन्य महाव्रत ग्रहण कर लिए गए

और सूत्रकृताग आदि मे अपरिग्रह के द्वारा सत्य आदि महाव्रतो का ग्रहण हुआ। यह विवक्षा भेद ही इस भेद-दृष्टि का कारण है।

तीन महाव्रतो की परम्परा

अहिंसा, सत्य और वहिर्धादान (अपरिग्रह)—यह तीन यामो का निरूपण है।

आचाराग सूत्र इसका साक्षी है। किन्तु इसकी परम्परा कब रही, इसकी कोई जानकारी नही मिलती। अन्यान्य आगमो में इन तीन यामो का निरूपण नही मिलता। 'वहिर्धादान' से अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को ग्रहण किया गया है। 'सत्य' परम लक्ष्य है और अहिंसा और अपरिग्रह उसकी प्राप्ति के साधन हैं। अपरिग्रह का अर्थ है निर्ममत्व। ममत्व पदार्थाश्रित होता है। पदार्थ से शरीर, धनधान्य, स्त्री आदि सभी का ग्रहण होता है। इन पर स्वार्थवश या परार्थवश ममत्व न रखना अपरिग्रह है। ब्रह्मचय स्त्री से सम्बन्धित है। स्त्री को परिग्रह माना है। चोरी का मूल ही ममत्व है। जिसमे ममता नही वह भला चोरी, स्थूल पदार्थो की व भगवदाज्ञा की, क्यो करे ? अत वहिर्धादान (अपरिग्रह) मे दोनो का समावेश सुघट है।

चार महाव्रतो की परम्परा

'सत्य, अहिंसा, अचौर्य और वहिर्धादान' यह चतुर्याम धर्म का निरूपण है। इसका व्यवहार काल इतिहास के घेरे मे आ चुका है। मुख्यत भगवान् पार्श्वनाथ 'चतुर्याम' धम के प्रवर्तक माने जाते है। ऐतिहासिक अवधि की दृष्टि से यह सही है। क्योकि शेष तीर्थङ्करो के धर्म सघ का कोई विशेष विवरण हमे प्राप्त नही है। उत्तराध्ययन के २३।२५।२६ के आधार पर यह निर्णय किया जा सकता है कि वावीस तीर्थङ्करो के समय चतुर्याम धर्म रहा और पहले और अन्तिम तीर्थङ्करो के समय पचयाम धर्म। स्थानाग सूत्र मे कुछ विशेष स्पष्टता से इसी तथ्य का निरूपण हुआ है।

वौद्ध ग्रन्थो मे भी 'चतुर्याम धर्म' की चर्चा आयी है। दीर्घनिकाय के सामञ्ञ फल मे 'चतुर्याम सवर सवृतो' ऐसा विशेपणात्मक वाक्याश का उल्लेख है। हालाकि यह वाक्याश भगवान् महावीर के विशेपण के रूप मे आया है, किन्तु जर्मन विद्वान डॉ० जैकोवी ने इसे भगवान् पार्श्वनाथ के

धर्म का सकेत माना है।

श्रीयुत एम वी देव ने अपनी 'जैन श्रमण्यवाद का इतिहास' पुस्तक मे एक स्थान पर लिखा है—"तुगिया नगरी के भगवान् पार्श्व के पाँच सौ शिष्य (पासावच्चिज्जा थेरा) भगवान् महावीर से मिले और पचयाम धर्म (पचजाम धम्म) को स्वीकार किया।" यह तथ्य मूलागमो मे नही है कही। उत्तरवर्त्ती ग्रन्थो मे उसका उल्लेख आया हो—परन्तु लेखक ने इस तथ्य का कोई प्रमाण नही दिया है। कुछ भी हो—भगवान् पार्श्वनाथ चतुर्याम धर्म के प्रचारक थे—यह नि सन्देह तथ्य है।

पाच महाव्रतो की परम्परा

पाच महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का उल्लेख अनेक स्थलो पर हुआ है। भगवान् महावीर ने चाउज्जाम-धम्म' की परम्परा को 'पचजाम धम्म' मे रूपान्तरित किया। वर्तमान का जैन शासन भगवान् महावीर का शासन है। जैन श्रमणो के लिए पाँच महाव्रतो का पालन अनिवार्य है।

ज्यो-ज्यो युग आगे बढा, त्यो-त्यो तर्क भी बढा। श्रद्धा का स्थान तर्क ने ले लिया। अत व्रतो का विस्तार आवश्यक हुआ। एक ही व्रत के प्रतिपादन से दूसरे सारे ग्रहीत हो जाते हैं—यह तार्किक मस्तिष्क क्योकर माने ? व्रत जितने शब्दो मे बधा है, उनका ही पालन हो जाय, तो वे तार्किक अपने आप मे सन्तोप मान लेते हैं—ऐसी अवस्था मे आत्मा की विभाव प्रवृत्ति मात्र के निरोधक कुछेक मुख्य व्रतो का निरूपण अवश्य हुआ, ताकि साधक उन्हे अपना प्रकाशपुञ्ज मानकर आगे बढता चले।

छह महाव्रतो की परम्परा

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और रात्रि-भोजन विरमण—ये छह महाव्रत हैं। भगवान् महावीर से पूर्व रात्रि भोजन विरमण को मूल व्रत नही माना। इसी प्रकार 'प्रतिक्रमण' भी उनके लिए अनिवार्य नही था। जब आवश्यकता होती—कोई अपराध हो जाता—तब वे यथोचित प्रतिक्रमण कर लेते। रात्रि भोजन करने का उनके लिए

सवाल ही नही था। वे सरल थे। व्रतो की आत्मा को समझते थे। परन्तु ज्यो-ज्यो वक्रता बढी और पवित्रता घटी त्यो-त्यो व्रतो मे परिवर्तन हुआ। भगवान् महावीर ने 'रात्रि भोजन विरमण' को मूल मन्त्र माना और उसे महाव्रत की-सी मान्यता दी। आज जैन-श्रमण के लिए जैसे हिंसा, असत्य आदि अनाचरणीय है वैसे ही रात्रि-भोजन हेय है, अनाचरणीय है। व्रत पालन की दृष्टि से दोनो समान हैं। उसी प्रकार 'प्रतिक्रमण' भी आज के श्रमण के लिए अनिवार्य विधि है। दोष हो या न हो प्रतिक्रमण करना ही पडता है।

यह महाव्रतो की परम्पराओ के विकास की कहानी है। इन छह परम्पराओ के अध्ययन से फलित यह हुआ कि धर्म का मौलिक स्वरूप सामायिक-चरित्र या समता का आचरण है। दूसरे शब्दो मे वह अहिंसा है। सत्य आदि उसी का विस्तार है। इसीलिए आचार्यों ने लिखा—'अवसेसा तस्स रक्खट्ठा'—शेष व्रत अहिंसा की सुरक्षा के लिए है।

काव्य की भाषा मे "अहिंसा धान है, सत्य आदि उसकी रक्षा करने वाले वाडे हैं।" अहिंसा जल है, सत्य आदि उसकी सुरक्षा के लिए सेतु हैं। सार यही है कि दूसरे सभी व्रत अहिंसा के पहलू है।

मइमं पास

'का अरई के आणंदे, एत्थपि अग्गहे चरे'—क्या अरति और क्या आनन्द, मेधावी व्यक्ति दोनो से अगृहीत होकर चले—यह साधना-सूत्र है। साधक का लक्ष्य ऊँचा होता है। विचारो के आरोह-अवरोह से गुजरता हुआ उसका मन कभी आनन्द और कभी अरति की धारा मे वह जाता है। दूसरे शब्दो मे कहा जाए तो वह परिस्थितियो के वशीभूत होकर हर्ष और विषाद के थपेडो से प्रताडित हो उठता है। इसमे उसका पुरुषार्थ सो जाता है और अकर्मण्य भाव उद्दीप्त हो उठता है। जहाँ पुरुषार्थ सोता है, वहाँ भाग्य भी सो जाता है। जो व्यक्ति अरति और आनन्द के हाथो न विककर

स्वय उन पर आधिपत्य स्थापित करता है, वह पुरुष है। क्योंकि उसका पुरुषार्थ वहाँ मुखरित होता है।

'मइम पास'—मतिमन् ! देख—यह साधना का अन्तिम सूत्र है। साधना का प्रारम्भ 'मइम जाणह'—मतिमन् ! जान—से होता है। व्यक्ति पहले जानता है, फिर देखता है। देखने का अर्थ है—साक्षात्कार करना। साक्षात्कार का आदि विन्दु है जानना। जब जानना घनीभूत हो जाता है, तब साक्षात्कार प्रारम्भ होता है। 'जानना' परोक्षानुभूति है। फिर चाहे वह शास्त्र द्वारा, उपदेश द्वारा या अन्य किसी प्रकार से हो। 'देखना' प्रत्यक्षानुभूति है। इसमे 'किसी से' देखा नही जाता। वह 'स्व' हो जाता है। यही साक्षात्कार है।

परोक्ष ज्ञान मे जाना जाता है साक्षात् देखा नही जाता। जब वह ज्ञान साक्षात् हो जाता है, तब द्रष्टा और दृश्य दो नही रहते, एक बन जाते हैं। द्रष्टा और दृश्य की एकात्मकता ही साक्षात्कार की प्रक्रिया है। ध्यान की सीमा 'जानने' तक ही अवरुद्ध नही है। उसका पर्यवसान साक्षात्कार मे होता है। जो स्थिर-चेतना है, वह ध्यान है। यही साक्षात्कार की प्रक्रिया है।

साधना मे जानना कम होता है, देखना अधिक। सोचना कम होता है, करना अधिक। इसीलिए भगवान् महावीर ने स्थान-स्थान पर 'मइम पास' का उपदेश दिया है। इस सूत्र से उनकी वाणी की यथार्थता और प्रयोगात्मकता की सिद्धि होती है। वे कहते हैं—मैंने जो कुछ कहा, उसे मान लेना मात्र ही पर्याप्त नही है। उसे तुम स्वय अनुभव करो। वह अनुभूत तथ्य ही तुम्हारा 'स्व' होगा और वही साक्षात्कार की प्रक्रिया है।

इस तथ्य के आलोक मे आज हमे आत्मालोचन करना है। बहुत सारे व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो भगवान् की वाणी के ज्ञाता हैं। अपनी विश्लेषणात्मक बुद्धि से वे वाणी की अर्थान्मा से निष्णात हैं, किन्तु वे उतने इतने लाभान्वित नही हो पाते, जितना उन्हे होना चाहिए। उनमे साधना कम पनपती है पर सैद्धान्तिकता अधिक। सैद्धान्तिकता बुद्धि की उर्वरता से पनपती है और साधना पनपती है हृदय की पवित्रता से। सैद्धान्तिकता व्यक्ति को साधना से दूर ले जाती है और तर्क-वितर्क के गहनतम जगल मे भटका देती है। हृदय की पवित्रता व्यक्ति को साधना से ओतप्रोत कर

यथार्थता की ओर ले चलती है। यही सही मार्ग है। आगम-वाणी या आप्त-वचन से व्यक्ति तभी लाभान्वित हो सकता है, जबकि वह उन वचनो का प्रयोग पग-पग पर करता है। जब वह इनका पूर्ण प्रयोग कर चुकता है, तब वह 'तन्मय' हो जाता है। वह तथ्य उसका 'स्व' हो जाता है।

भगवान् महावीर द्रष्टा बनने की विशेष प्रेरणा देते थे। उनका कथन था कि द्रष्टा ही यथार्थ को देख सकता है। जिसे देखना नही आता, वह यथार्थ तक पहुँच नही सकता। आँखो से देखना—देखना नही है। वह तो चक्षु-इन्द्रियो का अपना काय है। देखने का अर्थ है—वस्तु को आत्म-चेतना से सम्बद्ध करना। ध्यान मे वस्तुगत धर्मो से आत्मचेतना का सम्पर्क स्थापित होता है, तब ध्येता और ध्येय का द्वैध मिट जाता है।

भगवान् महावीर का सम्पूर्ण जीवन ध्यानमय था। उन्होने भद्रा, महाभद्रा, सर्वतोभद्रा आदि प्रतिमाएँ की। उनमे अनेक प्रहरो तक एक साथ, विभिन्न दिशाओ मे, ध्यान करना होता था। यही कारण था, उन्होने यथार्थ को साक्षात् किया और स्वय यथार्थ बन गए।

महावीरकालीन शासन-प्रणालियां

भगवान् महावीर का युग प्रजातन्त्र और एकतन्त्र के सहअस्तित्व का युग था। अनेक शासन-प्रणालियाँ प्रचलित थी। सारा देश अनेक इकाइयों मे विभक्त था। प्रत्येक इकाई का अलग-अलग राज्य होता था और कही-कहीं अनेक इकाइयाँ एक-दूसरे मे मिलकर सयुक्त राज्य मे बदल जाती थी। इन विभक्त इकाइयो के कारण प्रजातन्त्रीय प्रणालियो के परिवर्धित व परिवर्तित रूप सामने आए और समय-समय उनके सफल प्रयोग भी हुए।

गण और कुल, ये दोनो सघ राज्यो के दो मुख्य विभाग थे। इन दोनो के अन्तगत अनेक शासन-प्रणालियाँ विकसित हुई। गणिपिटक, त्रिपिटक और वैदिक ग्रन्थो मे अनेक शासन-प्रणालियो का उल्लेख मिलता है। वैदिक

साहित्य मे भोज्य और स्वराज्य शासन प्रणाली का विशेष महत्त्व देखा जाता है। भोज्य शासन-प्रणाली मे वशानुक्रमिक नेतृत्व नही होता था। परन्तु नेता या शासक साधारण या उच्च वर्ग से चुने जाते थे, स्वराज्य शासन-प्रणालियाँ भी प्रजातन्त्रीय थी। समान लोगो मे से ही कोई स्वराष्ट्र शासक चुना जाता था और वही प्रधान शासक बनता था। उसी प्रकार पैत्तनिक, राष्ट्रिक आदि प्रणालियाँ भी प्रचलित थी। पैत्तनिक प्रणाली एकतन्त्रीय थी। शासक या नेता वशानुक्रम से होते थे।

आचाराग सूत्र मे अनेक शासन-प्रणालियो का उल्लेख है

१ अराजक राज्य।

२ गणराज्य।

३ यौवराज्य।

४ द्वैराज्य।

५ वैराज्य।

६ विरुद्धराज्य।

अराजक राज्य

यह एक पारिभाषिक शब्द है, जो एक विशिष्ट शासन-प्रणाली की ओर सकेत करता है। इसका अर्थ 'व्यवस्थाहीन राज्य' नही है। इसका व्युत्पत्तिक अर्थ है—बिना शासक वाली शासन-प्रणाली। यहाँ शासक का अर्थ—अभिषेकपूर्वक स्वीकृत नेता से है। जैन टीकाकार इसका अर्थ यो करते है कि—प्राक्तन राजा के मर जाने पर जब तक राजा और युवराज इन दोनो का अभिषेक नही हो जाता तब तक वह राज्य 'अराजक राज्य' कहलाता है।

इस प्रणाली का आदर्श यह था कि केवल कानून और धर्मशास्त्र ही शास्ता के रूप मे रहे और कोई भी व्यक्ति विशेष को शासक न माना जाए। यह आदर्शवादी प्रणाली थी। बहुतो ने इसे केवल कपोल-कल्पित समझा। परन्तु इतिहास के आलोक मे यह सिद्ध हो चुका है कि भारत मे इस प्रणाली का प्रयोग अनेक बार हुआ है। भारतीय जनता के आध्यात्मिक सस्कारो के आधार पर भी इसे अतिशयोक्तिपूर्ण नही कहा जा

सकता। यह प्रजातन्त्र प्रणाली की चरम सीमा थी, आत्मानुशासन का एक नमूना था। इसका आधार था—पारस्परिक विश्वास। यदि कोई विश्वास-घात या अपराध कर लेता तो उसे समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता। यही एकमात्र दण्ड-व्यवस्था थी। परन्तु व्यक्तिवादी भावनाओ ने विश्वास को पीछे ढकेल दिया। अत यह शासन अधिक दिनो तक चल न सका। शान्तिपर्व (अध्याय ५९) मे भी इस प्रणाली के सकेत मिलते है। वहाँ ऐसा भी उल्लेख है कि जब यह प्रणाली विफल होने लगी तब एकतन्त्र या राज्यतन्त्र प्रणाली का उदय हुआ।

एकतन्त्रवादियो ने इसका इन शब्दो मे तिरस्कार किया कि—अराजक राज्य से बढकर खराब और कोई राज्य नही हो सकता। यदि कोई बलवान् नागरिक कानून या धर्म का पालन करता रहे, तब तो कुशल ही है, परन्तु यदि वह विद्रोही हो जाए तो वह सब कुछ नि शेष या नष्ट भी कर सकता है।

अराजक राज्य के दो मुख्य आधार हैं—(१) व्यक्ति की महत्ता और (२) समयिक समझौते के आधार पर नियमो का गठन।

अराजक राज्य की प्रजा स्वय अपने लिए नियमो का गठन करती है और स्वेच्छापूर्वक उनको पालने का सकल्प लेती है। नियम व्यक्तियो के लिए होते थे, व्यक्ति नियमो के लिए नही। व्यक्ति के सामने राज्य या व्यवस्था का कोई महत्त्व नही था। इस प्रकार व्यक्ति के व्यक्तित्व को अक्षुण्ण रखते हुए सामाजिक नियमो का सगठन कर एक अनुपम आदर्श उपस्थित किया गया था।

अराजक राज्य की विफलता के दो मुख्य कारण थे

१ नियन्त्रणहीनता।

२ व्यक्तिवादी महत्ता।

इस प्रणाली की सबसे बडी दुर्बलता थी दण्ड और दण्ड देने वाली शक्ति का अभाव। लोग मनमानी करने लगे। आपसी विश्वास टूट गया। कुछेक व्यक्ति नियमो की अवहेलना करने लगे।

स्वच्छन्दता बढी और अनुशासनहीनता ने उनमे अह पैदा कर दिया। वे अब अपनी व्यक्तिगत शक्ति को बढाने मे लग गए। सारा समाज

विभिन्न इकाइयो मे विभक्त होकर छिन्न-भिन्न होने लगा। एकता के अभाव मे प्रतिरोधात्मक शक्ति का ह्रास हुआ और व्यवस्था का आन्तरिक ढाँचा जीर्ण-शीर्ण हो गया। सम्भवत इसी कारण मे महाभारत मे यह स्पष्ट उल्लेख है कि—अराजक राज्य को सहज ही जीता जा सकता है। जब दूसरे शक्तिशाली शत्रु अराजक राज्य पर आक्रमण करते हैं तो इसकी प्रजा न झुक सकने वाली लकडी के समान टूट जाती है।

अराजक राज्य की शासन-प्रणाली का विस्तृत विवेचन उपलब्ध नही होता। जैन चूर्णिकार या टीकाकार केवल शब्द की परिभाषा देकर ही मौन साध लेते है। आचाराग सूत्र के चूर्णिकार इसकी व्याख्या नही देते। इससे यह अनुमान किया जाता है कि यह प्रणाली उस समय प्रचलित थी और सहज ज्ञात होने के कारण ही उसकी विस्तृत व्याख्या न हुई हो। महाभारत मे अराजक राज्य की रूपरेखा मिलती है। वहाँ यह उल्लेख है कि—अराजक राज्य के लोगो ने समस्त वर्णो मे विश्वास उत्पन्न करने के लिए यह नियम निश्चित किए थे कि जो कटुभाषी, उद्दण्ड, परस्त्रीगामी तथा परधनहारी होगे वे त्याज्य समझे जायेंगे।

अराजक राज्य की राज्य-सीमा छोटी रही होगी ऐसा लगता है। बहुत विस्तीर्ण राज्य मे यह व्यवस्था सुचारु रूप से चल सके, ऐसा नही लगता।

आज की भाषा मे इसे हम 'सत्ताहीन शासन-प्रणाली' कह सकते हैं। आचार्य विनोबा भावे और साम्यवादियो का अन्तत ध्येय यही है कि 'सत्ताहीन राज्य' की भूमिका तैयार की जाए। उन्हे इसी मे जन-कल्याण दीखता है।

गणराज्य

'गण' का अर्थ है—समूह, इसलिए गणराज्य का अर्थ होगा समूह का राज्य या बहुत से लोगो द्वारा सचालित राज्य। डा० फ्लीट, मानियर विलियम आदि पाश्चात्य विद्वानो ने गण शब्द का अर्थ tribe किया है, परन्तु यह अर्थ नितान्त भ्रामक है। गण कृत्रिम होते थे, tribe स्वाभाविक। जातक मे एक दूसरे शब्दो के साथ 'गण-बन्धन' ऐसा शब्द भी आया है। इसका वास्तविक अभिप्राय है कि—लोगो का एक सस्था या साधारण

सभा-समिति के रूप मे मिलकर एक हो जाना। स्वय 'वन्धन' शब्द मे भी यह सिद्ध होता है कि गण का सगठन कृत्रिम होता था।

जैन टीकाकारो ने गणराज्य का अर्थ यो किया है—प्रयोजन उत्पन्न होने पर वहुत सारे व्यक्ति गण वनाकर अपना एक नेता निर्वाचित कर लेते थे। वह 'गणराज्य' कहलाता था और उसके द्वारा सचालित शासन को 'गणराज्य' कहा जाता था। इस प्रकार के अग-मगध, काशी, कोशल वाज्जि-मल्ल आदि अठारह गणराज्य थे।

शुक्रनीति मे मत्रिमडल को 'गण' कहा है।

गणराज्य प्रजातन्त्र-प्रणाली की सुन्दरतम प्रणाली है।

अराजक राज्य के विफल हो जाने पर नृपतन्त्र का उदय हुआ। परन्तु यह भी वहुत काल तक निर्दोप नही रह सका। कई क्षेत्रो मे लोगो ने विद्रोह किया और दूसरी शासन-प्रणाली की स्थापना की। नृपतन्त्र के साथ-साथ अनेक क्षेत्रो मे गणराज्य का अस्तित्व भी सुदृढ होने लगा। वुद्ध के समय मे उत्तर भारत के मध्य देश के वणिक दक्षिण भारत मे गए थे। उन्होने दक्षिण के राजा को उपहार-भेंट दी। राजा ने पूछा—"हे वणिको ! वहाँ (उत्तर भारत मे) कौन राजा है ?"

तव उन्होने कहा—"महाराज ! कुछ देश मे तो 'गण' का शासन है और कुछ देशो मे राजाओ का।"

गणराज्यो मे मानवीय समानता का सिद्धान्त प्रचलित था। कुलो के आधार पर नेताओ का चुनाव नही होता था। जो व्यक्ति वीर, वुद्धिमान, धैर्यवान और पूण शक्ति-सम्पन्न होता था वही शासक वन सकता था। शासक जनता का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता था। विभिन्न प्रशासकीय पदो पर योग्यता और क्षमता के आधार पर ही अधिकारियो की नियुक्ति की जाती थी और प्रत्येक नागरिक उन्हे अपनी योग्यता या क्षमता के अनुसार प्राप्त करने का अधिकारी था। गणराज्य मे न तो राजा का विशेप अस्तित्व होता है और न शासक वर्ग की प्रधानता ही होती है। वहाँ राज्य का प्रत्येक प्राणी राजा होता है। ललित विस्तार के अनुसार लिच्छवियो मे छोटे-वडे का भेद नहीं था, सव 'मैं राजा हू, मैं राजा हू' ऐसा समझते थे। महाभारत मे गणो की समृद्धि के कुछ उल्लेख मिलते हैं—

(१) गण के लोग धनी, वीर, शास्त्रो के ज्ञाता तथा शस्त्रो मे निपुण होते थे। वे नि सहायो की महायता करते थे।

(२) गण के लोग सदैव उन अधिकारियो का मान करते है, जो बुद्धिमान हैं, वीर हैं, उत्साही है और कर्तव्यो का पालन करते है।

कौटिल्य ने दो प्रकार के गणराज्यो का उल्लेख किया है

(१) राजशब्दोपजीवी।

(२) वार्त्ताशस्त्रोपजीवी।

प्रथम कोटि के गणो से यह तात्पर्य है कि अध्यक्ष को 'राजा' कहा जाता था और निर्वाचन करने वाने भी स्वय को राजा कहते थे। कौटिल्य ने इस कोटि मे लिच्छवि, पाचाल, मल्लव आदि गणो का उल्लेख किया है।

द्वितीय कोटि के गणराज्य के नागरिक कृषिवल तथा मैनिक निपुणता को अपने गणराज्य का आधार मानकर चलते थे। कम्बोज तथा सुराष्ट्र का इस कोटि के गणो मे उल्लेख हुआ है।

'गण' और 'सघ' शब्द पर्यायवाची माने जाते है—परन्तु यह भूल है। 'गण' एक प्रकार मे शासन का बोध कराता है और 'सघ' राज्य का। शासन एक सामान्य शब्द है जिससे किमी निश्चित प्रणाली का बोध नही होता, किन्तु 'गण' का एक विशेप अर्थ है। वह सभात्मक प्रणाली का परिचायक हैं।

गणराज्य की शासन-प्रणाली का विस्तृत विवेचन उपलब्ध नही है। बौद्ध साहित्य के आधार पर कुछ तथ्य सकलित किये जा सकते है।

यह एक विशुद्ध शासन-प्रणाली थी जो कि मतदान द्वारा योग्य व्यक्तियो को देश की बागडोर मौंपकर लोगो को योग-क्षेम के लिए सत्प्रेरित करती थी।

यौव-राज्य

पिता के जीवित रहते हुए जो राजकुमार राज्यभार सभालने के योग्य हो जाता है उसे 'युवराज' कहते हैं। युवराज द्वारा अधिष्ठित राज्य को 'यौव-राज्य' कहा जाता है। वृहद्कल्प-सूत्र के टीकाकार ने 'यौव-राज्य'

का अर्थ करते हुए लिखा है—"पूर्व नृप द्वारा अभिषिक्त युवराज राज्याधिष्ठित हो जाने पर भी जब तक वह अपने उत्तरवर्ती युवराज का अभिषेक नही कर देता तब तक वह राज्य 'यौव-राज्य' कहलाता है।"

आधुनिक लेखको ने इसका समाधान यो प्रस्तुत किया है—"युवराज की छोटी अवस्था मे ही राजा की मृत्यु हो जाने पर राज्य-सचालन का उत्तरदायित्व एक सरक्षक परिषद् के अधीन रहता था। जब तक युवराज वयस्क नही हो जाता तब तक यही परिषद् राज्य-कार्य का सचालन करती थी।" और इस काल मे राज्य युवराज का राज्य कहलाता था। इसकी पुष्टि महाराज खारवेल के उदाहरण से हो जाती है, जिसके अभिषेक से पूर्व शासन को 'यौवराज प्रशासितम्' कहा गया है।

उपर्युक्त दोनो विवेचनो मे कुछ अन्तर अवश्य है, परन्तु तात्पर्य की भाषा मे दोनो एक ही है।

राज्याभिषेक से पूर्व युवराज भी एक मन्त्री होता था जो राजा का सहायक होता था। उसकी विशेष मुद्रा होती थी और उसकी पदवी का सूचक एक निश्चित पद होता था। वह साधारणत राजवश का ही होता था।

'युवराज' को तीर्थ भी कहा गया है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र मे अठारह तीर्थ गिनाये हैं। उनमे युवराज का उल्लेख भी हुआ है। तीर्थ का अर्थ है—'महा-अमात्य'। सामान्यत तीर्थ का अर्थ 'घाट' या मार्ग किया जाता है। इस व्युत्पत्तिक अर्थ के आधार पर भी मन्त्रियो तथा विभागाध्यक्षो को 'तीर्थ' कहना अनुचित नही लगता। क्योकि इन उच्चाधिकारियो के द्वारा ही सारी आज्ञाएँ विभिन्न विभागो मे जाती थी।

यह एकतन्त्र मे प्रजातन्त्र की प्रणाली थी।

द्वैराज्य

इसका अभिप्राय है दो राजाओ का शासन। एक साथ दो प्रभुसत्ताओ का शासन कुछ अटपटा-सा लगता है। परन्तु भारत में ऐसे राज्य थे, इसके कई पुष्ट प्रमाण मिले है

(१) अवन्ति मे विद तथा अनुविद दो राजाओ द्वारा सयुक्त रूप से शासन था।

(२) सिकन्दर के भारतीय अभियान के समय पाटल राज्य (सिंध) मे पृथक्-पृथक् वशो के दो राजाओ के शासन की सूचना है।

(३) छठी-सातवी शताब्दी मे नेपाल मे लिच्छवि तथा ठाकुरी वश एक साथ ही शासन करते थे।

कौटिल्य ने द्वैराज्य के अस्तित्व को पिता-पुत्र तथा भाई-भाई के मध्य ही सम्भव माना है। परन्तु यह उचित नही लगता।

उपर्युक्त प्रमाणो से यह निश्चित हो जाता है कि केवल पिता-पुत्र या भाई-भाई के बीच ही नही, परन्तु दो पृथक्-पृथक् वशो के शासको द्वारा भी यह प्रणाली उपभोग्य थी।

इस शासन-प्रणाली मे न तो वशानुक्रम से ही कोई राजा चुना जाता था और न अनेक व्यक्ति ही शासन-भार सभालते थे। आधुनिक शब्दो मे हम इसे दो दलो का राज्य कह सकते हैं। एकान्तत यह नही कहा जा सकता कि यह प्रजातन्त्र प्रणाली ही थी। नृपतन्त्र और प्रजातन्त्र का यह सुन्दर समन्वय था। कभी-कभी दोनो अध्यक्ष किसी राज्यवश के ही होते थे और कभी-कभी जनता से चुन लिए जाते थे।

यह आशका सहज उत्पन्न होती है कि एक ही राज्य मे दो प्रभुसत्ताओ से राज्य-व्यवस्था सुचारु रूप से कैसे चल सकती थी। यहाँ यह समाधान निकालना पडता है कि इनकी शासन-प्रणाली का आधार शक्ति-विभाजन था। राज्य के कतिपय सामान्य कार्यो मे वे सयुक्त रूप से कार्य करते रहे होगे और विशिष्ट कार्यो को उन्होने आपस मे बाँट लिया होगा। जिसके विभाग मे जो आता वह उसे पूर्ण सतर्कतापूर्वक निभाता ऐसा प्रतीत होता है। यह प्रणाली निर्दोष नही थी। यह एक राजनीतिक चाल के रूप मे कार्यान्वित होती थी। यह प्रणाली भारतीय मस्तिष्क की अनोखी सूझ थी। अन्यत्र यह नही पायी जाती।

वैराज्य

जैन टीकाकारो ने इसके अनेक अर्थ किये हैं। उनमे वैराज्य का अर्थ 'राजा-विहीन शासन-प्रणाली' ही आधुनिक विद्वानो का अभिमत रहा है। साधनो के अभाव मे वैराज्य शासन की सचालन-विधि और विधि-

विधान की स्पष्ट व्यवस्था नही की जा सकती। अराजक राज्य से यह भिन्न थी और गणराज्य की व्यवस्था को लिए चलती थी, ऐसी सम्भावना की जा सकती है। इसमे कोई भी व्यक्ति विशेष राज्य का उत्तरदायी नही माना जाता था। परन्तु समस्त प्रजा को राज्य-सचालन का अधिकार था। किसी व्यक्ति विशेष का राज्य के पद के लिए अभिषेक न होकर समस्त प्रजा का अभिषेक होता था। जहाँ समस्त प्रजा का राज्य हो वहाँ योग-क्षेम असम्भव हो जाता है। सभी उत्तरदायी माने जाने के कारण कोई भी उत्तरदायी नही होता। देश की दुर्दशा हो जाती है। सम्भवत इसीलिए कौटिल्य ने उसे द्वैराज्य से निकृष्ट मानकर तिरस्कृत किया है। उसका मत है—जहाँ वैराज्य शासन-प्रणाली होती है, वहाँ किसी व्यक्ति के मन मे निजत्व का भाव उत्पन्न नही होता। वहाँ राजनीतिक सगठन का उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति देश को बेच सकता है। कोई अपने-आपको उत्तरदायी नही समझता और लोग उदासीन हो राज्य छोडकर चले जाते है।"

ब्राह्मण-ग्रन्थो के अनुसार उत्तर कुरु और उत्तर मद्र नामक हिमालय प्रदेशो मे यह व्यवस्था प्रचलित थी। वैराज्य विधान दक्षिण भारत मे भी प्रचलित था।

विरुद्ध राज्य

जैन टीकाकारो ने इसका अर्थ करते हुए लिखा है कि—"जहाँ दो राजाओ का एक-दूसरे के राज्य मे गमनागमन विरुद्ध है—उसे विरुद्ध राज्य कहा जाता है।"

आगे चलकर टीकाकार कहते है कि—"जब व्यापारी या अन्य समस्त प्रजा का गमनागमन निषिद्ध घोषित कर दिया जाता है तब वही वैराज्य विरुद्ध राज्य बन जाता है।" इस कथन से यह सहज सभाव्य है कि वैराज्य और विरुद्ध राज्य मे एक-सी शासन-प्रणाली रही हो। आधुनिक लेखक इसे विभिन्न दलीय प्रशासन पद्धति मानते है। राज्यसत्ता व्यक्ति विशेष के हाथ मे न होकर प्रजा के प्रतिनिधि विभिन्न वर्गो के नेताओ के हाथ मे होती थी। विभिन्न दलीय सघर्षो के कारण ही इसे विरुद्ध राज्य कहा

गया है।

द्वैध शासन के विधान का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण 'अन्धक-वृष्णि' का प्राप्त होता है। महाभारत के अनुसार यादव कुक्कुर और भोज आदि सभी अन्धक-वृष्णि सघ के रूप मे सगठित हुए थे। वर्गों के नेताओ के रूप मे आहुक, अक्रूर गद, प्रद्युम्न तथा सकर्पण के नामो का उल्लेख हुआ है। प्रभु उग्रसेन अन्धको का अधिनेता था और कृष्ण वृष्णियो के नेता थे। राज्य-सचालन मे दोनो का समान अधिकार रहता था। ये नेता प्राय परिवर्तित होते थे। कही वासुदेव और उग्रसेन का, कही अक्रूर और वासुदेव का और कही शिनि और वासुदेव का उल्लेख मिलता है। सयुक्त राज्यो के वर्गों मे प्राय परिवर्तन होता और वे निर्वाचित होकर ही शासनारूढ होते थे। शासन-व्यवस्था पार्लियामेट के आधार पर होती थी। इसकी पुष्टि इस उल्लेख से हो जाती है कि—"उस समय उग्रसेन और कृष्ण दोनो अन्धक-वृष्णि के सभापति थे। वृष्णियो का नेता आहुक और अन्धको का नेता अक्रूर सभा मे अपने दलो का प्रतिनिधित्व करते थे। विशेप जानकारी के लिए महाभारत का शान्तिपर्व दृष्टव्य है।

उपर्युक्त विवरण विभिन्न शासन-प्रणालियो का खाका प्रस्तुत करता है। शासन-प्रणाली सदा एक-सी नही रहती। रुचि की विचित्रता और शासक की योग्यता और उपयोगिता के आधार पर उनमे परिवर्तन होता है।

लोक-भाषाओ मे भी इन प्रणालियो का उल्लेख हुआ है। राजस्थानी भाषा का निम्नोक्त पद्य अतीत की शासन-प्रणालियाँ और उनकी सफलता-विफलता की ओर मूक सकेत करता है।

"नहिपति बहुपति निवलपति, पतिकुमार पतिनार।
और पुरन की क्या कहूँ, सुरपुर होत उजार॥

नहिपति—अराजक शासन-प्रणाली, बहुपति—गणराज्य या वैराज्य, पतिकुमार—यौवराज्य की ओर सकेत करते हैं। साथ-साथ इस पद्य से यह भी ज्ञात होता है कि कही-कही स्त्रियो का राज्य भी होता था। भारत मे यह प्रणाली नही है, परन्तु आज भी ब्रिटेन मे राज्य की प्रभुसत्ता रानी एलिजावेथ मे केन्द्रित है।

ज्ञात-अज्ञात

(१)

मैं जानता हू कि सुख-दु ख
तुम्हारी मुट्ठी मे है।
मैं जानता हू कि तुम्हारा
भविष्य तुम्हारे हाथ मे है।
सम्पन्नता और विपन्नता
तुम्हारे अपने विश्वास की
परिधि मे है।
प्रकाश और अन्धकार
तुम्हारी अपनी सृष्टि है।
पुण्य और पाप
तुम्हारे ही कर्त्तृत्व से फले हैं।
शिव और अशिव
सत्य और असत्य
सुन्दर और असुन्दर
तीनो तुम्हारे पुरुषार्थ
से पले हैं।
यह सब जाना है, देखा है
केवल माना ही नहीं है।
तुम यथार्थ हो।
जो यथार्थ है,
उसमे अर्थ है, क्रिया-कारित्व है।
जहाँ क्रिया है,
वहाँ प्रतिक्रिया भी होगी।
क्रिया और प्रतिक्रिया के
अन्तराल मे है—
बन्धन और मुक्ति।

इसीलिए पुरुषार्थी ने गाया—
"सुय च मे अज्झत्थिय च मे
बधप्पमोक्खो तुज्झ अज्झत्थेव।"
—मैंने सुना है अनुभव किया है
कि बन्धन और मुक्ति
तुम्हारे भीतर है।

(२)

मैं जानता हू कि तुम
अदृश्य होकर भी दृश्य हो।
मानव की सारी शक्ति तुमको
अभिव्यक्त करने मे सलग्न है।
वह जानता है कि उसके जीवन
की सार्थकता प्रकाश मे है।
वह यह भी जानता है कि एक
दिन सारा अन्धकार नष्ट होगा,
क्योकि वह अयथार्थ है, कृत्रिम है।
क्योकि काला, गोरा, नीला, पीला,
ह्रस्व, दीर्घ, वृत्त,
मनुष्य, पशु, देव, दानव
ठण्डा, गर्म, स्निग्ध, रुक्ष
—ये सारी उपाधियाँ हैं।
ये तर्क गम्य है —
अत ये कृत्रिम है, अयर्थाथ है।
जो अतर्क्य है,
जो अरूप है,
जो अनुपाधिक है,
जहाँ बुद्धि पहुँच नही पाती,
जो है ?
किन्तु वह नही है,

जो हमने मान रखा है।
वह है।
इसलिए यथार्थ है,
जीवन्त है।
और जो जीवन्त है वह
यथार्थ है।
एक शब्द मे—
वह सत्य है,
वह शिव है,
और वह सुन्दर है
इसीलिए कहा है—
"णहस्से, ण दीहे, ण वट्टे
ण किण्हे, ण नीले
ण सीए, ण उण्णे
ण णिद्धे ण लुक्खे आदि-आदि।"

(३)

अहिल्या को ऋषि ने शाप दिया
पत्थर बनी।
राम के चरणो का स्पर्श पा
बनी पुन मानवी।
सारी स्मृतिया और सकल्प-विकल्प
लहरो की तरह उठने लगे।
एक गया, एक आया।
सबने उसके मन को सस्कार-केन्द्र
बना डाला।
वह सस्कारित होती गई।
पर यह क्या?
उसके मन की समाधि टूट गई।
सकल्पो के आवर्तन-प्रत्यावर्तन से

वह चीख उठी।
उसने सोचा—
काश ! मैं पत्थर ही रहता,
जहाँ शान्ति है, समाधि है और
है अपने मन का विस्मृत भाव।
उसने सोचा—
"पुढो छदा इह माणवा
पुढी दुक्ख पवेदित।"
तभी एक पत्थर ने सिर उठाकर—
कहा—वहन !
वह क्या शान्ति, जहाँ अशान्ति
से जूझने जैसी परिस्थितियो
का निर्माण नही ?
वह क्या समाधि, जहाँ सुलगती
हुई वेदना की अनुभूति नही ?
वह क्या अपना भाव, जो वैश्विक नही ?
वह क्या गति, जिसमे गन्तव्य भी
एक नही ?
वह क्या आत्मशक्ति, जो विरक्ति से
अनुप्राणित नही ?
तव उसके कानो मे अदृश्यदर्शी
के ये शब्द गूज उठे—
"जुद्धारिह खलु दुल्लह
एगप्पमुहे, एगाययणरए णिव्विण्णचारी"

(४)

वासना की मादक हरकतो से
अवसन्न मनुष्य
सयम की ओर वढा।
साधना चली,

मादक हरकतो का ताँता टूटने लगा।
पर वासना मिटी नही
क्योकि सयम के प्रति उसका
राग था, अनुराग नही।
वासना से अलगाव था, विराग नही।
जीवन मे ज्योति थी
किन्तु बुझ जाती वह
एक ही फूंक से।
जीवन मे एक प्रकाश की एक क्षीण
रेखा थी।
किन्तु अन्धकार से समन्वित,
और कृत्रिम थी।
ऊपर था चढ रहा
किन्तु दृष्टि नीचे थी।
दृष्टि के अवलोकन तक
लौट सकता नही!
गन्तव्य? अनवलोकित
ऊपर चढ सकता नही
तभी अनन्त मे से एक स्वर
गूंज उठा—
"नेव स अन्ते नेव से दूरे।"

(५)

आकाश का सितारा एक,
पृथ्वी पर आ गिरा।
पूछा दुलार से—
नीचे क्यो आए तुम?
सस्मित सितारे ने अपनी बात कही—
चमकीली थी खपडी,
ऊपर से वहन तुम!

पर यहाँ देखा
कि तुम निरी मिट्टी हो।
विस्मय से हँसती हुई
बोल पडी पृथ्वी—क्या यह
सत्य है ? चमकीले दीख रहे
तुम भी तो मुझको थे।
यह क्या ?
तुम भी तो मिट्टी हो।
दोनो ने सोचा—
जो दीखे
वह सत्य नही
सत्य मात्र वह है—जो दीखता कभी नही।
और
जो अरूप है,
अशब्द है,
तर्कातीत है,
बुद्धि से परे है।
इसीलिए कहा भगवान् ने—
'अरूवी सत्ता
परिण्णे सण्णे
सव्वे सरा णियट्टन्ति
तक्का जत्थ न विज्जइ
मई मत्थ न गाहिया
उवमा ण विज्जइ।'

आलोचक और आलोचनार्ह

आलोचक चार प्रकार के होते हैं

१ मायावी होकर आलोचना करने आते हैं और माया-भाव से ही आलोचना करते हैं।

२ मायावी होकर आलोचना करने आते हैं, परन्तु अमाया-भाव से आलोचना करते हैं।

३ अमाया-भाव से आलोचना करने आते हैं, परन्तु माया-भाव से आलोचना करते हैं।

४ अमाया-भाव से आलोचना करने आते हैं और अमाया-भाव से ही आलोचना करते हैं।

इस वर्ग चतुष्टय मे आलोचना और आलोचनार्ह (आलोचना देने वाले) का गहरा सबध रखा गया है। मनुष्य द्वारा दोष हो जाना सरल बात है, पर दोष-शुद्धि के लिए सतत प्रयत्नशील रहना कठिन। जो व्यक्ति आत्मार्थी होता है उसे कृत-दोषो का प्रायश्चित किए बिना चैन नही होता। वह योग्य आलोचनार्ह-गुरु के समीप अपने दोषो को प्रकट कर तदनुरूप प्रायश्चित ले दोष-शुद्धि करना चाहता है। क्वचित् उसे ऐसे गुरु भी मिल जाते है, जो वास्तव मे आलोचनार्ह नही होते। वहाँ वह मायाभाव का आश्रय लेता है। कही आलोचनार्ह योग्य नही होते है, तो आलोचक मिथ्या मानदण्डो के कारण माया-भाव का आश्रय ले केवल स्थूल दोषो की आलोचना मात्र दिखावे के लिए करता है व सूक्ष्म दोषो को छिपाता है। अत आलोचना की प्रवृत्ति मे आलोचक और आलोचनार्ह का गहरा सबध है। निशीथ भाष्य चूर्णि मे इसी तथ्य को बहुत सुन्दर ढग से समझाया है।

१ एक व्याध था। वह अपने स्वामी के लिए माँस ले जाता था। एक दिन वह स्वादिष्ट और मधुर माँस लेकर स्वामी के पास जा रहा था। उसने सोचा—'आज यह मधुर माँस मिला है। मैं यह सारा का सारा स्वामी को दे दूंगा।' वह स्वामी के पास आया। उसको देखते ही स्वामी ने कहा—'स्वागत है, सुस्वागत है। आओ, यहाँ बैठो।' स्वामी ने उसके लिए

मद्य मगाया। व्याध ने मद्य पीया। उसने तुष्ट होकर सारा मास स्वामी के समक्ष प्रस्तुत कर दिया।'

इसी प्रकार एक अपराधी आलोचना करने के लिए प्रस्तुत हुआ। उसने सोचा—'सूक्ष्म या स्थूल सभी दोषो की आलोचना कर अपनी शुद्धि करूँगा।' वह आचार्य के पास आया। आचार्य ने उसको सम्मान देते हुए कहा—'तुम धन्य हो, सपुण्य हो। दोष हो जाना कोई दुष्कर बात नही है, दुष्कर है दोषो की सम्यग् आलोचना।' आनेवाले का मन प्रसन्न हो गया। उसने आचार्य की वाणी मे अपूर्व आत्म-भाव देखा। उसने सारे दोष आचार्य के समक्ष उपस्थित कर दिए और तदनुरूप प्रायश्चित ले शुद्ध हो गया। यह चौथे वर्ग के समान है—अमाया-भाव से आलोचना करने आया और अमाया-भाव से आलोचना कर शुद्ध हो गया।

२ एक गाय प्रस्नवित होकर स्वामी के पास आ रही थी। उसका स्तन-प्रदेश दूध से भरा था और लग रहा था कि दूध झरने वाला है। वह स्वामी के पास पहुँची। स्वामी ने उसका सत्कार नही किया, बल्कि डण्डो से पीटने लगा। गाय की प्रसन्नता मिट गई। उसने खिन्न होकर सारा दूध ऊपर खींच लिया। स्वामी को बहुत कम दूध मिला।

इसी प्रकार एक आलोचक प्रायश्चित लेने आया। आचार्य ने पूछा—'क्यो आए हो?' उसने कहा—'अपराधो की आलोचना करने आया हू।' आचार्य ने उसकी भर्त्सना की। आलोचक खिन्न हो गया। उसने सम्यग् आलोचना नही की। यत्र-तत्र दोषो को छिपाकर कुछ दोषो को ही प्रकट किया। यह व्यक्ति तीसरे वर्ग वाले के समान है—अमाया-भाव से आलोचना करने आया और माया-भाव से आलोचना की।

३ एक गाय अपना दूध छिपा लेती थी। स्वामी उसे बहुत पीटता, फिर भी वह सारा दूध नही देती थी। एक बार वह जगल मे चरकर घर लौटी। स्वामी ने उसका प्रेम से स्पर्श किया, उसके शरीर को धीरे-धीरे खुजलाया और सुगन्धित धूप से उसको धूपित किया। गाय प्रसन्न हुई। उसने सारा दूध प्रस्नवित किया।

इसी प्रकार एक आलोचक दोष-शुद्धि करना चाहता था। किन्तु उसका हृदय पवित्र नही था। लोक-व्यवहार निभाने के लिए वह आलोचना हेतु

एक आचार्य के पास आया। उसका मन माया से भरा था। आचार्य ने उसका सत्कार किया, आने का कारण पूछा और पूर्ण वात्सल्यभाव प्रदर्शित करते हुए कहा—'तू धन्य है। शुद्धिकरण की तेरी भावना बहुत सुन्दर है। दोष-शुद्धि वही कर सकता है जो आत्मार्थी है, जो पाप-भीरु है, जो अभय है।' आलोचक का मन आचार्य के वात्सल्य-भाव से पराभूत हो गया। वह माया-भाव लिए आया था, किन्तु अमाया-भाव से सम्यग् आलोचना की और सारे दोष आचार्य के समक्ष प्रकट कर दिए। यह दूसरे वर्ग वाले के समान है—माया-भाव से आलोचना करने आया और अमाया-भाव से आलोचना कर शुद्ध हो गया।

४ एक गाय ने सोचा, आज सारा दूध नहीं देना है। वह घर पहुची। स्वामी ने भी उसका कोई स्वागत नहीं किया, प्रेम प्रदर्शित नहीं किया, बल्कि उसे पीटा। गाय ने सारा दूध प्रस्रवित नहीं किया।

इसी प्रकार एक आलोचक आचार्य के पास माया-भाव से आलोचना करने आया। आचार्य ने भी कोई आदर-सत्कार नहीं किया। उसकी भर्त्सना की। आलोचक का मन और कठोर हो गया। उसने सारे दोष प्रकट नहीं किए।

यह पहले वर्ग वाले के समान है—माया-भाव से आलोचना करने आया और माया-भाव से ही आलोचना की।

इन चारो विकल्पो से आलोचक और आलोचनार्ह के सबध का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। जहाँ आलोचक की भावना दोष-शुद्धि की होती है, यदि वहाँ उसे सम्यग् आलोचनार्ह मिल जाता है, तो उसकी भावना को बहुत बल मिलता है। दोनो का समीचीन योग ही दोष-शुद्धि का अपूर्व कारण बनता है।

जैन-शासन तेजस्वी कैसे बने ?

महावीर जन्मे, मुनि बने, तीर्थङ्कर हुए और मुक्त हो गए। वे युगपुरुष थे। उन्होने युग की भाषा मे प्रवचन दिया। आत्मा की शाश्वत समस्याओ के साथ-साथ युग की अनेक समस्याओ पर विचार कर उनका समाधान दिया। वे आत्म-द्रष्टा थे परन्तु लोक-दर्शन से मुंह मोडकर वे नही चले। वे आत्मानुकम्प के साथ-साथ लोकानुकम्पी भी थे। इसीलिए उन्होने लोकजीवन से सम्पृक्त रहकर उसकी पवित्रता के लिए सूत्र दिए। श्रावक के बारह व्रतो तथा उनके अतिचारो का निरूपण एक स्वस्थ समाज-रचना की ओर स्फुटित सकेत है।

भगवान् महावीर तीर्थङ्कर थे, इसलिए उन्होने जो कहा, शास्त्र बन गया और जो किया, वह विधान बन गया। उनके लिए कोई शास्त्र नही था, कोई पूर्व-निश्चित मार्ग नही था। जैसा उन्हें उचित लगा, किया और वह सदा-सदा के लिए ग्राह्य बन गया।

वे तीर्थङ्कर थे, इसीलिए उनमे स्वय शास्त्र बनने की क्षमता आयी। वे तीर्थङ्कर थे, इसीलिए उनमे पथ-निर्माण की क्षमता आयी।

आज कोई तीर्थङ्कर नही है, इसीलिए सब तीर्थङ्कर बनने की धुन मे तीर्थङ्कर द्वारा बनाए गए मार्ग पर चल रहे हैं और वह भी शाश्वत मानकर।

इस प्रकार चलते-चलते ढाई हजार वर्ष बीत चुके हैं। प्रति वर्ष भगवान् की जन्मतिथि आडम्बर से मना लेना मात्र उसकी सार्थकता रह गई है। चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को हज़ारो-हज़ारो जैन अनेक स्थानो पर एकत्रित होते हैं और भगवान् की जय-जयकार मे आकाश को ध्वनित कर देते हैं। उनके उपदेशो व वाचिक प्रशसा मे सारा वातावरण आप्लावित हो जाता हैं, फिर भी प्राप्तव्य प्राप्त नही होता।

आज सबसे बडी आवश्यकता यह है कि उस युगपुरुष की जयन्ती मनाते समय यह अवश्य ध्यान दें कि उसको मानने वाला जैन समाज आज कितना तेजस्वी है ? तेजस्विता के बिना कोई भी समाज लम्बे समय तक जीवित नही रह सकता। यह तेज स्वत स्फूर्त होना चाहिए, थोपा हुआ नही। थोपा

हुआ तेज क्षणिक होता है। वह जुगनू की तरह चमकता है और क्षीण हो जाता है। आज ऐसे तेज की अपेक्षा है जो दीर्घ काल तक जीवित रह सके। तेजस्विता को बढाने के लिए सद्यस्कता बनाए रखना बहुत आवश्यक है। आज का जैन समाज अतीत से प्यार करता है और उसकी दुहाई देते नही अघाता। मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह अतीत से अधिक प्यार करता है, वर्तमान से नही। परोक्ष प्रिय होता है, प्रत्यक्ष नही। जितने भी भगवान् बने हैं उन्होने अपने जीवन-काल मे अपार सघर्षो का सामना किया था। उन्हे यश मिला उनकी मृत्यु के पश्चात्।

यह परोक्ष की प्रत्यक्ष पर विजय है। आज का जैन श्रमण-समाज भी अद्यतन नही रहा है। वह आज की परिस्थिति मे उत्पन्न प्रत्येक समस्या को आगमो के सदर्भ मे समाहित करना चाहता है। इस प्रक्रिया मे वह आगमो के शब्दो को, प्रसगो को इस प्रकार से पकडता है कि वे उसकी समस्या के समाधान का समर्थन कर सकें। वह ढाई हजार वर्ष पूर्व व्यवहृत शब्दो को आज के परिवेश मे समझना चाहता है और उनको वर्तमान के चौखटे मे बैठाकर समझता है—यही अतीत की हत्या होती है। वह न अतीत को पवित्र रख पाता है और न वर्तमान को ही सही ढग से समाहित कर पाता है। वह भटक जाता है। किसी एक प्रवृत्ति को करना है, उसका स्पष्ट निर्देश आगमो मे प्राप्त नही है। तब व्यक्ति आगमिक सन्दर्भो के रहस्य को ढूँढता है और किसी एक रहस्य के सहारे अपनी प्रवृत्ति को समर्थित कर उसे प्रचलित कर देता है। यह जनता के गले उतर जाता है। परन्तु मैं पूछना चाहता हू कि क्या ऐसी प्रवृत्ति मात्र देश-काल-क्षेत्रानुरूप किया हुआ परिवर्तन नहीं है ? आज सारे धर्म-समाज ऐसे टेढे-मेढे रास्तो से चल-कर आवश्यकतानुसार परिवर्तन किए चले जा रहे हैं। परन्तु किसी मे भी ऐसी हिम्मत नही है कि वह स्पष्टत परिवर्तन करे।

हमे अतीत से लाभ उठाना चाहिए। उसका सम्मान करना चाहिए। किन्तु व्यवहृत वर्तमान से होना चाहिए। मुनिश्री नथमलजी ने एक बार लिखा था—"पुराने वस्त्र का सम्मान किया जा सकता है, परन्तु उसे ओढा नही जा सकता। ओढा वही जाएगा जो बचा सकता है धूप से, सर्दी से, गर्मी से।" यह अतीत के प्रति ऋजु दृष्टिकोण है। ऐसा करके ही हम अतीत

के प्रति न्याय कर सकते हैं। अन्यथा अतीत भी विगड जाएगा और वर्तमान भी नही सुधरेगा। एक कितना वडा व्यग्य है—

एक पिता के दो पुत्र थे। पिता ने मरते समय दोनो पुत्रो को पास बुलाकर कहा—"मेरे पास और कुछ नही, सिर्फ दो कोट और एक किताव है। मैं तुमको एक-एक कोट देता हू। जव कभी कोट मे परिवर्तन करना पडे, तव यह किताव तुम्हे महायता देगी।" पिता मर गया। दोनो ने एक-एक कोट ले लिया।

समय वीता। फैशन वदला। कोट को वदलने की आवश्यकता महसूस हुई। किताव के एक प्रसग के आधार पर कोट मे परिवर्तन कर दिया। कुछ दिनो वाद पुन परिवर्तन की अपेक्षा हुई। किताव मे प्रसग नही मिला, शब्द भी नही मिला। दोनो चिन्तातुर हो गए। उन्हे परिवतन अवश्य करना था, क्योकि उसके विना वे वर्तमान से ताल-मेल विठाकर जी नही सकते थे। उन्होने किताव को कई वार पढा और यह सोचा कि प्रसग या शब्द नही मिलने पर भी यदि इस प्रकार के शब्द का कोई एक अक्षर भी मिल जाए तो हम परिवर्तन कर देंगे। ऐसा करने से न तो पिताजी की आज्ञा का उल्लघन होगा और न ही हमारा काम रुकेगा। ऐसा सोचकर उन्होने किताव को पढा, अक्षर मिल गया और उन्होने परिवर्तन कर डाला।

यह कितना वडा व्यग्य है। परन्तु यह सत्य से परे नही है। आज ऐसा होता है। आज के श्रमण वर्ग को इस विपय मे गम्भीरता से सोचकर श्रावक वर्ग को मार्गदर्शन कराना है। आगमो के प्रति व्यक्ति-व्यक्ति का विवेक जागृत करके ही हम उनके प्रति श्रद्धा वढा पाएँगे। आज बुद्धिवाद वढा है। विज्ञान ने अनेक नए आयाम खोले है। व्यक्ति मे सोचने-समझने की क्षमता का विकास हुआ है। ऐसी स्थिति मे विचारो का विकास करना और कराना वहुत अपेक्षित लगता है। आज भी आगमो के शब्दो की खीचतान मे वडे-वडे विग्रह खडे हो जाते हैं। यह उन शब्दो के हार्द को न समझने का ही परिणाम है। शब्द जड है। अर्थ उनमे आरोपित होता है। वह देश-काल और क्षेत्र के वदलने पर वदलता है। उनमे उत्कर्प या अपकर्प हुआ है।

अभी-अभी एक पत्र मे भौगोलिक परिवर्तन की चर्चा करते हुआ लिखा

था कि गत एक दशक मे लगभग पैंतीस नए राष्ट्रो ने जन्म लिया है, अनेक-अनेक राष्ट्रो के नाम बदले हैं और अनेक जनपदो व नगरो की सीमाओ मे आमूलचूल परिवतन आया है तथा समुद्रो मे से अनेक नए द्वीप उभर आए है, जिनका नामोनिशान नही था। परिवर्तन की यह कहानी बहुत पुरानी है। इसे कोई झुठला नही सकता।

जैन परम्परा के अनुसार गुणो के दो प्रकार हैं—मूलगुण और उत्तर-गुण। अहिंसा, सत्य आदि मूलगुण हैं। ये शाश्वत होते हैं, उत्तरगुण अशाश्वत। वे सारे व्यक्ति द्वारा कृत होते हैं। जो कृत होता है, वह शाश्वत नही होता। इस दृष्टि से 'उत्तरगुण' के स्वीकार से हम परिवतनशीलता को स्वीकार करते हैं।

हमारे सारे अपवाद सूत्र परिवर्तन की गाथा गाते है। उनको हम अस्वीकार नही कर सकते। शाश्वत और अशाश्वत दोनो का सकलन करके ही व्यक्ति आगे बढ सकता है, विकास कर सकता है। इन सभी कथनो के सन्दर्भ मे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैन-शासन को तेजस्वी बनाने के लिए तीन सूत्र आवश्यक हैं

१ अपनी मौलिकता को बनाए रखकर परिवर्तन करने की क्षमता का विकास।

२ वर्तमान मे उभरने वाली समस्याओ का सही समाधान देने की क्षमता का विकास।

३ आगम-साहित्य को पढने के सही दृष्टिकोण का विकास।

अतीत के सन्दर्भ मे

भगवान् महावीर राजकुमार थे। पितृपक्ष और मातृपक्ष के आधार पर अनेक राजघरानो से उनका सम्बन्ध था। उनके दीक्षित होने के पश्चात् भी अनेक राजा उनके अनुयायी रहे और जैन धर्म के प्रसारार्थ बहुत कुछ किया। उनमे श्रेणिक, चेटक, प्रद्योतन, उदयन, वीरनञ्जन, सजय आदि-

आदि प्रमुख थे। भगवान् महावीर का विहार-क्षेत्र प्रमुखत उत्तर भारत का पूर्वीय खण्ड था और साधारणत सोलह महाजनपदो से उनका सम्बन्ध था।

भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् भी जैन धर्म भारत के अनेक भागो मे राज्य-धर्म के रूप मे स्वीकृत रहा है। भारत मे राज्य करनेवाली जातियो मे मुख्य जातियाँ—शिशुनाग, नन्द, मौर्य, गुप्त, चालुक्य आदि-आदि ने जैन धर्म स्वीकार किया था।

भगवान् महावीर के काल मे शिशुनाग जाति का प्रभुत्व था और शिशुनाग वशीय राजा श्रेणिक, उदयन आदि भगवान् के अनुयायी थे। शिशुनाग जाति के पश्चात् 'नन्द' जाति का प्रभुत्व बैठा। उन्होने अपने राज्य का विस्तार किया। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ राय चौधरी के अनुसार 'नन्द' जाति का राज्य बम्बई से सुदूर दक्षिण तक और मैसूर के अनेक प्रदेशो तक फैला हुआ था। उस समय मगध और कलिंग के प्रदेशो मे तो जैन धर्म का प्रभुत्व था ही, परन्तु अन्यान्य दूसरे देशो मे भी उसका एकाधिपत्य था, ऐसा अनेक सम्वादी तथ्यो से सकलित हो सकता है।

नन्द जाति के बाद मौर्य जाति ने राज्य-भार सभाला। चन्द्रगुप्त उसका पहला राजा था। अनेक इतिहासज्ञ तथा विद्वान् उसे जैन मानते थे और यह कहा जाता है कि उस समय बारह वर्ष का भीषण दुष्काल पडा। आचार्य भद्रबाहु मगध से दक्षिण की ओर चल पडे। उस समय सम्राट् चन्द्रगुप्त उनके साथ था। चन्द्रगुप्त ने उत्तर भारत मे जैन धर्म का बहुत विस्तार किया और धीरे-धीरे दक्षिण के अनेक प्रान्तो मे भी उसका प्रचार किया। इस प्रकार सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय मे जैन धर्म उत्तर और दक्षिण मे अपना पूरा प्रभुत्व जमा चुका था और पूर्व-पश्चिम भी उससे काफी प्रभावित हुए थे। चन्द्रगुप्त मौर्य का पुत्र अशोक आज बुद्ध के अनुयायी के रूप मे प्रसिद्ध है। परन्तु कई अकाट्य प्रमाणो से इतिहासकारो को यह भी मानने पर बाध्य होना पडा है कि अशोक प्रारम्भ मे जैन था। उनके राज्यकाल मे जैनो को राज्याश्रय प्राप्त था और वे अपने धर्म के प्रचार मे सफल भी हुए। परन्तु मौर्य वश मे जैनो का उत्कर्षकाल राजा सम्प्रति के समय मे रहा है। वह महाराज अशोक का पौत्र था। उसने अपने राज्य मे

'अवध' की घोषणा की और स्थान-स्थान पर चैत्यालयो की स्थापना कर जैन धर्म को प्रकाश मे लाया। आन्ध्र, महाराष्ट्र आदि प्रदेशो मे भी जैन मुनि निर्भयता से घूम सके, ऐसी व्यवस्था की। इसके राज्यकाल मे जैन धर्म उत्तर भारत, मध्यप्रदेश, डेक्कान और सुदूर दक्षिण तक फैल गया था।

वीर निर्वाण की चौथी शताब्दी मे महाराज खारवेल ने जैन धर्म को राज्य-धर्म के रूप मे स्वीकार कर लिया। यह तथ्य हाथी गुम्फ गुफाओ के शिलालेखो से सहज स्पष्ट हो जाता है। इन गुफाओ के शिलालेखो मे यह भी उल्लिखित है कि सम्राट् खारवेल ने आगम-वाचना की ओर प्रयास किया था। बगाल और विहार मे भी जैन धर्म के प्रभुत्व के अनेक आधार मिलते है। परवर्ती साहित्य से पता चलता है कि गोदासगण चार भागो मे विभक्त हुआ। उनमे से तीन के नाम (१)ताम्रलिप्तक, (२) कोटिवर्षीय, (३) पुण्ड्र वर्धनिक है।

वीर निर्वाण की पाँचवी शताब्दी मे 'वीर विक्रमादित्य' का उदय हुआ। उसके जैन बन जाने पर जैन की यशोगाथा पुन दूर-दूर तक फैलने लगी।

वीर निर्वाण की आठ-नौ शताब्दी से अन्यान्य धर्मों का प्रभुत्व वढा। गुप्तकाल प्रारम्भ हो चुका था। राजा वैदिक धर्म के प्रचारार्थ बहुत प्रयत्न करने लगे। परन्तु लोगो के हृदय मे श्रमण-सस्कृति के सस्कार तब भी घर किए हुए थे। अपनी पैतृक सपत्ति बौद्ध या जैन धर्म से लोग चिपके रहे। परन्तु राज्याश्रित होने के कारण अन्यान्य सुविधाएँ उन्हे नही मिल सकी। उडीसा, जो कि जैन सस्कृति का मुख्य प्रान्त था, वह हिन्दू सस्कृति का मुख्य स्थान बन गया।

ईसा की नवी शताब्दी मे बुन्देलखण्ड की राज्य-जाति 'चण्डेला' (Chandelles) के आश्रम मे जैन धर्म की उन्नति हुई। खजुराहो और महोबा—ये दोनो जैन धर्म के प्रसिद्ध नगर माने जाने लगे।

गुजरात, काठियावाड और राजपूताना—ये तीनो जैन-धर्म के मुख्य प्रान्त रहे है। कुमारपाल के प्रयत्नो से जैन धर्म पुन राज्य-धर्म के रूप मे स्वीकृत हो गया।

कुमारपाल ने राज्य-विस्तार के साथ-साथ जैन धर्म का भी प्रचार

किया और आचार्य हेमचन्द्र को अपने गुरु के रूप में स्वीकार किया। डा० ने आदि विद्वान् यह मानते हैं कि कुमारपाल वास्तव में शैव था। परन्तु आचार्य हेमचन्द्र, जो कि इसके राजा बनने में सहायक बने थे, के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए वह जैन बना और दूसरा कारण यह था कि वह (राजा) इस धनिक जाति (जैन) से अपने कोष को भरकर देश भर की आर्थिक स्थिति को सुधारना चाहता था। इन दो कारणों से वह जैन बना हो, ऐसा प्रतीत होता है। कुछ भी क्यों न हो, कुमारपाल के द्वारा जैन धर्म खूब फला-फूला। परन्तु इसकी मृत्यु के पश्चात् अजयपाल, कुमारपाल का उत्तराधिकारी, जैन-धर्म का कट्टर विरोधी बन गया और उसे मिटाने का प्रयत्न करने लगा। अनेक मन्दिर तुड़वाए और जैन मुनियों को असह्य कष्ट दिए। इस प्रकार गुजरात में भी जैन धर्म का पतन होने लगा।

जैन धर्म पर अत्याचार

ईसा की पहली शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक मद्रास प्रान्त में जैन धर्म का अत्यधिक प्रसार रहा। दसवीं शताब्दी में शैवों के साथ उसका झगड़ा हुआ। प्राचीन तमिल ग्रन्थ 'हालास्य महात्म्य' के अड़सठवें प्रकरण में उल्लेख है कि ज्ञानपूर्ण नाम के एक शैव सन्यासी ने आठ हजार द्रविड़ जैन साधुओं को शैव धर्म में दीक्षा दी। तात्कालिक नरेश ने हजारों जैनों को कटवा डाला और उनके टुकड़े-टुकड़े कर कुत्तों और सियारों को डाल दिया। मद्रास प्रान्त में पायी जानेवाली 'रेड्डिया' जाति पहले जैन थी।

सातवीं शताब्दी में पाड्य देश में सुन्दर पाड्य राजा राज्य करता था। वह जैनी था। किन्तु रानी और मंत्री शैव धर्मी थे। उन्होंने षड्यन्त्र रचा और 'तिरु ज्ञान सम्बन्दर' नामक शैव साधु को अपने देश में आमंत्रित किया। उसके माध्यम से धीरे-धीरे शैव धर्म का प्रसार होने लगा। राजा भी शैव बन गया। बाद में किसी एक घटना को लेकर उसने आठ हजार जैन मुनियों को मौत के घाट उतार दिया। पल्लववंशीय राजा महेन्द्रवर्धन भी पहले जैन था। एक तमिल सन्त ने उसे शैव बनाया। उसने दक्षिण आर्काट में एक विशाल जैन मठ का विनाश कर डाला।

बारहवी सदी मे गुजरात के शैव राजा अजयदेव ने जैनियो का कत्ले-आम किया।

दक्षिण भारत मे जैनो पर सबसे अधिक अत्याचार हुए। जैन मुनियो और श्रावको को कोल्हू मे पेला गया, तेल के कडाहो मे तला गया, भीतो मे चुना गया और भट्ठी मे जलाया गया।

पन्द्रहवी शताब्दी के उत्तरार्ध की बात है। दक्षिणी आर्काट के जिंजी प्रदेश का राजा वेंकटामयेट्टई था। वह कवरी नाम की नीच जाति मे उत्पन्न था। उस प्रदेश मे जैनो का बाहुल्य था। उसने एक बार जैन कन्या से विवाह करने का प्रस्ताव रखा। यह सुनकर समूचा जैन समाज किंकर्तव्य-विमूढ हो गया। बहुत कुछ परामर्श के पश्चात् जैन समाज ने राजा को कन्यादान की स्वीकृति दी। विवाह की तिथि निश्चित हुई। उस नियत तिथि मे नियत स्थान पर जैनो ने एक कुतिया ला बाँध दी। उसके गले मे लटकते हुए तख्ते पर लिखा था—"राजन्! कोई भी जैन बाला आपसे विवाह करने के लिए प्रस्तुत नही है। अत आप जैन घरो में पली-पुसी इस कुतिया से विवाह कर लें। सिहनी कभी शृगाल को वरण नही करती।" राजा बरात लेकर आया। वधू के स्थान पर कुतिया को देख उसका खून उबल गया। उसमे प्रतिशोध की अग्नि भभक उठी। उसने अपने राज्य मे आदेश दिया कि "समूचे राज्य भर के जैनियों को नष्ट कर दिया जाए।" यह आदेश सुनकर कई जैनी भाग गए, कई शैव बन गए, कई छद्मवेशी हुए और कइयो ने प्राण त्याग दिए। बचे-खुचे जैनियो को राजा ने मरवा डाला। उनके धर्म-स्थानो को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। जैन आचार अपराध घोषित कर दिया गया।

इस प्रकार इतिहास के प्राचीन पृष्ठ इन साम्प्रदायिक आवेगो के अनिष्ट परिणामो से भरे पडे हैं। आज युग ने करवट ली है, समन्वय और सह-अस्तित्व का वातावरण बना है। प्रत्येक विचारधारा को पनपने की स्वतन्त्रता है, यह शुभ सकेत है।

शिक्षा क्यो ?

शिष्य ने कहा—'भदन्त ! मैं दीक्षित हू, तपस्वी हू, अकिंचन हू, निरारम्भ हू, विरत हू और सयम-योगो मे प्रवृत्त हू। तो फिर मुझे पढने की क्या आवश्यकता है ?' गुरु के कहा—'शिष्य ! ज्ञानार्जन के अभाव मे तेरा उद्देश्य सफल नही होगा। जिस प्रयोजन के लिए तू साधु वना है, वह सफल नही होगा। हाथी अपने शरीर-शोधन के लिए नदी मे स्नान करता है। परन्तु वाहर आते ही वह अपनी सूड से रेत उठाकर सारे शरीर पर डाल लेता है। यह उसका स्वभाव है। उसी प्रकार अज्ञानी प्राणी प्रवज्या ग्रहण कर लेने पर भी, सयम-योग मे प्रयत्नशील रहने पर भी, श्रुताध्ययन के अभाव मे, सूत्र के विरुद्ध आचरण करता हुआ अधिक कर्मो को वाँध लेता है। इसीलिए ज्ञानार्जन अत्यन्त आवश्यक है।'

'जैसे कोई व्यक्ति श्लीपद रोग से ग्रस्त है। वह अपने खेत मे निदान करने जाता है। जितना निदान करता है उससे ज्यादा अपने स्थूल पैरो से धान्य पौधो को दवा देता है। उसी प्रकार श्रुत पाठ के बिना मुमुक्षु व्यक्ति भी अपने चारित्र-धान्य को हिंसा आदि से मर्दन कर देता है। इसलिए शिष्य ! पढना आवश्यक है।'

शिष्य ने कहा—'भदन्त ! जैसे कोई रोगी वैद्य को ही पूछता है, किन्तु वैद्य-सहिता को नही पूछता, इसी प्रकार मैं भी आपके परामर्श से सारी क्रियाए करूगा। पढने से मेरा क्या प्रयोजन है ?'

गुरु ने कहा—'ठीक है। रोगी वैद्य को विना पूछे कोई कार्य नही करता। परन्तु यदि वह चिकित्साशास्त्र का कुछ ज्ञान प्राप्त करता है तो उसे बार-वार वैद्य को पूछने की आवश्यकता नही होती। उसी प्रकार तू भी मेरे परामर्श से ही कार्य करेगा, परन्तु ज्ञानार्जन करने के वाद वार-वार पूछने की आवश्यकता नही रहेगी। तू स्वय चरण-विधि मे निपुण वन जाएगा।'

शिष्य ने कहा—'भदन्त ! रोगी को स्वास्थ्य-लाभ से प्रयोजन है। वह चिकित्साशास्त्र के झझट मे क्यो पडेगा ? मेरे तो आप मार्गदर्शक है ही। मैं श्रुताध्ययन के झझट मे नही पडना चाहता।' गुरु ने कहा—'शिष्य !

ऐसा सोचना उचित नहीं है। क्या तूने उस अन्धे विप्र की कथा नही सुनी ?

'उज्जैनी नगरी मे सोमिल नाम का ब्राह्मण रहता था। वह अन्धा हो गया। उसके आठ पुत्र थे। सारे विवाहित थे। एक वार पुत्रो ने पिता से आँख की चिकित्सा कराने के लिए कहा। बूढे ने कहा—पुत्रो ! मैं आँख की चिकित्सा क्यो कराऊँ ? तुम आठ पुत्रो की सोलह आँखें, तुम्हारी स्त्रियो की सोलह आँखें और तुम्हारी माता की दो आँखें—इस प्रकार मेरे चौंतीस आँखें है तथा परिजन की आँखें भी मेरी ही है। इतनी आँखें रहते मेरी दो आँखें न रहने से क्या अन्तर आ सकता है ? लडको ने समझाया, पर बूढा अपनी वात पर अडा रहा। एक दिन घर मे आग लग गई। सारे व्यक्ति घर से बाहर आ गए। बूढे को भूल गए। दृष्टि के अभाव मे बूढा आग मे झुलसकर मर गया।

'इसलिए शिष्य ! तू ज्ञानार्जन कर। कार्य और अकार्य को जान और ससार-सागर से पार चला जा।

'शिष्य ! श्रुत के अध्ययन से आठ लाभ होते हैं

१ आत्महित की सप्राप्ति।

२ ज्ञान और क्रिया का विवेक।

३ भाव सवर की सप्राप्ति।

४ अपूर्व वैराग्य की सप्राप्ति।

५ चित्त की स्थिरता।

६ तप कर्म की सप्राप्ति।

७ निर्जरा-लाभ।

८ दूसरो को धर्म मे स्थिर करने की शक्ति।'

शिष्य ने कहा—'भदन्त ! यदि ऐसा है तो मैं अवश्य पढूगा।'

जैन विद्वान् ध्यान दें

अभी कुछ ही वर्ष पूर्व महावीर जयन्ती के अवसर पर मुनिश्री नथमल जी ने लिखा—"दुनिया के रगमच पर वही वस्तु टिक पाती है, जो तेजस्वी होती है, सक्षम होती है। जो बुझ जाती है, वह उपेक्षित हो जाती है। जो वात अग्नि के लिए है, वह सव वस्तुओ के लिए है। जैन शासन एक सस्थान है, एक वस्तु है। इसमे प्रकाश और तापमान दोनो आवश्यक हैं। वह जीवित इसलिए है कि उसमे ये दोनो है।"

एक समय था कि जैन शासन मे इन दोनो का उत्सर्पण हो रहा था। परन्तु आज उसका अवसर्पण हो रहा है। इसके लिए जैन वन्धु ही जिम्मेदार हैं। आज जैन शासन मे तपस्वी, साधना-शील, ज्ञानी, लेखक, प्रवचनकार मुनियो की कमी नही है। अनेक तपे हुए श्रावक-श्राविकाएँ भी है। किन्तु जैन शासन की तेजस्विता आज भी एक सकुचित मर्यादा मे ही दीख रही है।

प्रतिवर्ष महावीर जयन्ती पर स्थान-स्थान पर गोष्ठियाँ होती हैं, भाषण होते है और कुछ ही घटो के आमोद-प्रमोद से वह जयन्ती सम्पन्न मान ली जाती है। इस अवसर पर एकचित्त होकर कुछ सोचना-समझना आवश्यक नही माना जाता परन्तु कुछ ठोस कार्य करने की ओर भी हमारा कदम आगे वढना चाहिए। ऐसा करके ही हम अपना तथा शासन का हित साध सकते है।

हम यह जानते है कि पाश्चात्य विद्वानो की शोध—खोज के कारण ही आज दूसरे-दूसरे विद्वान् जैन दर्शन के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करने लगे हैं। इस सत्साधना के लिए हम उनके ऋणी है परन्तु साथ-साथ उन पाश्चात्य विद्वानो ने कितना कुछ अनिष्ट भी सम्पादित किया है, इसे भी हमे जानना चाहिए। इनके सत्प्रयास की मुक्तकण्ठ से प्रशसा करते समय उनके अज्ञान के द्वारा प्रसृत झूठे तथ्यो से भी हमे अवगत रहना चाहिए।

डा० हरमन जेकोवी पहला पाश्चात्य विद्वान् था, जिसने जैन शासन के स्वतन्त्र अस्तित्व को अकाट्य प्रमाणो से सिद्ध किया था। उससे पूर्व के सभी विद्वान् जैन शासन को वौद्ध शासन की शाखा मानते थे। अव यह मान्यता

समाप्तप्राय हो चुकी है। परन्तु दूसरी-दूसरी भ्रान्त मान्यताएँ अनेक पुस्तको मे ज्यो की त्यो प्रचलित होते देख लगता है कि जैन विद्वान् इस ओर से अत्यन्त निष्क्रिय है। इस निष्क्रियता के परिणामस्वरूप आधुनिक साहित्य मे भी वे भ्रान्त तथ्य ज्यो के त्यो दोहराए जाते है और उन्हे प्रामाणिक मान लिया जाता है। मैं यह नही मानता कि ये बातें जैन अधिकारियो की दृष्टि मे नही आती, परन्तु होता यह है कि जब जैन विद्वान् उन्हे पढते हैं तो अपने प्रति किए गए असद् आरोपणो से तिलमिलाते अवश्य है . परन्तु वे यह कहकर सन्तोष मान लेते है कि उन बेचारो का क्या दोष ? उन्हे जैन दर्शन का यथार्थ परिचय देने वाला साहित्य भी कहाँ उपलब्ध होता है ?—यह सन्तोष अपनी निष्क्रियता का स्पष्ट प्रतिबिम्ब है।

मैं अभी 'द रिलिजन ऑफ इडिया' पढ रहा था। यह पुस्तक सस्कृत के प्रो० डा० एडवड वाशवर्न हॉपकिन्स की लिखी हुई है। इसमे सत्रह पृष्ठो मे जैन धर्म का परिचय कराया गया है। उनकी मान्यता है कि—

१ बुद्ध और महावीर दोनो ब्राह्मण परम्परा के क्रान्तिकारी अनुयायी थे।

२ पहले यह लगता था कि जैन परम्परा बौद्धपरम्परा की ऋणी है, परन्तु अब यह स्पष्ट हो गया है कि जैन और बौद्ध दोनो परम्पराएँ ब्राह्मण परम्परा की ऋणी है।

३ जमाली गोशाले का भतीजा था।

४ जैनो ने काल विभाग की कल्पना ब्राह्मण परम्परा से ली और उसकी भिन्न व्याख्या प्रस्तुत की।

५ जैन परम्परा मे आस्तिक्य का अर्थ है—ईश्वर कर्तृत्व मे अविश्वास।

६ मोक्ष की प्राप्ति के लिए बारह वर्ष की कठोर तपस्या पर्याप्त है।

७ जैनो की पाँच महाव्रतो की परिकल्पना ब्राह्मण परम्परा के सन्यासी के लिए निर्धारित नियमो का सशोधन मात्र है।

८ जैनो की अहिसा का निषेधात्मक रूप भी उनकी स्वतत्र देन नही है।

९ दूसरे दार्शनिको ने जो न्याययुक्त सत्य दिया, वही जैनो के लिए महान् सत्य बन गया और उन्होने उसे बढा-चढाकर विश्व के सामने उप-

स्थित किया।

१० जैनो के पास कोई भी उल्लेखनीय साहित्य-निधि नही है।

११ जैन धर्म का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही है, वह तो केवल ब्राह्मण परम्परा की ही एक शिथिल कडी है जो कि ब्राह्मण परम्परा के स्रोत से दूर जा पडी है।

१२ जैन ऐसा कोई भी स्वतन्त्र लक्षण नही है जो कि दूसरे धर्मों से उसका पृथकत्व दिखा सके।

१३ जैन दर्शन मुख्यत तीन बातो पर बल देता है

(१) ईश्वर को न मानना।

(२) मनुष्य की पूजा करना।

(३) पशुओ का पालन-पोषण करना।

१४ जैन दर्शन का वैचारिक जगत् पर कोई प्रभाव नही है।

१५ जैनो का आचारशास्त्र भी अर्वाचीन है।

१६ प्रारम्भ में जैन परम्परा ब्राह्मण परम्परा के विरुद्ध प्रारम्भ हुई, किन्तु उसका ब्राह्मण परम्परा के साथ इतना गाढ एकत्व था कि वह पुन उसी परम्परा मे लीन होती चली गई।

इस प्रकार की असगत मान्यताएँ केवल इसी पुस्तक मे नही, किन्तु अनेक पुस्तको मे उपलब्ध होती हैं। हम देखते है कि अन्यान्य पाश्चात्य विद्वान् तथा भारतीय विद्वान् भी इन्ही मान्यताओ का अनुकरण कर जैन दर्शन सम्बन्धी अपनी जानकारी को यत्र-तत्र व्यक्त करते हैं। यह अन्धानुकरण आज के युग की देन है। आज मौलिकता कम है, अनुकरण अधिक। इसलिए यह आवश्यक हैं कि जैन विद्वान् इन आधारहीन मान्यताओ का खण्डन कर वस्तुसत्य को सामने रखे।

संपूर्ण क्षमताओ का मूल—मर्यादा

आगम साहित्य मे 'मेधावी' शब्द का अनेकश प्रयोग हुआ है। सस्कृत भाषा की दृष्टि से इसका अर्थ 'बुद्धिमान्' किया जाता है। किन्तु आगम-साहित्य मे इसका अर्थ 'मर्यादावान्' किया है। वही व्यक्ति मेधावी होता है, जो मर्यादा मे स्थित है।

मेधावी दो प्रकार के होते है—ग्रन्थ-मेधावी और मेरा-मेधावी। जो अनेक ग्रन्थो का ज्ञाता होता है, जो अनेक ग्रन्थो का पारायण कर लेता है, जो स्व-समय और पर-समय को जानता है, जो बहुश्रुत है, वह ग्रन्थ-मेधावी कहलाता है।

'मेरा' का अथ है—मर्यादा। जो मर्यादा के अनुसार चलता है, जो नियम-उपनियमो का पूर्ण रूप से पालन करता है, उसे 'मेरा-मेधावी' या 'मर्यादा-मेधावी' कहा जाता है।

विश्व का प्रत्येक पदार्थ जड या चेतन, मर्यादा मे स्थित है। व्यष्टि या समष्टि अपनी-अपनी मर्यादा मे रहते हैं। ऐसा एक भी व्यक्ति नही मिलता, जो शास्त्रकृत या स्वकृत-मर्यादा मे न रहता हो। सघ वद्धता मे ही मर्या-दाओ का जाल विछाया जाता है, ऐसी वात नही है। एकाकी व्यक्ति भी मर्यादाओ को तोडकर नही जी सकता।

जैन-शासन का मूल 'विनय' है। विनय के चार अर्थ हैं—नम्रता, वाक्-नियमन, आचार और अनुशासन। यहाँ विनय का अर्थ है—आचार, अनुशासन, मर्यादा।

सघवद्धता मे अनेक नई मर्यादाए वनती है और अनेक मर्यादाओ मे परिवर्तन या परिवर्द्धन होता है। मर्यादाए द्रव्य, क्षेत्र, काल और परिस्थिति की परिक्रमा किये चलती हैं। एक ही विषय की मर्यादाए द्रव्य, क्षेत्र और काल की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न हो जाती हैं। यह आपेक्षिक भिन्नता सघ-सवर्द्धन मे सहायक होती है और सघ को जडता से वचाती है। मूल आगम तथा उनका व्याख्या-साहित्य इस वात का प्रमाण है कि किस प्रकार समय-समय पर मर्यादाओ का गठन, परिवर्तन, परिवर्द्धन और नवीनीकरण हुआ है। एक समय मे की हुई मर्यादा क्षेत्र और काल के व्यवधान मे अकिंचित्कर

हो जाती है । क्योकि वहाँ उस मर्यादा का फलित सहज हो जाता है। वहाँ उस क्षेत्र और काल के अनुसार अनेक नई मर्यादाओं का निर्माण होता है। प्रथम दर्शन मे यह भिन्नता द्वन्द्व उत्पन्न करती है। परन्तु जो क्षेत्र और काल की अपेक्षाओ को जानता है, वह उस परिवर्तन से मूढ नही होता। उसमे कोई अन्तर्द्वन्द्व नही होता।

भगवान् महावीर की परम्परा के प्रतिनिधि गणधर गौतम और भगवान् पार्श्व की परम्परा के श्रमण केशीकुमार जब अपने-अपने शिष्यो के साथ मिले, तब केशीकुमार ने गौतम को प्रश्न की भाषा मे पूछा—"भगवन् ! एक ही कार्य के लिए समुद्यत साधको के लिए साधना की यह विभिन्नता क्यो ?"

गौतम ने कहा—"मुने ! यह विभिन्नता साधको की समर्थता पर अवलम्बित है। दूसरे शब्दो मे यह विभिन्नता द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव पर अवलम्बित है।"

प्राचीन परम्परा के अनुसार श्रमण-सघ-व्यवस्था मे सात पद होते हैं

(१) आचार्य—सूत्र के अर्थ की वाचना देना और गण का सचालन करना।

(२) उपाध्याय—सूत्र की वाचना देना, शिक्षा की वृद्धि करना।

(३) स्थविर—श्रमणो को सयम मे स्थविर करना, श्रामण्य से डिगते हुए श्रमणो को पुन स्थिर करना, उनकी कठिनाइयो का निवारण करना।

(४) प्रवर्तक—आचार्य द्वारा निर्दिष्ट धर्म-प्रवृत्तियो तथा सेवा-कार्य मे श्रमणो को नियुक्त करना।

(५) गणी—श्रमणो के छोटे-छोटे समूहो का नेतृत्व करना।

(६) गणधर—श्रमणो की दिनचर्या का ध्यान रखना।

(७) गणावच्छेदक—धर्म-शासन की प्रभावना करना, गण के लिए विहार या उपकरणो की खोज तथा व्यवस्था करने के लिए कुछ साधुओ के साथ सघ के आगे-आगे चलना, गण की सारी व्यवस्था की चिन्ता करना, आदि।

ये सभी पद कार्य-विभाजन के आधार पर निर्धारित किए गए थे। भगवान् महावीर ने सघ की विस्तीर्णता के आधार पर यह व्यवस्था दी। यह व्यवस्था उस समय अत्यन्त आवश्यक थी, क्योकि इधर भगवान् महावीर का नवोदित तीर्थ विस्तार कर रहा था और उधर भगवान् पार्श्व के तीर्थ मे प्रव्रजित मुमुक्षु तथा श्रमणोपासक भगवान् महावीर के तीर्थ मे सम्मिलित हो रहे थे। हजारो साधु-साध्वियाँ तथा लाखो श्रावक-श्राविकाए निर्ग्रन्थ शासन की मर्यादाओ मे प्रव्रजित थे। उनकी सारणा-धारणा एक व्यक्ति से सम्भव नही थी। इसलिए विभिन्न अधिकार देकर विभिन्न अधिकारियो की नियुक्ति हुई। यह व्यवस्था भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद छह-सात शताब्दियो तक सुचारु रूप से चली। तब सघ एकसूत्रता मे आबद्ध था। परन्तु धीरे-धीरे एकसूत्रता खण्डित होती गई। विशाल-निग्रन्थ शासन दो भागो मे बँट गया। सैद्धान्तिक मतभेद पनपने लगे। धीरे-धीरे विभाजन का विस्तार हुआ और काल की गति के साथ-साथ वह विशाल शासक अनेक भागो मे बँट गया। इन भिन्न-भिन्न इकाइयो का अपना-अपना घेरा था और सभी अपने-अपने घेरे के भरण-पोषण मे लगे हुए थे। अपने-अपने सघ की सुरक्षा के लिए अनेक नियमोपनियम बने। समय बीतता गया। नई मर्यादाए बनती गईं। पुरानी मर्यादाए टूटती गईं। ऐसा कभी नही रहा कि मर्यादाए एक समान अनेक शताब्दियो तक चली हो। यह परिवतनशीलता ही उन मर्यादाओ को सार्थक रखने मे सफल हुई है। जब सघ का विघटन हुआ तब सात पद सिमटते गए। कभी कई पद एक साथ रहे तो कभी एक-दो पद से ही सघ व्यवस्था चलती रही। विक्रम की उन्नीसवी शताब्दी मे जब आचार्य भिक्षु ने तेरापथ का सगठन किया, तब उन्होने इन सात पदो को एक आचार्य मे अन्तर्निहित कर डाला। उस समय उनका सघ छोटा था। कुछ एक श्रमण-श्रमणी तथा श्रावक-श्राविकाए थी। विहार क्षेत्र भी सीमित था। ऐसी स्थिति मे सातो पदों का कार्य अकेले करते रहे। एक बार उनसे किसी ने पूछा कि आगामिक मान्यता के अनुसार आपके गण मे सात पदो की व्यवस्था क्यो नही है? उन्होने कहा—"अभी मैं सातों पदों का काम अकेला ही कर रहा हू।" इस प्रकार उन्होने अपने ऊपर एक बहुत बडा उत्तरदायित्व ले लिया। सघ-व्यवस्था

का समागम होता है। उनमे सदृश और विसदृश दोनो प्रकार के विचार होते हैं। इसी प्रकार व्यष्टि मे भी इसी प्रकार के विरोधी विचार होते हैं। स्याद्वाद उन विरोधी विचारो को अभिव्यक्त करने की एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है। प्रत्येक व्यक्ति का कथन किसी-न-किसी अपेक्षा से जुडा होता है और यही उसके कथन की यथार्थता है। विना किसी अपेक्षा के कोई भी कथन सत्य हो ही नही सकता। जिसमे यह विवेक है उसमे उलझन नही होती। जिस प्रकार वह अपनी अपेक्षाओ को यथार्थ मानकर चलता है उसी प्रकार दूसरो की अपेक्षाओ को भी यथार्थ मानने का विवेक उसमे जागृत हो जाता है। विचारो की खीचातानी से वह वच जाता है और सभावित सघर्ष सहसा ही टल जाते हैं।

इस विवेक के सहारे विरोधी विचारो को पचाने की शक्ति लोगो मे पनपती है और एक-दूसरे की अपेक्षाओ को समझने-समझाने की यथार्थता भी आती है।

जैन-दर्शन की तीसरी महत्त्वपूर्ण देन है—सह-अस्तित्व की व्यवस्थित प्रक्रिया।

प्रत्येक पदार्थ अनेक विरोधी धर्म-युगलो का सघात है। उन अत्यन्त विरोधी धर्मो का भी विघटन नही होता, उनका सहावस्थान ही वस्तु की यथार्थता है। यह तत्त्व-चिन्तन जैन-मनीषियो के कर्म और वचन दोनो मे व्याप्त रहा है।

इस चिन्तन का प्रभाव आज सभी क्षेत्रो मे देखा जाता है। सह-अस्तित्व, सहावस्थान, समझौता आदि शब्दो के प्रयोग तथा उनकी कार्यान्विति हमे यत्र-तत्र गोचर होती ही है। अत्यन्त विरोधी विचारवाले भी आज सह-अस्तित्व मे अपना तथा ससार का हित देखते हैं। गाधीवाद मे इस तत्त्व का विस्तार हुआ है और आज इसकी सफलता सर्वविदित है। यह तत्त्व जीवन के व्यावहारिक पहलू का प्राणवान शासक है। जहाँ इसका विवेक नही है, वहाँ सदा सघर्ष होते हैं और उलझनें वढती जाती है। सह-अस्तित्व का आधार सहिष्णु है। सहिष्णुता सयम-सापेक्ष होती है। आज अमेरिका और रूस जैसे कट्टर विरोधी नेता भी सह-अस्तित्व की वाते करते है और साथ-साथ रहने की पूर्व-भूमिका वनाते हैं। इस विचारधारा का

प्रयोगात्मक रूप हमारे सामने है। प्रत्येक कुटुम्ब, गाँव, देश या राष्ट्र मे यदि इसका वास्तविक स्वरूप प्रयोग मे लाया जाय तो नि सन्देह ही कई सघर्ष या उलझनें स्वय टल जाती है। आज प्रत्येक कुटुम्ब भेदभावी मनोवृत्ति से जर्जरित हो रहा है। देवरानी-जेठानी, भाई-भाई, ननद-भौजाई, सास-बहू एक साथ रहने मे दु ख का अनुभव करते हैं। यह इसलिए कि सापेक्षता का सिद्धान्त उनके जीवन मे नही उतरा है। जैन-दर्शन इस सापेक्षता के आधार पर उन्हें व्यावहारिक समाधान देता है और सदा के लिए अवास्तविक सघर्षो या उलझनो से उबार लेता है।

जीवन के कुछ प्रतिबिम्ब

एक कुम्हार गधे पर मिट्टी लादे चला जा रहा था। एक पथिक ने मिट्टी की गोणी पर पडे चमकदार पत्थर के टुकडे को निहारा। कुम्हार से आठ आने मे खरीद उसे पास मे लगे एक मेले में अपनी दूकान पर बेचने के लिए रख दिया। एक जौहरी ने उस पत्थर को परखा। वह मूल्यवान हीरा था। दूकानदार उसे पाच रुपये मे बेचने को तैयार था। परन्तु वणिक-बुद्धि से उसमे जौहरी ने कुछ कसमस की। उसने चार रुपये देने चाहे। दूकानदार के इनकार करने पर वह कुछ आगे बढा। इतने मे घूमता-फिरता दूसरा जौहरी उधर से आ निकला और बिना हिचक के पचीस रुपये दे उसे खरीद लिया। प्रथम जौहरी पुन आया। परन्तु

उस प्रथम जौहरी के मानसिक द्वन्द्वो को हम न सोचें परन्तु क्या आज का मानव उसका साथी नही है ? तुच्छ स्वार्थो के लिए असली गुणो को छोड रहा है—क्या यह उसकी नादानी नहीं है ?

एक निधन व्यक्ति अपनी निधनता की उधेड बुन मे चला जा रहा था। तालाव के किनारे एक चमकदार पत्थर को देख मन ललचाया। उसे उठा अपनी अटी मे दबा दिया। वह चिन्तामणि रत्न था। उसका भाग्य

निखर उठा। वह जो सोचता, जिसकी इच्छा करता, सभी उस मणि के प्रभाव से प्रस्तुत हो जाते। देखते-देखते जगल मे एक अट्टालिका, शैया आदि तैयार हो गए। पथ की थकावट ने उसे सोने के लिए विवश किया। वह कोमल शैया पर लेट गया। नीद का प्रथम दौर प्रारम्भ होनेवाला ही था कि एक कौआ काव-काव करते उसकी खिडकी पर आ बैठा। उसने उसे उडाना चाहा। परन्तु सब व्यर्थ रहा। विवश हो उसने अपनी अटी से पत्थर निकाला और कौवे की ओर फेंक दिया। कौआ उड गया। परन्तु उसके साथ-साथ उसका भाग्य भी उड गया—नष्ट हो गया। वह मूल अवस्था मे आ गया।

हम उस व्यक्ति की मनोव्यथा के जाल मे न फँसें—परन्तु हम निश्चिन्तता से यह सोचें कि क्या आज का मनुष्य अपने प्राप्त वरदान को भौतिक अभिलापाओ की तृप्ति मे खाक नही कर रहा है ?

सेठ और सेठानी दोनो मन्दिर मे गए। भगवान् की मूर्ति के सामने हाथ जोड प्रार्थना की—"देव ! तेरी कृपा से घर मे वैभव की कमी नही है। समाज मे सम्मान है, कुटुम्ब मे नेतृत्व है। सब कुछ है परन्तु वैभव के अट्टहास को मैं सहन नही कर सकता। वह हमे नि सन्तान समझकर हृदय को कुरेदता है और उसे नोच-नोचकर खाता है। हम आपसे भीख माँगते हैं—धन और वैभव की नही—एक सन्तान की, चाहे वह गोरा हो या काला, विकलाग हो या पूर्णांग, भाग्यवान् हो या भाग्यहीन। एक पुत्र, केवल एक एक एक "मूर्ति से एक अस्पष्ट ध्वनि हुई, "तेरे भाग्य मे इस स्त्री से पुत्र नही होगा।" सेठ साष्टाग नमस्कार कर घर आया। सेठानी ने हृदय की धडकन को थाम धीमे स्वरो मे कहा—"स्वामी ! मैं नही चाहती कि कोई सौत बनकर हमारे अटूट प्रेम मे व्यवधान बने, परन्तु आप मेरी छोटी बहन से विवाह कर लें, वह सौत होते हुए भी रक्त की एकात्मकता से स्नेहसिक्त रहेगी।" सेठजी ने दूसरा विवाह किया। बहनो मे कुछ दिन प्रेम बना रहा। नई पत्नी ऊपर रहने लगी और दूसरी नीचे। सेठजी का क्रम बँध चुका था, वे ऊपर जाने लगे। सीढी पर दो-चार कदम चढे ही थे कि पहली पत्नी ने उनको नीचे खीचा। ऊपरवाली नई पत्नी ने उनके हाथ पकड लिए और .

ऊपर खीचती रही। ऊपर-नीचे के इस सघर्ष मे शरीर मे रगड होने लगी।

इस सेठ की दयनीय अवस्था मे हम न उलझें। परन्तु यह सोचें कि क्या आज का मनुष्य दो आकर्षणो के बीच नही झूल रहा है ?

"चाहे सारे मनुष्य दो पत्नियो के पति न भी हो, फिर भी सबकी स्थिति इसलिए विचित्र है कि सभी दो नेताओ के आकर्षणो मे झूल रहे है। इन्द्रियाँ उसे उस ओर ले जाना चाहती हैं जहाँ आदि मे थोडा सुख और अन्त मे दु ख-ही-दु ख है और विवेक उन्हें उस ओर ले जाना चाहता है जहाँ आदि मे थोडा दु ख है और अन्त मे सुख-ही-सुख। परन्तु आन्तरिक अनुभूतियो मे न वह प्रथम मार्ग मे ही सदा बह सकता है और न जन्म-जन्मान्तर के मोह-जनिक सस्कारो के प्रभाव से उसका विवेक ही पूर्ण जागृत हो सकता है। वह त्रिशकु की अवस्था मे लटक रहा है और अनन्त-काल तक लटकना रहेगा यदि उसने व्यामोह के व्यूह को नही तोड गिराया।

बिल्ली को अपनी ओर झपटते देख चूहे ने बिल्ली होने की कल्पना की। बिल्ली से कुत्ता, कुत्ते से बाघ और बाघ से सिंह बनता चला। सिंह बनते ही उसकी हिंसक भावना उभर आयी। अपने सर्जक को ही निगल जाना चाहा। 'पुनर्मूषको भव' की ध्वनि मात्र से वह पुन चूहा बन गया।

हम इस कथा मे न उलझें परन्तु यह जरूर सोचें कि क्या आज का यह मानव अपने सर्जक देव को ही नही हड़प रहा है ? क्या प्राप्त अवस्था मे अतृप्ति उसे भविष्यत् मे प्राप्य समृद्धि से वचित नही रखती ?

आज के जन-जीवन के ये कुछेक प्रतिबिम्ब हैं। बढते हुए काल के साथ-साथ ये प्रतिबिम्ब भी आकार पा रहे हैं और यदि यही प्रवाह चलता रहा तो ये शतगुणित हो जायेंगे—स्थिति विकट हो जायेगी। वह स्थिति मानव मात्र को अपने मे समेट ले तो कोई आश्चर्य नही।

जहाँ स्थिति पैदा होती है वहाँ उस स्थिति के उबारने की बात भी आ जाती है। स्थिति पैदा ही न हो यह असम्भव है। सम्भव यह है कि उस स्थिति से व्यक्ति कतराये नही, उसके आगे घुटने नही टेके परन्तु एक वीर

की तरह उस स्थिति को सहन करे। वह स्वय स्थिति के अनुकूल न बने, परन्तु स्थिति को अपने अनुकूल बना ले।

चोरी—एक कला

'तेणे जहा सधिमुहे गहीए'—यह उत्तराध्ययन सूत्र का एक श्लोकाश है इसका अर्थ है—'सेंध के द्वार पर पकडे गए चोर की भाँति'—इसमे आए हुए 'चोर' और 'सेंध' शब्द हमे तात्कालिक सामाजिक स्थिति का कुछ दर्शन कराते हैं।

वह यौगलिक युग था। व्यक्ति निरीह और विमूढ था। जीवन की आवश्यकताएँ अत्यन्त न्यून थी। कषाय मन्द था। लालसा के अकुर अभी नही फूटे थे। धन था, वैभव था, परन्तु मनुष्य परिग्रही नही था। विलास की सामग्री अल्प थी, फिर भी लोग सुखी थे। न चोर थे, न पहरेदार। चोर नही थे, अत चौर्यकला का विकास भी कैसे हो ?

युग बदला। कालचक्र ने 'पाँचवाँ आरा' प्रस्तुत किया। पदार्थो के रूप, रस, गध और स्पर्श मे परिवर्तन हुआ। प्राणियो के स्वभाव बदले। व्यक्ति की लालसा उभर आयी। 'सब कुछ पा लूँ' यह भावना जाग उठी। व्यक्ति विमूढ बना वैभव और विलास मे। प्रचुर धन और वैभव एकत्रित किया परन्तु वह उसे बिन्दु-सा लगता रहा। तृष्णा के घट को भरने का उसने प्रयत्न प्रारम्भ किया। कुछ समय तक न्याय का अचल पकडे वह चलता रहा। न्याय मन्द गति वाला होता है। लालसा की द्रुतगामिता ने मनुष्य के मन्थर गति वाले न्याय को पीछे छोड देने के लिए विवश किया। न्याय को छोडते समय उसे दु ख हुआ। कारण कि उसका सोया आत्म-सस्कार जाग उठा था। न्याय और अन्याय के बीच वह झूलता रहा। युग का असर हुआ। न्याय पराजित हुआ। अन्याय ने उसे पकडा तो ऐसा जकडा कि वह आज तक भी उसके शिकजो से नही निकल पा रहा है, पल-पल कराह रहा है। आवश्यकताएँ बढी, वैभव बढा परन्तु लालसाएँ उनसे भी आगे छलागें

मारती हुई बढती गई। इस असतुलन ने अनेक बुराइयो को जन्म दिया। चोरी उनमे से एक है।

चोरी का इतिहास पुराना है। वह सदा युवा बनी रहती है। उसे बुढापा नही सताता। जितने चोर उतने ही चोरी के तरीके यह अत्युक्ति नही, वस्तु-सत्य है। हाँ, यह होता है कि चोरी के तौर-तरीको मे और चोरी करने के हेतुओ मे भिन्नता रहती है। भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध के जमाने मे भी चोरी होती थी। क्यो होती थी ? इसका एकमात्र उत्तर है कि यह मानवीय दुर्बलता है। इसे निर्मूल करने के लिए अत्यन्त साहस अपेक्षित है।

चोरी एक कला है। चौंसठ कलाओ मे से यह एक है। इसका इतिहास भी कम रोचक नही है। प्राचीन उद्धरणो से यह भली-भाँति आकलन किया जा सकता है कि प्राचीन काल मे चोर सेंध आदि लगाकर चोरी करते थे। 'सधि मुहे' शब्द भी इसी परम्परा का द्योतक है। उत्तराध्ययन के टीकाकारो ने अनेक प्रकार के सेंध बतलाए हैं। उनमे से कलाशाकृति, नद्यावर्त आकृति, पद्माकृति, पुरुषाकृति—ये मुख्य हैं। चोर स्कद-पुत्र कहलाते थे। उनकी सफलता बहुत कुछ सेंध की उपयुक्तता पर निर्भर करती थी। वे चोरी से पहले यह सोचते थे कि कौन-से मकान मे कौन-सी सेंध उपयुक्त होगी। इस निर्णय के पश्चात् ही वे उस कार्य मे प्रवृत्त होते थे। कहा भी है—"प्रथम-मेतत् स्कन्द पुत्राणा सिद्धिलक्षणम्।"

राजा शूद्रक लिखित सस्कृत नाटक 'मृच्छकटिक' का एक प्रसग उप-रोक्त विषयो पर अभूत प्रकाश डालता है।

अमावस्या की काली रात। सूची मेघ अन्धकार से दसो दिशाएँ व्याप्त थी। तारागण चमचमा रहे थे। सारा ससार प्रमिला की गोद में सो रहा था। पक्षियो का कलरव शान्त था। आकाश शून्य था। प्राय राजमार्ग भी दैनिक विक्षोभ को दूर करने के लिए सीधे सो रहे थे। चारुदत्त की विशाल हवेली की दीवार के निकट खडा प्रतापी चोर शर्वलिक सोच रहा था—'तरु लता से आच्छादित इस भित्ति मे सेंध कैसे लगाई जाए ? सेंध देखने के बाद लोग विस्मयाभिभूत हो उसकी प्रशसा न करें तो मेरे सेंध लगाने की विशेषता ही क्या हुई ?'

क्षणभर सोचने के बाद वह तत्क्षण निर्णय पर पहुँच जाता है कि इस दीवार के लिए 'पूर्ण कुम्भ' सेंध ही उपयुक्त होगी। सेंध लगाकर वह अन्दर प्रवेश करता है और एक दरवाजे के पास पहुँचता है परन्तु दरवाजे की जीर्ण-शीर्ण अवस्था को देखकर वह सोचता है कि खोलने की चेष्टा करते ही आवाज होगी। आवाज होने से उसका लक्ष्य पूरा नही हो सकेगा। वह सोचता है और कही से पानी की खोज कर उस दरवाजे के पेच और कब्जो पर पानी छिडककर धीरे-धीरे उन्हे खोलता है। किवाड नि शब्द खुल जाते हैं। घर मे चारो ओर वह देखता है—कही सम्पत्ति नजर नही आती। वह असमजस मे पड जाता है और इस निर्णय पर पहुँचता है कि धन कही न कही भूमि मे अवश्य गडा होना चाहिए। वह गडे धन की खोज करना जानता था। मन्त्र उच्चारण करते हुए वह गडे धन का पता लगाने के लिए कुछ बीज जमीन पर डालता है। गडा धन उसे दीखने लग जाता है। लक्ष्य पूरा होता है और वह धन ले चला जाता है।

लगभग इसी प्रकार की एक घटना उत्तराध्ययन के टीकाकारो ने उद्धृत की है

एक नगर मे एक चोर रहता था। अँधेरी रात मे वह चोरी करने निकला। एक प्रासाद के समीप आ खडा हुआ। वह बडा और दुरारोह प्रासाद था। उस पर चढने के लिए उसने सेंध लगाई और प्रचुर धन को लेकर वहाँ से चलता बना। दूसरे दिन वह स्नान आदि से निवृत्त हो, अच्छी वेशभूषा पहनकर, यह सुनने के लिए उस प्रासाद के पास गया कि लोग सेंध के विषय मे क्या-क्या बातें करते है। यदि लोग मुझे नही पहचान सकेंगे तो मैं पुन उसी मार्ग से चोरी करूँगा। यह सोचकर वह वहाँ गया। वहाँ पर एकत्रित लोग परस्पर बातें करते थे कि इस दुरारोह प्रासाद पर चढने के लिए कैसी चतुराई से सेंध लगाई है। इस छोटे मुह वाली सेंध से चोर कैसे प्रविष्ट हुआ होगा और धन लेकर पुन इसी द्वार से कैसे निकला होगा ? वह सुन-सुनकर हर्षित हो रहा था। उसने सोचा, ये लोग सही कह रहे हैं। मैं इस छोटी-सी सेंध से कैसे निकला ? मन वही मन यह कह उसने अपने पेट और कटि की ओर देखा। सेंध के पास जा उसका भी सूक्ष्मता से निरीक्षण किया। इस प्रवृत्ति से वह पकडा गया और राजा ने उसे दण्ड/

दिया।

एक और कथा मे कहा गया है कि चोर ने 'कपि शीर्षक' आकार वाली सेंध लगाई और अन्दर प्रवेश करना चाहा। उसने सर्वप्रथम अपने पैर अन्दर डाले। गृहस्वामी जाग उठा। उसने चोर के पैर पकड लिए। बाहर खडे हुए चोर के साथियो को यह ज्ञात होने पर उन्होने उसके हाथो को पकड-कर बाहर खीचना चाहा। दोनो ओर की खीचातान से उसका शरीर अपने द्वारा लगाई गई 'कपि शीर्षक' सेंध की रगड से छिल गया। वह मर गया।

भक्त कबीर के बारे मे भी ऐसी किंवदन्ती प्रचलित है। एक बार साधु-सतों की सेवा के लिए उन्होने चोरी की। चोरी कर सेंध से सकुशल बाहर निकल आए किन्तु जब उनका पुत्र कमाल निकल रहा था तो घर के लोगो की नींद खुल गई। उन्होने कमाल के पैर पकड लिए। पहचाने जाने पर बदनामी के डर से कबीर ने अपने बेटे का सिर काट लिया।

राजस्थान मे एक कथा प्रचलित है। वह जन्मना खाती था परन्तु व्यवसाय से निपुण चोर। वह सेंध लगाने मे बहुत चतुर था। उसने अपने पुत्रो को भी चोरी के व्यवसाय मे निपुण करना चाहा। एक बार वह अपने पुत्रो को साथ ले एक सेठ के घर में चोरी करने गया। सेंध लगाई। सर्वप्रथम वह अन्दर गया। सेठ जग गया। उसने चोर के पैर पकड लिए। उसके लडकों ने उसे बाहर खीचने का व्यर्थ प्रयास किया। एक लडका दौडा-दौडा अपनी माँ के पास गया और सारी घटना कह सुनाई। माँ ने कहा—"बेटा, जल्दी ही तलवार से पिता का सिर काटकर ले आओ। पहचाने जाने पर हम सबको फाँसी या शूली की सजा होगी। तुम जल्दी ही भाग आना।" पुत्र गया और पिता के मनाही करते हुए भी एक ही झटके से सिर काटकर माँ को सौंप दिया।

तमिलनाड की एक प्रसिद्ध कथा है कि एक चोर ने एक ऊँचा प्रासाद देखकर सेंध लगाई। वह प्रासाद नाई का था। सेंध से अन्दर जाते ही नाई ने चोर की नाक काट ली। कटी नाक से पहचाने जाने के भय से चोर वहाँ से भागा-भागा अपने मुहल्ले मे आया और जोर-जोर से भगवद् भजन करने लगा। लोगों के पूछने पर उसने कहा—"मुझे साक्षात् भगवान् के दर्शन हो रहे है।" लोगों ने कहा—"हमे तो भगवान् नही दीखते।" उसने गम्भीर

होकर कहा—"दीखे भी तो कैसे, लम्बी नाक जो आडी आ रही है।" भगवद्-दर्शन मे नाक का व्यवधान लोगो को अखरा। कई लोग प्रभात होने से पहले ही अपनी-अपनी नाक कटाकर भगवान् के दर्शन करने लग गए।

सेंध लगाकर चोरी करने के ये कुछेक उदाहरण हैं। इसके साथ-साथ चोरो को अन्यान्य बातो मे भी निपुण रहना पडता था। चोर केवल जड-मूढ ही होते हैं, यह भी नही। चोर किसी एक ही जाति के होते थे, यह भी नही। निपुण चोर शर्वलिक ब्राह्मण था। उसके पिता चार वेद के ज्ञाता थे। विक्रमादित्य के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि वे चौर्य-शास्त्र के अच्छे जानकार थे।

चोर विद्वान् भी होते थे। उन्हे अनेक प्रकार की विद्याएँ आती थी। चौर्य-शास्त्र मे पडित होने के साथ-साथ वे लौकिक शास्त्र मे भी निपुण होते थे। श्रेणिक के पुत्र और महामात्य अभयकुमार से सम्बन्धित अनेक कथाएँ चोर और चोरी की जानकारी देती हैं।

राजा भोज निपुण राजा होने के साथ-साथ महापडित भी था। एक बार वह अपने महलो मे सो रहा था। नीद उचट गई थी। उसने सस्कृत मे एक श्लोक बनाना प्रारम्भ किया। उसने श्लोक के तीन चरण तत्काल बना दिए। "चेतो हरा युवतय स्वजनोनुकूल सद्बान्धवा प्रणयगर्भगिरश्च भृत्या। गर्जन्ति दन्ति-निवहार स्तरला स्तुरङ्गा।" चौथा चरण बन नही रहा था। राजा उन्ही तीन चरणो को बार-बार दुहरा रहा था। उसी रात एक ब्राह्मण पडित दैन्य से पराभूत हो, चोरी करने महलो मे आ घुसा। राजा के पर्यङ्क के नीचे छिपा हुआ वह श्लोक के तीन चरण सुन रहा था। बार-बार उन्हे सुनते-सुनते वह झुझला उठा। वह अपनी स्थिति को भूल-सा गया। उदर्क की चिन्ता उसे नही रही। वह तत्काल बोल उठा—"समीलने नयनयो र्नहि किञ्चिदस्ति।" राजा ने ये शब्द सुने। वह हर्ष और विषाद की सरिता मे बहने लगा। हर्ष यह था कि उसका अधूरा श्लोक पूरा हो सका है और आश्चर्य यह था कि राजमहल मे जहाँ हजारो पहरे-दार रहते हैं चोर कैसे घुसा? उसने ताली बजाई। पहरेदार आया और चोर को पकड लिया। दूसरे दिन वह राजा के सामने उपस्थित किया गया। राजा के पूछने पर उसने अपना वृत्तान्त कह सुनाया। राजा ने उसे क्षमा

कर दिया और श्लोक की पूर्ति के लिए उसे वहुत सारा इनाम दिया।

चोर मन्त्र-तन्त्र को भी जानते थे। मार्गशीर्ष-पोष का महीना था। आम की ऋतु के आगमन मे देरी थी। चोर की स्त्री गर्भवती थी। उसे आम खाने का दोहद उत्पन्न हुआ। राजा श्रेणिक के अन्त पुर के उपवन मे आम के वृक्ष सदा फले-फूले रहते थे। चोर उपवन के पास गया। उसे अवनामिनी और उन्नामिनी विद्याएँ आती थी। अवनामिनी विद्या से उसने वृक्ष की डाली झुकाई। दो-चार आम तोडे और उन्नामिनी विद्या से डाली वापस ऊँची कर दी। यह सारा काय कुछ ही क्षणो मे हुआ। माली को उसका पता नही चला।

जैन ग्रन्थो मे दुष्प्रधर्ष चोर 'प्रभव' की कथा प्रसिद्ध है। जम्बू कुमार ऐश्वर्य के वीच पले-पुसे। वचपन वीता। यौवन की लालिमा इस पौद्गलिक आयतन से वाहर झाँकने लगी। उसका परिणय सवगुण-सम्पन्न, सौन्दर्य और लावण्य की प्रतिमूर्तियाँ आठ कन्याओ के साथ हुआ। दोनो पक्ष ऐश्वर्य-सम्पन्न थे। निन्यानवें करोड का दहेज आया। सगमरमर का सारा आँगन दहेज की वस्तुओ से सकीर्ण था। हीरा, पन्ना, मोती, मानक, सोना, चाँदी आदि के ढेर लगे थे। स्तेन सम्राट् प्रभव ने यह वात सुनी। उसी दिन वहाँ चोरी करने आया। रात्रि का समय था। सप्तभौम हर्म्य का कण-कण नि शब्द था। प्रभव अपने साथियो सहित हर्म्य मे घुसा। उसे स्वापिनी विद्या आती थी। उसका प्रयोग किया। हर्म्य के सारे व्यक्ति प्रमिला की मधुर गोद मे लुट गए। उद्घाटिनी विद्या से उसने सारे ताले तोडे और अपने साथियो से धन के गट्ठर वाँधने को कहा। यथाशक्ति सभी धन की गाँठें वाँध उसे लेने नीचे झुके। सारे के सारे साथी झुके ही रह गये। पाँव स्तम्भित हो गये थे। चोर असमजस मे पड गया। उसे इस स्तम्भिनी विद्या का प्रतिकार ज्ञात नही था।

सुनार, जाति से चोर नही किन्तु, व्यवसाय से वडे ही निपुण चोर होते हैं। कहा जाता है कि सुनार अपने अत्यन्त आत्मीय व्यक्ति का भी सोना-चादी चुरा लेते हैं। गुजरात मे एक कहावत है कि

"दर्जी चोरे कापडन सोनी चोरे रती।
हजाम बापडो सू चोरे माथा माय काइ नथी॥"

दर्जी कपडे चुराता है और सुनार रत्ती भर सोना परन्तु बेचारा नाई चुराए भी तो क्या चुराए। सिर मे चुराने लायक कुछ होता ही नही।

इसी प्रकार अग्रेजी मे भी एक कहावत है—"A hundred Tailors, A hundred Weavers and A hundred Gold-smithes, make three hundred thieves" सौ दर्जी, सौ जुलाहे और सौ सुनार तीन सौ चोरो के बराबर है।

इन सभी कहावतो से सुनार का चोर होना प्रसिद्ध है। राजस्थान मे एक कथा प्रचलित है—

एक सुनार था। उसके एक लडका था और एक लडकी थी। लडकी का विवाह हुए बीस वर्ष हो गये थे। वह बूढा हो चला था। सारा कार्य लडका ही करता था। उसका नाम रामू था। एक दिन वह लडकी अपने भाई से सोने का एक आभूषण बनवाने आयी। उसे सोना देकर कहा—अभी इसका एक कडा बना दो। रामू सारा कार्य छोडकर कडा बनाने लगा। अन्दर बैठे हुए वृद्ध पिता ने सोचा, कही यह रामू अपनी बहन की लिहाज मे आकर सोना चुराना न भूल जाय। अत वह अन्दर बैठे-बैठे ही—"राम, तेरे लिए सब समान हैं, राम, तेरे लिए सब समान हैं" का जाप करने लगा। बेटी ने सोचा, पिताजी राम का नाम जप रहे है। वह रहस्य को नही समझ सकी। बार-बार इस रटन को सुनकर 'रामू' झुझला उठा। उसने जोर से कहा—"बन्द करो अपने जाप को। राम ने लका पहले ही लूट ली है।" पिता समझ गया कि बेटे ने सोना चुरा लिया है। वह मन ही मन बेटे की बुद्धिमानी पर इठलाता रहा।

एक राजा ने किसी सुनार को बुलाकर कहा—"तुम्हे मेरे लिए एक सोने की मूर्ति बनानी होगी। ध्यान रहे, कुछ भी गडबड हुई तो तुम्हे मौत की सजा दी जायेगी।" सुनार को सोना दे दिया गया। कडे पहरे मे वह मूर्ति गढता। शाम को जाते समय पहरेदार उसकी कडाई से देख-जोख करते। रात्रि मे वह अपने घर पर उसी प्रकार की उतने ही तोल की एक पीतल की मूर्ति बनाता था। किसी को भी यह पता नही था। दो महीने बीते। सोने की और पीतल की दोनो मूर्तियाँ तैयार हो गई। दूसरे दिन शुभ मुहूर्त मे उसे मदिर मे स्थापित करना था। सुनार घर गया।

पीतल की मूर्ति को पास मे वह रही गगा के किनारे मे कुछ दूर गाडकर चला आया। उसने गडे स्थान का ज्यो-त्यो निशान भी वना लिया था। दूसरे दिन उसने राजा के सामने उपस्थित होकर कहा—"महाराज! सोने की मूर्ति तैयार है। मैंने पूर्ण ईमानदारी से कार्य किया है। अब मदिर में उसकी स्थापना करने से पूर्व गगा के पवित्र पानी से धोना इसे आवश्यक है। धोने से वह पवित्र हो जायेगी। आपकी उपस्थिति भी वहा आवश्यक होगी।" राजा सुनार की वातो मे आ गया। कडे पहरे के वीच वह विशाल मूर्ति गगा के किनारे लायी गई। सुनार उस मूर्ति को ले पानी मे पैठा। मूर्ति को छह डुवकियाँ दीं। सभी एकटक उसी की ओर देख रहे थे। पहरेदार सतर्क थे। चोरी की कोई आशका ही नहीं थी। सातवीं डुवकी मे सुनार उस सोने की मूर्ति को नीचे गाड पीतल की मूर्ति ऊपर ले आया। किसी को इसका पता नही चला। मूर्ति का स्नान हो चुका था। उसे यथाविधि मन्दिर मे स्थापित किया गया।

रात को सुनार नदी पर गया और वह गडी हुई सोने की मूर्ति अपने घर ले आया। राजा को कुछ भी पता नही चला। ऐसी ही एक कथा गुजरात मे भी प्रचलित है।

चोरी की कथाएँ प्राय सभी भाषाओ के साहित्य मे उपलब्ध हैं। नानी की कथाओ का वहुताश चोरो की कथाओ से भरपूर है। वालको को इसमे रस आता है। भय और शक्ति का मिश्रण उनमे नई चेतना लाता है।

अहिंसा का जीवन मे प्रयोग

आज विज्ञान का युग है। प्रतिदिन होने वाले नये-नये आविष्कारो के फलस्वरूप मनुष्य मे नव-जागरण आया है। हिंसा, दु ख और सघर्षों से उकताकर मानव अपने आपको अहिंसा के सुखद साम्राज्य मे ले जाना चाहता है।

प्राय छोटे-वडे, सभी व्यक्ति आज अहिंसा की रट लगाये हुए हैं, अपनी

प्रत्येक समस्या को सुलझाने के लिए वे अहिंसा की दुहाई देने लगे हैं, किन्तु अहिंसा के प्रयोग की प्रक्रिया नही जानते। इसीलिए उनमे अहिंसा केवल वाक्मात्र रह जाती है, जीवन मे उतर नही पाती।

'जानना' और 'करना' ये दो भिन्न-भिन्न बातें हैं। पडित जानता तो बहुत है और अपने जीवन मे वह उनका आचरण न करता हो—सो भी नही। साधक जानता कम है किन्तु उनका आचरण जीवन मे करता है। आज अहिंसा के पडित अधिक है, साधक कम। इसलिए कम ज्ञान वाला साधक शास्त्रज्ञ पडित से बाजी मार ले जाता है।

अहिंसा का जीवन मे प्रयोग कैसे किया जाय इस पर विचार करने के पूर्व अहिंसा की परिभाषाओ पर कुछ विचार कर लेना आवश्यक है।

अहिंसा की परिभाषा बतलाते हुए आचार्यश्री तुलसी ने कहा है—"सर्वभूतेषु सयम अहिंसा"—सब जीवो के प्रति सयम रखना 'अहिंसा' है अर्थात् सयम, समता, औदासीन्य, माध्यस्थ भाव अहिंसा है। सयम अहिंसा का ध्येय है और समता आदि उसके साधन। साध्यशुद्धि के लिए साधन-शुद्धि भी आवश्यक है।

आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है —

"अप्रादुर्भाव खलु रागा—
दीनाभवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति
जिनागमस्य सक्षेप"

राग और द्वेष मोहजन्य विकार हैं—ये ही कर्मबन्धन के मूल कारण है अत हिंसा के प्रमुख द्वार है। विशुद्ध अहिंसा इन दोनो से परे है।

यह अहिंसा की विशुद्ध व्याख्या है। इसको समझनेवाले व्यक्ति बहुत ही कम मिलेंगे। आज चारो ओर 'बचाओ-बचाओ' की आवाज़ बुलन्द होती जा रही है—बचाना ही धर्म है—इसकी दुहाई देकर सत्य को छिपाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

अब हमे इस तथ्य की मीमासा करनी है। जीवरक्षा और शरीररक्षा ये दो बातें हैं। जीवरक्षा की सतत रट लगाने वाले शरीर-रक्षा को मुख्य मानकर येनकेन प्रकारेण शरीर की रक्षा करते हैं। वे शरीररक्षा और

जीवरक्षा मे भेद नही समझते । वे मानते हैं—जीव और शरीर का पृथक्करण हिंसा है और उनका सयोग बनाये रखना अहिंसा । इसके अनुसार शरीर-रक्षा ही अहिंसा की मूर्त परिभाषा ठहरती है। इसको ही यदि जीवरक्षा कहे तो यह मोह के अतिरिक्त और क्या हो सकती है ? तेरापथ जीवरक्षा को अहिंसा मानता है। जीवरक्षा का तात्पर्य है—जीव को मूलस्वरूप मे रखना—विकारी न बनने देना—यही रक्षा शुद्ध है और शाश्वतिक है।

हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध स्व-आत्मा से है। दूसरे पदार्थ केवल निमित्त बनते हैं। असावधानी से चलते-चलते पत्थर से ठोकर लग जाती है। व्यक्ति अपनी असावधानी को जानता हुआ भी अनजाने की तरह क्रोध करने तथा बडबडाने लग जाता है—यह हिंसा है। इस जगह यदि एक अहिंसक वृत्तिवाले को ठोकर लग जाती है तो वह अपनी असावधानी पर पछताता है और प्रसन्नता से उस कष्ट को सह लेता है। अत एक ही परिस्थिति मे दोनो की सोचने की भूमिकाए अलग-अलग होती है और उसके अनुसार परिणाम भी पृथक्-पृथक् होते हैं।

अहिंसा की सही परिभाषा समझने के बाद यह प्रश्न होता है कि क्या व्यक्ति इस आदर्श को अपने जीवन की क्रियाओ मे पालन कर सकता है ?

इसका उत्तर 'हाँ' के सिवा और कुछ नही, क्योकि वह आदर्श ही क्या जो व्यक्ति के जीवन मे न उतरे ? वह तत्त्व-चिन्तन निकम्मा है जो प्रयत्न-साध्य नही है। व्यक्ति चेष्टा करता है—हजारो आपदाओ का सामना कर लक्ष्य अर्थात् आदर्श तक पहुचना चाहता है और यदि वह आदर्श केवल हवाई या कल्पित आदर्श बन जाता है तो भला इससे क्या बनना है ? अहिंसा का आदर्श ऐसा नही है—वह व्यक्ति के जीवन मे ढलता है और पूर्णरूपेण ढल सकता है—किन्तु व्यक्ति को त्याग और बलिदान करना पडता है, उसे स्वार्थ से ऊपर उठकर परमार्थ की भूमिका पर आना पडता है।

अहिंसा की भूमिका के तीन स्वर हैं

१ स्व-पर का भेद मिटाना।

२ प्रामाणिकता।

३ निर्भयता।

अहिंसक व्यक्ति मे मृदुता का विकास होना चाहिये। मृदुता का अर्थ दीनता नही किन्तु उद्दडता का अभाव है। दीनता और नम्रता मे रात-दिन जैसा अन्तर है। दीनता कमजोरी पैदा करती है और कमजोरी व्यक्ति को पथभ्रष्ट कर देती है। मृदुता आत्मविश्वास बढाती है और व्यक्ति को बलवान बनाती है। बुराइयो का प्रतिकार करने के लिए लोहहृदय आवश्यक होता है। 'वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि'—यह उसके जीवन का मूलमन्त्र होना चाहिए। अनाचारो की ओर अहिंसक कभी नही झुकता। वह दोषो के साथ समझौता नही करता—वह जीवन भर सत्य का उपासक बना रहता है और सत्य का निदर्शन करना ही तो अहिंसा है।

कहनी-करनी में समानता

कहना कुछ और करना कुछ, यह हिंसा है। आचार्यश्री तुलसी के शब्दों मे 'अहिंसक व्यक्ति जो सोचता है वही कहता है और जो कहता है वही करता है।' कहनी और करनी मे असमानता केवल आत्मा को ही धोखा नही देती किन्तु समाज मे भी एक विषैला वातावरण खडा कर देती है। उसके बिना सगठन या सहयोग नही बनता।

अक्रोध

स्वार्थो की टक्कर और आज्ञा की अवहेलना से क्रोध उभर आता है। दोष चाहे अपना हो या दूसरे का, क्रोधी व्यक्ति अपने बचाव का ही प्रयत्न करेगा। वह यह नही सोचता कि दोष किसका है। सास रसोईघर मे काम कर रही थी। हाथ मे घी से भरा बर्तन था। इतने मे ही बाहर से उसे बुलाने की आवाज आयी और वह घी के बर्तन को मार्ग के बीच मे ही रख-कर चली गई। बहू ने कार्यवश रसोई मे प्रवेश किया और सयोगवश ठोकर से घी जमीन पर ढुल गया। सास ने बाहर से आकर देखा और क्रोध मे अपना आपा भूलकर बहू को बुरा-भला कहने लगी—"आँखें फूट गई है, अन्धी होकर चलती है।" बहू भी पीछे रहनेवाली नही थी, वह भी गाली का जवाब गाली से ही देती थी। वह जानती थी कि आगे चलकर उसे भी सास बनना है। इस तरह गाली-गलौज से आगे बढकर मारपीट

पर आ जाते हैं। यह हिंसक मनोवृत्ति का परिणाम है। यदि सास के जीवन मे अहिंसा उतरी होती तो वह यह सोचती—"गलती मेरी है। मैंने ही घी के बर्तन को मार्ग के बीच मे रखा था—तभी तो बहू को ठोकर लगी। वहू निर्दोष है।" वहू भी यदि अहिंसक होती तो वह यो सोचती—"अरे! दोष तो मेरा है। सासुजी को कार्यवश जल्दी से बाहर जाना था, इसलिए वर्तन को बीच मे ही रखकर चली गई किन्तु मैं ऊँट की तरह गरदन ऊँची किए चलती थी इसीलिए ठोकर लगी और घी ढुल गया।" अब सोचिये—दोनो स्थितियो मे कितना अन्तर है। एक से गृह-कलह का श्रीगणेश होता है और दूसरी स्थिति में सौहार्द का वातावरण बनता है।

क्रोध को शान्ति या उपशम से जीतना चाहिए। अपने मन के प्रतिकूल वृत्तियो को देखकर क्रोध करने का मतलब है उन वृत्तियो का दास बन जाना। क्रोध जब उग्र बन जाता है, तब वह आत्मा को ही नही शरीर को भी वहुत बडी हानि पहुँचाता है। रक्त विषैला बन जाता है, रक्त-सचार वंद जाता है, हृदय और फेफडे कमजोर बन जाते हैं, बुद्धि नष्ट हो जाती है।

गुण-ग्राहकता

दूसरो के गुणो को देखकर चिढना या ईर्ष्या करना हिंसा है। जिस प्रकार व्यक्ति को अपने गुण अच्छे लगते है उसी प्रकार दूसरो के गुणो की भी कद्र करनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति मे न्यूनाधिक मात्रा मे गुण होते ही हैं, अहिंसक को उन्हें आगे रखकर चलना चाहिए। उनको कहने मे ईर्ष्या नही होनी चाहिए। यथावसर उनको प्रकाश मे लाना उसका कर्तव्य है। गुण चाहे अपने परिचित के हो या अन्य किसी के—उनको अपनाने मे हिचकिचाहट क्यो? केवल अपनी ही प्रशसा करना अभिमान का सूचक है। दूसरो मे आत्मीयता पैदा करने का, दूसरो के हृदय को जीतने का सरलतम उपाय है—दूसरो के गुणो का प्रकाश करना। दूसरो की चापलूसी भले ही न करें किन्तु वास्तविक बात कहने मे भी यदि डरें तो वह निर्भय कहाँ रहा?

जो पृथक् होकर सघ की निन्दा करता है वह जघन्य है। जहाँ वह पला-पुषा, जहाँ से उसने जीना सीखा, जहाँ से उसने ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना की, जहाँ उसने वोलना सीखा, जहाँ उसने अध्यात्म के रहस्यो को जाना, जहाँ उसने आनन्दानुभूति की, उसी स्थान की केवल क्षणिक आवेश या स्वार्थवश निन्दा करना बुद्धि की मन्दता है, कृतघ्नता है और पतन का कारण है। सघ उन्हे बुरा लगा, वे सघ से पृथक् हो गए या सघ मे उन्हे अयोग्य समझ सघपति ने उन्हे अलग कर दिया। कुछ भी हो, व्यक्ति अलग होते ही या किये जाने पर इतना वेभान क्यो हो जाता है कि वह सारे विश्व का भार ढोने मे अपने आपको समर्थ महसूस करने लग जाता है। टिहित्र रात को अपने पैर ऊँचे कर सोता है—इसलिए कि कही आकाश नीचे न गिर जाए! यह अपनी शक्ति को सीमातीत मानने का परिणाम है।

सघ से निकलने वाले कई साधक विपुल क्रान्ति की भावना को लेकर निकलते हैं और ऐसा वातावरण उपस्थित करते है कि सघ से वहिर्भूत होकर तत्काल ही वे ससार का कायाकल्प कर देंगे। परन्तु ज्यो ही वे सघ से सम्वन्ध-विच्छेद करते है उनकी क्रान्ति भ्रान्ति बन जाती है और वे सर्वप्रथम नमक, तेल, लकडी की चिन्ता मे उलझ जाते है। येन केन प्रकारेण उससे निकलते हैं और विवाह के तूफान मे फस जाते हैं। अव उनका सारा वीर्य, सारी शक्ति उसी उधेडबुन मे वीतती है और वे अपनी कार्यशक्ति से हाथ धो बैठते हैं। दूर से रमणीय लगने वाले अन्यान्य सघ-सगठन खोखले लगते हैं और अर्थ का अभाव उन्हे नोच-नोचकर खाने लगता है। अव वे अपने किये पर मन ही मन पश्चाताप करते हैं और ऊपर से प्रसन्न रहने का प्रयास करते हैं। मन की मलिनता वाणी मे अभिव्यक्त होती है और तदनुसार कार्य मे उसके परिणाम एक के वाद एक आते रहते ह। जीवन सारहीन वन जाता है। चमक विलीन हो जाती है। अनुताप, आत्मग्लानि और निराशा ही पीछे वचती है।

ऐसे व्यक्तियो का भी अभिनन्दन किया जाता है और उनकी फिसलन, क्लीवता को सराहा जाता है। विचित्र है यह ससार। व्यक्ति गिरता है और लोग ताली पीटते हैं कि क्या ही अच्छा उपक्रम है। साधुवाद! शत-

शत साधुवाद ! इससे बड़ा बुद्धिमान्ध और क्या हो सकता है ?

महान् वह है जो पतित को उठाने का प्रयास करे, उसके उत्थान मे अवष्टम्भ बने। दुनिया मे गिराने वाले बहुत हैं किन्तु उबारने वाले विरले ही मिलेंगे।

अभिनन्दनो से अभिषिक्त होकर वह च्युत साधक कुछेक धारणाओ से आनन्दित होता है और अपने उपक्रम को यथार्थ और सार्थक मान बैठता है। अभिनन्दन करने वाले का उत्साह घटता है, तब उस व्यक्ति का पारा उतरता है और वह अपनी मूढता पर पश्चात्ताप करता है। पर अब पछताने से क्या है, जब चिडिया चुग गई खेत

कोई सघ से पृथक् रहे या सघ मे, कम-से-कम उसे अपना स्तर बनाये रखना चाहिए। मानवीय स्तर से नीचे खिसक जाना स्वय का अपमान है, पतन है।

नारी एक अध्ययन

इतिहास द्वन्द्व-परिप्लुत है। उसकी आदि रेखाए सुदूर अतीत के गर्भ मे समाहित हैं। यत्र-तत्र यदा-कदा कुछ नई रेखाए बनती हैं, पुष्ट होती हैं और अविलम्ब ही कुछ एक अनुमानो के आधार पर मिट जाती हैं। अनुमान या कल्पनाए जब पुन प्रमाण की इयत्ता को लेकर सामने आती हैं तब ज्वार आता है और किन्ही कारणो से वह भी अनिश्चित समय के लिए विलीन हो जाता है। यही इतिहास है।

जब से मुक्ति है, तब से वीतराग भाव है। जब से वीतराग भाव है, तब से जैन दर्शन है। जब से जैन दर्शन है, तब से तीर्थंकरो का क्रम है। जब से तीर्थंकरो का क्रम है, तब से सघ चतुष्टय की स्थापना का क्रम है। जैन दर्शन अनादि है, तीर्थंकरो का क्रम अनादि है और सघ चतुष्टय भी अनादि है।

इस कालचक्र के आदिकाल मे यौगलिक व्यवस्था थी। एक जोडा पुरुष और स्त्री ही सब कुछ होता था। न समाज था और न सगठन।

यह जोड़ा ही परस्पर विवाह करता और अपने अन्त समय से कुछ पूर्व एक जोड़े को जन्म दे मृत्यु को प्राप्त हो जाता। सहस्रों-सहस्रों वर्षों तक यह व्यवस्था रही। क्रमश ह्रास होता गया। यौगलिक व्यवस्था टूटने लगी, तब कुलकर व्यवस्था का सूत्रपात हुआ। लोग कुल के 'रूप' में संगठित होकर रहने लगे। अनेक कुलों का एक मुखिया होता। वह कुल के सभी सदस्यों की आवश्यकताएँ पूरी करता, उनकी रक्षा करता और उनके जीवन के संरक्षण के लिए सदा प्रयत्नशील रहता। वह 'कुलकर' कहलाता।

भगवान् ऋषभनाथ इस कालचक्र के आदि-तीर्थङ्कर थे। वे अन्तिम कुलकर 'नाभी' के पुत्र थे। भगवान् कर्म-युग के आदि-प्रवर्तक थे। जब वे राजा थे तब जीवन-निर्वाह के लिए लोगों को असि, मषि और कृषि का उपदेश दिया। जब वे जीवन की साधना के लिए आगे आए तब मुमुक्षु व्यक्तियों को साधना का मार्ग दिखलाया। तीर्थ की स्थापना की। साधु-साध्वी वर्ग के लिए 'अनागार धर्म' की प्ररूपणा की और श्रावक-श्राविकाओं के लिए 'आगार धर्म' की।

यह नारी-जाति के मुमुक्षुत्व की आदि कहानी है। नारी-जाति का यह अध्यात्म भाव असंख्य काल से चला आ रहा है। इस कालचक्र के अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर ने कहा—"साधना के क्षेत्र में पुरुष और स्त्री का भेद नहीं हो सकता। आत्मा न पुरुष है और न स्त्री। वह अलिंग है। आत्मा का अनन्त वीर्य दोनों में समान है। जो उस आत्मवीर्य का स्फोट कर सकता है, भले फिर वह स्त्री हो या पुरुष, वह मुक्त हो जाता है। नारी-जाति के लिए ये उद्गार उसके आत्म-सम्मान के सूचक थे। उसके अनन्त पौरुष की स्वीकृति के संवाहक थे। इस उद्घोष से सहस्रों-सहस्रों नारियां आत्म-साधना में झूम उठीं। अपार कष्टों को सहा। आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक क्लेशों के आगे वे कभी नहीं झुकीं। साधना में वे पुरुषों से कभी पीछे नहीं रहीं। यह सत्य है कि नारी-जाति को अपने शारीरिक संस्थान और लोकोपचार के कारण कई एक साधनाजन्य विभूतियों से वंचित रहना पड़ा। परन्तु वीतराग भाव की प्राप्ति में ये कभी बाधक नहीं बने।

भारत का ही नही, सभी देशो का इतिहास नारी के उत्थान-पतन के इतिवृत्तो से भरा पडा है। सामाजिक भूमिका पर यात्रा करती हुई नारी पुरुष के वीभत्स अत्याचारो से आक्रान्त रही है और समय-समय पर हुए परिवर्तनो मे उसने अपने आपको निवल, असहाय और दीन पाया है। कभी-कभी कही-कहीं नारीत्व का जब स्फोट हुआ है तब उसके हृदय मे निकले हुए ज्वालामुखी की दाहकता से सारा विश्व दहल उठा है। ससार के चाहे जिस देश के इतिहास की आलोचना करके देखा जाय, सभी मे यही व्यवस्था मिलेगी कि नारी-जाति को धर्म की आलोचना करने, जिज्ञासा करने या मोक्ष पाने का कोई अधिकार नही है। वह 'महाभागा' इसीलिए कही गई है कि वह 'रत्न-प्रसवा' है। वह सन्तान को पैदा करती है अत उसकी कुछ मर्यादा, उसका कुछ सम्मान पुरुष ने माना है। जगत्-प्रसिद्ध सेंट पॉल ने कहा—"धर्म के सम्बन्ध मे पुरुषो की तरह स्त्रिया कोई प्रश्न नही कर सकेंगी। वे सदा अपने स्वामी के अधीन रहेगी। जिस कारण से ईश्वर ने पुरुषो का सृजन किया है, उस कारण से उसने नारियो के लिए पुरुषो का सृजन नही किया। नारी पुरुष को शिक्षा नही दे सकेगी। नारी ने ही ससार मे पाप का प्रवेश किया है, इसीलिए नारिया अनन्त नरक मे डूबेंगी और उनकी सद्गति का कोई उपाय नही है।"

यूरोप के एक प्राचीन धर्म-याजक से पूछा गया—"क्या स्त्रियो को दर्शनशास्त्र का अध्ययन कराना चाहिए ?" उन्होंने कहा—"कदापि नही। स्त्री का दर्शन तो यही है कि वे वैवाहिक नियमो का पालन करें, पति को परमात्मा समझें।"

मार्टिन लूथर ने कहा—"बुद्धिमान बनने की कामना रखने से बढकर स्त्री के लिए और कोई बुरी बात नही है।" चीन के किसी एक महापुरुष ने कहा—"ज्ञान जिस प्रकार पुरुषो की शोभा बढाता है उसी प्रकार अज्ञान स्त्रियो का सौंदर्य बढाता है।"

पाश्चात्य देशो के पुरुष-वर्ग के हृदय मे अकित नारी-जाति के ये कुछेक प्रतिबिम्ब हैं। इन वाक्यो से उनके मन मे नारी-जाति के प्रति रहा हुआ अविश्वास, अज्ञान और अकर्तृत्व की स्पष्ट प्रतीति होती है।

भारतवर्ष भी इसका अपवाद नही रहा है। भारतीय ऋषियो ने

कहा—'स्त्री शुद्रौ ना धीयाताम् ।' स्त्री और शुद्र शिक्षा के अधिकारी नही है । सन्त-हृदय तुलसीदासजी ने कहा—ये सब ताडन के अधिकारी । किसी ने कहा—

नदीना शस्त्र पाणीना नखिना शृङ्गिणा तथा ।
विश्वासो नैव कर्त्तव्य , स्त्रीषु राजकुलेषु च ।

किसी ने कहा—

स्त्रिय श्चरित्र पुरुषस्य भाग्य ।
देवा न जानन्ति कुतो मनुष्य ॥

किसी ने कहा—

द्वार किमेक नरकस्य नारी

इस प्रकार किसी ने कुछ और किसी ने कुछ नारी-जाति के बारे मे कहकर अपने 'अह' को पुष्ट करने का प्रयत्न किया है। मनुस्मृति (६-२७) मे स्त्रियो के कार्य का निर्देश करते हुए कहा है—

उत्पादनमपत्यस्य, जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यह लोकयात्राया , प्रत्यक्ष स्त्री निबन्धनम् ॥

साथ-साथ स्त्री-जाति के उदात्त पक्ष का भी यत्र-तत्र वर्णन मिलता है । आज से छह हजार वर्ष पहले भिक्षु आदि की प्राचीन सभ्यताओ मे स्त्री-जाति के अधिकारो की चर्चा करते हुए मासपेरो ने कहा है—'पत्नी के सामने पति एक सम्मानित अतिथि के रूप मे होता था। स्त्री को भी अपने सहोदरो की तरह अपने पिता की सम्पत्ति का अधिकार मिलता था । वह घर की स्वामिनी होती थी । कानून की दृष्टि से उसे पुरुषो के समान ही अधिकार होता था और उसके साथ भी पुरुषो की तरह व्यवहार होता था ।'

'कन्याप्येव' शिक्षणीयातियत्नत ', 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता ' आदि सूक्त भी यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। इतिहास मानता है कि उर्वशी ने वेद की रचना की थी । कई उपनिषद् स्त्रियो ने बनाये हैं । सन्यास के समय याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा—मैं अपनी सारी सम्पत्ति तुझे देता हू, शान्ति नही । उसने कहा—'येनाह नाऽमृतास्या किमह तेन कुर्याम् ।' यह कथन उसके गहरे ब्रह्मज्ञान का सूचक है ।

जैन दर्शन आत्मा का दर्शन है । आत्म-दर्शन मे लिंग, रूप, रग या जाति का भेद नही होता । वह 'समता' के आधार पर टिकता है और उसी पर बढता है । सभी स्त्री-पुरुषो मे आत्मा का अविपम अस्तित्व है । चैतन्य विकास का तारतम्य अपने-अपने कारणो के अनुरूप अभिव्यक्त होता है । कई स्त्रियो का चैतन्य विकास कई पुरुषो मे कई गुणा अधिक हो सकता है और कई पुरुषो का चैतन्य विकास कई स्त्रियो से अधिक हो सकता है । जो काम स्त्रिया कर सकती हैं, वे पुरुष नही कर सकते । जो काम पुरुष कर सकते है वे स्त्रियाँ नही कर सकती । कार्य-विभाजन के आधार पर उनके पराक्रम का स्वीकार भूल है । भारत मे सामान्यतया जो काय स्त्रियाँ करती हैं, अन्यत्र वे कार्य पुरुष भी करते है । आजकल भी सामोआ के निवासी घर मे भोजन बनाते हैं और स्त्रियाँ बाजार-हाट से सौदा खरीदने जाती है । एबीसीनिया के पुरुष बाजार या हाट मे जाने से शरमाते है, परन्तु घाट पर जाकर स्त्रियो और पुरुषो के सभी कपडे धोने मे आनन्द का अनुभव करते हैं । इस प्रकार स्त्री-पुरुष के काम-धन्धे सर्वत्र एक-से नही होते ।

जैन दर्शन की मान्यता है कि जिस सम्पूर्ण ज्ञान—केवलज्ञान को कई कापुरुष प्राप्त नही कर सकते, कई वीतराग भाव प्राप्त स्त्रिया उसे प्राप्त कर लेती हैं । क्या यह उनकी अनन्त शक्ति का परिचायक नही है ? क्या यह उनके कर्तृत्व का स्वीकार नही है ? क्या यह उनके पौरुष का सगायक नही है ?

इसी स्वीकार के आधार पर जैन तीर्थङ्करो ने स्त्री-मुक्ति का विशेष विधान किया । भगवान् महावीर हमारे आसन्न तीर्थ-प्रवर्तक है । उन्होने इन्द्रभूति आदि ग्यारह विद्वानो को 'गणधर' पद पर नियुक्त कर समस्त साधु समाज की बागडोर उनके हाथो मे सौंपी । सघ विस्तार पाने लगा । विरक्त स्त्रियो ने प्रव्रज्या स्वीकार की । साध्वी समाज बना । उनके नेतृत्व का भार चन्दनबाला को सौपा गया । उन्होने जो धर्म साधुओं के लिए कहा, वही साध्वियो के लिए । मूल विधान दोनो के लिए एक था । बाह्य व्यवस्था सम्बन्धी कतिपय नियमो का अन्तर अवश्य था । जिस प्रकार साधुओं ने ज्ञानार्जन तथा तपस्या के क्षेत्र मे विकास किया उसी

प्रकार साध्वियो ने भी अपनी मर्यादा के अनुसार विकास किया। भगवान् ने कहा—'आत्म-विकास करने का सबको अधिकार है। सभी अनन्त शक्ति सम्पन्न है। जो आत्मवीर्य को कार्यकर बना सकता है, वही मुक्त हो सकता है चाहे फिर वह स्त्री हो या पुरुष। जिस प्रकार स्त्री कर्मो का बन्ध करने मे स्वतन्त्र है उसी प्रकार वह उन्हे तोडने मे भी स्वतत्र है। जिस प्रकार वह अज्ञान-तिमिर से आच्छन्न होती है, उसी प्रकार वह ज्ञान के आलोक से प्रकाशित भी हो सकती है। जिस प्रकार वह मानसिक, वाचिक और दैहिक यातनाओ से अभिभूत होती है उसी प्रकार वह उन पर साधना के बल पर विजय पा उन्हे अकिंचित्कर भी कर सकती है।' ये स्वर नारी-जाति के लिए क्रान्ति के स्वर थे। भगवान् महावीर ने साध्वी समाज को सुसगठन देकर नारी-जाति का गौरव बढाया। सहस्राब्दियो मे भी ऐसा सुन्दर सगठन इतिहास के पृष्ठो मे अकित नही मिलता। इस सगठन को सुदृढ बनाने मे उन्हें उस समय अनेक कठिनाइया सहनी पडी हो, अनेक आक्रोश सहने पडे हो—इसमे तनिक भी सशय नही हो सकता। परन्तु जब उसके सुपरिणाम सामने आए, तब समकालीन सभी धर्म-सम्प्रदायो ने उसकी भूरि-भूरि प्रशसा की और उसके अनुकरण की ओर कदम बढाए। परन्तु वे उसमे सफल नही हो सके। भगवान् महावीर ने निर्भयता से यह कार्य किया क्योकि उनके इस सगठन के पीछे आचार और विचार की पवित्र दृढ भूमि थी। उनकी इस साहसिकता से आकृष्ट हो विनोबा भावे ने एक बार लिखा—

"महावीर के सम्प्रदाय मे स्त्री-पुरुष का किसी प्रकार कोई भेद नही किया गया है। पुरुषो को जितने अधिकार दिए गए है, वे सब अधिकार बहनो को दिए गए थे। मैं इन मामूली अधिकारो की बात नही कहता हू, जो इन दिनो चलता है और जिनकी चर्चा आजकल बहुत चलती है। उस समय ऐसे अधिकार प्राप्त करने की आवश्यकता भी महसूस नही हुई होगी। परन्तु मैं तो आध्यात्मिक अधिकारो की बात कर रहा हू।'

पुरुषो को जितने आध्यात्मिक अधिकार मिलते है, उतने ही स्त्रियो को भी अधिकार हो सकते हैं। इन आध्यात्मिक अधिकारो मे महावीर ने कोई भेद-बुद्धि नही रखी, जिसके परिणामस्वरूप उनके शिष्यो मे जितने

श्रमण थे, उनसे ज्यादा श्रमणिया थी। वह प्रथा आज तक जैन समाज मे चली आयी है। आज भी जैन सन्यासिनी होती है। जैन धर्म मे यह नियम है कि सन्यासी अकेले नही घूम सकते है। दो से कम नहीं, ऐसा सन्यासी और सन्यासिनियो के लिए नियम है। तदनुसार दो-दो वहनें हिन्दुस्तान मे घूमती हुई देखते हैं। विहार, मारवाड, गुजरात, कोल्हापुर, कर्नाटक और तमिलनाड की तरफ इस तरह घूमती हुई देखने को मिलती है, यह एक वहुत वडी विशेषता माननी चाहिए।

'महावीर के चालीस साल ही वाद गौतम बुद्ध हुए, जिन्होने स्त्रियो को सन्यास देना उचित नही माना। स्त्रियो को सन्यास देने मे धर्म-मर्यादा नही रहेगी, ऐसा अन्दाजा उनको था। लेकिन एक दिन उनका शिष्य आनन्द एक वहन को ले आया और बुद्ध भगवान् के सामने उसे उपस्थित किया और बुद्ध भगवान् से कहा—"यह वहन आपके उपदेश के लिए सर्वथा पात्र है, ऐसा मैंने देख लिया है। आपका उपदेश अर्थात् सन्यास का उपदेश इसे मिलना चाहिए।" तो बुद्ध भगवान् ने उसे दीक्षा दी और वोले—"हे आनन्द! तेरे आग्रह और प्रेम के लिए यह काम मैं कर रहा हूँ। लेकिन इससे अपने सम्प्रदाय के लिए एक वडा खतरा मैंने उठा लिया है।" ऐसा वाक्य बुद्ध भगवान् ने कहा और वैसा परिणाम वाद मे आया भी। वौद्धो के इतिहास मे बुद्ध को जिस खतरे का अदेशा था, वह पाया जाता है। यद्यपि बौद्ध धर्म का इतिहास पराक्रमशाली है, उसमे दोष होते हुए भी वह देश के लिए अभिमान रखने लायक है। लेकिन जो डर बुद्ध को था, वह महावीर को नही था, यह देखकर आश्चर्य होता है। महावीर निडर दीख पडते हैं। इसका मेरे मन पर वहुत असर है। इसीलिए मुझे महावीर की तरफ विशेष आकर्षण है। बुद्ध की महिमा भी वहुत है। सारी दुनिया मे उनकी करुणा की भावना फैल रही है, इसीलिए उनके व्यक्तित्व मे किसी प्रकार की न्यूनता होगी, ऐसा मैं नही मानता हू। महापुरुषो की भिन्न-भिन्न वृत्तिया होती है, लेकिन कहना पडेगा कि गौतम बुद्ध को व्यावहारिक भूमिका छू सकी और महावीर को व्यावहारिक भूमिका नही छू सकी। उन्होंने स्त्री-पुरुषों मे तत्त्वत भेद नही रखा। वे इतने दृढ-प्रतिज्ञ रहे कि मेरे मन मे उनके लिए एक विशेष ही आदर है। इसी मे

उनकी महावीरता है।

'रामकृष्ण परमहस के सम्प्रदाय मे स्त्री सिर्फ एक ही थी और वह थी श्री शारदा देवी, जो रामकृष्ण परमहस की पत्नी थी और नाम मात्र की ही पत्नी थी। वैसे तो वह उनकी माता ही हो गई थी और उस सम्प्रदाय के सभी भाइयो के लिए वह मातृ-स्थान मे ही थी। परन्तु उनके सिवा और किसी स्त्री को दीक्षा नही दी गई थी।

'महावीर स्वामी के वाद २५०० साल हुए, लेकिन हिम्मत नही हो सकती थी कि वहनो को दीक्षा दें। मैंने सुना कि चार साल पहले रामकृष्ण परमहस मठ मे स्त्रियो को दीक्षा दी जाए—ऐसा तय किया गया। स्त्री और पुरुषो का आश्रम अलग-अलग रखा जाय, यह अलग वात है। लेकिन अव तक स्त्रियो को दीक्षा ही नही मिलती थी, वह अव मिल रही है। इस से अन्दाज लगता है कि महावीर ने २५०० साल पहले उसे करने मे कितना वडा पराक्रम किया।'

महात्मा वुद्ध ने जो आशका की उसका परिणाम निकट भविष्य मे ही उनके सघ को भोगना पडा। सुव्यवस्था के अभाव मे कई वौद्ध भिक्षुओ का आचरण विपरीत हो गया और इसका मूल निमित्त भिक्षुणियो को माना गया। स्त्रियो को भिक्षुणी वनाने का निषेध हुआ और यही कारण है कि आज वौद्ध भिक्षुणिया नही के वरावर है।

इसके विपरीत उसी समय मे जैन साध्वियो का सगठन हुआ। कुशल नेतृत्व से उसको सिंचन मिला। समयानुकूल नियम-उपनियम वने। समय-समय पर दूरदर्शी आचार्यो का नेतृत्व उसे दृढ करता गया और भगवान् महावीर का विशाल साध्वी सगठन उत्तरोत्तर विकसित होता हुआ आज भी अपनी पवित्रता, एकात्मकता और सुव्यवस्था को लिए हुए चल रहा है।

गति से प्रगति की ओर

विक्रम की उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्ध मे धार्मिक जगत् के सवाहक व्यक्तियो का आत्म-चैतन्य शिथिल हो गया था। स्थिति-पालकता के कवच से वे अपना सरक्षण कर रहे थे। व्यक्ति-व्यक्ति का विचार-सामर्थ्य और उसकी चिन्तन-शक्ति का उत्स सूख गया था कि धम का प्रभाव निस्तेज होता जा रहा था।

उस समय आचार्य भिक्षु क्रान्ति का एक सन्देश लेकर आये। स्थितिपालकता की दीवारो को तोडकर वे आगे वढे। कर्तव्य और अनुराग के द्वन्द्व मे वे कई वार लडखडाए। परन्तु अनुराग को पराभूत कर उन्होने कतव्य का मार्ग चुना। वे आत्मार्थी थे। आत्मार्थी के समक्ष अनुराग अकिंचित्कर होता है। उसका सवस्व होता है कर्तव्य, केवल कर्तव्य। आचार्य भिक्षु ने कर्तव्य के आलोक मे अपना पथ प्रशस्त किया। जिस मार्ग से वे चले वही पथ वन गया। विशुद्ध नीति से जो धर्म-दर्शन उन्होने दिया, वह जीवन-दर्शन बन गया। कर्तव्य और अनुराग के पार्थक्य का विवेक जो उन्होंने दिया वह धम की विशुद्ध परिभाषा वन गया। जव पूर्व-भूमिका तैयार हो गई तव उन्होने वीजारोपण किया। तेरापथ के उद्भव की यह आद्य कहानी है। आचार्य भिक्षु ने आचार-शुद्धि और सघ-सगठन पर अधिक वल दिया। एकसूत्रता के लिए उन्होने अनेक मर्यादाओ का निर्माण किया। शिष्य प्रथा को समाप्त कर आचार्य के अखण्ड अनुशासन मे रहने के लिए सवको उत्साहित किया। इस प्रकार तेरापथ की नीव सुदृढ हुई। साधु-साध्वियो की सख्या वढी। सघ अनवरत प्रगति की ओर वढता गया। जैन समाज मे भीखणजी के ज्ञान का लोहा माना जाने लगा। अपने आपको सव कुछ समझनेवाले साधु आचार्य भिक्षु से शास्त्रार्थ करने आए। भीखणजी की सहिष्णुता और सैद्धान्तिक प्रामाणिकता से अभिभूत हुए विना नही रहे। आचार्य भिक्षु का व्यक्तित्व चारो ओर विस्तार पा रहा था। शिष्य-शिष्याए भी सत्य सिद्धान्तो के प्रसार मे दत्तचित थी। आचार्य भिक्षु और उनके अनुयायी साधु-साध्वियो के बुद्धि-कौशल, श्रम, शुद्ध रीति-नीति, विशुद्ध ध्येय और अपक्षपातपूर्ण

प्रणाली से तेरापथ उन्नति के शिखर पर चढ रहा था। यह प्रगति विरोध का कारण बनी और देखते-देखते विरोध के प्रचण्ड वातूल उठने लगे। विरोध के मुख्य तीन कारण थे

(१) सैद्धान्तिक मतभेद, (२) स्वार्थ-हनन, (३) ईर्ष्या-द्वेष।

सर्वप्रथम विरोध की कसौटी पर आचार्य भिक्षु को ही चढना पडा। वगडी के श्री सघ ने यह घोषणा करवाई कि यदि कोई भिक्षु को रहने के लिए स्थान देगा, रोटी-कपडा देगा, उसे दण्ड-स्वरूप ग्यारह सामायिक करनी होगी। वे वहा नही रुके, आगे चले, आषाढ के अन्तिम दिनो मे वे केलवा पधारे। चातुर्मास के लिए स्थान गवेषणा हुई। लोगो ने 'अन्धेरीओरी' मे चातुर्मास करने को कहा। लोक-मान्यता के अनुसार उसमे एक दिन रहने का अर्थ था—मृत्यु। भिक्षु ने यह सोचकर स्थान ग्रहण किया कि एकान्त मे स्वाध्याय, ध्यान अच्छा होगा। श्रेयोमार्गाभिमुख व्यक्ति के लिए विपत्ति भी सम्पत्ति बन जाती है, ऐसा ही हुआ। चातुर्मास सानन्द सम्पन्न हुआ। सारा गाव उनका अनुयायी बन गया।

एक बार आचार्य भिक्षु नाथद्वारा मे थे। चातुर्मास का कुछ काल बीता। विरोधी सज्जनो ने गुप्त रूप मे वहा के अधिकारी गुसाईं जी को भडकाकर आचार्य भिक्षु को गाव से निकल जाने का आदेश दिलाया। आदेश-वाहको ने आज्ञा का पालन किया। सन्त भिक्षु उसी समय वहा से विहार कर 'कोठारिया' पधारे। वहा से भी स्थानान्तरित करने का प्रयास किया गया, पर सब कुछ व्यर्थ।

इस प्रकार और-और भी विरोध हुए। लोगो ने आचार्य भिक्षु को चूहे-बिल्ली वाले, दान-दया का सत्यानाश करनेवाले आदि-आदि विशेषणो से पुकारा। सामाजिक तथा राजकीय बाधाए उत्पन्न की गईं और उन्हे तरह-तरह के शारीरिक कष्ट सहने के लिए बाध्य किया गया। इन सघर्षो से वे कभी नही घबराये। झूठे आरोपो की बाढ-सी आ गई। यथावसर उन्होने सबका स्पष्टीकरण किया और सारी स्थिति को अक्षुब्ध बनाये रखने का प्रयास किया।

वि० स० १८७५ की बात है, उदयपुर-वासियो की विशेष प्रार्थना

पर आचार्यश्री भारीमाल जी वहा पधारे। बाजार की दूकानो मे ठहरे। लोग आने-जाने लगे। जन-सग्रह हुआ। विरोधी सज्जनो का मन विरोध से भर गया। उन्होने उदयपुर महाराजा को उल्टा-सीधा समझाकर भारीमालजी को उदयपुर से बाहर निकालने का आदेश जारी करवा दिया। आदेश पा आहार आदि से निवृत्त हो आचार्य भारीमाल जी अपने शिष्यो स हित विहार करते-करते सजनगढ आ गये। विरोधी लोग अपनी विजय पर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होने अब यह प्रयत्न किया कि भारीमलजी को मेवाड देश से निकाल दिया जाय। यह बात मेवाड के तेरापथी श्रावको तक पहुची। सभी ने एक स्वर से राजनगर मे यह निश्चय किया कि यदि हमारे साधुओ को यहा से निकाला जाता है तो हमे भी उनके साथ देश छोडकर चला जाना चाहिए। इस निर्णय मे कितना धैय, बुद्धिकौशल, श्रद्धा और विवेक था, वह स्वय गम्य है।

सयोग की बात है भारमालजी के उदयपुर छोडने के कुछ ही काल बाद राणाजी का पाटवी पुत्र चल बसा। उनके जमाई की मृत्यु हो गई और सारे शहर मे महामारी का प्रकोप हुआ। लोग मरने लगे। उस समय न्यायाधीश श्री केसरीचन्द भण्डारी ने राणाजी को यथाथता से अवगत कराया। सारी स्थिति को समझकर राणाजी ने अपने हाथो खास रुक्का लिखा, जिसकी नकल इस प्रकार है

श्री एकलिगजी

श्री बाणनाथजी श्री नाथजी

स्वस्ति श्री साधश्री भारमलजी तेरापथी साधथी राणा भीमसिह री विनती मालूम हुवे। कृपा करे अठे पधारोगा की वे दुप्ट दुप्टा कीदी जीसामु नही देखोगा। मा सामु वा नगर मे प्रजाहे ज्यारी दयाकर जेज नही करोगा। वती काई लखू। और समाचार साहा स्वालालका लप्या जाणोगा—सवत् १८७५ वर्ष आपाढ ३ शुक्र

यह रुक्का आचाय भारीमालजी को मिला। लोगो ने वहा पधारने की अर्ज की परन्तु आपने यह कहते हुए टाल दिया कि 'कुण भाठा घूद तो जावे, मारा तो जावारा भाव नही।' तब राणाजी ने दूसरा रुक्का लिखा

श्री एकलिंगजी

श्री बाणनाथजी श्री नाथजी

स्वस्ति श्री तेरापथी साध श्री भारमलजी स्यू म्हारी डडोत बचे। अप्रच आप अठे पधारसी जकाखात्र ह्र आगे ही रुक्को दियो हो सो अबे वेगा पधारेगा। सवत् १८७६ वर्ष पोष वीद ११।

आचार्य भारीमालजी ने मुनि हेमराजजी आदि तेरह सन्तो को उदयपुर भेजा। इतने साधुओ को शहर मे देख विरोध पुन उभर आया। अब व्याख्यान मे मिट्टी के ढेले, पत्थर आदि आने लगे। यह क्रम कई दिनो तक चलता रहा। जब यह बात राणाजी को मालूम हुई, उन्होने अपने व्यक्तियो से सावधान रहने के लिए कहा। एक दिन जब व्याख्यान मे पत्थर आदि आए तब एक व्यक्ति को गिरफ्तार कर वे राणाजी के पास ले गए। राणाजी ने कहा—'इसे तोप से उडा दो।' यह बात मुनि हेमराज जी को मालूम हुई। उन्होने केसरजी भण्डारी से कहा—'यह अनर्थ है। हमारा विरोध होना तो सहज बात है। हम ऐसे विरोधो की परवाह नही करते। परन्तु हमारा विरोध करने के कारण कोई व्यक्ति मारा जाय यह उचित नही।' राणाजी को यह भाव ज्ञात हुआ, उन्होने उसको छोड दिया।

बाट एक—अनेक

व्यवहार व्यवहार है और परमार्थ परमार्थ। जो है वह है, जो नहीं है वह नहीं है। जो है वह सत्य है, जो नही है वह भी सत्य है। इसके अतिरिक्त सत्य और कुछ नही। जो कहते है सत्य यह है, वह नही, वे तथ्य को नही जानते। सब कुछ सत्य है और सब कुछ सत्य नही भी है। यह व्यवहार की बात है।

परमार्थ का मार्ग दूसरा है। उसमे सत्य और असत्य की एक सीमा-रेखा है। जो सत्य की मर्यादा मे है वह सत्य है और जो सीमा से एक सूत्र भी आगे बढ जाता है, वह असत्य है। सब कुछ जो है वह सारा सत्य नही,

और सब कुछ जो नही है, वह सारा असत्य नही।

व्यवहार और परमार्थ का मार्ग भिन्न-भिन्न है। जो व्यक्ति व्यवहार को साधकर परमार्थ की अवहेलना करते है, वे जीवन मे सफल नही होते और जो परमार्थ को साधकर व्यवहार की अवहेलना करते है, वे सह-अस्तित्व का जीवन नही जी सकते। व्यवहार परस्परापेक्ष है और परमार्थ परस्परानपेक्ष है।

दो साथी हैं। एक विद्वान् है, पर है परमार्थ-सेवी। दूसरा अविद्वान् है, पर है व्यवहार-कुशल। दोनो मे सफल कौन है ? यह प्रश्न स्वाभाविक है। इस प्रश्न के आधार पर समाधान मे भी दो पक्ष हो जाते है। प्रथम व्यक्ति परमार्थ की दृष्टि से सफल है और दूसरा व्यवहार की दृष्टि से। परमार्थ व्यक्ति का आन्तरिक चैतन्य है, वह दूसरो को नही दीखता। व्यवहार व्यक्ति का बाह्य सौन्दर्य है, वह दूसरो को स्पष्ट दीखने लगता है। देखने-वाले लोग व्यवहार-कुशल को सफल मानते है और परमार्थ-सेवी को असफल। देखनेवालो की दृष्टि मे यह सत्य है।

परमार्थ इससे भिन्न है। वह परमार्थ-सवलित व्यवहार को ही सत्य मानता है। औपचारिक व्यवहार एक सीमा मे कर्तव्य भले ही हो, पर है आत्म-वचना। व्यवहार मे अन्तर और बाह्य मे जमीन-आसमान का अन्तर रहता है। यदि यह व्यवधान मिट जाय तो वह व्यवहार परमार्थ बन जाता है।

वे मानते है कि 'वह' विद्वान् नही, पडित है, फिर भी वे उसे 'विद्वान्' का विरुद देते हैं और साधारणत उसे विद्वान् की कोटि का भान कराते रहते हैं। यह इसलिये करते हैं कि यह उनका व्यवहार है। व्यवहार का यह आदेश है कि व्यक्ति विद्वान् है या पडित, अच्छा है या बुरा, मायावी है या सहज, उसे विद्वान्, अच्छा और सहज मानो। ऐसा मानने पर ही तुम उसको साध सकोगे। यह व्यवहार है। इससे वस्तुत व्यक्ति के गुणागुण का प्रतिभास नही होता। वह अपने सामने प्रस्तुत वातावरण को स्वनिर्मित मानकर वस्तुस्थिति को भूल जाता है।

वे मानते हैं कि वह विद्वान् है और साथ-साथ साधक भी, परन्तु वे उसे दूसरो की अपेक्षा व्यवहार मे ऊचा स्थान नही देते। वे ऐसा इसलिये

करते है कि व्यवहार का यही तकाजा है। अन्तर मे 'वे' कुछ भी मानते हैं, परन्तु व्यवहार मे उसे उसी सीमा तक रखना होता है, जहा रहकर उस व्यक्ति का व्यक्तित्व दूसरो के लिये व्यवहारत वाधक न हो।

ये दो स्थितिया है—एक मे वस्तु-स्थिति का अतिशयोक्तिपूर्ण प्रकटन है और दूसरी मे यथार्थता का गोपन। व्यवहार के क्षेत्र मे वे मान्य है। सत्ता की व्यवस्थिति के लिए वे मान्य हो सकती है, परन्तु आत्मा की व्यवस्थिति मे वे अमान्य है।

जहा गच्छ-समूह है वहा व्यवहार को खुलकर खेलने का अवसर मिलता है, परन्तु जहा आत्मार्थ भाव है वहा व्यवहार अकिंचित्कर होता है। व्यवहार के विना सघ विघटित हो जाता है—यह एक पक्ष है तो दूसरा पक्ष यह भी हो सकता है कि सघ मे व्यवहार के साथ-साथ कृत्रिमता भी आ जाती है। जहा कृत्रिमता है वहा अन्यथा भाव भी हो ओता है।

एक व्यक्ति मायावी है, लोभी है, अति व्यवहार-पटु है—फिर भी उसमे एक-दो गुण ऐसे है जो दूसरो मे सहज नही मिलते। ऐसी स्थिति मे प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह उसके अवगुणो को न देखकर, गुणो के आधार पर ही उसका मूल्याकन करे और सदा सर्वत्र उसके गुणो को आगे रखकर ही उससे वात करे। इससे वह व्यक्ति काम भी करता रहेगा और उसकी महत्वाकाक्षा को भी ठेस नही पहुचेगी—यह एक पक्ष है।

परस्परावलम्वी जीवन मे व्यवहार की उपेक्षा नही की जा सकती—यह सत्य है, परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि वस्तु-स्थिति का भी गोपन नही होना चाहिए। यथावसर दोनो का स्पष्ट निदर्शन ही व्यक्ति और समूह का पथ-दर्शन वन सकता है।

एक कवि ने आम्र को सम्वोधित कर कहा—

न तादृक् कर्पूरे न च मलयजे नो मृगमदे,
फले वा पुष्पे वा तव मिलति यादृक् परिमल।
परन्त्वेको दोपो विलसति रसाल! त्वदधिक',
पिके वा काके वा गुरु लघु विशेष न मनुसे।

अर्थात्—'हे रसाल! तेरे मे जो परिमल है, वह न कर्पूर मे

कस्तूरी मे है, न चन्दन मे है, न फल मे है और न फूल मे है। किन्तु तेरे मे एक गुरुतर दोष है कि तू 'कोकिल' और 'काक' मे कोई भेद नही देखता कि कौन गुरु है और कौन लघु ?'

यह तथ्य साम्य की साधना करनेवाले योगी के लिये ठीक हो सकता है, परन्तु व्यवहार-साधक व्यक्ति के लिये यह आवश्यक है कि उसमे यह विवेक और समय पर उस पार्थक्य की चर्चा करने का सामर्थ्य भी हो।

सबको अपने-अपने बाटो से तोला जाए तो द्वैध नही बढता।

सविग्नपक्ष और चैत्यवास

किसी भी सघ का विस्तार मापा जा सकता है, उसके अनुयायियो की गणना भी की जा सकती है परन्तु उसके गुणात्मक विकास की नाप-जोख करना शक्ति से परे है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की जो आत्मगत अनुभूति है, उसे बाह्य दृष्टि आक नही सकती। इसलिए उन्हे तारतम्य की परिधि मे प्रवेश नही किया जा सकता।

ज्ञान का गम्यरूप है—श्रुत। दर्शन का गम्यरूप है—व्यवस्था। चारित्र का गम्यरूप है—अनुशासन।

उस समय भगवान् महावीर नही थे। उन्हे मुक्त हुए २८२ वर्ष बीत चुके थे। जैन सघ मे प्रभावशाली नेतृत्व नही रहा। साधु सघ मे शिथिलता का प्रवेश हुआ। सघ का विस्तार अवश्य हुआ, अनुयायियो की सख्या भी बढी, परन्तु गुणात्मक विकास मे कमी आ गई। ज्ञान, दर्शन और चारित्र के ये गम्यरूप धूमिल हो गए। श्वेताम्बर मुनि दो भागो मे विभक्त हो गए और जो शिथिलाचार को प्रश्रय देने लगे वे चैत्यवासी कहलाए। जो मुनि कुछ कठोर आचार का पालन करने लगे वे 'सविग्न-पाक्षिक' कहलाए।

आचार्य हरिभद्र 'सविग्न-पाक्षिक' थे। उन्होंने अपने ग्रन्थ सबोध-प्रकरण मे चैत्यवासियो के स्वरूप की चर्चा की है। उन्होने लिखा

'ये कुसाधु चैत्यो और मठो मे रहते है, पूजा करने का आरम्भ करते

हैं, देव-द्रव्य का उपभोग करते है, जिन-मन्दिर और शालाएँ चिनवाते है, रग-विरगे सुगन्धित धूप-वासित वस्त्र पहनते है, विना नाथ के वैलो के सदृश स्त्रियो के आगे गाते है। आर्यिकाओ द्वारा लाए गए पदार्थ खाते हैं और तरह्-तरह् के उपकरण रखते है।

'जल, फल-फूल आदि सचित द्रव्यो का उपभोग करते हैं, दो-तीन वार भोजन करते और ताम्वूल, लवगादि भी खाते है।

'ये मुहूर्त निकालते है, निमित्त वतलाते हैं, भभूत भी देते हैं। त्योहारो मे मिष्ट आहार प्राप्त करते है, आहार के लिए खुशामद करते और पूछने पर भी सत्य-धर्म नही वतलाते।

'स्वय भ्रष्ट होते हुए भी दूसरो से आलोचना प्रतिक्रमण कराते है, स्नान करते, तेल लगाते, शृगार करते और इत्र-फुलेल का उपयोग करते है।

'अपने हीनाचारी मृतक गुरुओ की दाह-भूमि पर स्तूप वनवाते है। स्त्रियो के समक्ष व्याख्यान देते है और स्त्रिया उनके गुणो के गीत गाती हैं।

"सारी रात सोते, क्रय-विक्रय करते और प्रवचन के वहाने विकथाए किया करते है।"

'चेला वनाने के लिए छोटे-छोटे वच्चो को खरीदते, भोले लोगो को ठगते और जिन-प्रतिमाओ को भी वेचते-खरीदते है।

'उच्चाटन करते और वैद्यक, यन्त्र, मन्त्र, गडा, तावीज आदि मे कुशल होते हैं।

'ये सुविहित साधुओ के पास जाते हुए श्रावको को रोकते है, शाप देने का भय दिखाते हैं। परस्पर विरोध रखते है और चेलो के लिए एक-दूसरे से लड मरते हैं।

'कुछ नासमझ लोग कहते हैं कि यह भी तीर्थङ्करो का वेश है, इसे नमस्कार करना चाहिए। अहो, धिक्कार हो इन्हे। मैं अपने सिर-शूल की पुकार किसके आगे जाकर करू?'

इसी प्रकार 'गच्छाचार' मे भी शिथिल साधुओ की मन स्थिति का सुन्दर चित्रण हुआ है।

एक वार अनेक द्रव्यलिङ्गी मुनियो के वीच आगम-विचार हुआ। कई

मुनियो ने कहा—सयम मोक्ष का साधन है। कई साधुओ ने कहा—तीर्थ की प्रभावना करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। तीर्थ-प्रभावना के कारण हैं—मन्दिर मे पूजा, सत्कार, बलि आदि का विधान करना। इस प्रकार यथेच्छ प्रलाप करते रहे। उनमे कोई भी आगम-कुशल मुनि नही था, जो कि उनके इस विवाद को तोड सके। वे मुनि सावद्य पूजाओ मे प्रवृत्त होते थे तथा गृहस्थो से धन आदि लेकर चैत्य बनवाते थे और स्वय उन्ही चैत्यो मे रहते थे।

यह चैत्यवासी मुनियो का सक्षिप्त विवरण है। सविग्न-पाक्षिक मुनि आगमगत आचार का पूर्ण पालन नही करते थे परन्तु वे चैत्यवासी मुनियो से कुछ कठोर आचार रखते थे।

वे ससार से विरक्त होते थे। उनकी विरक्तता से ही उन्हे 'सविग्न' कहा गया है।

स्वरूप-वर्णन

'जैसे शुद्ध आचार का पालन करनेवाला मुनि शुद्ध होता है, गुणकलित सुश्रावक भी शुद्ध होता है, वैसे ही प्राय चरण-करण युक्त सविग्नपक्ष रुचि वाला मुनि भी शुद्ध होता है।'

'सविग्न-पाक्षिक मुनियो का सक्षेप मे यह स्वरूप है कि वे प्राय चारित्र से युक्त होते हैं। अत वे अपनी शुद्धि कर लेते हैं।

'वे शुद्ध साधु के धर्म की प्ररूपणा करते है और अपने आचार-विचार मे रही कमियो की निन्दा करते हैं। वे सुतपस्वी मुनियो के आगे अत्यन्त लघु बनकर रहते है।

'वे शुद्धाचारवाले मुनियो को वन्दना करते है परन्तु स्वय वन्दना नही करवाते। स्वय कृतिकर्म करते हैं, परन्तु दूसरो से नही करवाते। वे अपने लिए किसी को दीक्षित नही करते, परन्तु विरक्त व्यक्ति को बोध-प्राप्त करा कर शुद्ध साधुओ को सौंप देते हैं।'

सबसे श्रेष्ठ यति-धर्म है जिसमे सर्व सावद्ययोग का परित्याग होता है। श्रावक धर्म दूसरा है और सविग्न-पाक्षिक का तीसरा। ये तीनों मोक्ष के मार्ग हैं। इनसे अन्य सभी ससार के मार्ग हैं।

एक बार एक शुद्धाचारी मुनि भिक्षा प्राप्त करने के लिए एक गाव में गए। भिक्षा के लिए घूमते-घूमते एक श्रावक के घर मे प्रविष्ट हुए। श्राविका मुनि को देखकर परम प्रसन्न हुई और आहार लाने के लिए अन्दर गई। मुनि बिना कुछ कहे भिक्षा लिए बिना ही मुड गए। श्राविका भिक्षा लेकर बाहर आयी, मुनि को न देख उसे कुछ क्लेश हुआ। उसने सोचा—'मैं अपुण्या हू, अधन्या हू।' इन्ही सकल्प-विकल्पो को लिए वह गृह-द्वार पर बैठ गई।

कुछ समय पश्चात् दूसरा मुनि आया। श्राविका ने उसे भिक्षा देकर पूछा—'मुनिश्वर! आप से कुछ पूर्व एक मुनि आए थे, परन्तु उन्होंने भिक्षा नही ली। इसका क्या कारण है?' मुनि ने कहा—'बहन! भावना को तोडनेवाले इस प्रकार के बहुत से साधु घूमते रहते हैं।' यह सुनकर श्राविका को अत्यन्त दु ख हुआ।

इतने मे ही तीसरा साधु उसी घर मे आहार लेने के लिए आया। उसको भी भिक्षा देकर श्राविका ने प्रथम साधु के वृत्तान्त को कह सुनाया। मुनि ने कहा—'भद्रे! तुम्हारा गृह-द्वार नीचा है, इसलिए उन्होंने भिक्षा नही ली। क्योंकि आगम मे ऐसे स्थान से भिक्षा लेने का निषेध है। मैं तो वेश मात्र धारी हू, मैं साध्वाचार को पूर्ण रूप मे पालने मे असमर्थ हू, मेरा जीवन निष्फल है। वह धन्य है, कृतकृत्य है जो मुनि के आचार का पालन करता है।'

इस विवरण का तात्पर्य यह है कि प्रथम साधु शुक्लपाक्षिक है, हस पक्षी के समान है। हस पक्षी के दोनो पक्ष सफेद होते हैं, उसी प्रकार शुक्लपाक्षिक साधु के बाह्य और आभ्यन्तर दोनो निर्मल होते हैं—शुक्ल होते हैं।

दूसरा साधु कृष्णपाक्षिक है, कौवे के समान है। कौवे के दोनो पक्ष काले होते हैं उसी प्रकार कृष्णपाक्षिक मुनि के बाह्य और आभ्यन्तर—दोनो मलिन होते हैं।

तीसरा साधु सविग्नपाक्षिक है, चक्रवाक पक्षी के समान है। जैसे चक्रवाक पक्षी के बाह्य पक्ष मलिन (काले) होते हैं और आभ्यन्तर पक्ष सफेद होते हैं, उसी प्रकार सविग्नपाक्षिक मुनि बाहर मे मलिन होते हैं

और अन्दर से शुक्ल—शुद्ध।

चैत्यवासी और सविग्नपाक्षिक मुनियो मे सबसे बडा अन्तर यह था कि चैत्यवासी मुनि न शुद्ध आचार का पालन ही करते थे और न उसकी प्ररूपणा ही करते थे। परन्तु सविग्नपाक्षिक मुनि शुद्धाचार का पूर्ण पालन करने मे असमर्थ होने पर भी उसकी यथावत् प्ररूपणा करते थे और यथावकाश अपने आगम-अननुमोदित कृत्यो की निन्दा भी करते थे।

संवेदनशीलता

सवेदना आवृत्त चेतना का स्वभाव है। प्रत्येक प्राणी सवेदनशील होता है। देव और नरक लोक हमारे चर्म चक्षुओ के विषय नही बनते। दृश्य जगत् मनुष्य और पशुओ का निवास-स्थान है। पशुओ की सवेदनशीलता अभिव्यक्त नही होती, अथवा होती भी है तो हम उसे जान नही सकते। हा, कभी-कभी उनकी अव्यक्त सवेदनशीलता मे हम अपनी भावनाओ को जोडकर उसे व्यक्त-सी अनुभव करते है। परन्तु वह यथार्थ ही हो—ऐसा नही कहा जा सकता। मनुष्य की सवेदना व्यक्त होती है और उसे दूसरे मनुष्य समझ भी पाते हैं।

सवेदनशीलता तभी तक गुण है जब तक वह अपनी मर्यादा मे रहती है। मर्यादा का अतिक्रमण होने पर वह दोष बन जाती है। सदेह अति सवेदनशीलता का उपादान है और परिणाम है सदेहो का उभार। अति सवेदनशील व्यक्ति अपने आप मे सदिग्ध रहता है। वह सदा यही सोचता रहता है कि अमुक स्थान पर अमुक व्यक्ति से अमुक व्यक्ति मिला है तो निश्चय ही वह मेरे बारे मे कुछ कहता होगा। येन-केन प्रकारेण मेरा तिरस्कार हो ऐसी योजना बनाई जाती होगी। इसी प्रकार की शकाओ से उनका मन भर जाता है और वह प्रत्येक मे सन्देहशीलता को प्रतिबिम्बित देखता रहता है। प्रख्यात मानसशास्त्री डा० कारने होर्वी के मतानुसार यह एक ऐसी प्रवृत्ति है, जो अपने भीतर का भाव दूसरो पर

लादना चाहती है। अत्यधिक सवेदनशील व्यक्ति असतुलित रहता है। वह क्षण मे रुष्ट और क्षण मे प्रसन्न हो जाता है। वह दूसरो के हाथ का ऐसा खिलौना बन जाता है कि मानो उसका अपना अस्तित्व ही नही। यथार्थत देखा जाय तो कई एक प्रवृत्तिया ऐसी होती है जिनमे वह व्यक्ति तिरस्कृत या अपमानित होने की सभावनाए कर सकता है। परन्तु अधिक तथा बिना किसी वास्तविक कारण के ही, अपनी ही कल्पनाओ की उधेडबुन से, वह दूसरो मे अपनी भावनाओ को प्रतिबिम्बित कर अपमानित होने की सभावना कर लेता है। इस सभावना को भी वह यथार्थ ही मान बैठता है और दूसरो पर दोषारोपण कर अपने असतुलन को और बढा देता है।

बहुत कम अवसर ऐसे आते हैं जिनमे एक सज्जन पुरुष दूसरे को अपमानित या तिरस्कृत करने की बात सोचे। सभी मनुष्य अपने-अपने कार्यो मे व्यस्त रहते है और स्वय की सुख-शान्ति की उधेड बुन मे कार्य करते है। परन्तु कभी-कभी उनके कुछेक अज्ञात कार्यो से किसी को ठेस भी पहुच जाती है। यह जानकर नही किया जाता परन्तु ऐसा हो जाने पर अतिसवेदनशील व्यक्ति उस भाव को तीव्रता से ग्रहण करता है और तब उसे सारा ससार सदेहो से भरा-पूरा दीखता है। वह दूसरो पर दोषारोपण कर अपने आप मे एक प्रकार का तोष अनुभव करता है। सहज ही बुरा मान बैठना यह सवेदनशील व्यक्ति का सहज स्वभाव बन जाता है। मन के प्रतिकूल जहा भी कुछ हुआ कि वह आपा खो बैठता है और उस प्रतिकूल आचरण के निमित्त को अपने मे आरोपित कर दु खी बन जाता है। उसमे यह सामर्थ्य नही होती कि वह सामनेवाले से पूछताछ कर स्थिति को स्पष्ट कर ले। मन-ही-मन वह नाना कल्पनाओ को सजोता हुआ अपने ही विचारो को पुष्ट किए चलता है। ऐसी स्थिति मे उसकी शान्ति नष्ट हो जाती है और वह पग-पग पर दु ख का ही वेदन करता है। इससे छुट-कारा पाने का सरलतम उपाय यह है कि जान-बूझकर अपमानित करने वाले को भी क्षमा कर दे। उसके विचारो के बारे मे चिन्तन कर उसे महत्त्व न दे। उनको नजरअन्दाज करके ही वह उस चिन्ता से मुक्त हो सकता है। हिंसा से हिंसा बढती है। जब आप उस व्यक्ति के विचारो को महत्त्व नही देंगे तो वह व्यक्ति स्वय चुप्पी साध लेगा और फिर आपके

विषय मे वह उदासीन हो जाएगा।

अति सवेदनशील व्यक्ति स्वभावत अभिमानी होता है। जहा भी उसके अह को ठेस लगती है, वह तिलमिला जाता है और अपने चारो ओर सन्देहो का अम्बार खडा कर देता है। अपने अह को बनाये रखने के लिए वह अनेक अस्पष्टताओ को लिए चलता है और उन अस्पष्टताओ को यथार्थता का जामा पहनाने के लिए वह अनेक कल्पनाए सजोता है। यह चक्र तब तक घूमता रहता है, जब तक कि स्वय द्वारा सृष्ट अह का पिशाच स्वय ही न खत्म हो जाए।

अति सवेदनशील व्यक्ति आलोचनाओ से कतरा जाता है। प्रत्येक आलोचना मे उसे स्वय के प्रति आरोप दीख पडता है—वह कभी भी उन आलोचनाओ मे तथ्यातथ्य का विवेक नही करता। जो अति सवेदनशील नही होता, वह आलोचनाओ से भी अपने जीवन का मार्जन करता है और जो आलोचनाए तथ्यहीन होती है उनकी ओर ध्यान ही नही देता। वह उन्हे 'पागल का प्रलाप' समझकर छोड देता है। सभी आलोचनाए बुरी नही होती। कई तथ्य को लिए चलती है और आलोच्य व्यक्ति को प्रकाश देती हैं।

व्यक्ति न अति सवेदनशील रहे और न असवेदनशील। अति सवेदनशीलता सदेहो को जन्म देती है तो असवेदनशीलता आत्माभिभाव को नष्ट कर देती ह। दोनो का सतुलन ही सुखद स्थिति है। व्यक्ति-व्यक्ति का अपना स्वतत्र महत्त्व होता है। सब अपने आप मे उपयोगी है, इष्ट है, गुणवान ह। अनुपयोगी, अनिष्ट या अगुणवान् किसी-किसी अपेक्षा से ही होते है। व्यक्ति अनन्त गुणो का पिण्ड है, दोष भी उसमे कम नही है। विवेक का मार्ग है कि व्यक्ति उसके गुणो और दोपो को जाने अवश्य पर व्यक्ति की न्यूनता को प्रकाश मे न लाने का प्रयत्न करे। दोष छिपाये नही छिपते। वे यथावसर प्रकट हो ही जाते हैं। उसके लिए प्रयत्न करना लघुता है।

जो व्यक्ति दूसरो की जरा-सी बात पर अपना अपमान समझता है वह सदा सदिग्ध रहता है। पग-पग पर उसे मानहानि की आशका बनी ही रहती है। आशकाओ से घिरा हुआ मन वास्तविक आनन्द का अनुभव

नही कर सकता। वह सदा विपाद पाता रहता है। ऐसा व्यक्ति किसी को मित्र नहीं बना सकता, क्योकि सम्पर्क मे आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को यह आशका रहती है कि कही ये नाराज न हो जाए। जहा ऐसी आशका रहती है वहा स्पष्टता नही होती और स्पष्टता के अभाव मे मन मिलते नही। एकात्मकता के बिना आनन्द नही आता।

व्यक्ति सवेदनशील है या असवेदनशील या अतिसवेदनशील इसकी कसौटी क्या है ? यह प्रश्न सहज ही होता है। इसका उत्तर मनोविज्ञान की भूमिका पर खडे होकर दिया जा सकता है।

सवेदनशील व्यक्ति वह है जो परिस्थितियो के प्रभाव से अपने आपको ज्यादा मुक्त रख सके। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन मे परिस्थितिया आती हैं। कमजोर व्यक्ति उनके प्रभाव मे आ जाता है, बलवान उनसे प्रभावित नही होता, बल्कि उनको अपने आत्म-कर्तृत्व से प्रभावित कर देता है। वह छोटी-छोटी बात पर बुरा नही मानता। दूसरो द्वारा सृष्ट अपमान या हानि से अपने-आपको असपृक्त रखता है। उसे प्रत्येक कार्य की सवेदना होती है। पर उसकी अनुभूति को तीव्र नही बनने देना और उसे मार्गान्तरित कर देता है। वह पग-पग पर आनन्द की सृष्टि लिए चलता है और जीवन मे सुख का अनुभव करता है।

असवेदनशील व्यक्ति मे कर्तृत्व का विकास नही होता। उसमे वह चैतन्य नही होता जो जीवन को जगा सके, वह दीप्ति नही होती जो जीवन की विशिष्टता दिखा सके। वह एक प्रकार मिट्टी-सा होता है। कोई अपमान करे या सम्मान, उसका उसे सवेदन ही नही होता। वह सदा प्रसन्न रहता है। उसकी यह प्रसन्नता जडता से प्रभावित होती है। अत वह काम्य नही होती।

अज्ञानमूलक सुख से जीवन मे जडता आती है। वह व्यक्ति के चैतन्य को सुखा डालती है। इसीलिए यह मानना उपयुक्त है कि अज्ञान के सुख से ज्ञान का दु ख कही अच्छा है। असवेदनशील व्यक्ति का आनन्द या सुख चेतना से प्रेरित नही होता, वह केवल कल्पनाओ के ताने-बाने से बना होता है। उसमे न दीप्ति रहती है, न चैतन्य।

अतिसवेदनशीलता व्यक्तित्व का एक महान् दोष है। यह दोष व्यक्ति

को तिल-तिल कर जलाता है। इसकी दाहकता भयकर होती है। वह अदृश्य रहकर भी अपना कार्य कुशलता से करती है। इस दोष से ग्रस्त व्यक्ति पग-पग पर कष्ट पाता है। ऐसे व्यक्ति की पहचान के लिए निम्नोक्त पाच प्रश्न हैं। यदि उनका उत्तर 'हा' मे आता है तो समझिए कि वह अतिसवेदनशीलता का ही परिचायक है

१ क्या आप थोडे-से प्रतिकूल व्यवहार से अपमान का अनुभव करते है ?

२ क्या आप दूसरो पर विश्वास करने मे हिचकते है ?

३ क्या आप दूसरो से अत्यधिक प्रभावित हो जाते है ?

४ क्या आप अपने आपको दूसरो से असाधारण मानते है ?

५ क्या आप अत्यधिक ऊची स्थिति की महत्वाकाक्षा को लिए चलते हैं?

कानपुर से राजगृह

हम पदयात्री है। जीवन-पर्यन्त पदयात्रा करना हमारा व्रत है। हमारे लिए दुनिया की दूरी वही है जो पहले थी। आज के इस 'राकेट युग' मे पद-यात्रा भले ही हास्यास्पद लगे, परन्तु जो आनन्द और प्रकृति के वैभव का अनुभव पाद-विहारी को होता है वह यान-विहारी को नही होता।

कानपुर मे पाच मास का वर्षावास सानन्द सम्पन्न कर हम कलकत्ता को लक्ष्य-बिन्दु मान स० २०१५ की मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा को वहाँ से चल पडे। आचार्यप्रवर के पाच मास के अभिनव सम्पर्क से लोगो का हृदय सकुन हो चुका था। आचार्यश्री के विरह से उनके मन मे वेदना की अपूर्व अनुभूति उत्पन्न हुई। कई व्यक्ति सिसकते हुए आचार्यश्री के साथ-साथ चल रहे थे, कई मौन थे, कई विरह-व्यथा को शब्दो मे बाँधकर कुछ कह रहे थे।

सयोग मे हर्षोन्मत्त और वियोग मे व्याकुल होते हुए हमने अनेक व्यक्तियो को देखा। परन्तु कई ऐसे भी स्थितप्रज्ञ थे जो अपने सतुलन

को लिए साथ-साथ चल रहे थे ।

इस वीच एक अप्रत्याशित घटना घटी । जीवन मृत्यु-सवलित अवश्य है, परन्तु किसी को अकाल मे मृत्यु का शिकार वनते देख कौन रोमाचित नही हो जाता ? श्री हिम्मतमल सुराणा आचार्य तुलमी की पद-यात्रा मे सेवा करने की अनेक आकाक्षाओ और विवक्षाओ को लिए 'मित्र परिषद् स्वयसेवक दल' के साथ कलकत्ता से आए थे । विहार के मनोरम दृश्य से उनका हृदय फूल उठा था । आचार्यश्री कलकत्ता जाएगे—यह भावना उनके मन मे अनेक कल्पनाओ और सकल्पो को सजो रही थी । उनका हर्षोद्रेक आशाओ के वाध को तोडकर मूर्त वन जाना चाहता था । आखो से हर्ष के आसू वह चले । हाथ मे कैमरा था । दृश्य को स्थायित्व देने के लिए वे फोटो लेना चाहते थे, परन्तु अचानक ही वेसुध-से वे नीचे गिर पडे । लोग अनिमेष उन्हे देखते रहे । आकृति मे वही गम्भीरता और सौदर्य था, किन्तु प्राण-पखेरु उड चुके थे । शवमात्र धराशायी अकम्प पडा था । हनूतमलजी आदि उनके पारिवारिक वन्धुओ को वहुत वडा आघात लगा । परन्तु आचार्यश्री के अमृतोपम वचनो से उन्हे कुछ सान्त्वना मिली । शोकाग्नि मे दह्यमान हृदय भी भविष्य की मीठी आकाक्षाओ से कुछ हरा-भरा-सा होने लगा । आचार्यश्री ने कहा—"प्रिय और अप्रिय पदार्थों से मूढ वनने वाला शान्ति नही पा सकता और सुख भी नही । सयोग और वियोग मे सुख-दु ख का अनुभव करने वाला 'वाल' है । आनन्द की उपलब्धि इनके सतुलन मे है ।"

हम 'प्रयाग' की ओर वढे चले जा रहे थे । विहार हमारे जीवन का व्रत है । भगवान् महावीर ने कहा—"विहारचरिया इमिण पसत्था"—ऋषियो के लिए विहारचर्या ही प्रशस्त पथ है । उपनिषदकारो की वाणी मे भी यही गुजित हुआ है । उन्होने कहा है

आस्ते भग आसीनस्य ऊर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठत ।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भग ॥
चरैवेति चरैवेति चरैवेति ।

—जो वैठता है उसका भाग्य भी वैठ जाता है, जो उठता है उसका भाग्य भी उठ जाता है—सक्रिय हो जाता है, जो सोता है उसका भाग्य

भी सो जाता है—जो चलता रहता है उसका भाग्य भी चलता रहता है। इसलिए चलते रहो, चलते रहो।

उस रात हम प्रयाग की वाहिरिका मे थे। सैकडो भाई-वहन प्रवचन सुनने आए। छोटे-वडे बच्चे भी प्रवचन मे शामिल थे। प्रतिज्ञाए हुई। हमें ऐसा लगा कि अभी तक वहा शहर की हवा नही लगी है।

श्री पुरुषोत्तमदास टडन आचार्यश्री का स्वागत करने दिल्ली से आ गए थे। अस्वस्थ होते हुए भी वे कुछ कहना चाहते थे। माइक की अव्यवस्था ने उन्हे कुछ उदात्त स्वर से बोलने के लिए बाध्य किया। थोडी, परन्तु हृदयोत्थित भावनाओ की अभिव्यजना से हमे लगा कि अपरिग्रह के प्रति उनकी अटूट श्रद्धा है और आचार्यश्री के निखरते हुए व्यक्तित्व मे वे अनेक सम्भावनाओ को देखते हैं।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन भवन की ओर से साहित्य-गोष्ठी का आयोजन था। रात्रि के नीरव वातावरण मे कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ। सगीत की अप्रतिम स्वर-लहरियो मे आत्मभावो की कल्पना के माध्यम से अभिव्यजित करनेवाले कवियो की रचनाओ से सारा भवन गूज उठा। स्थानीय साहित्यकारो की रचनाए और भापण सुनने को मिले। सतो ने अध्यात्म की पूत भावनाओ को छन्दवद्ध कर प्रस्तुत किया। साहित्यकारो ने यह अनुभव किया कि अध्यात्म की अनुभूति ही जीवन का सार है। केवल कल्पनाओ से रचना में चेतना नही आती। आचार्यश्री ने साहित्य के चिर उपासक भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध की अध्यात्म भावनाओ को वास्तविक साहित्य बताया। आचार्यश्री ने कहा—"साहित्य वह है जिसमे चिरन्तन सत्यो का समावेश अधिक-से-अधिक होता है। कवि वह नही जो कविता के वश मे है, परन्तु कवि वह है जिसके वश मे कविता है।"

शहरो मे हम देखते—लोग इधर से उधर दौड रहे हैं। किसी को भी अवकाश नही है। सारा जीवन यत्रवत प्रतीत हो रहा है। खान-पान, रहन-सहन सारा विकृत हो चुका है, फिर भी गाव के लोग शहरो की ओर आकृष्ट होते है—यह व्यामोह नही तो क्या है?

मनुष्य कतिपय विश्वासो को लेकर चलता है। वे विश्वास ही उसके व्यक्तित्व के रूप मे विकसित होते है। विश्वासो के उत्कर्षापकर्ष का सकलन

मात्र ही व्यक्ति का जीवन है। स्वकृत विश्वासों मे तर्क का समावेश नही होता। वहा श्रद्धा का दीप सदा जलता है और अन्यान्य दीपो को समकक्षता मे प्रज्वलित रखता है। चलते-चलते ये विश्वास अन्ध-श्रद्धा मे बदल जाते हैं। गगा, यमुना और सरस्वती का पुनीत सगम हमने देखा। गगा, यमुना का पानी विभिन्नता को लिए हुए था। सरस्वती का यदाकदा दर्शन होता है—यह लोगो से सुना। इस विभिन्नता मे भी एकता होते देख भगवान् महावीर का समन्वयवाद आखो के सामने साकार हो उठा। आचार्यश्री ने कहा—"कैसी स्वाभाविकता है इस प्रकृति मे। नीर-नीर का मिलन श्रुति सुखद और चक्षुष्य होता है। परन्तु आज मानव का मन विभेद की गहरी खाइया खोदता है और उसकी अतल गहराई मे विलीन हो जाता है। 'मनुष्य ने अभी तक दीवारें ही खडी की हैं, सेतु नही बनाए'—न्यूटन की यह तथ्योक्ति हमे समन्वय की ओर प्रेरित करती है। भेद विभाव है और अभेद स्वभाव। इन प्राकृतिक अनुष्ठानो मे मनुष्य कुछ सीखे। यमुना गगा मे विलीन होकर भी आज अमर हो रही है। सगम का अर्थ एक होना नहीं, परन्तु विषमता मिटाना है।"

हमारा दूसरा अवस्थिति स्थल बनारस था। मार्ग मे झूसी गाव मे ब्रह्मचारी प्रभुदत्तजी के आश्रम मे ठहरे। आचार्यश्री को अपने मध्य पा वे हर्ष से गद्गद् हो रहे थे। मौन मे भी उनकी आकृति से आस्था की रेखाए प्रस्फुटित हो रही थी। कागज़ पर अपने भावो को अकित कर उन्होंने आचार्यश्री से निवेदन किया। मुनिश्री नथमलजी ने सुरभारती मे जीवन-दर्शन पर प्रकाश डाला। सस्कृत भाषा के अजस्र प्रवाह मे ब्रह्मचारीजी ने भारतीय सस्कृति का आदि-रूप देखा। मुनिश्री ने आशु कविता की। आचार्यश्री के प्रवचन पर ब्रह्मचारीजी झूम उठे। वे स्वय प्रौढ विद्वान् हैं और उन्होने अनेक ग्रथ भी लिखे है। 'विद्वानेव विजानाति विद्वदजन परिश्रम'—यह उक्ति साकार होते हमने देखी। वहा से काशी की ओर प्रस्थान कर हम छोटे-बडे गावो मे होते हुए निरन्तर बढे चले जा रहे थे। उत्तरप्रदेश का यह भाग हमे सजीव लगा। यहा के लोगो मे चेतना थी। हरे-भरे लहलहाते खेत पथिक को आकृष्ट कर रहे थे। एक छोर से दूसरे छोर तक फैले हुए सरसो के पौधे, बीच-बीच मे ईक्षु के खेत बहुत

ही लुभावने लगते थे। एक व्यक्ति से हमने पूछा कि इस भाग मे जन-जीवन कैसा है? उसने मुसकराते हुए कहा—"पहले से हमारा जीवन सुखी है। सरकार जनता के लिए बहुत कुछ कर रही है। स्थान-स्थान पर स्कूल, सहकारी समितिया आदि सस्थान चल रहे है।"

बनारस पहुचने की तिथि पहले ही निश्चित हो चुकी थी। अभी एक दिन बाकी था। उसका सदुपयोग करने हम बनारस के बहिर्भाग से होते हुए सारनाथ पहुचे। स्कूल मे सारे उपकरण रख हम मन्दिर की ओर चले। मन्दिर के प्रवेश-द्वार पर भिक्षु सग्रह रत्न ने आचार्यश्री का भव्य स्वागत किया। मन्दिर का अन्तरिम भाग महात्मा बुद्ध के जीवन-प्रसगो से चित्रित था। जापान के चित्रकारो ने उन भित्ति-चित्रो मे भी चैतन्य उडेला हो, ऐसा हमे लगा। बुद्ध की भव्य मूर्ति जनमनहारी थी। आचार्यश्री का वही प्रवचन हुआ। तदनन्तर धर्म-चक्र-प्रवर्तन के ढहते खडहरो की ओर हम गए। भिक्षु सारा विवरण हमे बता रहे थे। म्युजियम मे बहुत-सी चीजें इतिहास की दृष्टि से ज्ञेय थी। छोटे-से उस नगर का वातावरण हमे कमनीय लगा।

दूसरे दिन हम बनारस की ओर चले। रास्ते मे घना कुहरा छाया हुआ था। कुछ देर बाद आकाश स्वच्छ हो गया। विशाल जनसमूह के साथ आचार्यश्री बनारस की मुख्य सडको से होते हुए 'टाउन हॉल' मे नवनिर्मित 'अणुव्रत पडाल' मे पहुचे। शहर के सम्भ्रान्त व्यक्ति स्वागतार्थ उपस्थित थे। विभिन्न व्यक्तियो ने आचार्यश्री का हार्दिक अभिवादन किया।

आचार्यश्री ने अपने प्रवचन मे कहा—"काशी भगवान् पार्श्वनाथ की जन्मभूमि है। यहा से समता का सन्देश विश्व मे फैला था। प्रत्येक मनुष्य—वह चाहे किसी भी धर्म का उपासक हो, किसी भी राष्ट्र का नागरिक हो, श्रम-पुत्र हो या धन-कुबेर, काला हो या गोरा, हरिजन हो या महाजन—सर्वप्रथम वह मनुष्य है। उसके बाद वह अन्यान्य है। भगवान् महावीर जातिवाद के विरोधी थे। व्यक्ति जाति से ऊचा या नीचा नही होता, यह विभेद कर्म-आश्रित है। इसकी सही समझ ही जैनत्व है।" प्रवचन मे उपस्थित अनेक जैनो ने ये विचार सुने। उन्हें लगा आज

भी जैन शासन अनाधार नही है। दिगम्बर समाज के प्रमुख पडित डा० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने कहा—"आचार्यजी ! जातिवाद विषयक आपके विचार वहुत सुलझे हुए है।"

प्रत्यक्ष और परोक्ष की अनुभूतियो मे दर्शन और श्रवण का अन्तर होता है। प्रत्यक्ष दर्शन परोक्ष श्रवण से अनुमेय नही होता। साक्षात्कार से द्वन्द्व का वाव टूट जाता है और एकता की रसमयी अनुभूति होने लगती है। इसके साथ-साथ वुद्धिगत आशकाए और विकल्प भी ढह जाते है, व्यक्ति का सही चित्र सामने आ जाता है। आचार्यश्री का व्यक्तित्व विस्तीर्ण होता जा रहा था। कुछेक अपरिचित लोग आचार्यश्री को प्रचारक माने हुए थे। कई विद्वानो का भी यही अभिमत था। यह निष्कारण ही था, ऐसा नही है। आचार्यश्री की साहित्य-साधना अभी जनता के सामने पर्याप्त रूप से नही आयी थी। इसलिए हिन्दी जगत् के विख्यात साहित्यकार श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने आचार्यश्री से मिलने पर और साहित्यिक गतिविधियो को जानकर कहा—"यदि हमे यह पता होता कि आपके सघ मे साहित्य का अजस्र स्रोत वह रहा है तो हम आपके इस रूप का पर्याप्त अध्ययन करते।"

वौद्ध-दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान् भिक्षु जगदीश काश्यप आचार्यश्री से मिलने आए। वौद्ध दर्शन और बौद्ध साहित्य के विषय मे वहुत समय तक वातचीत हुई। उन्होने जैन आगमो को सिंहल, तिव्वत आदि लिपियो मे प्रकाशित करने पर वल दिया और इस कार्य के लिए अपना सहयोग भी प्रस्तुत किया। डॉ० मगलदेव शास्त्री, भगवतशरण उपाध्याय आदि अनेक विद्वान् सम्पर्क मे आए और साहित्यिक गतिविधियो से वहुत प्रभावित हुए।

वनारस के विद्वानो को मुनिश्री नथमलजी ने आचार्यश्री के निर्देशन मे चल रहे आगम सशोधन कार्य और तेरापथ की अन्यान्य साहित्यिक रचनाओ की पूरी-पूरी जानकारी दी।

विज्ञान ने व्यक्ति-व्यक्ति की दूरी मिटाई है। लोग अनाग्रह का पाठ आत्मसात करते जा रहे हैं। एक-दूसरे को सुनने और समझने की वृत्ति वढ रही है। यह मैत्री-प्रसार की पूर्व-भूमिका है। सस्कृत महाविद्यालय

मे आचार्यश्री का प्रवचन था। पडितो ने जैन-दर्शन के बारे मे जानना चाहा। पडितो के समक्ष सस्कृत भाषा मे धारा-प्रवाह बोलते हुए मुनिश्री नथमलजी ने स्याद्वाद का मर्म समझाया। आचार्यश्री ने सक्षेप मे कहा—'अनेकान्त, अनाग्रह और अध्यात्म का विचार जो है वही जैन दशन है।'

प्रश्नोत्तर से जान पडा कि लोग जैन-दर्शन को जानना चाहते है। जैनेतर विद्वानो की रुचि इस ओर बढ रही है। आचार्यश्री ने कहा—"जैनेतर विद्वानो की इस अभिनव रुचि को यदि हम प्रज्वलित रखने में असमर्थ रहे तो जैन-दर्शन का प्रसार असम्भव है। साहित्य सर्जन ही जैन-दर्शन को 'जन-दर्शन' बनाने का एकमात्र साधन है।"

रात्रि का समय था। टाउन हॉल के बहिर्विभाग मे अपार जनसमूह एकत्रित था। हमने देखा, सभी आचार्यश्री का प्रवचन सुनने को लालायित थे। आचार्यश्री ने कहा—"आज लोग कहते है कि बोलनेवाले अधिक है और सुननेवाले कम परन्तु आज की परिपद् इसकी साक्षी है कि सुननेवालो की कमी नही, सही अर्थ मे सुनानेवाले कम हैं।" लोगों ने जब यह सुना कि आचार्यश्री किसी भी पार्टी या जाति विशेप के नही हैं—सभी के है तो उन्हे अपार हर्ष हुआ और तालियो की गडगडाहट से वातावरण गूज उठा।

भगवान् महावीर की तपोभूमि 'विहार' का कण-कण हमे अतीत की मधुर स्मृतिया दिला रहा था। आचार्यश्री ने कहा—"विहार के प्रवेश-द्वार 'वक्सर' मे पैर रखते ही न जाने क्यो अभूतपूर्व आनन्द का अनुभव हो रहा है। लगता है कि हम अपने घर मे आ गए है। हम अनिकेत अवश्य हैं परन्तु भगवान् महावीर का विहरण क्षेत्र हमे अपना घर-सा लगता है।"

विद्यार्थीवर्ग देश की भावी सम्पत्ति है—यही विचार आचार्यश्री को विद्यार्थी जीवन-सुधार के लिए सतत प्रेरित करता है। विद्यार्थियो के अनियत्रित जीवन के अनेक कारण है—सयमहीन शिक्षण-पद्धति, माता-पिता की उपेक्षा, भौतिक विकास के लिए सतत चिन्तन, राजनैतिक मामलो मे सक्रिय भाग लेना आदि।

'आरा' मे जैन कॉलेज के तीन हजार विद्यार्थियो के बीच बोलते हुए आचार्यश्री ने कहा—"गुरु के समीप विद्यार्जन करते समय अपनी चित्त-वृत्ति और श्रद्धा को एकमुख रखना चाहिए। गुरु से एकात्मक होकर ही

शिष्य गुरु की कला, शैली और विभिन्न विशेषताओ को पा सकता है। गुरु के प्रति श्रद्धा को आत्मसात् किए विना उनके द्वारा दी गई शिक्षा मे विश्वास नही होता। विश्वास के अभाव मे विद्या फलवती नही होती। गुरु और उनकी कला को छोडकर जिसका मन इधर-उधर भटकता है वह अपने जीवन मे विकास नही कर सकेगा।"

विद्यार्थियो मे एक कुतूहल था। जिज्ञासाए उभर रही थी। वे आचार्यश्री के पास आए। विभिन्न विषयक प्रश्नो का क्रम चला। उन्हे विद्यार्थी वर्ग की पचसूत्री योजना सुनाई। एक एम० ए० के विद्यार्थी ने कहा—"और तो सभी नियम हमारे लिए सुयोग्य हैं किन्तु, विना टिकट रेल या वस मे यात्रा नही करना, इसे हम नही निभा सकते। इसमे हमारी वैयक्तिक दुर्वलता तो है ही परन्तु साथ-साथ सरकार भी दोषी है। एक ओर दूर-दूर से विद्यार्जन के लिए हमे आना पडता है। आने-जाने मे खर्च भी बहुत हो जाता है। दूसरी ओर सरकार प्रतिवर्ष फीस वढाती रहती है। पुस्तको का भार भी कम नही है। यो ही हम अपने कुटुम्व पर भार-से वने रहते हैं, अत इधर-उधर से कुछ निकालने की सोचते हैं।" अणुव्रत योजना उसे वहुत ही पसन्द आयी और विद्यार्थियो मे उसका भरसक प्रसार करने का वादा किया।

पटना के ह्वीलर सीनेट हॉल मे विद्यार्थियो और प्राध्यापको के वीच वोलते हुए आचार्यश्री ने कहा—"हमारे देश मे योजनाओ की वाढ-सी आ रही है। मैं गुजरात, महाराष्ट्र, पजाव, दिल्ली, उत्तरप्रदेश, विहार आदि-आदि मे खूव घूमा। सरकार के सभी विभागो के मत्री मिले परन्तु कही भी चारित्रिक विभाग को सभालने वाला मत्री नही मिला। सम्राट अशोक के शासनकाल मे एक ऐसा विभाग था, जो देश के लोगो के नैतिक विकास का ध्यान रखता था। आज उसका अभाव है। चारित्रिक योजना के विना दूसरी योजनाए निरर्थक होगी।"

विहार के गवर्नर डा० जाकिर हुसेन ने उसी सभा मे कहा—"आज मनुष्य इजीनियर, वैज्ञानिक, साहित्यकार, कवि आदि वनना चाहता है परतु क्या कोई मानव भी वनना चाहता है ? मानव वने विना अन्यान्य उपाधिया फलवती नही हो सकती। अणुव्रत आन्दोलन मानव को मानव वनाने का

उपक्रम है।"

आचायश्री हजारो विद्यार्थियो और पटना सिटी के नागरिको के साथ-साथ मुख्य सडको से होते हुए 'मारवाडी विद्यालय' की ओर जा रहे थे। रास्ते मे हजारो नर-नारी सडक के दोनो ओर खडे-खडे ही इस मनोरम दृश्य की सम्पन्नता देख रहे थे। सारा मार्ग जन-सकुल हो रहा था। कही-कही छत पर खडे-खडे अपरिचित लोगो ने फूल भी बरसाए। परन्तु विपुल जन-सकीर्णता के कारण यह जान पाना भी कठिन था कि फूल कहा से आए हैं ? हम चल रहे थे। रास्ते मे वेश्याओ के मकान भी आए। सभी लोग बद्धाजलि हो मूक अभ्यर्थना कर रहे थे। वेश्याओ ने भी उनका अनुसरण किया। वे कुछ कहना चाहती थी, परन्तु तिरस्कृत जीवन लिए चलने के कारण उनमे वह हिम्मत नही हुई।

प्रवचन के बाद भयभीत होती हुई कई वेश्याए आचार्यश्री से साक्षात् करने स्थान पर आयी। बातचीत करने पर उन्हे अपने घृणित जीवन पर घृणा हुई। पवित्र आत्मा की वाणी हृदय के मर्मस्थल को छुए बिना नही रहती। दूसरे दिन सैतीस वेश्याए पुन आयी। उन्होने अपनी समस्याए आचार्यश्री के सामने रखी। परिस्थितियो का बहाना ले उन्होने अपना पक्ष सुदृढ करना चाहा। एक घटे तक प्रश्न और समाधान चलते रहे। आचायश्री की पुनीत वाणी के आलोक मे उन्हे अपने असमाहित जीवन मे भी प्रकाश की रेखा दीख पडी। सदा अन्धकार मे पलने वाला ही प्रकाश का मूल्य समझ सकता है। उन सभी वेश्याओ ने आचार्यश्री के समक्ष अपने घृणित जीवन की अन्त्येष्टि कर देने की प्रतिज्ञा की।

रात्रि मे साहित्य गोष्ठी का आयोजन था। स्थानीय कवियो की उपस्थिति सन्तोषप्रद थी। सारा मैदान उत्सुक श्रोताओ से भर गया। सर्वप्रथम सस्कृत मे भाषण हुए। तदनन्तर कवितापाठ का सुन्दर कार्मक्रम चला। एक ओर सन्त साहित्य का अजस्र प्रवाह जन-मानस को आप्लावित कर रहा था, दूसरी ओर गृहस्थ कवियो की कविता-स्रोतस्विनी अध्यात्म और भौतिकता के किनारो से सटकर बह रही थी। लोग भित्ति-चित्रवत् अवस्थित थे। स्थानीय कवियो ने कहा—"हम अनेक कवि-गोष्ठियो मे भाग लेते है परन्तु आज की यह कवि-गोष्ठी अपने वैशिष्ट्य को लिए हुए

है। सन्तो की अध्यात्म कविताओ ने भौतिकता से अभिभूत हमारे मन मे द्वन्द्व छेडा है—देखें अब हम कहा जाकर रह सकते है।"

विहार प्रान्त जैन सस्कृति का आदि-स्रोत रहा है। परन्तु वर्तमान मे वहा के खडहर मात्र जैन सस्कृति के प्रतीक रह गए है—मूर्त सस्कृति का अभाव हमे बहुत खटका। रास्ते मे हम चलते, लोग पूछते—बाबा! कौन जिला? कहा मकान? हम उन्हे कहते—हम जैन साधु हैं। साधुओ का न जिला होता है और न मकान। उन्हे आश्चर्य होता। हमे लगा वे जैनधर्म से सर्वथा अपरिचित हैं। परन्तु हमे यह जानकर परम हर्ष हुआ कि आज भी विहार प्रान्त के लोगो मे भगवान् महावीर के प्रति श्रद्धा है, गौरव है। एक वृद्ध व्यक्ति ने कहा—"जिस प्रान्त मे भगवान् महावीर जन्मे, जिस धूलि-कणो मे भगवान् खेले, जिन वृक्षो और लताओ के समीप से उनका विहरण हुआ, जहा वे वर्द्धमान से महावीर बने—उस प्रान्त मे हमारा जन्म होने के कारण हमे अपूर्व गौरव है।" आचार्यश्री ग्रामीणो को अणुव्रत की छोटी बातें बताते। ग्रामीण अपनी व्यथा आचार्यश्री को सुनाते। एकात्मकता और सहृदयता को देख हृदय फूल उठता।

दारिद्रय से अभिभूत व्यक्ति मे धर्म-कर्म का प्रदीप बुझ जाता है। इसीलिए नीतिकार कहते हैं—दरिद्रता को मिटाने से सभी समस्याएँ हल हो जाती है। इसी आशय को परोक्ष रूप से इस श्लोक मे कहा गया है—

दग्ध खाण्डव मर्जुनेन वलिना रम्यैर्द्रुमैर्भूपित,
दग्धा वायुसुतेन हेमनगरी लका पुन स्वर्णभू।
दग्धो लोकसुखो हरेण मदन किं तेन युक्त कृत,
दारिद्रय जनतापकारकमिद केनापि दग्ध न हि॥

परन्तु लोगो मे जिज्ञासाएँ है। वे धर्म का तत्त्व समझना चाहते हैं। हम जहा भी जाते हजारो ग्रामीण इकट्ठे हो जाते। आचार्यश्री उन्हे अणुव्रतो की बातें समझाते। सैकडो व्यक्ति व्रतो को स्वीकार करते और आन्दोलन की भूरि-भूरि प्रशसा करते।

अब हम 'राजगृह' के समीप आ रहे थे। 'जैन सस्कृति समारोह' की बृहत् बैठक वहा होने जा रही थी। भारत के विभिन्न प्रान्तो के विद्वान् राजगृह आ रहे थे। हमे 'पावापुरी' जाना था। दस मील का विहार कर

हम 'पावापुरी' पहुचे। जल मन्दिर के सामने वाली श्वेताम्बर-धमशाला मे ठहरे। आहारादि से शीघ्र ही निवृत्त हो भगवान् महावीर के 'निर्वाण-स्थल' पर गए। उस पर वना हुआ मन्दिर वहुत ही मनोरम लग रहा था। परन्तु मूल स्थल पर कोई सुन्दर चीज हमे नहीलगी। वहा से हम एक मील चलकर निर्मित हो रहे 'त्रिगडे' के पास पहुचे। कहा जाता है कि वीर प्रभु ने अपनी अन्तिम देशना यही दी थी। सम्पूर्ण 'त्रिगडा' सगमरमर से वन रहा है और अव तक तीन लाख रुपये लग चुके हैं। एक-दो लाख और लगने की सम्भावना है। स्थान का चुनाव उपयुक्त लगा परन्तु 'त्रिगडे' का स्वरूप इतना जनमनहारी नही हो पाया था। वहा से हम दिगम्बर मन्दिर मे पहुचे। भगवान् महावीर की विशाल नग्न मूर्ति सजीव-सी लग रही थी। कुछ देर वहा रुक पास मे ही स्थित जल मन्दिर मे पहुँचे। यहाँ भगवान् का दाह-सस्कार हुआ था। चारो ओर से जल और शैवलिनी से परिवेष्टित सगमरमर मन्दिर अपने प्राकृतिक वैभव से मनोरम लग रहा था। पूर्वाभिमुख हो आचार्यप्रवर एक सगमरमर के पट्ट पर विराजे। एक ओर साधु-साध्वी और एक ओर श्रावक-श्राविकाओ का समूह वैठा था। आचार्य-प्रवर ने अपनी मधुर देशना दी। ओजस्वी वाणी से सारा अतीत साकार हो उठा। आचार्यश्री ने द्विशताब्दी तक अनेक आगमो का सागोपाग कार्य सुसम्पन्न करने का सकल्प किया। मुनिश्री नथमलजी ने कार्तिक पूर्णिमा तक उत्तराध्ययन सूत्र का कार्य सम्पन्न करने का दृढ निश्चय किया। श्रावक-श्राविकाओ ने भी यथाशक्य परित्याग किये। जनता का अत्याग के वातावरण से आकुल-व्याकुल मन भी त्याग की मधुरिमा से शान्त निस्पद हो गया। वहा से आचार्यप्रवर नालन्दा पधारे। नालन्दा विद्यालय के डायरेक्टर डा० सतकोडी मुकर्जी, डिप्टी डायरेक्टर डा० नथमल टाटिया, जापान के विद्वान् श्री साकुरावे आदि-आदि विद्वानो ने नालन्दा स्टेशन पर आचार्यश्री का स्वागत किया। हम वहीं एक स्कूल मे ठहरे। दूसरे दिन हम नालन्दा का वैभव, जो अव भग्नावशेषो मे झाक रहा था, देखने गए। म्युजियम मे वौद्ध सस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाले अनेक चिह्न देखे। वहा के क्यूरेक्टर श्री नागर प्रत्येक वस्तु का विवरण सरस ढग से दे रहे थे। वहा त्रैलोक्-विजय की दो मूर्तियो ने हमारा

ध्यान विशेष रूप मे आकर्षित किया। क्यूरेक्टर महोदय ने उनका विवरण देते हुए कहा—"इस प्लेट मे महात्मा बुद्ध शिव और पार्वती को अपने पैरों तले रौंदे हुए दिखाए गए हैं और दूसरी प्लेट मे महात्मा बुद्ध गणेशजी को अपने पैरो तले दबाए हुए दिखाए गए हैं।" आचार्यश्री ने कहा—"ये मूर्तिया साम्प्रदायिक अभिनिवेश की स्फुट अभिव्यक्तिया हैं। 'घर मे आग लग गई घर के चिराग से'—यह उक्ति चरितार्थ हो रही है। मत के व्यामोह ने ही तो कलह के बीज बोये थे, जिसके फलस्वरूप धार्मिक असहिष्णुता का ताण्डव नृत्य लोगो ने देखा। इसी कलह ने पारस्परिक सौहार्द के सेतुओ को विध्वस किया था। कहा जाता है कि मुसलमानो ने भारतीय सस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। परन्तु लगता है कि आपसी वैमनस्य ने भी सस्कृति को नष्ट किया है। साम्प्रदायिक अभिनिवेश वह आग है जो भीतर ही भीतर जलकर सारे ढाचे को खाक बना देता है। इसकी जलन दीखती नही। जब कटुक परिणाम सामने आते हैं तब इसका कुप्रभाव दीख पडता है। इसीलिए अणुव्रत आन्दोलन मे यह व्रत है कि—मैं सभी धर्मों के प्रति तितिक्षा के भाव रखूगा। धार्मिक असहिष्णुता से बचूगा।"

वहा से हम खडहरो को देखने गए। अतीत का वैभव साकार हो उठा। पूर्वजो का कला-कौशल और वैज्ञानिक विकास आज के इस यान्त्रिक युग मे भी हमे विस्मय मे डाल रहा था। लगभग दो घटे तक हम वहा घूमे।

हम नालन्दा नवविहार पहुचे। वहा के अधिकारियो ने आचार्यश्री से लाइब्रेरी देखने के लिए अनुरोध किया। लाइब्रेरी मे पुस्तको का अच्छा सकलन था। बौद्ध ग्रन्थो को अनेक लिपियो और सुसस्कृत सस्करणो मे देख हमे प्रसन्नता हुई। डा० गुलाबचन्द जैन ने लाइब्रेरी का पूरा-पूरा विवरण हमे बताया।

आज अभिनन्दन का युग है। वैभव और सत्ता मे पलनेवाले हजारो व्यक्तियो का प्रतिवर्ष अभिनन्दन होता है। इसमे हृदय नही होता, केवल व्यवहार का पोषण होता है। त्यागियो का अभिनन्दन यदा-कदा ही होता है परन्तु करनेवाले अपने हृदय मे उत्साह और आन्तरिक प्रेरणा का अनुभव करते हैं। इसमे उपचार नही रहता, अन्तर की अनुभूति होती है।

नालन्दा नवविहार के डायरेक्टर डॉ० सतकोडी मुकर्जी आचार्यप्रवर को अपने बीच पा हर्ष से गद्‌गद् हो रहे थे। उन्होने सुललित सस्कृत भारती मे अभिनन्दन-पत्र पढा। तदनन्तर लका के प्रिंसिपल तथा इन्स्टीट्यूट के विद्यार्थी भिक्षु ज्ञानोदय परिवेन ने स्वरचित पाली भाषा के पद्यो से आचार्यश्री का अभिनन्दन किया। जापान के प्रोफेसर श्री हाजिमे साकुरावे ने अग्रेजी मे अभिनन्दन-पत्र पढा। सत-भक्ति का प्राचीन दृश्य सजीव बन गया। आचार्यश्री ने सुललित गद्य-पद्यमय प्राकृत भाषा मे प्रवचन किया।

श्रमण सस्कृति की दो धाराओ—जैन और बौद्ध के भिक्षुओ का सगम अभूतपूर्व था। बौद्ध भिक्षुओ के चेहरे अनेक जिज्ञासाओ को लिए हुए थे, यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा था। परन्तु समयाभाव के कारण हम रुक नही सके। प्रवचनोपरात हम चीना मन्दिर मे रात्रिकालीन वास कर दूसरे दिन राजगृह के लिए चल पडे।

राजगृह का अतीत वैभव इतिहासकारो से छिपा नही है। आज भी उसके खडहर उसके प्राचीन गौरव की गाथा गाते है। राजगृह का कण-कण भगवान् महावीर की देशना से अनुप्राणित था यह स्पष्ट विदित होता है।

भगवान् महावीर की इस तीर्थभूमि मे वसी हुई नगर-सुरक्षा की विशाल दीवारें, जो लगभग तीस मील की परिधि मे है, आज भी राजगृह के ढहते वैभव के साथ दर्शको को आकृष्ट करती हैं। कला-मर्मज्ञ पर्यटको के समूह वहा आते है और चप्पे-चप्पे से निस्पद मधुर ध्वनि को सुनकर आश्चर्यचकित रह जाते हैं।

'जैन सस्कृति समारोह मे' भाग लेने दूर-दूर से विद्वान् आए हुए थे। हजार के लगभग गृहस्थ श्रावक भी 'एक पथ दो काज' की दृष्टि से उपस्थित थे। जैन सस्कृति के उन्नयन के लिए विभिन्न दृष्टिकोणो के विभिन्न भाषण हुए। बनारस से समागत डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, पडित दलसुख भाई मालवणिया, श्रीकृष्णचन्द्रजी, दिल्ली से डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री, नालन्दा से डॉ० सतकोडी मुकर्जी, डॉ० नथमल टाटिया आदि, पूना से डॉ० एन० वी० वैद्य, कलकत्ता से श्री हरिसत्य भट्टाचार्य आदि जैन-जैनेतर विद्वानो ने जैन शासन के सर्वतोमुखी विकास के लिए विभिन्न

गोष्ठियो मे विचार-विमर्श किया। आचार्यश्री ने जैन-दर्शन के एक महत्त्वपूर्ण किन्तु उपेक्षित पहलू की ओर विद्वानो का ध्यान आकृष्ट किया। आपने कहा—'सर्वसाधारण की यह मान्यता है कि जैन-दर्शन कठोर परिचर्या का परिचायक है। परन्तु मेरा यह दृढ मत है कि जैनचर्या मध्यम मार्ग है। प्रचलित मध्यम मार्गो से यह सुलभ और सर्वांगीण है। गृहस्थो के लिए जो व्रत-व्यवस्था जैन साधना मे वर्णित है वैसी अन्यत्र किसी भी दर्शन मे नही मिलती। आवश्यकता है कि विद्वान् लोग जैन-दर्शन को मध्यम मार्ग के रूप मे जनता के समक्ष उपस्थित करें।"

आचार्यश्री के निर्देशन मे चल रहे 'आगम सशोधन कार्य' की विस्तृत जानकारी विद्वानो को दी गई। डॉ० एन० वी० वैद्य ने इस कार्य मे पूर्ण रस लिया और अपनी ओर से अनेक सुझाव भी दिए।

विपुलाचल और वैभार पर्वत की उपत्यकाओ मे हम प्रतिदिन जाते ही थे। परन्तु ऊपर का प्राकृतिक दृश्य हमे ऊपर की ओर खीच रहा था। तीसरे दिन आचार्यश्री वैभार पर्वत पर पधारे। मध्यवर्ती उष्ण जलकुण्ड को देख लगभग छह-सौ सीढियो का आरोहण कर हम वैभार की अधीत्यका के रमणीय मैदान पर जा पहुचे। वहा के मन्दिर को देख 'सप्तपर्णी' गुफाओ को देखने दायी ओर की सीढियो के कुछ नीचे उतरे।

एक ओर गुफाओ का सौदर्य, एक ओर दूर-दूर तक दीखने वाली लघु-काय खेतो की कतार, वन-वृक्षो से आच्छादित पर्वत खड पूर्ण रमणीयता की अभिव्यजना कर रहे थे। परन्तु इससे भी अतीव मनोरम थी—सघ चतुष्ट्य की उपस्थिति। एक ओर विशेष शिलापट्ट पर आचार्यप्रवर आसीन थे। आसपास मे साधु-साध्वी और सम्मुख श्रावक-श्राविकाओ का समूह उपस्थित था। आचार्यश्री द्वारा प्रस्तुत गीतिकाओ से सारी वनराजी हँस उठी। थिरकती हुई स्वर-लहरियो मे महावीर-वाणी गूज उठी। अनायास ही एक रोचक कार्यक्रम बन गया। सभी ने कहा—"जो आज इस कार्यक्रम मे नही थे उन्हे एक बहुत बडे लाभ से वचित रहना पडा है।" आचार्यश्री ने कहा—"ऐसे कार्यक्रम बनाए नही बनते। सहज मे जो चीज बनती है वह सुन्दर और रमणीय होती है।" इन जैन तीर्थो मे कही भी हमने भगवान् महावीर की वाणी को उत्कीर्ण नही देखा। सारे स्थल

कृत्रिमता से भरे पडे हैं—यह हमे बहुत अखरता रहा । तदनन्तर आचार्यश्री ने एक महत्त्वपूर्ण सकल्प किया कि 'आगामी पाच वर्षो मे हमे मूल आगमो का सही सपादन करना है।'

सर्जन से पोषण कठिन है—यह हमने राजगृह के खडहरो मे देखा। सरकार उन खडहरो की सुरक्षा के लिए सचेष्ट है। परन्तु जैनो की उपेक्षा और अपेक्षा के दर्शन भी हुए।

आचार्यश्री का आगामिक चातुर्मास 'राजगृह' मे होना चाहिए, ऐसी भावना और प्रार्थना होने लगी। सघ चतुष्ट्य इस भावना का प्रेरक है—यह भी स्पष्ट प्रतीत हुआ। 'वनगगा' के निर्झर के पास आचार्यश्री बैठे थे। चातुर्मास की बात चल पडी। मुनिश्री चम्पालालजी और मुनिश्री नथमलजी ने राजगृह की उपयोगिता पर बहुत कुछ निवेदन किया। कई श्रावको ने कहा—"आपके चातुर्मास की घोषणा हो जाने पर हम यहा पूरे चार महीने सेवा करने का सकल्प करते हैं।" नव मानस मे उमग की लहर दीख रही थी।

अविस्मरणीय घटनाओ से सबलित इस यात्रा मे लगभग तीन-चार सौ यात्री साथ थे। कई पद-यात्री थे और कई यान-यात्री। बहुत सारी मोटरें उनके साथ थी। कई भाई-बहन आचार्यश्री के साथ पैदल चलते—जब थक जाते तो मोटर आदि से अगले गन्तव्य स्थान पर पहुच जाते।

भारत के विभिन्न प्रान्तो से आए हुए श्रद्धालुओ ने कष्ट-सहिष्णुता का पूरा परिचय दिया। वेदना का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही। जब कष्ट की कोई भावना मन के तारो से जुडती है तब वेदना की अनुभूति होने लगती है और जब कष्ट की भावना श्रद्धा से जुडी रहती है तब कष्ट भी सुख-सा प्रतीत होता है—यह हमने यात्रा के पग पग पर देखा। मित्र परिषद् के स्वयसेवको की सेवा भी उपेक्षणीय नही थी। स्वयसेवको मे अदम्य उत्साह था। कई पैदल चलते, कई आगे-पीछे मोटर आदि मे जाते। साधु-सेवा के साथ-साथ वे जन-सेवा भी तन-मन से कर रहे थे। यात्रियो को सुविधा देने का वे भरसक प्रयत्न करते। धूप-छाह, गर्मी-सर्दी की बिना परवाह किए कर्तव्य की दृष्टि से कार्य करते जाते थे। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'—गीता का यह वाक्य उनके कार्य की प्रगति का सूचक था।

अखिल भारतीय अणुव्रत समिति के अध्यक्ष श्री सुगनचन्द आचलिया अपने परिवार के साथ सेवा मे ही चल रहे थे। गावो मे ठहरने की व्यवस्था का सारा कार्य उनके जिम्मे था। उनकी कार्य-शक्ति अन्यान्य कार्यकर्ताओ को एक विशिष्ट प्रेरणा देनेवाली है—इसमे कोई सन्देह नही।

जैन एकता

एकता और व्यापकता अन्योन्याश्रित है। जहा एकता है वहा व्यापकता है और जहा व्यापकता है वहा एकता। जैन धर्म व्यापक है, इसीलिए वह एकता का प्रतीक है। जैन धर्म एकता का प्रेरक है, इसीलिए वह व्यापक है।

जैन दर्शन अनेकान्त की आधार-भूमि पर आश्रित है। अनेकान्त का सैद्धान्तिक पहलू सभी जैनो को स्वीकार्य रहा है परन्तु उसका नैतिक प्रयोग काल के व्यवधान से शिथिल होता गया। यही जैन जगत् का विभाजक तत्त्व बना। अनेकान्त को आचरण पक्ष मे न उतार सकने के कारण जैन-जगत् विघटित हो गया और अनेक सम्प्रदायो का समय-समय पर उद्भव होता रहा।

प्रयाग के नागरिको के द्वारा किये गए अभिनन्दन का उत्तर देते हुए आचार्यश्री तुलसी ने कहा था—"सम्प्रदाय बुरे नही होते, बुरी होती है साम्प्रदायिकता। दर्शन प्रवहमान सरिता है। सरिता का उपयोग विभिन्न बाधो पर अवलम्बित है। इसी प्रकार विभिन्न सम्प्रदाय बाध के प्रतिरूपक हैं। इनसे दर्शन की उपयोगिता बढती है, घटती नही।" फलितार्थ यह हुआ कि सम्प्रदाय बुरे नही होते, बुरी होती है साम्प्रदायिकता।

परन्तु आज की मन स्थिति कुछ और हो गई है। विभिन्न सम्प्रदाय केवल विभिन्न विचारो के प्रतीक ही नही, परन्तु साम्प्रदायिकता के परिपोषक बन गये हैं। सम्प्रदायो के विशिष्ट व्यक्ति अपने-अपने सम्प्रदायो से इतने बधे हुए हैं कि वे उससे छूट नही सकते। यही कारण है कि यदा-

कदा किए जानेवाले समन्वय के प्रयास भी निष्फल ही रहते है।

सभी सम्प्रदाय एक हो जाए, यह बहुत कठिन है। क्योकि जब तक विचारो की भिन्नता, सोचने की विविधता बनी रहती है, तब तक एक होना सम्भव नही, परन्तु एकता कोई असम्भव तथ्य नही है।

एक और एकता दो भिन्न-भिन्न अवस्थाए हैं। विचारो की विविधता मे एकता हो सकती है, परन्तु विचार एक नही हो सकते। हाथो की पाचो उगलियो मे एकता हो सकती है, परन्तु वे एक नही हो सकती। एकता होने से उनकी उपयोगिता शतगुणित हो जाती है। हमारा अभिलषणीय तथ्य है 'एकता'।

जब आचार्यश्री तुलसी बम्बई-प्रवास मे थे, तब जैन एकता के विषय मे विचार-विमर्श हुआ। आचार्यश्री ने पचसूत्री योजना जैन समाज के समक्ष रखी। वे सूत्र ये हैं

१ मण्डनात्मक नीति बरती जाए। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाए। दूसरो पर मौखिक या लिखित आक्षेप न किये जाए।

२ दूसरो के विचारो के प्रति सहिष्णुता रखी जाए।

३ दूसरे सम्प्रदाय और उनके साधु-सतो के प्रति घृणा और तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाए।

४ कोई सम्प्रदाय-परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि के रूप मे अवाछनीय व्यवहार न किया जाए।

५ धर्म के मौलिक तथ्य—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जीवन-व्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न किया जाए।

ये सूत्र साधारण भले ही लगते हो परन्तु इनमे एकता का मत्र छिपा हुआ है। विभिन्न जैन विचारको ने इन्हे अत्यन्त मौलिक और उपयोगी बताते हुए इनके प्रसरण मे सहायभूत होने का वादा किया। जहा कही भी आचार्यप्रवर गये वहा इन सूत्रो की विशद व्याख्या और अत्यन्त उपयोगिता से जनता को अवगत कराया जाता रहा है। परन्तु अभी तक इनका सुपरिणाम निकला हो यह नहीं लगता। हमे तो यह लगता है कि अभी तक जैन समाज एकता की भूमिका को भी तैयार नही कर सका है। उपयुक्त भूमिका के निर्माण के बिना 'एकता' की बात आगे नही बढ

सकती और यदि व्यावहारिकता को लिए कुछ आगे बढ़ती भी हो, तो अन्ततः कुछ परिणाम नहीं निकलता।

जब कभी एकता के लिए सम्मेलन होता है, तब लम्बी-लम्बी बातें होती हैं, परन्तु कोई भी व्यक्ति छोटी किन्तु मौलिक बातों पर ध्यान नहीं देता। 'एकता' की आधारभूमि के तीन तथ्य हैं—अवैमनस्य, विश्वास और प्रेम। ये तीनों परस्परापेक्ष हैं, एक-दूसरे के पूरक हैं।

प्रत्येक सम्प्रदाय के विचार भिन्नता और अभिन्नता को लिए चलते हैं। जो व्यक्ति इनमें अभिन्नता देखना चाहता है, उसे अभिन्नता के दर्शन हो सकते हैं और जो भिन्नता को देखता है, उसे पग-पग पर भिन्नता ही मिलती है। भिन्नता जब केवल जिज्ञासा तक ही सीमित रहती है, तब तक तो हानिकर नहीं होती, परन्तु जब वह हीनत्व और उच्चत्व की भावना में अभिव्यक्त होती है, तब वैमनस्य के बीज अंकुरित हो जाते हैं। मत्सरता से अविश्वास पनपता है और अविश्वास से अप्रेम। इस प्रकार एक ही इष्ट को माननेवालों के बीच दूरी हो जाती है और मनोमालिन्य की वह खाई सहज प्रयत्नों से पट नहीं सकती। इसीलिए प्राथमिक रूप में यह अत्यन्त आवश्यक है कि सभी सम्प्रदाय वाले परस्पर वैमनस्य का अन्त कर दें। एक-दूसरे पर छींटाकशी न करें, दूसरों की उन्नति में योग न दे सकें तो कम से कम उनकी अवनति में तो प्रेरक कभी न बनें। हमने देखा कि कई व्यक्ति जैन एकता के लिए लम्बी-चौड़ी योजनाएं रखते हैं, और परोक्ष रूप से दूसरे सम्प्रदायों को नीचा दिखाने के लिए अत्यन्त नीचे स्तर पर भी उतर जाते हैं। यह कर्म और वाणी का विरोध उन्हें नहीं अखरता। परन्तु यह सत्य है कि इस आपसी वैमनस्य और अविश्वास ने जैन दर्शन की मौलिकता, पवित्रता और सार्वभौमता को तिरोहित किया है।

जैन समाज के विघटन का दूसरा कारण यह है कि उसमें नेतृ-स्थानीय लोग कम हैं। यह अभाव कुछ अवांछनीय तत्त्वों को पैदा करता है। साधुओं का अंकुश जैन समाज पर है, परन्तु साधुओं की निश्चित सीमा है। वे उसी के अनुसार गृहस्थों को मार्ग-निर्देशन दे सकते हैं। शेष कार्य का दायित्व गृहस्थ नेता ही वहन कर सकते हैं। परन्तु गृहस्थों में अस्वार्थ-भाव से कार्य करनेवाले नेता बहुत ही कम हैं और जो हैं उनमें उदारता, सम-

वृत्ति, सहयोगियो मे विश्वास आदि-आदि गुणो का अभाव है। इस अनुदारता से मैत्री नही बढती, पक्षपात से आग्रहहीनता नही आती और अविश्वास से सहयोग की भावना नही पनपती। इन्ही अभावो के कारण वे अपने समाज का सचालन नही कर सकते। एक नेतृत्व के अभाव मे समाज सगठित नही रह सकता और सगठन के विना उसका अस्तित्व प्रभावोत्पादक नही होता। अत आवश्यक है कि सारा जैन समाज एकता के प्रेरक तत्त्वो का पालन करे और जैन एकता के लिए उपयुक्त भूमिका का निर्माण करने मे प्रयत्नशील रहे।

जैन-संस्कृति-सूचक सूक्त

भारतवर्ष अनेक सस्कृतियो का सगम-स्थल है। वैदिक, जैन और वौद्ध सस्कृतिया यहा पनपी और उन्होने जनजीवन को प्रभावित किया। काल-क्रम से तीनो का उत्कर्षापकर्ष भी अविदित नही है।

जैन सस्कृति अति प्राचीन है, यह आज के विद्वानो ने मान लिया है। अभी तक इतिहास केवल भगवान् पार्श्वनाथ या उनसे कुछ पूर्व की घटनाओं को ही छू पाया है। परन्तु प्राचीन सामग्री के आलोक मे सुदूर अतीत के तथ्यो से जैन-सस्कृति के अस्तित्व का आकलन किया जा सकता है।

जीवन का आधार दर्शन है। परन्तु जब वह दर्शन जनजीवन के प्रत्येक पहलू मे घुल-मिल जाता है, तब वह सस्कृति कहलाता है। सस्कृति का आधार जनजीवन है। सभ्यता जीवन का बाह्य आचार है और सस्कृति जीवन का आभ्यन्तरिक आधार। जब सस्कृति मन, वाणी और शरीर मे ओतप्रोत होती है, तब उसका सहज स्थायित्व बन जाता है। आज जैनियो के लौकिक विधि-विधान, सासारिक कृत्य सभी जैन-सस्कृति से दूर के तत्त्व हैं। मध्यकाल मे जब जैन-धर्म पर चारो ओर से आक्रमण होने लगा तब जैन जनजीवन कुछ क्षत-विक्षत-सा होकर अस्त-व्यस्त हो गया। धर्म को

रक्षा के लिए जैनियो ने क्षेत्र-परिवर्तन किया। क्षेत्र के परिवर्तन से रहन-सहन आदि मे परिवर्तन आया। ब्राह्मण सस्कृति के बढ़ते हुए चरण और सतत ससर्ग से जैनेतर विधि-विधानो का जैनियो मे समावेश हुआ और धीरे-धीरे वे सब विधि-विधान आत्मसात् होने लगे। उत्तरकाल मे वे परम्परागत विधिया जीवन से इतनी घुल-मिल गई कि उनका पृथक्करण असभव नही तो दु शक्य अवश्य प्रतीत हुआ। इस मिश्रण से जैन-सस्कृति को धक्का लगा, उसका प्रभाव धार्मिक विधि-विधान पर भी पडा। त्याग-प्रधान जैन-सस्कृति की लौकिक विधियो मे भोग-प्रधान तत्त्वो का समावेश हुआ। बोलचाल की भाषा मे जैनेतर सिद्धान्त आ घुसे हैं। जैन आत्म-कर्तृत्ववादी है। वे ईश्वर को कर्त्ता के रूप मे स्वीकार नही करते, परन्तु जब कुछ अनिष्ट कार्य हो जाता है, तब बोलचाल की भाषा मे यह कहा जाता है कि "राम ने बुरा किया, भगवान् की यही मर्जी थी, आदि।"

असभाव्य या अप्रत्याशित कुछ हो जाने पर यह कहा जाता है कि "भगवान् जो कुछ करते है, अच्छा ही करते हैं।"

कुशल-क्षेम पूछने पर कहा जाता है—"ईश्वर की कृपा से हम प्रसन्न हैं।"

इस प्रकार भौतिक अभिसिद्धियो के लिए देवी-देवताओ का पूजन, मृतक के पीछे श्राद्ध, गृह-शान्ति के निमित्त शान्ति-पूजन आदि क्रियाएँ जैन समाज मे जैनेतर सभ्यता के प्रभाव से पनपी हैं। इसका असर यह हुआ है कि जैन लोग अपने आचार-विचार मे जैन सस्कृति को भूल-से गए।

आज यह आवश्यकता है कि जैन समाज अपने वास्तविक स्वरूप को जाने और जैन सस्कृति और सभ्यता के उन्नयन के लिए प्रयास करे। इसका सरल उपाय यह है कि बोलचाल की भाषा मे भी यत्र-तत्र जैन सस्कृति के परिचायक तत्त्वो का समावेश किया जाय। बोल-चाल के तत्त्व समय पा साहित्य मे भी स्थान पा लेते हैं। इन तत्त्वो के पुनरावर्तन से सस्कारो की दृढता होती है और विकास का द्वार भी खुला रह सकता है।

अत गत कानपुर-चातुर्मास मे आचार्यश्री तुलसी ने इसी उद्देश्य से कहा था कि जैन सस्कृति के सूक्तो को जनसाधारण की भाषा मे प्रयुक्त होने पर तत्त्वज्ञान सहज हो सकेगा। उनमे से कुछ सूक्तो का सप्रयोग विवरण

नीचे दिया जा रहा है। आशा है, पाठक आचार्यश्री की भावना को समझ-कर आवश्यक परिवर्तन के लिए चरण बढायेंगे।

१ आप ऋजुसूत्र[1] क्यो बन रहे है ?

२ जगह कम है, यहा तो सिद्ध[2] बनने की आवश्यकता है।

३ यह तो धर्मास्तिकाय[3] है, काम लोगे तो देगा, अन्यथा नही।

४ क्या आप नही जानते, यह तो अनन्तानुबन्धी[4] है, इससे छुटकारा पाना सहज नही ?

५ वह आहार का पुतला[5] है, पर देवता नही।

६ आप सट्टे से पैसा कमा कर प्रसन्न होते है, परन्तु भूलिए मत—'पुण्य और पाप'[6] दोनो बन्धन है।

७ वह तो पृथ्वीकाय[7] है।

८ तुम गोशालक[8] क्यो बन रहे हो।

९ देखो! आगे जगल आनेवाला है, सभी को सातवें गुणस्थान[9] मे रहना है।

१० मैं तो अभी अन्तराल गति[10] मे हू।

११ यह कार्य तो अभव्य को भव्य[11] बनाने जैसा है।

१२ सोहन! अब इसे समझाना छोड दो, यह क्षपक श्रेणी[12] चढ रहा है।

१३ तुम तो नाम चाहते हो, परन्तु कोरा पुण्य नही होता[13], वह तो निर्जरा के साथ ही होता है।

१४ आप यह कार्य करने चले है, परन्तु याद रखिए देव मरकर देव नही होता[14]।

१५ आप एकल विहारी[15] बनने का प्रयास क्यो करते हैं ?

---

१ केवल वतमान को देखनेवाला। २ एकमेक हो जाना, सिकुडना। ३ निष्क्रिय। ४ जिसकी शृखला बहुत लम्बी हो। ५ अति सुन्दर। ६ आय और व्यय दोना बधन हैं। ७ निष्क्रिय। ८ कृतघ्न। ९ जागरूक। १० बीच मे लटकना। ११ असभाव्य। १२ आग्रह। १३ पहले काम, पीछे नाम। १४, असभाव्य। १५ निर्मोही।

१६ ओह ! आश्चर्य, तुम तो अनार्थी मुनि[1] बन रहे हो।
१७ तुम बुद्धदास क्यो[2] बन रहे हो ?

दीक्षा का महत्त्व

इस कालचक्र मे जैन धर्म के अन्तिम प्रवर्तक भगवान् महावीर थे। गौतम उनके प्रमुख शिष्य थे। वे गणधर कहलाए। एक बार गणधर गौतम ने भगवान् से पूछा—भगवन् ! जीवन का सार क्या है ?

भगवान्—गौतम ! जीवन का सार है—आत्म-स्वरूप की उपलब्धि।

गौतम—भगवन् ! उसकी उपलब्धि के साधन क्या है ?

भगवान्—गौतम ! अन्तर्-दर्शन, अन्तर्-ज्ञान और अन्तर्-विहार—ये तीन उसके साधन है। इनका समन्वित फल है आत्म-स्वरूप की उपलब्धि या आत्म-रमण। यही दीक्षा का अथ से इति तक का क्रम है। सद्-जिज्ञासा से प्रारम्भ होकर आत्मोपलब्धि मे पर्यवसित हो जाना ही दीक्षा का चरम ध्येय है।

भारत कृषि-प्रधान नही, ऋषि-प्रधान देश है। यहा की प्रत्येक परम्परा अध्यात्म से ओत-प्रोत है। अनादिकाल से यहा की सस्कृति अध्यात्ममूलक रही है। हीन भावना और उत्कर्ष की भावनाओ से ऊपर उठने के लिए यहा के तत्त्व-चिन्तको ने साम्य योग का उपदेश दिया। इसकी साधना का नाम ही दीक्षा है।

दीक्षा का स्वरूप

'सुख मे स्याद्, दु ख मे नश्येत्' यह प्रत्येक जीवधारी की आकाक्षा होती है। जब तक दृश्य-जगत् मे उसकी आस्था होती है तब तक वह दृश्य-जगत् मे रमण करता है और इसी मे आनन्द का अनुभव करता है। तब

---

१ स्पष्टवादी। २ ढोगी।

सुखाभास मे सुख की आस्था, नश्वर के प्रति अनश्वर भाव, अहित मे हित का सज्ञान और कर्तव्य मे अकर्तव्य की अनुभूति उसे होती है, परन्तु ज्यो-ज्यो वह उन्हें भोगता है त्यो-त्यो वह उनके कटु विपाको से परिचित हो जाता है। उसका विवेक जाग उठना है। वह बाह्य आस्था से अन्तर् आस्था की ओर, बाह्य जगत् से अन्तर् जगत् की ओर, बाह्य ज्ञान से अन्तर् ज्ञान की ओर चल पडता है। अतीत, वर्तमान और भविष्य का चिन्तन उसमे उभर आता है। वह सोचता है—'किं मे कड किच मे किच्च सेस, कि सकिणिज्ज न समायरामी'—अतीत मे मैं ने क्या किया, वर्तमान मे क्या कर रहा हू और भविष्य मे क्या करना अवशिष्ट है ? लक्ष्य-निर्धारण मे जब वह अन्तर्मुखी बनता है तब सयम और तप की साधना ही उसके साधनाग दीखते हैं।

जैन साधना-क्रम के अनुसार दीक्षा का अर्थ है—महाव्रतो का सम्यक् रूप से ग्रहण (दीक्षा तु व्रतसग्रह), हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह या आसक्ति आदि वैभाविक प्रवृत्तियो का 'मनसा वाचा कर्मणा' आजीवन प्रत्याख्यान करना दीक्षा कहा जाता है। सक्षेप मे आत्माभिमुख वृत्ति का नाम दीक्षा है।

तन्त्रशास्त्र के अनुसार जिसके द्वारा ज्ञान की वृद्धि होती है और कर्म-वासना का अन्त होता है उन सस्कार को 'दीक्षा' कहा जाता है। (दीयते विमल ज्ञान, क्षीयते कर्म वासना यथा-पा दीक्षा प्रोक्ता।)

इसका फलितार्थ है कि आर्य-सस्कृति मे इन्द्रिय-निग्रह ही सच्चा सुख माना गया है। पर उनका एकमात्र साधन है—व्रत-ग्रहण।

दीक्षा की आवश्यकता

व्यक्ति सस्कारो का पुतला है। वह अच्छा या बुरा कुछ भी नही। अच्छे निमित्त पाकर वह अच्छा बनता है और बुरे निमित्तो से बुरा।

चिर-परिचित सस्कारो के कारण व्यक्ति विषयो की ओर दौडता है। उनमे आसक्त बनता है और उन्हे ही अपने जीवन का सम्बल मानकर चलता है। भोग भोगते-भोगते वह थक जाता है, फिर भी उसे तृप्ति नही होती। तब उसके विचार मुडते है। आनन्द स्वभाव आत्मा की ओर

उसकी गति होती है। वह सोचता है, 'भोग ही जीवन का लक्ष्य नही, जीवन का लक्ष्य उससे आगे है।' जीवन के उत्तरार्ध मे भोग को छोडकर वह योग (दीक्षा) की ओर चल पडता है। प्रारम्भ मे नीरस योग उसे लुभा नही सकता, परन्तु वह योग से चिपका रहता है, तृप्ति होती है और वह आनन्दविभोर हो उठता है। इन मगल-भावनाओ से वह इस निष्कर्ष पर पहुचता है कि 'भोगो का प्रारम्भ सरस होता है, पर परिणाम कटु और योगो का प्रारम्भ नीरस होता है पर परिणाम मधुर।'

दूसरे प्रकार के व्यक्ति वे होते है जो अपने जीवन के पूर्वार्ध मे ही सत्य के अन्वेषण मे निकल पडते है। पूर्व-जन्मगत सस्कारो के प्रावल्य से उनमे सद्गुणो का उभार आता है और तब उन्हे आनन्ददायी दीखने वाले इन्द्रिय विषय कटु परिणाम वाले दीख पडते है। साथ-साथ वे अपने पारि-पार्श्विक व्यवहार को देखते है। उनका दिल रो उठता है। चारो ओर आत्म-वचना, भर्त्सना, अविश्वास, विद्रोह, दम्भ, अनीति आदि दुष्प्रवृत्तियो से जकडे हुए मानव को अमर बनाने का दम्भ भरते देख उसके हृदय मे उथल-पुथल होती है। वह सोचता है—'क्या मानव-जीवन केवल दुष्प्रवृत्तियो के लिए ही है? क्या नर से नारायण नही बना जा सकता? क्या अमरत्व की साधना कोरी कल्पना-मात्र है?' उसमे एक के बाद एक भाव उत्पन्न होते हैं और वह उनका समाधान पाने स्थितप्रज्ञता की ओर मुडता है। सतत चिन्तन मे उसमे आत्मभावना प्रबल बनती है, विवेक जाग उठता है, वह अपनी अवस्था को नही देखता। छोटा हो या बडा, मानव जीवन की नश्वरता उसे बन्धन-मुक्ति की ओर शीघ्रता से प्रेरित करती है। वह उतावला हो उठता है साधना के लिए। उसकी मगलमय भावनाओ मे हस्तक्षेप करने वाली तब कोई भी शक्ति जीवित नही रहती।

इन दोनो स्थितियो मे दीक्षा की आवश्यकता महसूस होती है। साथ-साथ वह यह भी चाहता है कि उसके दीक्षित जीवन का पूर्ण सरक्षण हो। अकेलेपन मे उसकी साधना एकान्तत निरपवाद नही रहती। यह सोच वह किसी ऐसे समूह मे जाता है जहा परम्परागत साधना का निश्चित क्रम चलता है। जब उसे उस साधना-क्रम मे पूर्ण विश्वास हो जाता है तब वह उसे स्वीकार कर लेता है। यहा यह प्रश्न कुछ भी तथ्य नही रखता कि किसी

भी समाज विशेष मे दीक्षित होने से क्या लाभ ? साधना व्यक्तिगत भी की जा सकती है ? साधना एकाकी भी की जा सकती है और समूह मे भी। जगल मे भी की जा सकती है और नरसकुल स्थानो मे भी। इसमे व्यक्ति का विवेचन विश्वास ही ज्यादा कार्यकर होता है।

दीक्षा (सन्यास) का इतिहास

श्रमण परम्परा जीवन का लोकोत्तर पक्ष है। प्रारम्भ से ही उसमे प्रव्रज्या को उचित स्थान मिलता रहा। त्याग की साधना ही इस परम्परा का उत्कर्ष रहा है। जैनाचार्यो ने यह माना कि श्रामण्य या सन्यास मुख्यत व्यक्ति के अध्यवसायो पर आधारित है—परन्तु साथ-साथ उन्होन इसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी किया और इस निष्कर्ष पर पहुचे कि सम्मोहात्मक वातावरण मे मनुष्य निर्ममत्व की पूर्ण साधना नही कर सकता। पूर्वगत सस्कारो से कदाचित् स्थिति मे ममत्व की न्यूनता हो सकती है, सग्रह का सक्षेप हो सकता है, परन्तु निमित्तानुकूल स्थितियो से दूसरे सस्कार भी विशेष पनप सकते है। इस आशका से व्यक्ति अपनी पूर्ण सरक्षता के लिए ऐसा वातावरण चुनता है जहा उसकी साधना को बल मिलता रहे। वह सन्यास ग्रहण करता है। लोग इसे 'पलायनवाद' कहकर उसका मजाक भले ही करें, परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नही है।

साधना मे व्यक्ति की प्रधानता है, परन्तु निमित्तो के अनुकूल साधना व्यक्ति का अवरोह और आरोह भी कम महत्त्वपूर्ण नही है।

सन्यास का मूल अन्त करण का वैराग्य है। वह आत्मिक विधान है। बाह्य विधान उसे जकड नही सकता। अमुक व्यक्ति विशेष मे ही यह हो या नवको हो या अमुक अवस्था या जाति मे हो या अमुक काल मे हो—ऐसा विधान इसे मान्य नही है। मानव सस्कृति के आदिकाल से यह वृत्ति मानवीय गुणो के समानान्तर रेखाओ पर चली आ रही है। आसक्ति का अस्तित्व मान्य रहा है तो वैराग्य का भी अस्तित्व मानना होगा। वैराग्य का उत्कर्ष ही सन्यास या दीक्षा है।

आर्हत प्रवचन मे श्रामण्य की पूर्ण प्रतिष्ठा रही है। अनेक चक्रवर्ती सम्राट् अपने-अपने राज्य-सुखो को तिलाजलि दे साधु बने हैं। भोग से त्याग

की महिमा मुक्त कण्ठो मे गायी गई है। त्यागियो के चरणो मे सम्राट् व धनकुवेरो के सिर झुके। इतना ही नही, देवताओ ने भी त्याग के आगे अपनी हार मानी है। इसको भले ही अर्थवाद कहकर भुला दिया जाए, परन्तु यह सत्य है।

श्रमण परम्परा का यह अभिमत रहा है कि सयम का चरम विकास मुनि जीवन मे ही सम्भव है। इसलिए मुनि महाव्रतो को स्वीकार करता है। गृहस्थ मे सयम का आशिक विकास होता है। मोह के आदर्श से वह सम्पूर्ण छूट नही सकता। उसकी अपनी सीमा होती है। मोह छूटे विना सयम का पूर्ण विकास नही होता।

अत श्रमण परम्परा सदा से श्रामण्य या सन्यास को प्रश्रय देती रही है।

वैदिक सस्कृति जीवन का व्यवहार पक्ष लेकर चलती है। उसमे सन्यास की वात विलम्ब से पनप सकी है। आज तो वह अपनी परम्परा मे सन्यास को पूर्ण महत्त्व देती है, परन्तु प्रारम्भ मे उसमे आश्रम दो ही थे—ब्रह्मचारी और गृहस्थ। सामाजिक या राष्ट्रीय जीवन के अभ्युदय के लिए उतना ही पर्याप्त माना जाता था। परन्तु निवृत्ति-प्रधान धर्म का प्रभाव धीरे-धीरे वढता गया। निवर्तक-धर्म मे वहुत प्राचीन काल से चला आ रहा साधनाक्रम था। लोगो पर उसका व्यापक प्रभाव पडा। प्रवर्तक धर्म के अनुयायी निवृत्ति की ओर आकृष्ट हुए और उन्हे उसमे अपना पूर्ण विकास दिखाई पडा। निवृत्ति का प्रचार वढा तव प्रवर्तक के अधिनेताओ ने वानप्रस्थ आश्रम की व्यवस्था की। अव दो के वदले तीन आश्रम हुए। परन्तु इतने पर भी साधक को सन्तोष नही हुआ। अन्त मे सन्यास सहित चार आश्रमो की व्यवस्था हुई। धीरे-धीरे यह क्रम भी उचित नही लगा। वैराग्य को एक निश्चित क्रम मे वाधे रखना अटपटा-सा लगा। अन्त मे परिस्थितिवश प्रवर्तक धर्म के प्रचारको ने यहा तक मान लिया कि गृहस्थ आश्रम को विना भोगे ही यदि तीव्र वैराग्य हो तो सीधे सन्यास को अपनाना न्यायसगत है। फलस्वरूप "यदहरेव विरजेत तदहरेव प्रव्रजेत्, ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्, गृहाद् वा, वनाद् वा"—आदि सूक्तियो का उद्भव हुआ। गृहत्याग का सिद्धात स्थिर हो गया। इस प्रकार

श्रमण संस्कृति के सम्पर्क से आश्रम व्यवस्था का विकास हुआ। उपनिषदो मे अनेक स्थलो पर इस तथ्य के बीज मिलते है।

भारत के प्रत्येक धर्म-प्रवर्तक ने सन्यास को उच्च माना है। भारतीयेतर धर्मों मे भी सन्यास की परम्परा रही है। परन्तु काल की सीमा मे उसको बाधे रखना आज भी बहुत लोग चाहते हैं। परन्तु यह भूल है। सन्यास किसी वेश मे नही, परन्तु आचरण मे है। आचरण व्यक्ति-सापेक्ष होता है। उस पर नियन्त्रण नही किया जा सकता। केवल दिशा-सूचन या पथ-प्रदर्शन किया जा सकता है। अन्त करण से उद्भूत वैराग्य को रोक रखना मर्त्य के सामर्थ्य से बाहर है। विरक्त व्यक्ति को प्रलोभन बाध नही सकते, पारिवारिक या सामाजिक मोह उसे जकड नही सकते, वह उन सबसे ऊपर उठ जाता है। यही सन्यास की भूमिका है। वैराग्य के विना कोरा सन्यास आडम्बर है, वचना है, आत्मघात है—

भगवान् महावीर ने कहा—तीन प्रकार के व्यक्ति होते है।

१ त्यागी २ भोगी ३ न त्यागी, न भोगी।

उन्होने इनका विस्तार करते हुए कहा—"स्वतन्त्र चेतनापूर्वक अपने उपलब्ध भोगो को ठुकराने वाला 'त्यागी' है। भोगो मे आसक्त या पराधीन होकर भोग का त्याग करने वाला त्यागी नही भोगी है। जो भोग छोडता है, आसक्ति नही छोडता, वह न भोगी है, न त्यागी। भोगी इसलिए नही कि वह भोग नही भोगता और त्यागी इसलिए नही कि वह भोग की वासना नही त्याग सका। सन्यास या दीक्षा की अवस्था पूर्ण त्याग की अवस्था है। उसमे पापाचरण का अपवाद नही रहता। 'दिया वा राओवा, एगओ वा वा परिसागओ वरा, सुत्ते वा जागरमाणे वा'—सयमी सदा जागरूक रहता है—यही सन्यास अवस्था है।

गृहवास और गृह-त्याग

गृहत्याग मोक्ष-साधना का पथ प्रशस्त करता है। परन्तु गृहत्याग से ही मुक्ति नही हो जाती। साधना का उत्कर्ष होने पर ही बन्धन से मुक्ति होती है। गृहत्याग कर देने पर भी, सन्यास ग्रहण कर लेने पर भी, जब तक भावनाओ की शुद्धि या लक्ष्य के प्रति दृढ निष्ठा नही हो जाती तब तक

काम नही बनता । इसलिए भगवान् महावीर ने कहा—"गृहत्यागी असयमी से अल्पसयमी गृहवासी श्रेष्ठ हैं।" महत्ता सयम की है, वेश या व्यक्ति की नही। सयम के उत्कर्षापकर्ष के आधार पर ही हम यह कह सकते है कि कई भिक्षुओ से गृहस्थ श्रेष्ठ है, परन्तु निष्कर्ष की भाषा मे हमे यही कहना पडता है कि पूर्ण जागरूक सयमी ही समस्त गृहस्थो से श्रेष्ठ है। दीक्षा पूर्ण जागरूक सयमी की अवस्था है। साधनाकाल मे स्खलना न हो यह काम्य है, परन्तु कदाचित् भूल हो जाने पर अस्थिर नहीं होना भी उतना ही अभिलषणीय है।

वनस्पति के विषय में

जैन महर्षियो ने वनस्पति को सजीव माना और प्रमाण पुरस्सर उसे सिद्ध किया। पहले विज्ञान ने इस तथ्य को स्वीकार नही किया, परन्तु ज्यो-ज्यो उसके चरण आगे बढे, चिन्तन और मनन हुआ, त्यो-त्यो वे मान्य तथ्य के समीप आने लगे , और एक दिन ऐसा आया कि भारत के महान् वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बसु ने अपने अनवरत परिश्रम के द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि वनस्पति मे चैतन्य है—वह सजीव है। लोगो को कुछ अटपटा लगा, परन्तु साधन इतनी प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध थे कि इस तथ्य को स्वीकार करना ही पडा।

आचाराग सूत्र मे वनस्पति की तुलना मनुष्य से की गई है। जिस प्रकार मनुष्य मे श्वासोच्छ्वास आदि की क्रियाए होती हैं, उसी प्रकार वनस्पति मे भी होती हैं। अपथ्य आहार आदि से मनुष्य रोगी बनता है, वनस्पति मे भी रोग देखे जाते है। आजकल इतने साधन विद्यमान है कि इन सारी क्रियाओ को आखो से देखा जा सकता है—ऐसी अवस्था मे उसकी चेतनता के विषय मे कोई अतिरेक ही नही रह जाता। आगम साहित्य के आधार पर वनस्पति के मूल छह भेद किए गए हैं—अग्रबीज, मूलबीज, पर्वबीज, स्कन्धबीज, बीजरुह और सम्मूर्च्छिम। ये भेद उत्पत्ति

की विभिन्नता के आधार पर किए गए हैं। उनके उत्पादक भाग को 'वीज' कहते हैं। वीज का सामान्य अर्थ धान्य-कण, अनाज माना जाता है, परन्तु यह अर्थ एकान्त सगत नही होता। कारण कि वनस्पति के अनेक प्रकार ऐसे है जिनकी उत्पत्ति का कारण भी अनाज नही है। इसलिए किसी भी उत्पादक अश को वीज कहना ही उचित है। यही इसका व्यापक अर्थ है।

कोरटक आदि वृक्षो का वीज उनका अग्रभाग होता है इसलिए वे अग्रबीज कहलाते हैं। कदली, कद आदि का मूल ही बीज होता है इसलिए वे मूलवीज कहलाते हैं। इक्षु आदि का 'पर्व' वीजरूप होता है इसलिए वे पर्ववीज कहलाते है। शल्यवती आदि का स्कन्ध ही वीज होता है इसलिए वे 'स्कन्ध बीज' कहलाते है। गेहू आदि 'वीज-रुह' कहलाते है और पद्म, तृण आदि जो केवल पानी और पृथ्वी की स्निग्धता से विना वीज पैदा होते है वे सम्मूर्च्छिम कहलाते हैं।

वनस्पति की उत्पत्ति बीज से प्रारम्भ होती है और पूर्ण विकास हो जाने पर उसका पर्यवसान भी बीज मे ही होता है। वह वीज से प्रारम्भ होकर 'वीज' मे ही लीन हो जाती है। वनस्पति के दस अवयव होते हैं—मूल, कन्द, स्कन्ध, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और वीज। मूल की अन्तिम परिणति बीज मे होती है।

वीज के दो प्रकार है—योनिभूत और अयोनिभूत। योनिभूत वीज दो प्रकार के होते हैं—सजीव और निर्जीव। अयोनिभूत बीज निर्जीव ही होते है—उनमे उत्पादक शक्ति नही होती। योनिभूत वीज जो सजीव होते हैं उनमे उत्पादक शक्ति होती है और जो निर्जीव होते है वे 'विद्धयोनिक' कहलाते है—उनकी उत्पादक शक्ति काल के व्यवधान से या अन्य कारणो से नष्ट हो जाती है। उनका प्ररोहण नही होता। बीज अवीज हो जाता है।

भगवती सूत्र ६/७ मे इस विषय पर विशेष विचार किया गया है। कौन-कौन धान्य कब विध्वस्त योनिवाले हो जाते है इसका स्पष्ट उल्लेख है—यव, ज्वार आदि की तीन वर्ष के व्यवधान से योनि नष्ट हो जाती है। मसूर, मूग, तिल, उडद, चावल आदि का पाँच वर्ष मे और अलसी, सरसो, सन आदि का सात वर्ष मे उत्पादक अश वीज नष्ट हो जाता है। वे प्ररोहण

योग्य नही रहते। इसी प्रकार अन्य धान्यो के लिए भी भिन्न-भिन्न काल-मर्यादा है।

शिष्य ने आचार्य से पूछा—'भगवन्! जो बीज जीव था उसके व्युत्कान्त होने पर क्या अन्य जीव वहा उत्पन्न होता है या वही बीज-जीव पुन वहा उत्पन्न होता है?'

आचार्य ने कहा—'वही बीज जीव पुन वही उत्पन्न हो सकता है और अन्य जीव भी उसमे उत्पन्न हो सकता है।

जैन-दर्शन की यह मान्यता है कि बीज-जीव या अन्य जीव, जो वहा उत्पन्न होता है, बीज मूल मे उत्पन्न होकर उसकी प्रथम अवस्था (किसलय से पहले की अवस्था) का प्रमुख कारण बनता है। तदनन्तर होनेवाली किसलय-अवस्था से दूसरे अनन्त जीव निर्वर्तित करते है। पुन उन अनन्त जीवो की स्थिति क्षय हो जाने पर बीज-जीव ही उन अनन्त जीवो के शरीर का अवगाहन कर प्रथम पत्र की उत्पत्ति तक वढता रहता है।

वनस्पति के जीव सूक्ष्म और बादर दोनो होते हैं। सूक्ष्म जीव सारे लोक मे व्याप्त है और बादर लोक के एक भाग मे। प्रत्येक शरीर वाले और साधारण शरीर वाले—ये दो भेद भी वनस्पति के ही होते है। अन्य जीवो के ये भेद नही होते। जहा एक शरीर मे एक ही जीव अवगाहन करता है उसे प्रत्येक शरीरी कहते हैं और जहा एक ही शरीर मे अनन्त जीव रहते हैं उसे साधारण शरीरी कहते है। इस प्रकार का तथ्यपूर्ण सकेत अन्य दर्शनो मे नही मिलता। इस तथ्य से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा मे सकोच-विकोच की शक्ति अपरिमित है। छोटा या बडा जितना शरीर होता है उतने मे ही समा जाती है।

क्यो का समाधान

उपदेश क्यो ?

साधारणतया यह कहा जाता है कि उपदेश—

१ राष्ट्र-निर्माण के लिए करते हैं।

२ जनजीवन को उठाने के लिए करते हैं।

३ नैतिक पुनरुत्थान के लिए करते है।

४ सत्य और अहिंसा के मूल्यो की सस्थापना के लिए करते हैं।

५ वैर मिटाने के लिए करते हैं।

६ मैत्री बढाने के लिए करते है।

७ अन्न, पान, वस्त्र, स्थान आदि की प्राप्ति के लिए करते है।

यह ठीक है, परन्तु उपदेश के ये कारण गौण है। मुख्य कारण है—'अत्तहियट्ठ'—आत्महित। भगवान् महावीर ने कहा—अन्न के लिए धर्म मत कहो, वस्त्र के लिए धर्म मत कहो, स्थान के लिए धर्म मत कहो, शैया के लिए धर्म मत कहो, इसी प्रकार अन्यान्य काम-भोगो की प्राप्ति के लिए धर्म मत कहो, परन्तु एकमात्र अपने आत्महित के लिए धर्म कहो। कर्म-निर्जरा के लिए धर्म कहो। यही लक्ष्य तुम्हे आगे बढायेगा। आत्महित का मुख्य फल आत्म-साक्षात्कार है और गौण फल परहित।

विनय क्यो ?

विनय के पाच प्रकार हैं—

१ लोकोपचार विनय।

२ अर्थ-निमित्त विनय।

३ काम-निमित्त विनय।

४ भय-निमित्त विनय।

५ मोक्ष-निमित्त विनय।

साधारणतया विनय—

१ ऐहिक सप्राप्ति के लिए किया जाता है।

२ पारलौकिक स्वर्गिक आभा के लिए किया जाता है।

३ कीर्ति या श्लाघा के लिए किया जाता है।

भगवान् ने कहा—

१ ऐहिक सम्प्राप्ति के लिए विनय मत करो।

२ पारलौकिक सम्पदा के लिए विनय मत करो।

३ कीर्ति या श्लाघा के लिए विनय मत करो।

केवल—

१ आत्महित के लिए विनय करो।

२ कर्म-निर्जरण के लिए विनय करो।

३ स्वगुणोपबृंहण के लिए विनय करो।

यह मूल साध्य है, अन्यान्य हित तो 'धान के साथ भूसे की तरह' स्वयं उपलब्ध होंगे।

शिक्षा क्यों ?

१. लोग केवल ज्ञानार्जन के लिए पढ़ते हैं।

२ लोग दूसरों पर रोब जमाने के लिए पढ़ते हैं।

३ लोग दूसरों पर अनुशासन करने के लिए पढ़ते हैं।

४ लोग केवल अहमन्यता के लिए पढ़ते हैं।

भगवान् ने कहा—'ज्ञानाजीर्णं अहकृति'—अहकृति ज्ञान का अजीर्ण है

१ अहमन्यता के लिए मत पढ़ो।

२ दूसरों पर अनुशासन करने के लिए मत पढ़ो।

३ केवल पाण्डित्य के लिए मत पढ़ो।

किन्तु—

१ ज्ञान और क्रिया में सामजस्य बढ़ाने के लिए पढ़ो।

२ नानाविध सकल्प-विकल्पों से दूर—बहुत दूर एकचित्त होने के लिए पढ़ो।

३ आत्म-लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पढो।
४ दूसरो को आत्माभिमुख बनाने के लिए पढो।

तपस्या क्यो ?

अभ्युदयवादियो ने कहा—
१ भौतिक अभ्युदय के लिए तपस्या करो।
२ दैविक सम्पदा की सप्राप्ति के लिए तपस्या करो।
३ स्वकीर्ति के प्रसार के लिए तपस्या करो।
४ श्व-श्लाघा सात समुद्रो पार पहुचे इसलिए तपस्या करो।
आत्मवादी भगवान् ने कहा—
१ ऐहिक सुख-समृद्धि के लिए तपस्या मत करो।
२ पारलौकिक सम्पदा के लिए तपस्या मत करो।
३ कीर्ति और श्लाघा के लिए तपस्या मत करो।
४ दिखावे के लिए तपस्या मत करो।
केवल—
१ कर्म-निर्जरा के लिए तपस्या करो।
२ आत्म-विशुद्धि के लिए तपस्या करो।
३ बन्धन-मुक्ति के लिए तपस्या करो।

अमेय मेधा के धनी—संत भिक्षु

और तब दो मुनि उनके पास आए और विनयावनत हो कहने लगे—"देव ! आप इस चिलचिलाती धूप मे नदी की नीरवता मे अकेले बैठे क्या कर रहे हैं ? भीषण गर्मी है। सूर्य के प्रखर तेज से सारी पृथ्वी भोभर-सी हो गई है। नदी का पानी सूख गया है। पशु-पक्षी व्याकुल हो रहे हैं। मानव भी अपनी अन्तश्चेतना को खोये जा रहा है। आपके इस छोटे-से आयतन

मे हमे चैतन्य की लौ प्रज्वलित दीख रही है। हमे लगता है वह लौ अपनी अटूट शक्ति से हज़ारो-लाखो-करोडो प्रदीपो को प्रज्वलित कर सकती है। उनमे अनन्त शक्ति है। आप यहा अकेले बैठे क्या खोज रहे है ? उठिए और इस मानवमेदिनी को सही धर्म मे स्थापित करिए।" वे दो मुनि थे—स्थिरपाल और फतेहचन्द और उनके आराध्य थे सत भिक्षु।

यह लगभग दो सौ वर्ष पुरानी वात है। अठारहवी शताब्दी का पूर्वार्ध वीत चुका था। कई धर्म-विमूढ स्थिति-पालक व्यक्तियो ने धर्म को परम्परा की महीन किन्तु सघन चादर से ढक लिया था। सही सिद्धान्तो का अवतरण 'निहित गुहायाम्' को चरितार्थ कर रहा था। मनुष्य के जीवन पर धर्म-गुरुओ का प्रभाव था, इसलिए धर्म के नाम पर उन्हे गुमराह किया जा रहा था। ऐसे समय मे सत भीखनजी ने प्रकाश की खोज मे निकले स्थितिपालक व्यक्तियो को चुनौती दी और भगवान् महावीर के विखरे तथ्यो को समेटकर अखण्ड, अविच्छिन्न इकाई मे बदल दिया। धर्म की विच्छिन्न धारा पुन गतिमान हुई और देखते-देखते वह शतश दूसरी धारा को अपने मे समाहित करती हुई अजस्र प्रवहमान स्रोतस्विनी वन गई।

सत भीखनजी प्रतिभा के धनी थे। आज का भविष्य और वर्तमान कल का अतीत वनकर रह जाता है। उन्होने अतीत को उज्ज्वल रखा, वर्तमान मे उसी पवित्रता को लिए चले और भविष्य मे उसी पवित्रता को वनाए रखने के लिए सत्सकल्प किया। उनकी मेधा मे नवनवोन्मेप होते थे। उस प्रज्ञ-चक्षु मनस्वी के कुछेक मेधा-सूत्र यहा दिए जाते हैं

सत्य अनन्त होता है। वह शब्दो के ताने-वाने मे पूरा नही वध सकता। क्योकि शब्द परिमित है। सत्य का शोधक आग्रही नही होता। वह जानता है—मर्त्य अपने सर्वाधिक जीवन मे सत्याश को ही पकड सकता है। जो पूर्ण सत्य को पा जाने का आग्रह करता है वह या तो वीतराग है या दभी। आचार्य भिक्षु ने कभी यह आग्रह नही किया कि वे जो कुछ कहते हैं वही सत्य है। उन्होने जो व्याख्याए दी, उनके अन्त मे उन्होने लिखा—"मुझे यह सही लगता है इसलिए मैं ऐसा कहता हू। यदि किसी आचार्य या वहुश्रुत मुनि को यह सही न लगे तो वे इसमे परिवर्तन कर दें।" कितनी निरीहता और अनाग्रह वुद्धि थी अपने प्राप्त सत्यो के प्रति भी।

विवाद का अन्त भी नीरस होता है। विवाद का धागा टूटे बिना नही रहता। वही सच्चा सन्धाता है जो विवादग्रस्त दो हृदयो को अपनी अद्वैत-निर्णायकता से साध सके।

दो साधु विवाद को लेकर आए। वह कहता है—"यह रस-लोलुप है।" दूसरा कहता—"नही, मैं रस-गृद्ध नही हू, यह है।" दोनो अपने-अपने विचार के समर्थन मे पर्याप्त दलीलें दे रहे थे। यह विवाद कैसे मिटे ? आचार्य भिक्षु ने कहा—"तुम दोनों मुझसे स्वीकृति लिए बिना 'विगय' खाने का त्याग करो। जो मुझसे पहले स्वीकृति लेगा वह कच्चा और दूसरा पक्का।" विवाद उपशान्त हुआ। चार महीनो तक उन्होने 'विगय' नही खायी। चातुर्मास के बाद एक ने 'विगय' खाने की आज्ञा मागी। दूसरे का दिल 'विजय' के सात्विक गर्व से फूल गया। विवाद का अन्त हो गया।

सत्यान्वेषी परिस्थिति से समझौता नही करता। आचारवान् कभी शिथिलता से समझौता नही करता। सन्त भिक्षु आचारवान् थे। कुछ व्यक्तियो ने कहा—"भीखनजी हमे साधु या श्रावक नही मानते।" आपने इस तथ्य को युक्ति की रेखाओ पर खड़ा करके कहा—अमावस की काली रात थी। कोयलो की राख काले बर्तन मे पकाई गई। जीमने के लिए अन्धे व्यक्ति आए और परोसनेवाले भी अन्धे ही थे। वे खाते जाते और कहते जाते कि—खबरदार! कोई काला 'कोखा' आए तो टाल देना। भला क्या टाले, सारा काला ही काला था।

श्रद्धा का अनुबन्ध सस्कारगत होता है। उसकी अभिव्यक्ति प्रत्येक क्रिया के आदि, अन्त और मध्य मे होती रहती है। एक दिन कुछ दिगम्बर जैन आचार्य भिक्षु के पास आए और कहा—"आप कठोर आचार का पालन करते हैं। आपकी साधना मे प्रखर तेज है। परन्तु यदि आप वस्त्र न पहनें तो इसमे और अधिक प्रखरता आ सकती है और आप अधिक चमक सकते हैं।"

आचार्य भिक्षु ने कहा—"तुम्हारी भावना का मैं स्वागत करता हू। मुझे श्वेताम्बर आगमो मे विश्वास है। उन्हीं के आधार पर मैंने घर छोडा है और उन्ही की मर्यादा में मुनि जीवन के रथ को खीचे जा रहा हू। यदि मुझे दिगम्बर आगमो मे विश्वास हो जाय और नग्नत्व ही साधना का

एकमात्र सूत्र है—ऐसा प्रतीत हो जाए तो मैं वस्त्रो को फेंक दू—नग्न हो जाऊ।"

आचार्य भिक्षु 'ठिअप्पा स्थिताला' थे। 'समो निन्दा पससासु'—यह उनका जीवन-दर्शन था। एक व्यक्ति ने कहा—"स्वामीजी! इधर आप व्याख्यान देते जा रहे है, उधर ये सामने बैठे हुए कुछ लोग आपकी निन्दा कर रहे है।" आपने कहा—"यह आदत की लाचारी है। झालर बजने पर कुत्ता भौंकता है—वह यह नही समझता कि यह विवाह के अवसर पर बज रही है या किसी के मर जाने पर। निन्दा करनेवाला यह नही देखता कि यह ज्ञान की बात कही जा रही है या कुछ और। उसका स्वभाव निन्दा करना है और वह उसका निर्वाह करता है।"

ये रेखाचित्र स्वामीजी की मेधा के कुछ प्रतिबिम्ब मात्र से है। समुद्र की गहराई मापी जा सकती है, परन्तु उसकी सर्जकता नही मापी जा सकती। व्यक्ति की मेधा का माप हो सकता है, परन्तु उसकी उर्वरता और गहराई कभी नही मापी जा सकती। सन्त भिक्षु ने मेधा को अपने छोटे-से आयतन मे समेटे हुए जो कुछ दिया, वह अमेय है।

सुधरी की ओर

प्रत्येक व्यक्ति अपने लक्ष्य को लेकर आगे बढता है। लक्ष्य-विहीन व्यक्ति की गन्तव्य-प्राप्ति की बात अवास्तविक होती है। साधक पहले अपने लक्ष्य को निर्धारित करता है और तदनन्तर उस ओर आगे बढता है। साधना की तरतमता से अल्प या दीर्घ काल मे, वह अपने गन्तव्य को पा ही लेता है।

सन्त भिक्षु आत्म-साक्षात्कार का लक्ष्य लेकर चले। जैन भागवती दीक्षा ग्रहण कर साधना के 'अग्र' मे वैराग्य को अकुरित किया। ज्ञाना-राधना की पिपासा से उनमे आगम ज्ञान की स्रोतस्विनी बह चली। बद्धमूल विचारो की जब यथार्थता से टक्कर हुई तब उनमे नए उन्मेष आए। अति सूक्ष्मता से उन्होने अध्ययन किया। ज्यो-ज्यो अध्ययन आगे बढा त्यो-

त्यो विषय और भावो की स्पष्टता बढती गई। उस स्पष्टता के आलोक मे सत्य निखर आया। सत्य के प्रथम दर्शन से उल्लास की रेखाए तरगित हो उठी। अपने स्नेहास्पद गुरुवर्य को वह बात कही। विचार-विमर्श हुआ। गुरु ने समय के साथ सिद्धान्तो के समझौते की बात कही। उन्होने कहा—"दु षम काल है, आगमोक्त विधि-विधानो के अनुसार वर्ता नही जा सकता।" आचार्य भिक्षु का साधक हृदय काँप उठा। आत्म-साधना मे काल का व्यवधान उन्हे अखरा। साधना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि सापेक्ष अवश्य है, परन्तु साधना की अखण्डता को नही तोडा जा सकता। उसकी पवित्रता को आखो से ओझल नही किया जा सकता। हा, यह अवश्य है कि उसकी मात्रा मे अल्पता या अधिकता, तीव्रता या मन्थरता आ सकती है। परन्तु उसकी विशदता मे ये विभाग नही किए जा सकते। इसी चिन्तन ने उन्हे अपने आचार्य से पुन निवेदन करने को प्रेरित किया। स्नेहार्द्र गुरु का उन्हे अपार प्रेम और विश्वास मिला था। परन्तु सत्य विचारो के आलोक मे उनका रूप उन्हे मोहपूर्ण लगा। अपने गुरु को वे अपने विचारो की प्रामाणिकता से सम्पूर्ण अवगत कराना चाहते थे। सन्त भिक्षु को आचार और विचार दोनो मे खामी का अनुभव हो रहा था। श्रावको मे भी मुनियो के आचार के प्रति रोष था। श्रावको को समझाने भिक्षु राजनगर गए। समझाने की प्रक्रिया मे वे स्वय समझ गए। बुद्धि-वैभव से अकल्पनीय को कल्पनीय स्थापित कर देने पर उन्हे अनुताप हुआ और इस अनुताप ने उनके सही ज्ञान का द्वार खोल दिया। उन्होने यह निश्चय किया कि अपने श्रद्धेय गुरु को वे सही स्थिति से अवगत करायेगे और अपने विचारो की प्रामाणिकता का आगम वाक्यो से समर्थन करेगे। परन्तु सोचा कुछ और हुआ कुछ और ही। सहगामी सन्तो के द्वारा बात न पचा सकने के कारण तथा उसको असमय मे एक मुनि द्वारा प्रकाशित कर देने के कारण गुरु की भावना उलझ गई। सन्त भिक्षु के प्रति जो विश्वास था वह कुछ स्थान-च्युत हुआ। स्वामीजी ने मधुरता से सारी बात रखी। परन्तु द्वन्द्व नही मिटा। वे अपने गुरु से पृथक् हो गए।

साधुओ के आचार-शैथिल्य, वैचारिक दासता और अनुशासनहीनता की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप तेरापथ का जन्म हुआ।

तेरापथ की यह आदि-कथा है। आचार्य भिक्षु मे आत्म-साधना की भावना प्रज्वलित थी। 'दिआवा, राओ वा सुत्ते वा जागर माणे वा, एगओ वा परिसागओवा'—दिन मे या रात मे, सोते हुए या जागते हुए, अकेले मे या परिषद मे साधक को सदैव जागरूक रहना चाहिए। यह उनकी साधना का मूलमन्त्र था। इसके अप्रतिबद्ध प्रकाश मे उन्हे सही मार्ग मिला, उसका विकास हुआ और आज तेरापथ सघ विश्व की धर्म सस्थाओ मे शीर्ष-स्थानीय है।

आचार की विशुद्धता और विचारो की मौलिकता मे प्रतिफलित इसकी तीन विशेषताएँ भी किसी सगठन को आकृष्ट किए बिना नही रहती

(१) एक आचार्य, (२) एक समाचारी, (३) एक विचार।

ये तीनो परस्पर सश्लिष्ट हैं। एक आचार्य की परम्परा से—विचारैक्य और आचार की समानता मे बल मिलता है। इन तीनो की अखण्डता मे सगठन की अखण्डता और पवित्रता बनी रहती है। सगठन की इस भित्ति ने तेरापथ की उदयोन्मुखता मे अपूर्व कार्य किया है।

आज तेरापथ का विशाल शतशाखी वटवृक्ष सहस्रो के आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। तेरापथ की प्रत्येक गतिविधि को जैन जगत् ही नही बल्कि सारे समाज एक आशान्वित दृष्टि से देख रहे है। कुशल आचार्य के नेतृत्व मे चल रहे तेरापथ के कार्यक्रमो मे समय-समय पर जो नए उन्मेष आते हैं वे वस्तुत विकासोन्मुख भविष्य की ओर सकेत करते है। जिसका अतीत उज्ज्वल और पवित्र रहा है, जिसका वर्तमान उदयोन्मुख और सदा जागरूक है और जिसका भविष्य सत्चिन्तन और उसकी क्रियान्विति मे आशान्वित है, वह सघ सदा विशद और प्रसरणशील रह सकता है। तेरापथ सगठन इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण है।

आज तेरापथ इतिहास की नीव दो सौ वर्ष पुरानी हो चुकी है, एक दिन उसके जन्म का था। आज वह अतीत बन गया है और इसी प्रकार अनन्त भविष्य भी वर्तमान की भूमिका म गुजरता हुआ अतीत की अनन्त गहराई मे विलीन हो जाएगा। जो सघ अतीत के गौरव मे वर्तमान को सजोता हुआ चलता है, वह भविष्य की मधुर गोद म सदा इठलाता रह, इसमे कोई अतिशयोक्ति नही होती, इस पुनीत सगठन की गतिविधिया

से विश्व को अवगत कराने के लिए तेरापथ सघ ने 'तेरापथ-द्विशताब्दी-समारोह' का आयोजन किया है। यह आषाढ शुक्ला पूर्णिमा को होने जा रहा है, परन्तु इससे पूर्व चैत्र शुक्ला नवमी को भी विस्मृत नही किया जा सकता। इस दिन एक लौ जली थी, एक बीज का वपन हुआ था, एक प्रकाश की किरण निकली थी, वही लौ आज असख्य प्रदेशो को प्रकाशित कर रही है, वही बीज आज असख्य बीजो का उत्पादन कर रहा है, वही प्रकाश की किरण आज प्रकाश-पुज बनकर जैन-जगत् को प्रतिभाषित कर रही है। इस ऐतिहासिक तिथि को आचार्य भिक्षु का सत्य की खोज मे अभिनिष्क्रमण हुआ था। इस ऐतिहासिक तिथि को ही एक पवित्र और सुव्यवस्थित सगठन का बीजारोपण हुआ था। इस ऐतिहासिक तिथि मे ही मरुधर भूमि ने शस्य श्यामला होने का सुनहला स्वप्न देखा था। आज हमे इस तिथि के आलोक मे उसी महाभिनिष्क्रमण के आयोजन के अवसर पर एक क्रान्तिकारी आचार्य के शुभ आगमन का चित्र देखना है और समझना है उनके तप पूत जीवन के आलोक मे पूर्ववत् आचार्य के विचार और आचार की विशदता।

'चलो सुधरी' के नारो से जब सारा वायुमडल गूज उठेगा तब निष्क्रमण और शुभागमन का पवित्र चित्र साकार हो जाए इसमे आश्चर्य ही क्या ?

चैत्र शुक्ला नवमी

बने हुए मार्ग पर चलने वाले बहुत हैं, परन्तु जो नया मार्ग बनाए वह पथ-स्रष्टा है। बहती हुई नदी की धार मे बहने वाले बहुत है, परन्तु जो धार को मोड सके वह भगीरथ है। प्रकाश की स्फुट किरणो मे देखनेवाले बहुत हैं, परन्तु जो घोर अन्धकार मे भी देख सके वह दिव्य-चक्षु है। ये सभी बातें एक ऋषि मे सम्भव है, इसीलिए प्राचीन ग्रन्थो मे ऋषि को 'पथिकृत ऋषि'—ऋषि दर्शनात् कहा है, जो नए मार्ग का निर्माण करता है,

जिसकी आखो मे अन्तर् को देखने की शक्ति है, जहा दूसरो को अधेरा जान पडे, वहा भी देख सके, वही ऋषि है।

आचार्य सन्त भिक्षु ऋषि थे। वे स्थितियो के प्रभाव मे वहे नही, प्रतिकूल को अनुकूल कर डाला। उस आचार-शैथिल्य के युग मे वे एक प्रकाशपुज बनकर आए और मानस की सुषुप्त चेतना को जगाया। जो व्यक्ति अन्ध-परम्पराओ से जकडा पडा है, उसे अपने हाथ से उठाया और साधना की ऐसी रेखाए खीच दी जिन पर हरेक साधक निर्भयता से चल सके।

उनके सफल जीवन का मन्त्र था विचारो की क्रियात्मक परिणति। वे कहते—'उपदेशेन वर्तामि नानुशास्मीह कचन'—मैं किसी को कुछ नही कहता, जो कहना होता है उसे अपने जीवन मे कर देता हू।

विक्रम की उस अठारहवी शताब्दी मे स्थितिपालकता चरमसीमा पर पहुच चुकी थी। व्यक्ति के आत्म-चैतन्य का उत्स सूख गया था। क्रियात्मक शक्ति आपसी सघर्षो से क्षत-विक्षत हो चली थी। धर्मपरायण व्यक्ति का स्नायुमडल अवसन्न हो गया था। उस समय आचार्य भिक्षु ने देखा, उनका हृदय काप उठा। सुपुप्त आत्म-चैतन्य जाग उठा और वैचारिक दासता के वन्धन को तोड फेंकने का दृढ सकल्प किया। परिस्थिति के सामने वे कभी नही झुके। एक ओर अपने गुरु का स्नेह और दूसरी ओर सत्य के प्रति श्रद्धा। दोनो तटो के बीच वे कई वर्षो तक वहते रहे। श्रद्धा और स्नेह के सकीर्ण पथ मे विचारो के उतार-चढाव पर वे सहमे, कही फिसले, कही सम्हले। परन्तु जब इन्होने यह देखा कि स्नेह का पलडा भारी होता जा रहा है और न मालूम कब वह सत्य के श्रद्धान्न को आवृत्त कर ले, तब मन मे एक उथल-पुथल मची।

उनके सामने विचार-भेद था ही और आचार पालन का प्रश्न भी ज्वलन्त था। आचार-पालन मे शिथिलता बरती जाती थी, वह आचार्य भिक्षु के लिए सह्य नही हुई। उस समय के साधु जो करते उसे सिद्धान्त-सम्मत समझकर करते, तब स्थिति दूसरी होती, परन्तु यह स्थिति उनसे विपरीत थी। वे कहते—इस कलियुग मे वैसा किया नही जा सकता। जीवन मे यह अकर्मण्यता आचार्य भिक्षु को अखरी। मन की सवेदना

साकार हो उठी। चिन्तन की विशदता ने मार्गदर्शन दिया। अब चिन्तन की स्पष्टता और अधिक उज्ज्वल हो गई और उनके स्फटिकोज्ज्वल मानस-पटल पर सत्य की रेखाए अकित हो गई।

उन्होने सोचा—

(१) हम आत्मसाधना के पवित्र मन्त्र को लेकर साधना-पथ पर बढ रहे हैं, स्वार्थ या मोहवश नही।

(२) जैन-दर्शन के आलोक मे ही हमने जीवन-दर्शन पाया है, और उसी के आलोक मे पथ-दर्शन करते हुए लक्ष्य को पाना है।

(३) वही क्रिया सत्-क्रिया है, जो बाह्य को अन्तर् से जोडे, जो साधक को अन्तर् दर्शन कराए।

(४) साधु और साधुता मे व्यवधान न हो, कहनी और करनी मे व्यवधान न हो। आत्मा की उपलब्धि मे व्यवधान कैसा ?

(५) हम शारीरिक, मानसिक या वाचिक क्लेशो से घबराकर उनके सामने घुटने न टेकें, इस जागरुकता मे सतत् चलते रहें।

(६) हम परिस्थिति के साथ समझौता न करें और न आत्मा, सघ और व्यवस्था को धोखा ही दें।

इस चिन्तन के आलोक मे वे आगे बढे। सघ से सम्बन्ध विच्छेद कर दिया। चैत्र शुक्ला नवमी का दिन था। शहर मे इन्हे स्थान न देने का फेरा फिरा दिया गया था। वे साधक थे और आगे बढे। उन्होने सोचा—साधक निर्द्वन्द्व होता है—उसकी साधना निर्द्वन्द्व होनी चाहिए, विचार निर्द्वन्द्व होने चाहिए, स्थान निद्वन्द्व होना चाहिए—ये साधना के उपकरण हैं। शहर की गलियो से होते हुए, लोगो के मौन प्रेम और व्यक्त-तिरस्कार को लेते हुए आगे बढे, और शहर के बाहर आ गए। निद्वन्द्वता साकार हो उठी—वे आगे बढना चाहते थे। आँधी ने उनको रोका। जैन मुनि प्रचण्ड आधी मे विहार नही कर सकते। वे रुके और मृतक की स्मृति मे बने हुए 'जैतसिहजी की छतरियो' पर पहुचे। वह प्रथम विराम बन गया। उस वीरान विरामस्थल मे भी जो आत्मानन्द हुआ, वह महलो और प्रासादो मे रहनेवालो को भी दुलभ है। उस स्मारक से जो घोष उन्होने दिया वह आज भी अनन्त आकाश के प्रत्येक अणु मे स्पन्दित है। जो विचार उन्होने

दिए वे आज भी बौद्धिक जगत् के लिए प्रकाश-स्तम्भ है। धर्म और कर्तव्य दया और दान का जो विवेक वे दे गए, वह आज भी धर्म-रूढ व्यक्तियो को समय-समय पर ललकार रहा है।

अमेय मेधा के धनी महामहिम श्री भिक्षु के इस महाभिनिष्क्रमण से 'बगडी' सुधरी हो गई और आज दो सौ वर्ष बाद तेरापथ समाज को इस तिथि की गौरव-गाथा गाने का अवसर मिला है। यह तिथि तेरापथ इतिहास मे स्वर्ण रेखाओ से अकित होगी, इसमे कोई सन्देह नही।

आचार्यप्रवर ने चैत्र शुक्ला नवमी को सुधरी पधारने की घोषणा कर इस महाभिनिष्क्रमण के आयोजन को विशेषता प्रदान की है। यह आयोजन विराट द्विशताब्दी समारोह की पृष्ठभूमि होगा, इसे कोई न भूले। इस अवसर पर अत्यन्त सन्निकट द्विशताब्दी समारोह के कार्यक्रमो की स्फुट झाकी प्रस्तुत की जा सकेगी, ऐसी सम्भावना है।

राजनगर-केलवा एक परिचय

राजनगर बोधिस्थल है

दो सौ वर्ष पुरानी बात है। वि० स० १८१४ या १८१५ मे आचार्य भिक्षु का चातुर्मास राजसमन्द (राजनगर) मे हुआ। यहा के श्रावक तत्त्वज्ञ थे। उन्हे साधुओ की कथनी और करनी मे अन्तर प्रतीत हुआ। उन्होने वन्दना-व्यवहार छोड दिया। आचार्य रुघनाथजी ने सन्त भिक्षु को श्रावको को समझाने के लिए भेजा। सन्त भिक्षु आए। समूचे सघ का विश्वास उन्हे प्राप्त था। श्रावको ने उन्हे सुना। उनके बुद्धि-कौशल से समझ गए। वन्दना व्यवहार पूर्ववत् चालू रहा।

उसी कार्य-सिद्धि मे तोष होता है जहा वह अन्तरात्मा से जुडी होती है। यह कार्य बुद्धि-कौशल से हुआ था। सन्त भिक्षु की आत्मा चीख उठी। रात्रि मे अचानक ज्वर का प्रकोप हुआ। सन्त भिक्षु का चिन्तन-प्रवाह

बदला। उन्होंने सोचा—'मैंने अनर्थ किया है। सत्य को छिपाने का यत्न कर मैंने आत्मवचना की है। मुमुक्षु के लिए यह परिहार्य है।' चिन्तन आगे बढा। उन्होने प्रतिज्ञा के स्वर मे कहा—"मैं सत्य को अनावृत करूगा।"

आत्मार्थी सुविधा की भीख नही मागता। वह सत्य को लिए चलता है। कष्ट उसे पराभूत नही कर सकते, वह कष्टो को कुचलकर चलता है।

सकल्प मे बल होता है और आशा मे जीवन। ज्वर का प्रकोप शान्त हुआ। प्रात श्रावक आए। आचार्य भिक्षु ने प्रायश्चित के स्वर मे कहा—"तुम जो कह रहे थे वह ठीक था।" श्रावको का विश्वास शतगुणित हुआ। श्रद्धा का अनुबध दृढतर हुआ और उन्हें सन्त भिक्षु मे नए आलोक और असत्य के प्रति विद्रोह की चिनगारी दीख पडी।

सन्त भिक्षु समझाने गए थे, वे स्वय समझ गए। राजनगर उनका बोधिस्थल बना। बोधि का जो अकुर उस समय निकला था, वह आज शतशाखी के रूप मे विस्तार पा रहा है।

बोधि उसे प्राप्त होती है
जिसमें चिन्तन का प्रवाह अवरुद्ध नही होता।
जिसका आदि, मध्य और अन्त समरस होता है।
जिसका ज्ञान अनावृत होता है।
जिसका भेद ज्ञानपूर्ण है।
जिसमे सत्य का आग्रह है,
पर स्वसिद्धान्तो की दृढ धर्मिता नही।

ये वे सूत्र हैं जिनके प्रतीक सन्त भिक्षु थे। यह वह राजनगर है जिस बोधिस्थल के विरुद को पाकर अपने इतिहास मे एक नई कडी जोडी थी।

राजनगर श्रावको की श्रद्धा का प्रतीक है

ससार मे श्रद्धालु कम होते हैं, अश्रद्धालु अधिक और श्रद्धास्पद व्यक्ति तो विरले ही होते हैं।

उन दिनों तेरापथ सघ के द्वितीय आचार्यश्री भारमलजी तेरापथ सघ चतुष्ट्य के श्रद्धास्पद थे। उन्हें उदयपुर से निकाल दिया गया। वे विहार करते-करते राजनगर आए। मेवाड से उन्हें निकालने की योजना

दिए वे आज भी बौद्धिक जगत् के लिए प्रकाश-स्तम्भ हैं। धर्म और कर्तव्य, दया और दान का जो विवेक वे दे गए, वह आज भी धर्म-रूढ व्यक्तियो को समय-समय पर ललकार रहा है।

अमेय मेधा के धनी महामहिम श्री भिक्षु के इस महाभिनिष्क्रमण से 'वगडी' सुधरी हो गई और आज दो सौ वर्ष बाद तेरापथ समाज को इस तिथि की गौरव-गाथा गाने का अवसर मिला है। यह तिथि तेरापथ-इतिहास मे स्वर्ण रेखाओ से अकित होगी, इसमे कोई सन्देह नही।

आचार्यप्रवर ने चैत्र शुक्ला नवमी को सुधरी पधारने की घोषणा कर इस महाभिनिष्क्रमण के आयोजन को विशेपता प्रदान की है। यह आयोजन विराट द्विशताब्दी समारोह की पृष्ठभूमि होगा, इसे कोई न भूले। इस अवसर पर अत्यन्त सन्निकट द्विशताब्दी समारोह के कार्यक्रमो की स्फुट झाकी प्रस्तुत की जा सकेगी, ऐसी सम्भावना है।

राजनगर-केलवा एक परिचय

राजनगर बोधिस्थल है

दो सौ वर्ष पुरानी बात है। वि० स० १८१४ या १८१५ मे आचार्य भिक्षु का चातुर्मास राजसमन्द (राजनगर) मे हुआ। यहा के श्रावक तत्त्वज्ञ थे। उन्हे साधुओ की कथनी और करनी मे अन्तर प्रतीत हुआ। उन्होने वन्दना-व्यवहार छोड दिया। आचार्य रुघनाथजी ने सन्त भिक्षु को श्रावको को समझाने के लिए भेजा। सन्त भिक्षु आए। समूचे सघ का विश्वास उन्हे प्राप्त था। श्रावको ने उन्हे सुना। उनके बुद्धि-कौशल से सब समझ गए। वन्दना व्यवहार पूर्ववत् चालू रहा।

उसी कार्य-सिद्धि मे तोप होता है जहा वह अन्तरात्मा से जुडी होती है। यह कार्य बुद्धि-कौशल से हुआ था। सन्त भिक्षु की आत्मा चीख उठी। रात्रि मे अचानक ज्वर का प्रकोप हुआ। सन्त भिक्षु का चिन्तन-प्रवाह

बदला। उन्होने सोचा—'मैंने अनर्थ किया है। सत्य को छिपाने का यत्न कर मैंने आत्मवचना की है। मुमुक्षु के लिए यह परिहार्य है।' चिन्तन आगे बढा। उन्होने प्रतिज्ञा के स्वर मे कहा—"मैं सत्य को अनावृत करुगा।"

आत्मार्थी सुविधा की भीख नही मागता। वह सत्य को लिए चलता है। कष्ट उसे पराभूत नही कर सकते, वह कष्टो को कुचलकर चलता है।

सकल्प मे बल होता है और आशा मे जीवन। ज्वर का प्रकोप शान्त हुआ। प्रात श्रावक आए। आचार्य भिक्षु ने प्रायश्चित के स्वर मे कहा—"तुम जो कह रहे थे वह ठीक था।" श्रावको का विश्वास शतगुणित हुआ। श्रद्धा का अनुबध दृढतर हुआ और उन्हें सन्त भिक्षु मे नए आलोक और असत्य के प्रति विद्रोह की चिनगारी दीख पडी।

सन्त भिक्षु समझाने गए थे, वे स्वय समझ गए। राजनगर उनका बोधिस्थल बना। बोधि का जो अकुर उस समय निकला था, वह आज शतशाखी के रूप मे विस्तार पा रहा है।

बोधि उसे प्राप्त होती है
जिसमे चिन्तन का प्रवाह अवरुद्ध नही होता।
जिसका आदि, मध्य और अन्त समरस होता है।
जिसका ज्ञान अनावृत होता है।
जिसका भेद ज्ञानपूर्ण है।
जिसमे सत्य का आग्रह है,
पर स्वसिद्धान्तो की दृढ धर्मिता नहीं।

ये वे सूत्र हैं जिनके प्रतीक सन्त भिक्षु थे। यह वह राजनगर है जिसने बोधिस्थल के विरुद को पाकर अपने इतिहास मे एक नई कडी जोडी थी।

राजनगर श्रावको की श्रद्धा का प्रतीक है

ससार में श्रद्धालु कम होते हैं, अश्रद्धालु अधिक और श्रद्धास्पद व्यक्ति तो विरले ही होते हैं।

उन दिनो तेरापथ सघ के द्वितीय आचार्यश्री भारमलजी तेरापथ सघ चतुष्ट्य के श्रद्धास्पद थे। उन्हें उदयपुर से निकाल दिया गया। वे विहार करते-करते राजनगर आए। मेवाड से उन्हें निकालने की योजना प्रस्तुत

थी। श्रावको को जव यह वात ज्ञात हुई तव राजनगर मे सम्मिलित समस्त श्रावको ने प्रतिज्ञा के स्वर मे कहा—"यदि हमारे श्रद्धास्पद गुरुजनो को यहा से निकाला जाएगा तो हम भी इस प्रदेश को छोड अन्यत्र चले जाएगे।" ये शब्द उनकी श्रद्धा के प्रतीक थे, ये शब्द उनकी सर्व-समर्पण की भावना के द्योतक थे, ये शब्द उनकी धर्मानुराग की अनुरक्ति के सवाहक थे, ये शब्द उनकी दृढ धार्मिकता के सगायक थे।

आओ, आज हम उसी राजनगर मे अपने पूर्वजो के इतिवृत्त को दुहराएँ। जो भिक्षु का वोधिस्थल था वह आज कोटि जनता—जो दिग्भ्रान्त हो रही है, का वोध-पाठ वने। जो श्रद्धा और भक्ति का सगम-स्थल था, वह आज असन्तुलित मानव-वर्ग मे बुद्धि और कर्म का सतुलन ला दे।

जहा का कण-कण सकल्पो का इतिहास सुना रहा है वहा इस द्विशताब्दी समारोह पर हम नया सकल्प करें और आचार्यश्री तुलसी के आह्वानो को झेलने का साहस वटोरें। जहा के चप्पे-चप्पे मे शौर्य की घटनाए अकित हैं, जहा का अणु-अणु आज मुखरित हो रहा है, आओ, हम सव मिलकर उसमे अपना योग दें और तेरापथ के इतिहास को समझें-समझाए।

केलवा

उस समय के मुनि क्रय-विक्रय जैसी प्रवृत्तियो मे फसते जा रहे थे, जीमनवार से भिक्षा लेने लगे थे। गृहस्थो को चन्दे-चिट्ठे के लिए प्रेरित करते थे, शिष्यो को मोल लेते थे। उन प्रवृत्तियो से आचार्य भिक्षु का सत-हृदय काप उठा। उन्हे तत्कालीन साधु-समाज मे आचार-विचार सम्वन्धी और भी अनेक खामिया महसूस हुई। उन्होंने स्थानकवासी सघ से सम्वन्ध-विच्छेद कर दिया। इस अभिनिष्क्रमण से विरोध उग्र हो उठा। पग-पग पर कठिनाइया उपस्थित कर दी गयी। वे आगे वढे। कष्टो को चीरकर आगे वढते गए। चातुर्मास काल अत्यन्त निकट था। वगडी से विहार करते-करते केलवा आये। लोगो ने उन्हे विद्रोही के रूप मे देखा। विद्रोही को कौन स्थान दे? पर कुछेक लोगो ने इन्हे ऐसा स्थान वताया

जहा लोक-मतानुसार एक दिन रहने का अर्थ है—मृत्यु।

केलवा की अधेरीओरी मे आपने प्रथम पावस विताया। वहा की साधना फलवती हुई। एकान्तवास, स्वाध्याय, ध्यान, चिन्तन, मनन और निदिध्यासन का पूर्ण अवसर मिला। वहा जो सोचा, जो समझा, जो सुना वह तेरापथ के लिए पथ-दर्शक वन गया। उस अँधेरे मे उन्हे प्रकाश की रेखाए दीखी। उस प्रकाश मे उन्हें अपने साध्य के दर्शन हुए।

मुनिश्री नथमलजी के इन शब्दो ने आकार वहा पाया

'मत प्रलय की बात सोचो, तिमिर मे आलोक भर दो।
तिमिर को तुम मत मिटाओ, तिमिर को आलोक कर दो।'

आचाय भिक्षु ने अन्धकार को मिटाया नही, उसे प्रकाश मे परिवर्तित कर दिया। नाश से निर्माण कठिन होता है। उन्होने आलोक का निर्माण किया। सारा गाव उनका अनुयायी बन गया। केलवा के ठाकुर मोखमसिह जी ने आचार्य भिक्षु मे अपूर्व तेज देखा। वे भी इनके अनुयायी वन गए। मरुधर के उस वीर पुत्र का स्वप्न आकार पाने लगा।

यह केलवा की आदि-कथा है। आज भी उस गाव मे वह 'अधेरी-ओरी' हमे आचार्य भिक्षु की कष्ट-सहिष्णुता का इतिहास सुना रही है।

आज भी वह हमे बालमुनि श्री भारमलजी की देह के प्रति अनासक्ति और गुरु-चरणो मे आसक्ति की झकार सुना रही है।

आज भी वह हमे अपने एक-एक पत्थर पर अकित सन्त भिक्षु की साधना की ऊडी रेखाए दिखा रही है।

आज भी वह हमे अपने आराध्य के प्रति कर्तव्यनिष्ठ और समरस रहने का वोध-पाठ दे रही है।

आज भी वह हमे समर्पण और विसर्जन की शिक्षा देती हुई हमारी आत्म-व्युत्सर्ग की भावना को उकसा रही है।

आज भी वह हमे श्रद्धा और वलिदान का वोध दे रही है।

आज भी वह हमे कतव्य और अनुराग का विवेक दे रही है।

आओ, साथियो! आओ! हम सब मिलकर उस ज्योति के आलोक से सारे भूमण्डल को आलोकित कर दें। उस ज्योति से कण-कण मे आलोक भर दें। 'जो ज्योति केलवा के गाढान्धकार मे प्रज्ज्वलित हुई थी, जिसमे

साधना और वलिदान का तेज था, जिसमे नि स्वार्थ और निश्छल आत्मोत्सर्ग की दीप्ति थी। आओ ! वीरो ! आओ ! आज हम उस मशाल को लेकर चलें और इस युग के महान् मसीहा श्रीतुलसी के चरण-चिह्नो का अनुसरण करते चलें।'

'हमे सहस्र दीपो की आवश्यकता नही, एक दीप चाहिए जिससे अन्धकार का सागर डोल उठे।'

'हमे सहस्र वाक्य नही, एक वाक्य चाहिए जिससे उत्साह का उद्रेक वाध को तोड आगे वढ चले।'

'हमे सहस्र नेता नही एक नेता चाहिए जो श्रद्धा का प्रतीक वन सके।'

साथ-साथ हम केलवा-निवासी श्रावक शोभाजी को भी याद करें और उनकी अविकल श्रद्धा से प्रेरणा लेते हुए चलें। अप्रकम्प श्रद्धा के धनी इस श्रावक ने श्रद्धा का जो आदर्श दिखाया है और जिसके जीवन के प्रति-चरण मे वह प्रस्फुट होती रही है, हम आज उस श्रद्धा को समझने तथा अपनाने मे कटिवद्ध हो।

तेरापंथ इतिहास की एक नूतन कड़ी

किसी भी व्यक्ति या सघ का इतिहास उसी की साधन-सामग्री पर अभिव्यक्त नही होता। उसकी अभिव्यक्ति के साधन विकीर्ण भी होते हैं। जिस युग और वातावरण मे वह व्यक्ति या सघ क्रियाशील रहता है, जो-जो व्यक्ति उसके सम्पर्क मे आते है, जो-जो प्रवृत्तिया उससे प्रसूत होती हैं, वे सभी उसके इतिहास को गढती हैं और उसे सर्वांगपूर्ण वनाती है। जहा इन विकीर्ण साधनो की उपेक्षा होती है वहाँ इतिहास स्वय अधूरा रहता है और वह पाठक को पूरी-पूरी जानकारी नही दे सकता।

तेरापथ का इतिहास वहुत पुराना नही है। दो शताव्दी की इस अल्पावधि मे उसने जो क्रान्तिकारी प्रवृत्तियो का सचालन किया है वह

धार्मिक इतिहास मे नया चरण है। तेरापथ का इतिहास अक्षरश सुरक्षित हैं और उसके विविध चरण समय-समय पर प्रकाश मे आते रहे हैं। पर आज भी कई तथ्य अज्ञात ही रहे है। अभी-अभी जब आचार्यश्री बाडमेर के रेतीले प्रदेश मे पधारे थे तब वहाँ कई तथ्यो की जानकारी मिली, जिनका दिग्दर्शन करना इस निबन्ध का मुख्य विषय है। ये तथ्य इतिहास की कडिया हैं और साथ-साथ अनेक नए तथ्यो को अभिव्यक्त करते है।

आचार्य भिक्षु तेरापथ के आदि-प्रवर्तक थे। शाहपुरा के रामस्नेही पथ के प्रवर्तक रामचरणजी उनके मित्र थे। आचार्य भिक्षु और रामचरणजी के बीच जो सम्बन्ध था उसका उल्लेख तेरापथ इतिहास मे नही है। पता नही यह विशिष्ट उल्लेख तेरापथ इतिहास मे क्यो नही हुआ। विस्मृति ही इसका कारण हो सकती है। इस विषय मे रामचरणजी तथा उनके द्वारा प्रवर्तित पथ का परिचय देना अस्थानीय नही होगा।

राजस्थान मे रामस्नेही के तीन मुख्य केन्द्र है—शाहपुरा, खेंपडा और रैण। शाहपुरा का रामस्नेही पथ रामचरणजी से चला है। इनके अनुयायी निर्गुण परमेश्वर को राम के नाम से मानते है और उसी का ध्यान करते है। ये मूर्ति-पूजा मे विश्वास नही रखते। रामस्नेही साधु रामद्वारो मे रहते हैं और भिक्षा मागकर अपनी उदर-पूर्ति करते हैं। ये कपडे नही पहनते, सिर्फ लगोट बाधे रहते हैं और ऊपर से चादर ओढ लेते हैं। पहले कोई-कोई साधु नगे भी रहते थे जो परमहस कहलाते थे। ये प्राय तुम्बी, लगोट, चादर, माला और पोथी के सिवा कोई दूसरी वस्तु अपने पास मे नही रखते और न किसी से रुपया-पैसा लेते है। ये विवाह नही करते। किसी उच्च वर्ग के लडके को अपना चेला मूड लेते है और जो चेला सबसे पहले मुडा जाता है उसी को गुरु की गद्दी का अधिकार होता है। बडे चेले को छोटे चेले नमस्कार करने और गुरुवत् समझते हैं। ये साधु रामद्वारो मे रहते है जहा कथा बाचते तथा भजन गाते है। यो तो सभी जाति के लोग इन्हे पूज्य दृष्टि से देखते है, पर अग्रवाल तथा माहेश्वरी समाज की भक्ति इनके प्रति विशेष है। ये रामस्नेही साधु शाहपुरा को गुरुद्वारा समझते हैं, जहा प्रत्येक वर्ष फाल्गुन सुदी १ से चैत्र वदी ६ तक मेला लगता है।

रामचरणजी जयपुर राज्य के सोडा नामक गाव के रहनेवाले

थी। श्रावको को जब यह बात ज्ञात हुई तब राजनगर मे सम्मिलित समस्त श्रावको ने प्रतिज्ञा के स्वर मे कहा—"यदि हमारे श्रद्धास्पद गुरुजनो को यहा से निकाला जाएगा तो हम भी इस प्रदेश को छोड अन्यत्र चले जाएगे।" ये शब्द उनकी श्रद्धा के प्रतीक थे, ये शब्द उनकी सर्व-समर्पण की भावना के द्योतक थे, ये शब्द उनकी धर्मानुराग की अनुरक्ति के सवाहक थे, ये शब्द उनकी दृढ धार्मिकता के सगायक थे।

आओ, आज हम उसी राजनगर मे अपने पूर्वजो के इतिवृत्त को दुहराएँ। जो भिक्षु का बोधिस्थल था वह आज कोटि जनता—जो दिग्भ्रान्त हो रही है, का बोध-पाठ बने। जो श्रद्धा और भक्ति का सगम-स्थल था, वह आज असन्तुलित मानव-वर्ग मे बुद्धि और कर्म का सतुलन ला दे।

जहा का कण-कण सकल्पो का इतिहास सुना रहा है वहा इस द्विशताब्दी समारोह पर हम नया सकल्प करें और आचार्यश्री तुलसी के आह्वानो को झेलने का साहस बटोरें। जहा के चप्पे-चप्पे मे शौर्य की घटनाए अकित हैं, जहा का अणु-अणु आज मुखरित हो रहा है, आओ, हम सब मिलकर उसमे अपना योग दें और तेरापथ के इतिहास को समझें-समझाए।

केलवा

उस समय के मुनि क्रय-विक्रय जैसी प्रवृत्तियो मे फसते जा रहे थे, जीमनवार से भिक्षा लेने लगे थे। गृहस्थो को चन्दे-चिट्ठे के लिए प्रेरित करते थे, शिष्यो को मोल लेते थे। उन प्रवृत्तियो से आचार्य भिक्षु का सत-हृदय काप उठा। उन्हे तत्कालीन साधु-समाज मे आचार-विचार सम्बन्धी और भी अनेक खामिया महसूस हुई। उन्होंने स्थानकवासी सघ से सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया। इस अभिनिष्क्रमण मे विरोध उग्र हो उठा। पग-पग पर कठिनाइया उपस्थित कर दी गयी। वे आगे बढे। कष्टो को चीरकर आगे बढते गए। चातुर्मास काल अत्यन्त निकट था। बगडी से विहार करते-करते केलवा आये। लोगो ने उन्हे विद्रोही के रूप मे देखा। विद्रोही को कौन स्थान दे ? पर कुछेक लोगो ने इन्हे ऐसा स्थान बताया

जहा लोक-मतानुसार एक दिन रहने का अर्थ है—मृत्यु।

केलवा की अधेरीओरी मे आपने प्रथम पावस विताया। वहा की साधना फलवती हुई। एकान्तवास, स्वाध्याय, ध्यान, चिन्तन, मनन और निदिध्यासन का पूर्ण अवसर मिला। वहा जो सोचा, जो समझा, जो सुना वह तेरापथ के लिए पथ-दर्शक वन गया। उस अँधेरे मे उन्हे प्रकाश की रेखाए दीखी। उस प्रकाश मे उन्हे अपने साध्य के दर्शन हुए।

मुनिश्री नथमलजी के इन शब्दो ने आकार वहा पाया

'मत प्रलय की वात सोचो, तिमिर मे आलोक भर दो।
तिमिर को तुम मत मिटाओ, तिमिर को आलोक कर दो।'

आचार्य भिक्षु ने अन्धकार को मिटाया नही, उसे प्रकाश मे परिवर्तित कर दिया। नाश से निर्माण कठिन होता है। उन्होने आलोक का निर्माण किया। सारा गाव उनका अनुयायी वन गया। केलवा के ठाकुर मोखमसिह जी ने आचार्य भिक्षु मे अपूर्व तेज देखा। वे भी इनके अनुयायी वन गए। मरुधर के उस वीर पुत्र का स्वप्न आकार पाने लगा।

यह केलवा की आदि-कथा है। आज भी उस गाव मे वह 'अधेरी-ओरी' हमे आचाय भिक्षु की कष्ट-सहिष्णुता का इतिहास सुना रही है।

आज भी वह हमे वालमुनि श्री भारमलजी की देह के प्रति अनासक्ति और गुरु-चरणो मे आसक्ति की झकार सुना रही है।

आज भी वह हमे अपने एक-एक पत्थर पर अकित सन्त भिक्षु की साधना की ऊडी रेखाए दिखा रही है।

आज भी वह हमे अपने आराध्य के प्रति कर्तव्यनिष्ठ और समरस रहने का वोध-पाठ दे रही है।

आज भी वह हमे समर्पण और विसर्जन की शिक्षा देती हुई हमारी आत्म-व्युत्सग की भावना को उकसा रही है।

आज भी वह हमे श्रद्धा और वलिदान का वोध दे रही है।

आज भी वह हमे कर्तव्य और अनुराग का विवेक दे रही है।

आओ, साथियो ! आओ ! हम सव मिलकर उस ज्योति के आलोक से सारे भूमण्डल को आलोकित कर दें। उस ज्योति से कण-कण मे आलोक भर दें। 'जो ज्योति केलवा के गाढान्धकार मे प्रज्ज्वलित हुई थी, जिसमे

साधना और बलिदान का तेज था, जिसमे नि स्वार्थ और निश्छल आत्मोत्सर्ग की दीप्ति थी। आओ ! वीरो ! आओ ! आज हम उस मशाल को लेकर चले और इस युग के महान् मसीहा श्रीतुलसी के चरण-चिह्नो का अनुसरण करते चले।'

'हमे सहस्र दीपो की आवश्यकता नही, एक दीप चाहिए जिससे अन्धकार का सागर डोल उठे।'

'हमे सहस्र वाक्य नही, एक वाक्य चाहिए जिससे उत्साह का उद्रेक बाध को तोड आगे बढ चले।'

'हमे सहस्र नेता नही एक नेता चाहिए जो श्रद्धा का प्रतीक बन सके।'

साथ-साथ हम केलवा-निवासी श्रावक शोभाजी को भी याद करें और उनकी अविकल श्रद्धा से प्रेरणा लेते हुए चले। अप्रकम्प श्रद्धा के धनी इस श्रावक ने श्रद्धा का जो आदर्श दिखाया है और जिसके जीवन के प्रति-चरण मे वह प्रस्फुट होती रही है, हम आज उस श्रद्धा को समझने तथा अपनाने मे कटिबद्ध हो।

तेरापंथ इतिहास की एक नूतन कड़ी

किसी भी व्यक्ति या सघ का इतिहास उसी की साधन-सामग्री पर अभिव्यक्त नही होता। उसकी अभिव्यक्ति के साधन विकीर्ण भी होते हैं। जिस युग और वातावरण मे वह व्यक्ति या सघ क्रियाशील रहता है, जो-जो व्यक्ति उसके सम्पर्क मे आते है, जो-जो प्रवृत्तिया उससे प्रसूत होती है, वे सभी उसके इतिहास को गढती हैं और उसे सर्वांगपूर्ण बनाती है। जहा इन विकीर्ण साधनो की उपेक्षा होती है वहाँ इतिहास स्वय अधूरा रहता है और वह पाठक को पूरी-पूरी जानकारी नही दे सकता।

तेरापथ का इतिहास बहुत पुराना नही है। दो शताब्दी की इस अल्पावधि मे उसने जो क्रान्तिकारी प्रवृत्तियो का सचालन किया है वह

धार्मिक इतिहास मे नया चरण है। तेरापथ का इतिहास अक्षरश सुरक्षित है और उसके विविध चरण समय-समय पर प्रकाश मे आते रहे हैं। पर आज भी कई तथ्य अज्ञात ही रहे है। अभी-अभी जव आचार्यश्री बाडमेर के रेतीले प्रदेश मे पधारे थे तव वहाँ कई तथ्यो की जानकारी मिली, जिनका दिग्दर्शन करना इस निवन्ध का मुख्य विपय है। ये तथ्य इतिहास की कडिया है और साथ-साय अनेक नए तथ्यो को अभिव्यक्त करते हैं।

आचाय भिक्षु तेरापथ के आदि-प्रवर्तक थे। शाहपुरा के रामस्नेही पथ के प्रवर्तक रामचरणजी उनके मित्र थे। आचार्य भिक्षु और रामचरणजी के वीच जो सम्वन्ध था उसका उल्लेख तेरापथ इतिहास मे नही है। पता नही यह विशिष्ट उल्लेख तेरापथ इतिहास मे क्यो नही हुआ। विस्मृति ही इसका कारण हो सकती है। इस विपय मे रामचरणजी तथा उनके द्वारा प्रवर्तित पथ का परिचय देना अस्यानीय नही होगा।

राजस्थान मे रामस्नेही के तीन मुख्य केन्द्र है—शाहपुरा, खैपडा और रैण। शाहपुरा का रामस्नेही पथ रामचरणजी से चला है। इनके अनुयायी निर्गुण परमेश्वर को राम के नाम से मानते है और उसी का ध्यान करते है। ये मूर्ति-पूजा मे विश्वास नही रखते। रामस्नेही साधु रामद्वारो मे रहते हैं और भिक्षा मागकर अपनी उदर-पूर्ति करते है। ये कपडे नही पहनते, सिर्फ लगोट बाधे रहते हैं और ऊपर से चादर ओढ लेते हैं। पहले कोई-कोई साधु नगे भी रहते थे जो परमहस कहलाते थे। ये प्राय तुम्बी, लगोट, चादर, माला और पोथी के सिवा कोई दूसरी वस्तु अपने पास मे नही रखते और न किसी से रुपया-पैसा लेते है। ये विवाह नही करते। किसी उच्च वर्ग के लडके को अपना चेला मूड लेते है और जो चेला सवसे पहले मुडा जाता है उसी को गुरु की गद्दी का अधिकार होता है। वडे चेले को छोटे चेले नमस्कार करते और गुरुवत् समझते है। ये साधु रामद्वारो मे रहते है जहा कथा वाचते तथा भजन गाते है। यो तो सभी जाति के लोग इन्हे पूज्य दृष्टि से देखते है, पर अग्रवाल तथा माहेश्वरी समाज की भक्ति इनके प्रति विशेप है। ये रामस्नेही साधु शाहपुरा को गुरुद्वारा समझते है, जहा प्रत्येक वर्प फाल्गुन सुदी १ से चैत्र वदी ६ तक मेला लगता है।

रामचरणजी जयपुर राज्य के सोडा नामक गाव के रहनेवाले

वीजावर्गी वनिये थे। इनका जन्म स० १७७६ मे माघ शुक्ला चतुर्दशी शनिवार को हुआ था। इनके गुरु का नाम कृपाराम था, जिनसे स० १८०८ मे इन्होने दीक्षा ग्रहण की थी। स० १८२६ मे घूमते-घूमते ये भीलवाडा (मेवाड) मे आए और वहा ने शाहपुरा गए, जहा के राजाधिराज रणसिंहजी ने इनका अच्छा स्वागत किया और इनकी गद्दी स्थापित करवाई। इनका देहावसान सवत् १८५५ मे शाहपुरा मे हुआ। इनके २२५ शिष्य थे, जिनमे ने रामजनजी इनकी गद्दी के उत्तराधिकारी हुए।

यह रामचरणजी के विषय मे कुछ जानकारी है। आचार्य भिक्षु की 'वूआ' सोडा गाव मे विवाहित थी। स्वामीजी वहा आते-जाते थे। कई बार के इस प्रसग से आचार्य भिक्षु और रामचरणजी के वीच मैत्री हो गई। दोनो के मन मे वैराग्य था। दोनो एक ही पथ के पथिक थे। धीरे-धीरे यह सम्वन्ध गाढ से गाढतर होता गया। दोनो ने एक-दूसरे को सुना, समझा और निश्चित हुआ कि दोनो साथ-साथ दीक्षित होगे। वैराग्य उत्तरोत्तर वढता गया। मिलने-जुलने का प्रसग पूर्ववत् वना रहा। दोनो की भावनाएँ उत्तरोत्तर वैराग्योन्मुख रही और समय-समय पर अपने किए गए वादे का स्मरण करते रहे।

उन दिनो स्थानकवासी सम्प्रदाय के आचार्यश्री रुघनाथजी मारवाड मे विचर रहे थे। भीखणजी उनके सम्पर्क मे आए और माता की आज्ञा ले उनके पास प्रव्रजित हो गए। सम्भव है मित्र के साथ किया हुआ वादा विस्मृत हो गया या और कारण रहा हो, वे अपने मित्र रामचरणजी को इसकी सूचना भी नही दे सके। स्थानकवासी सम्प्रदाय के मुनि प० रत्नश्री मिश्रीमलजी महाराज ने 'श्रीमद् रघुनाथ जीवनचरित्र' मे इस विषय की चर्चा करते हुए लिखा है—

मत्री है रामचन्द्र नामे भलो रे, वीजावर्गी जिनरी जात रे।
वासी है वो तो देस मेवाडनो रे,
प्रेम से रजित सातो धात रे।
जोग लेवण री दोन्या रे जँची रे,
कोल कर लीनो लेसा साथ रे।

कारणवश निज मित्र गयो गाव को रे,
लारे आया गुरु गुण गाथ रे।
हुवो वैरागी वाणी साभली रे आज्ञा मातरी लीधी ताम रे।
कोल विसार्यो भीषमा रे, दीक्षा लेवण री लागी हाय रे।
विहारी करी ने सोजत सचर्या रे,
लारे आयो है मित्री तेह रे।
मिलवारे कारण सोजत पूज पेरे,
बाल पणा रो जिन रे नेह रे॥

भीषम ने भारी दियो, उपालभ उण आय।
वचन चूक किम सुधरसी आलोचो मन माय॥
कह भीषम क्या हो गया, ले अब सयम भार।
तुज पासे लेऊ नही, यू कहि गो निज द्वार॥
दाते जा दीक्षा ग्रही, राम सनेही सन्त।
रामचरण सहज पुरे, प्रगट्यो खास महन्त॥

इससे यह स्पष्ट होता है कि रामचरणजी भी बाल्यकाल से ही आचार्य रुघनाथजी से प्रभावित थे और वे उनके दर्शनार्थ सोजत आए। वहाँ उन्होने मुनि भीखणजी को दीक्षा पर्याय मे देखा। उन्हे विस्मय और क्षोभ हुआ। रुघनाथजी से दीक्षा लेने से इनकार कर वे वहा से चले गए। तदनन्तर दाता गाव मे रामस्नेही आचार्य कृपरामजी के पास वि० स० १८०८ मे दीक्षित हो गए और महन्त के रूप मे विख्यात हुए।

उनका स्वर्गवास वि० स० १८५५ वैशाख शुक्ल ५ को शाहपुरा मे हुआ। अपने जीवनकाल मे उन्होने ३६,००० पद्यो की रचना की और वे एक घडे की ठिकारियो पर लिखे गए। कहा जाता है कि वे अक्षरश आज भी सुरक्षित है। यह भी कहा जाता है कि उन्होने बारह वर्ष तक भीलवाडा गाव की एक-एक बावडी की गुफा मे बैठकर तपस्या की और अनेक अनुभव प्राप्त किए। कई एक प्रमाणो से ऐसा प्रतीत होता है कि दीक्षा अवस्था के बाद भी उनका पारस्परिक सम्बन्ध अच्छा था। वे यदा-कदा मिलते रहते थे और यह भी स्पष्ट होता है कि आचार्य भिक्षु जब स्थानक-

वामी सम्प्रदाय से अलग होकर तेरापथ के प्रवर्तक रूप मे विख्यात हुए तव भी महन्त रामचरणजी का उनसे सम्पर्क रहा था, क्योकि रामचरणजी ने अपनी वृत्तियो मे कई स्थलो पर तेरापथ का निर्देश किया है। भीखण जी का नामोल्लेख नही भी हुआ हे, परन्तु 'तेरापथ' शब्द का उल्लेख इसी सम्प्रदाय का द्योतक है, यह निर्विवाद सत्य है। क्योकि इससे पूर्व तेरापथ शब्द का प्रयोग अन्य साहित्य मे नही मिलता।

इस मीमासा से यह स्पष्ट है कि रामचरणजी द्वारा अपनी रचनाओ मे प्रयुक्त 'तेरापथ' शब्द भीखणजी के तेरापथ की ओर सकेत है। अभी हम जव जोधपुर मे थे तव रामस्नेही सन्तो से यह भी पता चला कि यत्र-तत्र भीखणजी का नाम भी ग्रन्थो मे आता है। किन्तु समयाभाव तथा व्यस्तता के कारण हम इसके पूरे प्रमाण एकत्रित नही कर सके।

वि० स० १९८१ मे 'रामनिवासधाम' शाहपुरा से प्रकाशित स्वामी रामचरणजी की 'अणभेवाणी' (अनुभव-वाणी) के कुछ पद्य उपरोक्त तथ्यो को प्रमाणित करते है

सोही तेरापथ का, मेरा कहे न कोय।
मैं मेरी से लग रह्यो, तो जगत् पथ है सोय॥
काम, क्रोध, तृष्णा तजे, दुविधा देय उठाय।
रामचरण ममता मिटे, तेरापथ वह पाय॥
पथ चलत निरगुण दश्य, सहे शीत उष्णाद।
देह कसे उर हरि वसे, तजे विषय रस स्वाद॥

इस प्रकार इस विस्मृत घटना को पुन उज्जीवित कर तेरापथ के इतिहास की शृखला मे एक महत्त्वपूर्ण कडी का सन्धान किया है जो अनेक दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण होगा।

त्रिपदी का प्रतीक तेरापथ

परिवर्तन त्रैकालिक सत्य है। उसे कोई झुठला नहीं सकता। जो परिवर्तन को नही मानता, वह अपने अस्तित्व को भी कैसे मान सकता है? 'मैं हूं' यह अस्तित्व बोध 'मैं था' और 'मैं होऊंगा' का सवाहक है। जिसका अतीत और भविष्य है, उसका वर्तमान निस्सन्देह है। जिसका वर्तमान है, उसका अतीत और भविष्य भी है। भगवान् महावीर ने कहा—'जस्स नत्थि पुरा पच्छा मज्झे तस्स कुओ सिया'—जिसका आदि और अन्त नही, उसका मध्य भी कैसे हो सकता है? जिस रस्सी के दो सिरे नही, उसका मध्य कैसे सम्भव है? यह सारी परिवर्तन की कहानी है।

परिवर्तन यथार्थ है। इसको नकारा नही जा सकता। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—ये परिवर्तन के मर्यादा-सूत्र है। इन तीनो की सहृति नवीनता उत्पन्न करती है। इसे ही परिवर्तन कहा जाता है। जो पग-पग पर नई होती है, वह वस्तु रमणीय बन जाती है।

रूढता अयथार्थ है। उसमे स्पन्दन नही होता। निस्पन्द वस्तु आकर्षक नही होती। अनाकर्षक वस्तु परम्पर नही होती, वह मर जाती है।

प्राणवत्ता और परिवर्तन एकार्थक है। जो परिवर्तित होता है, वह प्राणवान् होता है, वह प्राणवान् बना रहता है और जो प्राणवान् होता है, उसे परिवर्तन सहज प्राप्त है। इस परिवर्तन मे कुछ लिया जाता है, कुछ छोडा जाता है और कुछ टिकाया जाता है। दूसरे शब्दो मे इसमे ग्रहण और स्थिरता होती है। यही सत्य है और यथार्थ है।

तेरापथ प्राणवान् शासन है। उसकी प्राणवत्ता इसीलिए है कि वह त्रिपदी—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की परिक्रमा किए चल रहा है।

इस शासन का प्रवर्तन दो सौ वर्ष पूर्व हुआ। आचार्य भिक्षु इसके प्रवर्तक बने। उन्होने एकसूत्रता के लिए तीन सूत्र दिए—एक आचार्य, एक आचार और एक प्ररूपणा। ये तीनो सूत्र शासन के ध्रौव्याश हैं। शासन-विकास मे इनकी अपरिहार्यता असदिग्ध है। एक आचार्य की ही परम्परा ने सघ के सदस्यो की एकाभिमुखता बनाए रखने मे अप्रतिम सहायता दी है। एक आचार की परम्परा ने सभी सदस्यो मे 'नो हीणे नो अइरित्ते' की समत्व-

वामी सम्प्रदाय से अलग होकर तेरापथ के प्रवर्तक रूप मे विख्यात हुए तव भी महन्त रामचरणजी का उनसे सम्पर्क रहा था, क्योकि रामचरणजी ने अपनी वृत्तियो मे कई स्थलो पर तेरापथ का निर्देश किया है। भीखण जी का नामोल्लेख नही भी हुआ है, परन्तु 'तेरापथ' शब्द का उल्लेख इसी सम्प्रदाय का द्योतक है, यह निर्विवाद सत्य है। क्योकि इससे पूर्व तेरापथ शब्द का प्रयोग अन्य साहित्य मे नही मिलता।

इस मीमासा से यह स्पष्ट है कि रामचरणजी द्वारा अपनी रचनाओ मे प्रयुक्त 'तेरापथ' शब्द भीखणजी के तेरापथ की ओर सकेत है। अभी हम जव जोधपुर मे थे तव रामस्नेही सन्तो से यह भी पता चला कि यत्र-तत्र भीखणजी का नाम भी ग्रन्थो मे आता है। किन्तु समयाभाव तथा व्यस्तता के कारण हम इसके पूरे प्रमाण एकत्रित नही कर सके।

वि० स० १६८१ मे 'रामनिवासधाम' शाहपुरा से प्रकाशित स्वामी रामचरणजी की 'अणभेवाणी' (अनुभव-वाणी) के कुछ पद्य उपरोक्त तथ्यो को प्रमाणित करते है

सोही तेरापथ का, मेरा कहे न कोय।
मैं मेरी से लग रह्यो, तो जगत् पथ है सोय॥
काम, क्रोध, तृष्णा तजे, दुविधा देय उठाय।
रामचरण ममता मिटे, तेरापथ वह पाय॥
पथ चलत निरगुण दश्य, सहे शीत उष्णाद।
देह कसे उर हरि वसे, तजे विषय रस स्वाद॥

इस प्रकार इस विस्मृत घटना को पुन उज्जीवित कर तेरापथ के इतिहास की शृखला मे एक महत्त्वपूर्ण कडी का सन्धान किया है जो अनेक दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण होगा।

त्रिपदी का प्रतीक तेरापथ

परिवर्तन त्रैकालिक सत्य है। उसे कोई झुठला नही सकता। जो परिवर्तन को नही मानता, वह अपने अस्तित्व को भी कैसे मान सकता है? 'मैं हूं' यह अस्तित्व बोध 'मैं था' और 'मैं होऊगा' का सवाहक है। जिसका अतीत और भविष्य है, उसका वर्तमान निस्सन्देह है। जिसका वर्तमान है, उसका अतीत और भविष्य भी है। भगवान् महावीर ने कहा—'जस्स नत्थि पुरा पच्छा मज्झे तस्स कुओ सिया'—जिसका आदि और अन्त नही, उसका मध्य भी कैसे हो सकता है? जिस रस्सी के दो सिरे नही, उसका मध्य कैसे सम्भव है? यह सारी परिवर्तन की कहानी है।

परिवर्तन यथार्थ है। इसको नकारा नही जा सकता। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—ये परिवर्तन के मर्यादा-सूत्र हैं। इन तीनो की सहृति नवीनता उत्पन्न करती है। इसे ही परिवर्तन कहा जाता है। जो पग-पग पर नई होती है, वह वस्तु रमणीय बन जाती है।

रूढता अयथार्थ है। उसमे स्पन्दन नही होता। निस्पन्द वस्तु आकर्षक नही होती। अनाकर्षक वस्तु परम्पर नही होती, वह मर जाती है।

प्राणवत्ता और परिवर्तन एकार्थक है। जो परिवर्तित होता है, वह प्राणवान् होता है, वह प्राणवान् बना रहता है और जो प्राणवान् होता है, उसे परिवर्तन सहज प्राप्त है। इस परिवर्तन मे कुछ लिया जाता है, कुछ छोडा जाता है और कुछ टिकाया जाता है। दूसरे शब्दो मे इसमे ग्रहण और स्थिरता होती है। यही सत्य है और यथार्थ है।

तेरापथ प्राणवान् शासन है। उसकी प्राणवत्ता इसीलिए है कि वह त्रिपदी—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की परिक्रमा किए चल रहा है।

इस शासन का प्रवर्तन दो सौ वर्ष पूर्व हुआ। आचार्य भिक्षु इसके प्रवर्तक बने। उन्होने एकसूत्रता के लिए तीन सूत्र दिए—एक आचार्य, एक आचार और एक प्ररूपणा। ये तीनो सूत्र शासन के ध्रौव्याश है। शासन-विकास मे इनकी अपरिहार्यता असदिग्ध है। एक आचार्य की ही परम्परा ने सघ के सदस्यो की एकाभिमुखता बनाए रखने मे अप्रतिम सहायता दी है। एक आचार की परम्परा ने सभी सदस्यो मे 'नो हीणे नो अइरित्ते' की समत्व-

मूलक भावना का विकास किया है और एक प्ररूपणा ने सगठन के प्रति विश्वास पैदा किया है। तेरापथ के ये तीन ध्रुव सत्य है।

तेरापथ का प्रादुर्भाव आकस्मिक घटना नही थी। वह क्रिया की प्रतिक्रिया थी। स्थिति-पालकता के प्रति एक क्रान्ति थी। जो काल की दुहाई देकर एक स्थिति का वनाए रखना चाहते थे, उनके लिए एक चुनौती थी।

आचार्य भिक्षु ने स्थितिपालकता को अस्त-व्यस्त कर डाला। 'काल की दुहाई साधना का पलिमन्थु है', यह कहकर उन्होने अपने पुरुपार्थ को इतना तीव्र किया कि साधना सहज बन गई। हजारो-हजारो लोग साधना की ओर आकृष्ट हुए।

अपने-अपने शिष्य वनाने की अनुवृत्ति 'दलवन्दी' को प्रोत्साहित कर रही थी। आचार्य भिक्षु ने इसमे युगातकारी परिवर्तन कर शिष्य वनाने का एकाधिकार गुरु को सौंप डाला। शिष्य हुए, पर ममत्व नही वढा। दलवन्दी समाप्त हो गई।

स्थान का ममत्व प्रमाद उत्पन्न कर रहा था। आचार्य भिक्षु ने इस पर प्रहार किया। साधु-साध्वी यथार्थ मे अप्रतिवद्ध विहारी वन गए। इस ममत्व-विसर्जन ने सघ को विस्तार दे दिया और पवित्रता को वनाए रखने मे कारण वना।

ये कुछेक मौलिक विसर्जन थे, जो महान् आदानीय की ससूचना दे रहे थे।

आचार्य भिक्षु सत्यान्वेषी थे। उन्होने अपने आपको सद्यस्क वनाए रखने के लिए वहुत ग्रहण किया। ग्रहणशीलना उनका सहज गुण था। इसी गुण ने उन्हे सत्य के निकट ला दिया। जो उन्हे भगवद्वाणी के प्रतिकूल जँचा, उसे वे छोडते गए और जो उन्हे अनुकूल लगा, उसे आत्मसात् करते वढते गए। सघ-शासन की परम्परा से ही सात पद रहे हैं। आचार्य भिक्षु ने सभी पदो को समेटकर एक आचार्य मे उनका समावेश कर डाला। इस प्रक्रिया से कार्यभार वढा परन्तु श्रद्धा केन्द्रस्थ हो गई। अव आचार्य सघ की सारी व्यवस्थाओ, पारम्परिक गतिविधियो तथा आन्तरिक और वाह्य परिपदो के समस्त कार्यक्रमो के सचालक वन गए।

तेरापथ के आचार्यो ने समयानुकूल परिवर्तन किया। जो तथ्य काल के व्यवधान से अपनी उपयोगिता नष्ट कर चुके थे, वे छोड दिए गए और जो तथ्य उपयोगी थे, जिनकी सम्यक् आवश्यकता थी, वे स्वीकार कर लिए गए। इस ग्रहण और विसर्जन मे भी तेरापथ की मूल मान्यताओ मे कही अन्तर नही पडा। आचार्यश्री तुलसी इसके ज्वलन्त उदाहरण है। उन्होने आचार्य भिक्षु की वाणी बदली नही है किन्तु उसे अभिव्यक्त करने की शैली का परिमार्जन कर और अधिक जन-भोग्य बनायी है। बात वही है, परिधान नया है। नए परिधानो का ग्रहण एक दिशा मे नही, अपितु अनेक दिशाओ मे ग्रहण कर आचार्यश्री ने मूल तत्त्वो की सुरक्षा की है और वे तत्त्व आज भी तेरापथ के प्रकाश-स्तम्भ है।

कालूयशोविलास—एक समीक्षा

कवि जगत्-स्रष्टा होता है। वह ससीम से असीम की ओर बढनेवाला उत्साही पथिक है। वह अपने जीवन के महासिन्धु मे स्वय पत्थर फेंककर उत्ताल तरगें पैदा करता है और उन लहरो के उच्चावचत्व को निरख-निरखकर हर्ष-विभोर हो उठता है। इस जीवन-क्रम का वह इतना अभ्यस्त हो जाता है कि जीवन की अन्य चचलताए उसे परास्त नही कर सकती। इतना हो जाने पर वह अपने जीवन को अनावृत करता है। सीमाए टूट जाती है और वह असीम हो चलता है।

कवि केवल कल्पनावादी ही नही होता। वह यथार्थ को छूकर चलता है और कभी-कभी कल्पना को भी यथार्थता का जामा पहनाकर उपस्थित करता है। यह सब जगत् को नही अखरता। इसका कारण यह है कि कवि का अन्तर्जगत् विमल और पवित्र होता है। द्वेष, ईर्ष्या, जुगुप्सा या उद्वेग से वह ऊपर होता है। उसका प्रेम-पारावार गरीब सस्थान से लेकर धन-कुबेर तक और निरक्षर से लेकर साक्षर तक सबको अपने निश्छल पार्श्व मे ले मुक्त आलिगन मे तल्लीन हो जाता है। भुजपाश भी मृदु और

सहज होता है। जी चाहता है उसमे ही बधे रहे—बन्धन मे भी प्यार विचित्र है—मोह का आवर्त्त।

जब कवि का प्रेम उन्मुक्त हो जाता है, काल या देश की कृत्रिम सीमाओ मे आबद्ध नही रहता, तब उसकी कृति को 'काव्य' कहा जाता है। 'काव्य' की विभिन्न परिभाषाओ मे 'वाक्य रसात्मक काव्य' सुघट प्रतीत होती है। चलना और बोलना—ये दोनो जीवधारी प्राणी के सहज व्यापार हैं। इनमे तरतम भाव या व्यक्ताव्यक्त की सीमाए अवश्य होती हैं परन्तु इनके अस्तित्व का निषेध नही किया जा सकता। बोलते सब हैं, परन्तु बोलने की कला मे पारगत विरले ही होते हैं। बोलना केवल अवयवो का व्यापार मात्र नही है। उसमे भी प्रतिभा का चमत्कार अत्यावश्यक होता है। इसलिए कलात्मक शब्द-सृष्टि को 'काव्य' की सज्ञा दी जा सकती है।

सच्चा कलाकार वही है जो भूत, भविष्य और वर्तमान को साधकर चले। यह सत्य है कि जिस काल व जिस परिस्थिति मे कलाकार जीता है उसी का सकलन उसकी भावाभिव्यजना से प्रस्फुटित होता है। वह बाह्य-जगत् को देखता है और यथाशक्य अपने काव्य मे उसका प्रतिनिधित्व भी करता है। वह भूत-भावी को अपनी कल्पनाओ मे बाँधता हुआ भी वर्तमान को पकडकर उडता है और इस छोर से उस छोर तक निमिष मात्र मे पहुच जाता है। उसकी यह उडान तभी सार्थक होती है जब वह जनसमूह की दृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट करता है।

कला का विषय क्या हो, यह प्रश्न आज तक भी असमाहित ही रहा है। हम कला के विषय को एक सीमा मे बाध नही सकते। उनका उन्मुक्त बहना ही कला की व्यापकता या सार्थकता है। सीमा मे व्यक्तित्व निखरता नही, कुण्ठित होता है, परन्तु इतना अवश्य जान लेना चाहिए कि कला और कला के विषय एक नही हैं। उनको अद्वैत मानना कला को मर्माहत करना है। चिडियो का कलरव, मन्दाकिनी का मधुर निनाद कला नही, कला के विषय होते हैं, परन्तु मनुष्य की स्वर-लहरियो मे अभिव्यजित गीतो को कला कहना होगा। चिडियो का या जल-प्रवाहों का निर्घोष सहज होता है। वह सुसस्कृत नही होता। एक निश्चित सीमा

मे आवद्ध होने के कारण उसमे उत्कर्ष या अपकर्ष कुछ भी सभाव्य नही। परन्तु मनुष्य ने वोलने की अपनी सहज प्रवृत्ति को भी अनेक स्वरो की विशेष सामजस्यपूर्ण स्थिति मे रखकर एक विशेष विधि को जन्म दिया है। इसीलिये वह कला है।

कला के विभिन्न प्रकार हैं—चित्रकला, नाट्यकला, शिल्पकला, और सगीतकला। चारो की अपने-अपने स्थान पर महत्ता है। सभी ने भारतीय जीवन को परिष्कृत किया है और आज भी 'शिव' की महनीयता मुक्तकण्ठ से गायी जाती है। सभी कलाओ मे कलाकार अपनी-अपनी भावनाओ को उडेलकर उन्हे सजीव वनाने का प्रयत्न करता है। भावनाओ की अभिव्यञ्जना किस ढग से होती है—इसी मे कलाकार की सफलता और विफलता का अकन होता है।

सगीतकला का अपना विशिष्ट स्थान है। इसमे भावाभिव्यक्ति स्पष्ट होती है, अत जनसाधारण द्वारा सहज भोग्य वनती है। मानव की समस्त अक्षरात्मक अभिव्यजना को हम 'सगीत' कह सकते है। इस परिभाषा के अनुसार सगीत के दो विभाग होते है—गद्य और पद्य। इसी को हम 'काव्य' कहते है। गद्यमय और पद्यमय काव्यो का अपना-अपना महत्त्व है। परन्तु पद्यमय काव्यो मे जो आनन्दानुभूति होती है वह गद्यमय काव्य मे नही होती।

काव्य की भाषा कैसी हो, यह भी एक जटिल समस्या है। आज तक भी मानव मात्र की एक ही भाषा रही हो, ऐसा नही देखा जाता। देश-काल के व्यवधान से भाषाओ का ह्रास और विकास होता रहा है। रुचि-वैचित्र्य के आधार पर भी भाषा की समानता नही वन सकती। भाषा कोई भी क्यो न हो, यदि कलाकार उस भाषा से एकता स्थापित कर अपनी अनुभूति और जीवन के सनातन सत्यो को उसमे वाधता है तो निस्सदेह ही वह भाषा सजीव और मुखरित हो उठती है।

भाषा का चुनाव भी आवश्यक लगता है, क्योकि स्वय काव्यकर्ता को यह दृढ निश्चय कर लेना होता है कि किस भाषा मे वह अपने भावो को सही-सही प्रकट कर सकता है। जिस भाषा पर उसका अधिकार हो और जो भाषा उसके आत्मसात् हो गई हो वही भाषा उसके भावो को

सम्यक् रूप दे सकती है। निश्चय की भाषा मे भावो को सही-सही प्रकट करने की शक्ति भाषा मे नही है। वह तो केवल भावो का प्रतिबिम्ब मात्र उपस्थित करती है। जो मेधावी होते है, वे उस प्रतिबिम्ब से भी मूल को ग्रहण कर लेते है पर साधारण लोग ऐसा नही कर सकते। परन्तु भाषा के सिवा मनुष्य के पास है ही क्या, जिससे कि वह समय-समय पर मन मे उठनेवाले भावो को कोई रूप दे सके? यह साधन पगु होते हुए भी एक-मात्र साधन होने के कारण इसका महत्त्व है। यही कारण है कि एक ही कलाकार की कृति से विभिन्न ग्राहको की अपेक्षा विभिन्न अभिव्यजनाए प्राप्त होती हैं, काव्यकर्ता का आशय पढनेवालो मे पूर्णत ज्ञान गत हो जाता हो, यह कभी सभव नही। काव्यकर्ता अपने काल व अपनी स्थिति मे रहता हुआ कल्पना करता है। उसकी स्वतन्त्र अपेक्षाए होती है—शब्द-समूह उन अपेक्षाओ को व्यक्त कर सके यह सभव नही है—एतदर्थ ग्राहक उन शब्दो से अपनी अपेक्षा से ही अर्थ ग्रहण करता है। इतना होने पर भी काव्य मे अनुस्यूत जीवन की अनुभूतियो के ताने-बाने मे नवीनता और चेतनता आ जाती है। जीवन के प्रति आस्थावान होने के कारण कवि का विश्वास भी एक आदर्श बनकर उपस्थित होता है और जनसमूह की भावनाओ मे विश्वास पैदा करता हुआ अनन्त के इस छोर से उस छोर तक व्याप्त हो जाता है।

काव्य मे जिस प्रकार भाषा का चुनाव होता है उसी प्रकार विषय का भी सही निर्धारण होना चाहिए। विषय यदि सहज, सरल और सुबोध होता है तो कलाकार भी उसमे निपुणता से अपनी दक्षता दिखा सकता है, यह एक विचार है। परन्तु कवि की शक्ति अपरिमित होती है। वह होनी को अनहोनी और अनहोनी को होनी कर प्रस्तुत कर सकता है। असाधारण तत्त्वो को साधारण भूमिका मे और साधारण तत्त्वो को असाधारण भूमिका मे लाकर प्रतिष्ठित कर सकता है। परन्तु इन सबके पीछे एक लक्ष्य होता है, एक गति होती है। वह अपने लक्ष्य से च्युत होकर सफल नही हो सकता और न अपनी स्वाभाविक गति को मोडकर ही आनन्द पा सकता है। अत सफल कलाकार वही है जो किसी भी विषय को हस्तगत कर उसमे चेतना उडेल दे।

किसी विराट् व्यक्तित्व को काव्य की मधुर सीमा मे वाधना सरल भी है और कठिन भी। पौद्गलिक शब्दराशि मे वह शक्ति कहा जो सजीव व चिरस्थायी व्यक्तित्व को वाध सके। परन्तु निपुण कवि की स्थितप्रज्ञता और शब्द-सकलना-शक्ति से यह कार्य सुनकर अवश्य हो जाता है। जीवन-चित्रण की कला मे वही कलाकार सफल हो सकता है जिसमे जीवन की समानान्तर रेखाओ पर दौडनेवाली, जीवन की समग्रता मे एकरस हो वहने वाली वेदना हो, अनुभूति हो।

कवि आस्थावान् होता है—अपने प्रति भी और दूसरो के प्रति भी। उसमे श्रद्धा होती है। शुष्क तर्कजाल मे वह नही फसता। वह उसी को सत्य मानता है जो श्रद्धागम्य है, अगम्य है, चिरस्थायी है। वितर्कणा का अतिक्रमण कर वह विचार और आनन्द के झूले मे पेंगे मारता हुआ अभूतपूर्व आनन्द का अनुभव करता है। उस अनुभव को वह दूसरो तक पहुचाना चाहता है, तव वह गुनगुनाता है और प्रकृति के लहलहाते सौन्दर्य मे सुध-वुध भूलकर कुछ कहता है—वही काव्य वन जाता है। उसमे कृत्रिमता या दिखावा नही होता। जव वह अपनी अनुभूतियो को विविध स्वरो मे गूथकर थिरकती हुई रागिनियो मे अभिव्यक्त करता है तव 'स्वान्त सुखाय' की अपूर्व वेदना मे वह खो जाता है और व्यावहारिक भूमिका से ऊपर उठ वास्तविक भूमिका मे आ जाता है।

प्रस्तुत निवन्ध तपोनिष्ठ आचार्यश्री तुलसी की अनवरत तपस्या से उद्भूत एक विराट् काव्य का सक्षिप्त परिचय मात्र प्रस्तुत करता है। मैं यह मानता हू कि अतिविशाल और अतिगूढ इस महाकाव्य को अपने शब्दो मे वाधना दुष्कर है। परन्तु इस शब्द-सकलना से होने वाली अनुभूति के लोभ का मैं सवरण भी नही कर सकता। प्रचण्ड सूर्य जिस अपरिमित शक्ति से चराचर को प्रकाशमान करता है, उस शक्ति की अल्पाश मे भी तुलना न करने वाला टिमटिमाता दीप अपनी परिपार्श्वक वस्तुओ को तो अवश्य ही प्रकाश मे ला देता है। मेरा भी ऐसा ही कुछ तुच्छ प्रयास है।

इस काव्य को 'कालूयशोविलास' की सज्ञा दी गई है। इसके चरित्र-नायक 'आचार्यश्री कालूरामजी' है, जिन्होने अत्यल्प अवस्था मे अपनी मातुश्री 'छोगाजी' के साथ वन्धु-वान्धव और गृहस्थी के ऐन्द्रजालिक

व्यूहो को तोडकर पूर्ण वैराग्य ने भागवती दीक्षा ग्रहण की। अनासक्ति योग के मार्ग पर बढते हुए आपने अपने जीवन को तपस्या मे तपाया और बिखरे उलझे मायाजाल के मध्य मार्ग बनाते हुए अपने गन्तव्य की ओर निर्भयता से बढते चले गये। तेरापथ सघ को आपमे असीम विश्वास था और सघ-सदस्यो ने आपके भीतर एक निरखता हुआ व्यक्तित्व देखा। सघर्ष ही जीवन है—यह उक्ति आपके साठ वर्ष के जीवन मे चरितार्थ होती हमने देखी। सघर्ष के पहाड टूट पडे, अनगिनन बाधाओं ने सिर ऊचा किया, परन्तु एक निर्भीक सैनिक की भाति आप आगे से आगे चरण बढाते ही गये। ईर्ष्यालुओ ने आपके पदचिह्नो को मिटाने का प्रयत्न किया परन्तु सब निष्फल। जहा भी आपके चरण पडे वही वह वसुन्धरा उन स्वर्णिम रेखाओ से अकित हो अपने आपको धन्य मानने लगी। आपका हृदय वज्र से भी ज्यादा कठोर था, परन्तु मन कोमल फूलो से भी अति कोमल था। शिथिलता के साथ आपने कभी समझौता नहीं किया।

बच्चो के प्रति वात्सल्य, वृद्धो के प्रति सम्मान और समवयस्को मे विश्वास—ये आपके स्वाभाविक गुण थे। बालक साधुओ को जाडे मे ठिठुरते देख आप स्वय द्रवित हो जाते और उनकी भूख-प्यास मे आप स्वय त्रसित हो जाते—इस वात्सल्य ने उन बालको को जीवन दिया है और दिया है एक अखूट-सम्बल जो जीवन की 'इति' तक पर्याप्त है। पर्याय व अवस्था से वृद्ध सन्तो को आपने सयम का साहाय्य दिया और उचित विनय-वात्सल्य से उन्हें वर्धापन दिया। समान वय वालो को विकास की उस चरम सीमा पर ला दिया, जहा से एक दृष्टिपात भी उन्हे आनन्दविभोर कर देता। उनकी पर्याय का सरक्षण, शिक्षा का विकास और गुणो के उपहरण मे आप सदा सचेष्ट रहे। यह आपकी महनीय कलना थी।

आपकी ज्ञानपिपासा और परम्पराओ के प्रति श्रद्धा की भावना आज भी हमे श्रद्धाशील विद्यार्थी बने रहने की ओर प्रेरित करती है।

आप जानते थे कि साध्य तपने से सधता है अत आपने शरीर, मन और वाणी को खपाया।

इन्ही गुणो ने आपको साधना की व्यावहारिक उच्चता पर ला खडा किया। विशाल सघ के आप 'आचार्य' बने। स्थान के साथ जिम्मेदारिया भी बढी।

सारे सघ की सारणा-वारणा और योग-क्षेम को वहन करने मे आप समर्थ सिद्ध हुए। तेरापथ ने एक मनस्वी, तपस्वी और वर्चस्वी आचार्य को पा अपने भाग्य को सराहा। दूर-दूर देशो मे साधु-साध्वियो को भेजकर आपने तेरापथ का प्रसार किया और लाखो लोगो के टिमटिमाते जीवन को फिर से जगाया। अनेक प्रान्तो मे आप घूमे। अनेक दीक्षाए दी और अपनी वृद्धा माता को अपनी यशोगाथा सुनने के लिए जीवित ही रखकर गगापुर मे वि० स० १९९३ की भाद्र शुक्ला ६ को पूर्ण समाधि मे इस ससार से चल बसे।

सूत्र रूप मे यह उनके यशस्वी जीवन का खाका है। उनका जीवन इतना विशाल व हृदयस्पर्शी है कि समग्रता से उसका अकन किया जाय तो वह बहुत बडा ग्रन्थ हो सकता है।

इस काव्य के चित्रकार हैं आचार्य श्रीतुलसी जिनकी शिक्षा-दीक्षा श्री कालूगणी के हाथो सम्पन्न हुई। ग्यारह वर्ष की छोटी-सी कालावधि मे वे गुरु के समक्ष सामान्य साधु की भूमिका मे रहे और निकटता से उनकी सेवा करने का उन्हे सौभाग्य मिला। यह गुरु-शिष्य का सम्बन्ध वास्तव मे अद्वैत था। एक-सा चिन्तन, एक-सा विचार, एक-सा स्वभाव आदि-आदि अद्वैत परकतत्त्वो ने सघ मे एक नवीन उत्साह को जन्म दिया। आत्मा का अद्वैत जब भावना की भूमि पर उतरता है, तब छिटपुट विभिन्नताए ऐसे पराभूत हो जाती हैं जैसे पानी के वक्ष पर खीची गई रेखाए। गुरु के पवित्र पावन जीवन को आपने निकटतम रेखाओ से देखा है, पढा है, सुना है। अत जीवन-चित्रण मे स्वाभाविकता और मौलिकता का प्रस्फुट विवरण हो पाया है। जीवन-चित्रण के साथ-साथ दार्शनिक मौलिकता और परम्पराओ का स्फुट चित्रण भी अपनी विशेषताओ को लिए चलता है।

आचार्यश्री तुलसी जन्मजात कवि हैं। उनके जीवन का अणु-अणु सगीतमय है। कवि सौन्दर्य का उपासक होता है। उसमे खीचने की अपूर्व

शक्ति है। जो व्यक्ति हजार उपायो से भी नही पिघलता वह सगीत के एक पद से पानी-पानी हो जाता है। पत्थर को पानी पर वहा देने की शक्ति स्वरो मे है। सगीत-साधना मे तन्मय एक मस्त साधक की थिरकती हुई स्वर-लहरियो को सुनकर राजा का विरह भभक उठा। उसे अपनी प्रेयसी का स्मरण हो आया। स्मृति मे माधुर्य होता है। परन्तु विरह की स्मृति व्यक्ति को शोकाग्नि मे भस्मसात् कर देती है। वह जला, इतना जला कि उसकी लपटे साधक के पास भी पहुच गईं। सिपाहियो ने उसे राजा के सामने ला उपस्थित किया। राजा ने कहा—"तुमने मेरे चमन को उजाडा है। शून्य गृह मे तुमने आग लगाई है। कल प्रात काल सूर्योदय होते-होते तुम्हे फासी पर लटकाया जायेगा। यह मेरी आज्ञा है।" कलाकार ने सुना। वह अपनी सफलता पर प्रसन्न था। मौत का भय उसे छू भी नही सका। उसने सोचा—"जीवन एक गीत है, जो मृत्यु के मधुर स्वरो से वना है। धीरे-धीरे वह मृत्यु स्वय गीत वनकर रह जाती है। मृत्यु प्रकाश है, जिसका उत्स जीवन-प्रदीप है। जीवन नश्वर है, मृत्यु अमर। मरकर ही तो व्यक्ति जीता है।" इसी उधेडवुन मे वह वहा से अपने खेमे मे चला गया।

प्रात काल का समय था। चारो ओर लालिमा विखर रही थी। पक्षियो के कलरव ने मानव के मानस मे गुदगुदी पैदा कर दी थी। आशा का अनुबन्ध मधुर होता है। प्राणी निद्रा को छोड अनेक आशाओ को लिए अपने कार्यो मे सलग्न हो रहे थे। किसी का घर वस रहा था तो किसी का उजड रहा था। यह ससार की माया है। सिपाही उसे पकड ले गये। राजा ने आदेश की वाणी मे कहा—"गायक! फासी से पहले हम तुम्हारी अन्तिम इच्छा पूर्ण करेंगे। कहो, क्या चाहते हो?" उस मस्त सगीतज्ञ ने कहा—"राजन्! समस्त कामनाओ और इच्छाओ की मैं अन्त्येष्टि कर चुका हू। सौन्दर्य की साधना मैंने की और आज उसका साक्षात् होने जा रहा है। इससे वढकर और क्या लाभ हो सकता है? गाते-गाते ही मरू, यह मेरी अन्तिम कामना है।" राजा ने कहा—"तथास्तु!" सिपाही दूर हट गये। उसने अपने साज मगवाये। वाग्देवी को नमस्कार कर वह गाने लगा और स्वरो में तन्मय हो उठा। लोल

लहर-सी चपल उसकी स्वर-तरगो से करुणा का स्रोत उमड पडा। सभी श्रोता निस्तब्ध रह गये। स्वरो के उच्चावचत्व मे वे सुध-बुध खो बैठे। वह सारस्वत पुत्र था। वह गा रहा था। सूर्योदय हुआ, पहर दिन चढा, मध्याह्न हुआ, सायकाल की बढती परछाई वहा स्पष्ट प्रतीत होने लगी। सूर्य अस्ताचल के समीप पहुच चुका था। दिशाए लाल हो रही थी। एकाएक वह रुका। राजा को होश हुआ। फासी का समय बीत चुका था। वह छोड दिया गया। सत्ता पर सौन्दर्य की विजय से वातावरण खिल उठा।

आचार्यश्री तुलसी ने अपने श्रद्धेय आराध्य के व्यक्तित्व के बिखरे स्वरो को सुरीली तान मे बाधा है। इससे जीवन मे सौन्दर्य प्रस्फुटित हुआ है जो कि युग-युग तक जीवन की उपादेयता का पाठ पढाता रहेगा। सहसा बचपन की उन पक्तियो का स्मरण हो आता है—

"व्यर्थ कोई भाग जीवन का नही है,
व्यर्थ कोई राग जीवन का नही है।
बाध दो सबको सुरीली तान मे तुम,
बाध दो सबको सुरीले गान मे तुम।"

कवि की उपादेयता को अल्पाक्षरो मे समझाते हुए मुनिश्री नथमलजी ने एक सुन्दर तुलना प्रस्तुत की है। वे कहते हैं—दार्शनिक और कवि मे रात-दिन का अन्तर है। दार्शनिक शुष्क तर्को मे उलझा रहता है और सत्य के आनन्द को बुद्धि के माध्यम से पकडना चाहता है। परन्तु कवि सत्य को शब्दो मे गूथकर एक ऐसी लय उपस्थित करता है कि उसकी झकार से केवल रोम-कूपो मे ही नही, गूढतम प्रदेशो मे भी कम्पन होता है जिससे अजस्र आनन्द की अनुभूति होने लगती है। मुनिश्री नथमलजी का कवि हृदय दार्शनिक से कहलाता है, 'आनन्दस्तव रोदनेऽपि सुकवे मे नास्ति तद् व्याकृतौ'—'कवि! मैं आनन्द की अभिव्यक्ति करता हू, फिर भी मुझे उसकी अनुभूति मे रसास्वादन नही होता और तू रोता भी है तो भी आनन्द का सागर तुझ मे हिलोरें लेने लग जाता है। यह कैसा विपर्यास है?'

भाषा की दृष्टि से

राजस्थानी भाषा की यह अप्रतिम कृति है। इस काव्य ने राजस्थानी भाषा के इतिहास मे एक नूतन कडी जोडी है। राजस्थानी साहित्य तीन शैलियो मे लिखा गया मिलता है—१ जैन शैली, २ चारण शैली, ३ लौकिक शैली। इनमे जैन शैली की विशेप महत्ता रही है। जैन साधु और यतियो ने अपने साहित्य-सृजन द्वारा जो देन दी है वह इस भापा की अमूल्य निधि है और आज भी यह भापा उनकी ऋणी है। 'कालूयशोविलास' काव्य इसी परम्परा की एक वेजोड कडी है। भाषा राजस्थानी होते हुए भी उसमे सस्कृत व अन्यान्य देशीय शब्दो का प्रचुर मात्रा मे प्रयोग है। यह भापा को समृद्ध वनाने का सरल उपाय है। आदान और प्रदान दोनो समृद्धि के साधन है। एकान्तिकता हितकर नही होती। समृद्धि का मार्ग अनेकान्त है। एकान्त प्रदान से मूल विगड जाता है और एकान्त आदान से स्वरूप की हानि होती है। दोनो का उचित सामजस्यपूर्ण सकलन ही कमनीय होना है। इस काव्य ने राजस्थानी भाषा के शव्द-भण्डार को वढाया है, यह प्रस्तूयमान कलेवर से स्पष्ट होगा ही। जीवन को वैचित्र्य भाता है। जीवन-धारा के किनारे-किनारे चुपचाप अपनी निश्चित पगडडी पर चलते चलना किसी को नही भाता। इसमे उत्साह और उन्मेष नही आते। जीवन दूभर हो जाता है। जीवन मे परिवर्तन और मोड आवश्यक होते है, उसे गतिमान करने के लिए।

कवि एक ही राग आलापे तो सुननेवाला ऊव जाता है। नई-नई रागिनियो मे नई-नई तरगें पैदा करने की शक्ति होती है। विभिन्नता ही जीवन का स्रोत है। इस महाकाव्य मे अनेक रागिनियो को सदृव्ध किया गया है। गायक गाता चले—कही अवरोध नही होता। श्रोता सुनने लगे और सुनता ही रहे। तोष मे भी अतोप वना ही रहता है।

इस काव्य मे सवको आप्लावित करने वाले महान् आनन्द का जो सागर लहरा रहा है और जीवन को पारमैश्वर्य की ओर ले चलने वाली जो सत्ता है उसके दर्शन पाठको को इस लघु निवन्ध द्वारा कराने मे मैं असमर्थ हूँ। काव्य के समग्र पठन-पाठन से ही वह सभव हो सकता है।

काव्य की साहित्यिक समीक्षा

प्रकृति का वैभव अखूट है। उसके लहलहाते सौदर्य की अनुभूति तपस्या मे अनवरत तपनेवाले साधको को होती है। नीरसता मे सरसता की सवेदना भी उन्हे ही होती है। अत्यन्त चचल और गतिमय जीवन मे भी स्थिर रेखाओ को अकित करना कवि-जीवन का सामर्थ्य है। मरु के नीरस वालू-कणो मे कवि-कल्पना का गौरव देखिए—

बेलू-पर्वत-पर्वत सवया, प्रवया परिणत वेशे रे॥
इर्यणिये रेणु कणा शशि किरणा, चल के जाणक चादी रे।
मन हरणी धरणी यदि न हुवै, अति आतप अरु आधी रे॥

स्थली (मरुस्थल) मे वालू-कणो के ऊचे-ऊचे टीले होते हैं। कवि उत्प्रेक्षा के द्वारा यह कहता है कि वालू कणो के ये उच्च ढेर पर्वत के समान ऊचे हैं और ये अति प्राचीनकाल से परिवर्तित व परिवर्धित होते आए हैं। इनमे परिवर्तन का नियम अटल है। रात्रि मे जब चन्द्रमा अपनी शीतल ज्योत्स्ना को इन पर बिखेरता है तब वालू के ये छोटे-छोटे कण चादी की आत्मा को या शुभ्र ज्योत्स्ना से घुल-मिलकर श्वेतिमा को बिखेरते हुए चमकने लग जाते हैं। इन दृश्यो से यह देश सुन्दर और मनोहर है, परन्तु यह और भी रमणीय बन जाता यदि यहा प्रचण्ड आतप और आधी का प्रकोप नहीं होता।

उपर्युक्त विवरण मे मरुस्थल के भाव और अभाव का स्फुट चित्रण हुआ है। न तो उसमे अतिशयोक्ति है और न वास्तविकता का गोपन।

ऐसे मनोरम मरुस्थल देश के सहज सरल व धर्ममय जीवन देखकर कवि उसे 'स्वणस्थल' कहते ललचाता है—

सहज सरल श्रद्धालु हद हृदयालु जन जिहा वासी रे।
वहु परिवार अपार धान्यधन, मुनि सेवा अभिलाषी रे॥
एहवी रचना जिहा कहो किमतसु नाम 'मरुस्थल' साधू रे।
स्वर्ण-स्थल भल भावै भाखत नहि कोई जात नो वाधू रे॥

अपने आराध्य के जन्म-नगर और जन्म का वर्णन करते समय समूचे इतिहास को स्वरो मे वाधकर कवि आनन्दविभोर हो स्वर्ग को नीचे खीच

लाता है और अपने मूक सकेतो से यह कहता है—'Heaven walks, on earth'—'स्वर्ग पृथ्वी पर चल-फिर रहा है।'

वीकानेर शहर राजधानी, बिम्कानी जिहा छाज रे।
रणवका राठोड ठोड तिहा, डूगरसिंह नृप राजै रे।
छापुरपुर सुरपुर ममसुन्दर, व्याधि विपद् थी वरज्यू रे।
वाहिर 'ताल' हाल जाहिर जिम, जिन मनमे सूरी-सरज्यू रे।

प्रसवकाल का चित्रण करते हुए प्रसूत और प्रसविनी का कितना सुन्दर वर्णन किया है—

वय युवती डुवतीस वर्पनी, पामी अग निरोगा रे।
शुभ सयोगा विगत वियोगा, प्रसव्यो नन्दन छोगा रे॥
विक्रम उगणीसै त्रयत्रिशै वर्पे फाल्गुन मासी रे।
शुक्ल पक्ष द्वितीया गुरुवासर, कन्या लग्न विलासी रे॥
शुभ वेला पुलग्रह नक्षत्र, पवित्र वार मन भावै रे।
पुण्यवान के पगले पगले, दौड्या दौड्या आवै रे॥
माता मन मे मोद न माय्यो, निरखी निज नानूडो रे।
निलवट निको अष्टम शशि सम, लोचन युगल चरूडो रे॥

नीरोग और प्रसन्न-वदना माता ही स्वस्थ और वर्चस्वी पुत्र को जन्म देती है। शुभ वेला मे 'कालू' का जन्म हुआ। ठीक ही है, पुण्यवान् व्यक्ति की शुभ सूचना देनेवाले सभी शुभ सकेत स्वत एकत्र हो जाते हैं। नवजात शिशु के स्वरूप का अकन करते हुए कवि कहता है—

"भाल की तरह सुन्दर, आठम के चन्द्रमा की तरह मनोहर और कुम्भ कलश-सी विशाल आखो वाले वालक को देख माता का मन मोद के सभार से भर जाता है। वह अपने तनुज (नानूडे) का मुख देखकर अपनी प्रसव-वेदना को भुला देती है।"

माता की ममता अपूर्व थी। ममता के उद्वेग मे वह 'अवला' नही, 'सवला' वन जाती है। वह सिहनी-सी गर्जना कर अपने शौर्य का प्रदर्शन करती है। जव वह दुर्गा का रूप धारण करती है तव चराचर मे ऐसी कोई शक्ति नही जो उसको प्रशमित कर सके। उसकी ललकार मे वेदना होती है, टीस होती है। वह ममता के सागर को अपने वक्षस्थल पर सजोये

रखती है—इसीलिए वह जगज्जननी कहलाती है। एक आकस्मिक घटना का 'श्री कालू' की श्री माता ने किस प्रकार डटकर सामना किया, इसका साक्षात् दृश्य कवि के स्वरो को गुनगुनाते ही प्रत्यक्ष हो जाता है

तीन दिवस नो जब थयो, मूल लाल सुविशाल।
तब ही थी खटकण लग्यो, शत्रु हृदय मे शाल॥
निशा समे सूतीहुती, छोगा अगज पास।
दानव एक डरावणो, परम भयकर भास॥
कालो कज्जल सोदरू, घटा घनाघन घोर।
जड सजोर आयो जिहा, सूतो मूल किशोर॥
साहस सिंहनी नो धरी, सुत तनु हेठै राख।
"जाजरे पापी परो, यू मुख कीधी हाख॥
सुत नैं तो सकट नही, होवण द्यू तिलमात।
दियो पछाडो हाथ नो, इम कहती तब मात॥
तत खिण जइ अलगो पड्यो, जाणक तामसरूप।
क्षण मे दृष्टि अगोचरू, हुवो पाप को धूप॥

नामकरण—

द्वादश मे दिन ओच्छव करनै, राशी ने अनुसारे।
शोभचद अमन्द नाम जसू, दीधू हर्ष अपारे॥
मात-पिता मन रगे नन्दन, 'कालू' नाम बोलायो।
हाथोहाथ सचारी सुत नै, हस हस ने हुलरायो॥

कवि यथार्थ-दृष्टा होता है। वह प्रकृति के सूक्ष्मतम परिवर्तनो को भी सहजतया पकड लेता है, जीवन के ताने-बाने मे घुली-मिली उपमाओ को स्वरो का परिधान पहनाकर एक-एक सनातन सत्य को सामने रख देता है। व्यक्ति राग और विराग का सकलन है। राग से विराग की ओर गति क्रमश होती है, हठात् नही। बालक एक दिन बूढा होता है—हठात् नही, किन्तु लम्बे काल के बाद। यही रहस्य कवि ने निम्न श्लोक मे व्यक्त किया है

वय जिम तिम वैराग्य भावना, दिन दिन बढती जावै।

तेरापथ के पाचवें आचार्यश्री मघवागणी अपनी सुकुमारता और

सुडोल गठन के लिए प्रसिद्ध थे। कवि ने उनके शरीर और स्वभाव के वर्णन मे कितनी सुन्दर उत्प्रेक्षा की है—

"मघवा गणिन्द शात सुधाकर, पावन पतित उधारी॥
जसु वदनारविन्द छवि विमला, लखि कुण मुग्ध न होवै।
शारद शात शशाक चन्द्रिका, कुण सनयन नही जोवै॥
जास शरीर सौम्यता वर्णन, कवण करै विण वाणी।
मजुल मार कुमार हारमुख, आगल भरते पाणी॥

शरद ऋतु के चन्द्रमा की ज्योत्स्ना अति शुभ्र व स्पष्ट होती है। कामदेव सौन्दर्य का प्रतीक है। कवि कहता है कि 'मघवागणी' इनका भी अतिक्रमण कर गए।

शैक्ष और वालक मे कोई अन्तर नही होता। जिस प्रकार प्रारम्भ मे वालक को खडे होना, चलना, वोलना आदि शारीरिक व्यापार सिखाये जाते है उसी प्रकार शैक्ष को भी सारी चीज़े सिखानी पडती है। शैक्ष जीवन को एक निश्चित साचे मे ढालने का गुरुतर भार कौन सम्भाले ? स्वय गुरु इसे सम्भालते है और अपनी सूझ-वूझ से उसे आत्मा से परमात्मा वना देते है। यह कार्य अति दुष्कर है। किस प्रकार प्रेम की गगोत्री मे साधक को नहलाया जाता है, किस प्रकार उसके वर्तमान और अनागत जीवन को सूत्र मे वाधकर सरक्षण देना होता है यह विशेषता तपोनिष्ठ तपस्वी मे ही सम्भव है। 'श्री कालू' अपने जीवन-प्रणेता के पादपद्मो मे अवस्थित हैं। गुरु उन्हे शिक्षा के मिष एक अपूर्व जीवातु प्रदान कर रहे है। स्वय कवि यहा मुखरित हो उठता है और जीवन की सनातन अनुभूतियो को स्वय व्यक्त न कर गुरु-मुख से कहलाता है (शब्दो मे अर्थाभिव्यक्ति की सामर्थ्य है परन्तु पात्र-भेद से अर्थ-गौरव मे तारतम्य आता है)। गुरु का 'नुकार' शैक्ष को उच्चतम स्नेह की अनुभूति कराता है। गुरु अपने शिष्य को—

कही 'कालू' काल सम्वोधै, इत आ, इत आ इम अनुरोधै।
निज निकट निवासै मन मोदै॥

गुरु और शिष्य का सम्वन्ध अद्वैत है। शिष्य का योग-क्षेम गुरु वहन करते है और गुरु के अनुशासन और शिक्षाओ को शिष्य वहन करता है।

दोनो मे तादात्म्य है। एक का सुख अपर का सुख है और एक का असुख दूसरे का असुख है। परन्तु गुरु कितने दयार्द्र होते है, यह एक घटना के माध्यम से कवि प्रस्तुत करता है—

इक दिवस शीत ऋतु चमकाणी,
तव कालू काया कम्पाणी।
थरहर थरहर जिम तरु पाणी।
जव मघवा दृग दौलत जाणी,
निज गाती शिशु तन पर ठाणी।
आपी मनु युवपद निशाणी।

कवि सक्षेप और विस्तार दोनो को साथ लिए चलता है। सक्षेप मे विस्तार समाहित हो यह उसकी विलक्षणता है। प्रत्येक प्रयुक्त शब्द विशदार्थ का अभिव्यजन हो—यही चुनाव कविता को निखार देता है। कवि कितने नपे-तुले शब्दो मे गुरु-जीवन की यथाथ झाकी प्रस्तुत कर रहा है

"आचार्यपद, युवराज-पद चारित्र सर्वायुवली।
वर सार्द्ध ग्यार अठार इकताली त्रिपचाशत मिली॥
गहि जीत गादी रीत सादी स्फीत आजादी करी।
वन्ना सुजात गुलाव भ्रात मुनीश मघ सुर श्रीवरी॥

गुरु के स्वर्गवास हो जाने पर शिष्य का हृदय विरह-व्याकुल हो उठता है। हृदय मे विरह से उत्पन्न उत्ताल तरगें आकाश छूने को ऊची उठती हैं और फिर उसी हृदय तडाग मे विलीन हो, नये रूप का सृजन कर दूने उत्साह और वेग से उछलती है। सवेदना का कितना स्वाभाविक चित्रण किया है कवि ने—

गुरु मघवा सुर गमन लख, कालू दिल सुकुमार।
विरह विखिन्न भयोयथा, कूपिवत विन जलधार॥
पलक पलक प्रभु मुख वयण, स्मरण समीरण लाग।
झलक झलक झलकण लग्यो, कालू हृदय तडाग॥

गुरु का विरह असह्य होता है। जव विरह-वेदना शिष्य की वुद्धि मे प्रतिविम्वित होती है तव वह अपने आराध्य को भी मीठे उलाहना देने

लगता है। उन उलाहनो मे उनकी श्रद्धा, सवेदना और अनुभूति बाहर झाकती है। तब श्रोता भी वेदना-विह्वल हो उसी के साथ गाने लग जाते हैं

एक पक्खी प्रीत नही पडै कदी पार रे।
पिउ पिउ करत पपैयो पुकार रे,
पिण नही मुदिर ने फिकर लिगार रे॥
मोटाजन जोवे नही पाछलो प्यार रे,
मोक्ष जाता वीर मुक्या गोयमने लार रे॥
बीजो कोई हुतो तो ओलभो बेशुमार रे,
देतो पिण कहा करिये तुज नैं त्रिभुवन तार रे।

तेरापथ के छठे आचार्यश्री 'माणकजी' रोगग्रस्त हैं। व्याधि उत्तरोत्तर बढती जा रही है। प्रमुख शिष्य आचार्य को अपने गुरुतर कर्तव्य की याद दिलाने के लिए विनम्र शब्दो मे कह रहे है

हे जिन शासन सेहरा काइ, हे जिन शासन भाण।
हे जिन शासन साहिबा काइ, भैक्षवगण महाराण॥
उम्र हजारी आपरी काइ, शासन क्रोड वरीश।
आसन अखी रहो सदा काइ, ज्यू ग्रहगण उडु ईश॥
पिण विनम्र विणती विभो! काइ, है हम सहुनी आज।
उग्र रूजाइ आपरो तनु, शिथिल भयो महाराज॥
तिण हेते कोइ पाछलो काइ, करिये पूज्य प्रबन्ध।
ज्यो भिक्षगण मे रहै नित्य, गणि गण नो सम्बन्ध॥
म्है अर्थी प्रभु अर्जना काइ, पाछै रावली राह।
पिण कर्त्तव्य ए रावलो तिणै, बलि बलि विनवो माह॥

इतनी प्रार्थना करने पर भी गुरु ने अर्ज नही सुनी। कवि कहता है कि गुरु की अलख गति होती है, उसे भला कौन जान सके!

बहुली विज्ञप्ति करी पिण, गुरु न कियो कछु गौर।
अलख गती गुरुदेवनी कहो, कहा करिये तिहा जोर॥

'श्री माणकगणी' का स्वर्गवास हो गया। उन्होने अपना उत्तराधिकारी

नही चुना था। सारे सघ मे एक गम्भीर चिन्ता व्याप्त हो गई। कौन इस गुरुतर भार को ले—यह सोचा जा रहा था। लोगो मे ऊहापोह चालू था। जिनमे श्रद्धा थी वे मगल भावनाए करते रहे, जिनमे विरोध था वे उपहास करते रहे और जिनमे तटस्थ-वृत्ति थी वे त्रिशकु की तरह बीच मे लटकते हुए आशा-निराशा, कुतूहल और जिज्ञासा की रेखाओ पर चलते हुए मौन मे आश्चर्य का भाव लिए खडे थे। लोगो के उन मानसिक भावो का मनोवैज्ञानिक विश्लेपण करते हुए कवि ने जो चित्रण किया है, वह कितना स्वाभाविक और यथार्थ हो पाया है यह विशेप मननीय है

एक कहै हिवे जोवस्या रे, तेरापथ नो ख्याल।
पूज्य पछेवडी कारणै रे, मचसी खूब धमाल।
मचसी खूब धमाल जिवारे, लडसी, निज निज हक्करे लारे।
मोडा मडसी ऊठ सवारे, नहि कोइ हरकण हारो या रे॥
इक कहै भीखणजी भला रे, सहज रच्यो काइ ढूग।
दलिया नित प्रति आपणी रे छाती ऊपर मूग।
छाती ऊपर मूग जो दलिया, तेहिज बीज जुवो—हिवै फलिया
बिन मालिक कदि मारग चलिया, मेलवै हा माही हा मूड मिलिया॥
केक विवेकी इम कहै रे, तेरापन्थ तणीज।
आपा तिल भर नालहा रे, अहा अद्भुत तजवीज।
अहा अद्भुत तजवीज है ऐसी।
जोहि करे सोहि आवै पेसी।
कवण लखै एह केम करेसी।
पहिली जिम रखै मूग दलेसी॥

विरोधी और सज्जन व्यक्तियो की मनोभावनाओ का कितना सजीव चित्र उपस्थित हुआ है। विचार तत्काल नही बनते, उनके पीछे सस्कारो की अटूट परम्परा होती है जो कि व्यक्ति को स्वानुकूल विचार करने को बाध्य करती है। यह आधार है विरोधी के प्रति विरोध के उत्पन्न होने और स्नेहासिक्त के प्रति स्नेह के उमड पाने का। क्या यह तथ्य उपर्युक्त पद्यो मे सम्यग् भावित हुआ है ?

आज मानव को पदलोलुपता नोच-नोचकर खा रही है। तेरापथ

इन सक्रामक बीमारी मे सदा अछूता रहा है। यहा 'पद' दिया जाता है, मागा नही जाता। सप्तम आचार्य के स्वर्गवास हो जाने पर मुनि 'मगनलालजी' अपने से अवस्था मे छोटे मुनि से 'गुरुपद' ग्रहण करने के लिए आग्रह कर रहे हैं और भावी आचार्य उस पद पर प्रतिष्ठित होने मे अपनी अनिच्छा प्रकट कर रहे हैं। अनासक्त योग का कितना उत्कृष्ट उदाहरण है यह। कवि इन भावनाओ को यथारूपेण परम्परा के मधुर स्वरो मे बाधकर दक्षता से उपस्थित करता है—

मगन मुनि तिह अवसरै, पत्र प्रकार सुजाण।
विनवै पाट विराजिये, भैक्षवगण ना भाण ॥
'कालू' कर काठो करै, भरै न इम हुकार।
उचरै वैन विलोकिये गुरुवर पत्र निकार॥
मगन कहै सही जोवस्या, प्रथम विराजो पाट।
पलपलाट करतो प्रकट, लखिये लेख ललाट॥

मधुर व्यग्य कसते हुए मुनि मगन कहते है

जन्म स्थली तुमारडी, थली सुघड सरदार।
तोरे किहा जइ सीखिया, मारवाड मनुहार॥

मुनि मगन ने कहा—देव, आप गुरु-पद को ग्रहण कर हमे कृतार्थ करें।

श्री कालू ने कहा—नही, ऐसा नही हो सकता। सर्वप्रथम गुरु के हाथ का लिखा हुआ पत्र पढो।

मुनि मगन ने कहा—हा-हा! गुरु का पत्र अवश्य देखेंगे, आप पहले इस पट पर विराजें। आपके चमकते हुए भाल से यह प्रतीत होता है कि आप ही हमारे नाथ बनेंगे। मधुर व्यग्य कसते हुए आपने कहा—हे देव! आपका जन्मस्थान तो थली प्रदेश है, परन्तु यह मारवाडी मनुहार आपने कहा से सीखी? समस्त शिष्य वर्ग की आन्तरिक प्रार्थना पर विचार करें और इस आसन को शोभित करें।

सभी शिष्य श्री कालू को गुरु-आसन पर आसीन करना चाहते हैं, परन्तु आप वह पद लेना स्वीकार नही करते। मनुहार चल रही है तब—

इम अतिमात्रज्ञ आग्र हे, सिहासन शुभ साज।
कर झाली कालूगणी, वेशाया मुनिराज॥

मुनि मगन ने उनका हाथ पकड गुरु के आसन पर बैठाया। चारो तीर्थ हर्षातिरेक से आनन्दविभोर हो उठे और जिन-शासन की जय से दसो दिशाए मुखरित हो उठी।

उपास्य और उपासक का सम्बन्ध असाधारण होता है। शब्दो के माध्यम से उसकी अभिव्यक्ति नही हो सकती। वह आन्तरिक भावनाओ की पवित्रता से उत्पन्न होता है। उनके विकास के साथ विकसित होता है और एक दिन वह स्वय उपास्य बनकर रह जाता है। उपासक के लिए श्रद्धा ही थाती है। वही से जीवन-रस का स्रोत उमडता है और अखड प्रेम से जीवन के अणु-अणु को आप्लावित करता हुआ जीवन के महासमुद्र मे लीन हो जाता है।

श्रद्धाभिव्यक्ति के अनेक साधन हैं। मूलत जब व्यक्ति श्रद्धा से ओत-प्रोत होता है तब उसके रोम-रोम से श्रद्धा की स्रोतस्विनी प्रवाहित होती है और अपने श्रद्धेय का अभिषेक करती हुई निरन्तर बढती चलती है। पथ के रोडे उसे अभिभूत नही कर सकते। वह अजेय शक्ति दुर्गा बन जाती है। उपासक चाहता है कि वह अपने उपास्य का सही चित्र चित्रित करे, परन्तु वैसा वह कर नही पाता। परिमित शब्द-राशि से अपरिमित का चित्रण कैसे हो? विसवादी ज्ञान की अनुभूति कैसे हो? परन्तु वह रुकता नही—तुतलाता है और उसका काव्य बन जाता है। वह फुसक-फुसककर रोता है, वही गीत बन जाता है। यह उपास्य का प्रभाव माना जाय, परन्तु यह उपासक की श्रद्धा का चमत्कार भी है।

कवि अपने आराध्य का विराट् रूप विविध अन्वय और समन्वय के माध्यम से अकित करता है। प्रकृति के अणु-अणु मे चराचर विश्व के समस्त अचल मे वह अपने इष्ट के दर्शन पा रोमाचित हो कह उठता है कि मेरा श्रद्धेय अजेय है—

उच्चासन अधिराजे, छाजै छवि अद्भुत।
पुण्य पुञ्ज अथवा भयो, प्रभुजश पिण्डी भूत।।
मानू भानू ससु, धरतो शशिनर स्वार।
रिज्य नही दिहे अवतर्‌यो सहमुनि गण-अहतार।।

शेषनाग अनुरागे समरी पुन्नम दृश्य।
डगमग मस्तक डोलिवै है भूकम्प अदृश्य॥

आचार्यश्री 'कालू' सफेद चादर ओढे एक उच्चासन पर स्थित है। उनके चारो ओर श्वेत वस्त्रधारी साधु-साध्विया बैठी है। कवि उस श्वेत वस्त्र को चन्द्रमा से निकली हुई श्वेत ज्योत्स्ना से उपलक्षित कर शाब्दिक चमत्कार को उपस्थित करता है—

डीले डपटी दुपटी, दीपै धवल प्रकाश।
पूज्यवदन रयनी घणी प्रगटी ज्योत्स्ना जास॥

श्रीमद् कालू तेरापथ के अष्टम आचार्य थे। कवि उनके विराट् व्यक्तित्व मे अतिशय देखता ही है परन्तु सख्यावाची आठ शब्द मे भी उसे अतीत और अनागत का गौरव दीखता है। वह इस पुण्य समागम को अलौकिक मानकर प्रमाण सम्प्लव से ही सिद्ध करते हुए कहता है

अष्ट कर्म अरिदलदली, थइ अष्टम गुणठाण।
अष्ट हलातल ऊपरै, अष्ट महागुण ठाण॥
गन्तुमना सुमना सदा, अष्ट मातृ पदलीन।
मथित अष्टमद महामना अष्टम पद आसीन॥
अष्ट सिद्धि आगम कथित, अष्ट आप्त प्रतिहार्य।
अष्ट रुचक रुचिकर तिणै, अष्ट अक अनिवार्य॥

कवि का जीवन विविधताओ से घनीभूत होता है। उसमे पिता का वात्सल्य, माता की ममता, भाई का स्नेह और पत्नी का प्रेम होता है। वह उडता है पर यथार्थ की रेखाओ पर। विविध अनुभूतियो का पिण्ड ही 'कवि' सज्ञा से व्यवहृत होता है। यह तथ्य निम्नोक्त विवरण से सुस्पष्ट हो जाता है।

पूज्यश्री 'कालू' श्वेतासन पर आरूढ हैं। दूर-दूर से अनुनय-उमगो को लिए साधु-साध्वियो की टोलिया आ रही है। एक टोली मे गुरुदेव की माता छोगा भी हैं। माता ने अपने पुत्र को देखा—उसके सहज सुन्दर वैभव को देख वह अपने आप मे अपूर्व आनन्द का अनुभव करती हुई अपने लाडले को अनिमेष देख रही है। कवि उस स्थिति का चित्रण करते हुए माता के मन भावो के आरोहावरोह का सजीव चित्र उपस्थित करता है

निज सुत त्रिभुवन तात नैं, वन्दें विकसित काय ॥
रू रू शीतलता भइ, हर्ष हिए अप्रमाण ।
चैन थयो चितडा विषै, लोयण अमिय भराण ॥
अनिमिष नयणे निरखता, जाणक अनिमिष रूप ।
अद्‌भुत अनुभव तीरती, चिन्ते चित्त अनुरूप ॥
मैं प्रसव्यो इण पुत्र नैं, उदर धरयो नव मास ।
स्तन्यपान करि पोपियो, हुल्लरायो हुल्लास ॥
मन मोदे गोदे गह्यो, पोढावी उत्सग ।
पाल्यो परिघल प्रेमस्यू, सो हुवो सफल उमग ॥
भाग्यवती रे सती अछू, मैं उण जग मे आज ।
माहरो सुत त्रिभुवन तिलो, छाजै तखत विराज ॥

विविधता भी एकता से अनुस्यूत होती है। आराध्य एक, आराधक अनेक। उपास्य एक, उपासक अनेक। श्रद्धेय एक, श्रद्धालु अनेक। आज का यह चिन्तन सत्य है। यदि किसी के पास देने के लिए, लुटाने के लिए कुछ होता है तो सारा ससार उसकी ओर स्वय चल पडता है, उसे विशेष प्रेरित करने की आवश्यकता नही होती।

इस सनातन सत्य की अनुभूति को कवि ने मर्यादोत्सव के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। इन पद्यो मे लोगो की श्रद्धाभिव्यक्ति का स्वरूप और माग की विविधता का सुन्दर व सजीव चित्र है। शब्दो का चुनाव इतना सुन्दर हुआ है कि कानो से उनका सम्बन्ध होते ही साक्षात् दृश्य सामने आ उपस्थित होता है।

'मर्यादा उत्सव' (माघ-महोत्सव) तेरापथ समाज का एक विशिष्ट सास्कृतिक पर्व है। उस अवसर पर प्राय समस्त साधु-साध्वी एकत्र होते है और दूर-दूर से अनेक आकाक्षाओ को लिए हुए हजारो श्रावक-श्राविकाएँ उपस्थित होती हैं। उत्सव का कार्य चालू है। लोग आ-जा रहे है। कवि कहता है

हिवै माघ-महोत्सव माटेजी, मनुज उम्हाविया ।
वेग-वेग वहि वाटैजी, प्रभुपद पाविया ॥
देश-देश ना वासीजी, निज-निज वेष मे ।

तजि एश अशेष विलासिनी, सुकृत गवेष मे ।।
केइ झुक-झुक निज शिर झोकैजी, पूण्य पदाम्बुजे ।
केइ देवालय जिम धोकैजी कर युग सयुजे ।।
केइ जुल जुल आवे आगे जी, पाका पानडा।
केइ घुलधुल चरणे लागेजी, वालक न्हावडा ।।
केइ उच्चे शब्द उच्चारेजी, स्वाम खमा घणी।
केइ पारव थी आय उतारेजी, आरती आपनी ।।
केइ पूछे छै प्रभु साताजी, तुम तनुरत्न मे ।
तनु लारे सारी वाताजी, सफल प्रयत्न मे ।।
केइ मागे मन अनुरागे जी, मुख आगे खडा।
गुरु आगल सहु सम भागैजी, लहुडा नै वडा ।।

कवि केवल कल्पनाओ मे ही नही उडता, वह यथार्थ की रेखाओ पर भी चलता है। जटिल से जटिल सिद्धात की बात भी वह इतने सहज व सरल ढग से रखता है कि तथ्य स्वय स्पष्ट हो जाता है

'एकान्तवाद मिथ्या हैं', यह भगवान् महावीर ने कहा हैं। सभी वचन सापेक्ष होते हैं। जैन दर्शन के दस सत्य को कवि ने छन्दोबद्ध कर शब्दो की सुघडता से उसे समझाया है

स्वगी मतभङ्गी सुखद जिन मत सङ्गी हेत ।
व्यगी अडवङ्गी भणी, झगी सो दुख देत ।।
इतर दर्शणी कर्पणी, नयवणिजा अनभिज्ञ ।
विज्ञ वणिग जिन दर्शणी, जय दुर्णय विपणीज्ञ ।।

महाकवि गेटे ने कहा—हम अपने यथार्थ पर नही जीते, स्वप्न पर जीते है। अगर स्वप्न की ज्योति वुझ जाए तो हम भी वैसे ही वन जाएगे, जैसे ये शिलाखण्ड पर्वत है। आशा ही जीवन की रस-कूपिका है, जिससे जीवन-धारक तत्त्वो का निरन्तर स्राव होता है और मनुष्य जीवित रहने मे समर्थ वन जाता है। आशा-प्रदीप को प्रज्वलित रखना महान् व्यक्ति का कार्य है।

महान् व्यक्ति किसी देश या जाति विशेष की धरोहर नही होता है। वह समस्त वन्धनो से उन्मुक्त होता है। देश, काल, जाति आदि काल्पनिक

व्यवधानो से वह ऊपर उठा हुआ महाप्राण होता है वह किसी का न होकर भी सबका है।

पूज्य 'श्रीकालू' इसी कोटि के महाप्राण थे। 'चरैवेति चरैवेति' उनके जीवन का सूत्र था। परन्तु इतनी विशाल मेदिनी का पावो से पार पा जाना सहज नही है। जहा आपका पदार्पण होता है—प्रेम, श्रद्धा और धर्म की त्रिवेणी वह चलती है, लोगो मे अपार आनन्द का प्रसार होता है, परन्तु साथ-साथ वह आनन्द दूसरो मे ईर्ष्या भी पैदा कर देता है। लोग दूर-दूर से दौडे-दौडे आते और अपने-अपने देश चलने के लिए गुरुदेव से अनुरोध करते है। मेवाड देश अछूता था, आशा का प्रदीप मन्द हो चला था। निराशा ने अपने पख फडफडाए। लोगो मे सकल्प की शक्ति जाग उठी। वे गुरुदेव के समक्ष आए और विरह-व्याकुल वेदना को अभिव्यक्त कर 'मेवाड' चलने का अनुरोध करने लगे। उनके अनुरोध को कवि ने सुरीले स्वरो मे गूथा है और प्रकृति के माध्यम से उन्हे बिखेरता हुआ श्रोताओ को भी उसी वेदना की अनुभूति कराने मे पूर्ण सफल हुआ है। यह कविता का एक पक्ष है।

कविता का दूसरा पक्ष है—कवि ने जन-भावना के मिष बहुत ही निपुणता से 'मेवाड' देश के प्राकृतिक सौन्दर्य को मुखरित किया है और प्रकृति की अति सूक्ष्मता को पढने मे सफल रहा है। विरह-व्यग्र चित्तो से निकल पडा

पतित उधार पधारिये रे, सगे सबल लेहि थाट हो राज ।
मेद पाटनी मेदनी रे, जोवै खडी-खडी बाट हो राज ॥
सघन शिलोच्चयनै मिषे, ऊचा करि-करि हाथ हो राज ।
चचल दल शिखरी मिषे, दे झाला जगनाथ हो राज ॥
नयणा विरह तुमारडै, झरै निझरणा जास हो राज ।
भ्रमराराव भ्रमे करी, लहै लावा नि श्वास हो राज ॥
कोकिल कूजित व्याज थी, व्रतिराज उडावै काग हो राज ।
अरघट खट खटका करी, दिल खटक दिखावै जाग हो राज॥
मैं अबला अचला रही, किम पहुचे मम सदेश हो राज ।
इम झुर-झुर मनु झूरणा, सकोच्यो तनु सुविशेष हो राज ॥

गुरुदेव! मेवाड की भूमि त्रसित नेत्रो से आपकी राह देख रही है।

आप अपने सघ को लेकर शीघ्र पधारने की कृपा करें। मेवाड मे ऊचे-ऊचे पहाड है और पहाडो पर वृक्षो की कतारें है। वह भूमि ऊचे पर्वतो के मिष, अपने हाथ ऊचे किए हुए पवन के झोको से हिलनेवाले वृक्षो के पत्तो के मिष मानो आपको इशारो से उधर बुला रही हैं।

"जगती कहैं भगती तणा रे, भूखा हैं भगवान् हो राज।"

भगवान् भक्ति के भूखे होते हैं, भगवान् भक्त के अधीन होते है, यह जनोक्ति चरितार्थ हुई। 'श्रीकालू' का मेवाड भूमि जाना निश्चित हो गया।

माता की ममता जाग उठी। सुषुप्त प्रेम ने अगडाइया ली। वह प्रेम ही आत्माओ का प्रेम था, शरीर का नही। शरीर का प्रेम क्षणभगुर होता है, आत्मा का प्रेम अमर। प्रेम का विरह असह्य हो उठा। माता ने ममतापूर्ण शब्दो मे कहा·

"हिवैं हू किण दिन देखस्यू रे,
मनहर मुनिज दिदार हो राज।
वयण रयण श्री वदना रे,
श्रुतिगोचर किणवार हो राज।
पामे स्यूवलि किण दिने रे,
तुम पद पकज सेव हो राज।
अन्तिम वय हिव माहरी रे,
विहरे स्यो गुरुदेव हो राज॥"

पूज्य 'श्रीकालू' हरियाने मे पधारे। लोगो मे अपार खुशिया छा रही थी। प्रेम का बाध टूट गया। चिर-प्रतीक्षित अपने हृदय-देवता के दर्शन पाने हजारो नयन आतुर हो रहे थे। इस प्रसग मे कवि लोगो की गति, आगति, प्रार्थना, अनुरोध, याचना, सुख-पृच्छा आदि का सजीव चित्र उपस्थित करता हैं। लोगो की भावनाओ की विविधता पग-पग पर अभिव्यजित हुई ऐसा प्रतीत होता है

ग्राम ग्रामना जन थइ भेला, प्रभु पद भेटण आवैंजी।
नयण निहाली सुरत सुहाली, रू रू शीतल थावैंजी॥
खमा-खमा आवाज सुणत ही, हडवड-हडवड दौडे जी॥

खडवडात घर हाट तणो तर्जी, गुरु चरणे कर जोडे जी।
केइ कहे खडे रहो म्हाराजी, पगला भेटण प्यासोजी।
इतले बीजो कहै बाबाजी, कछु उपदेश प्रकाशोजी॥
इक कहे थारा दर्शन दीठा, पातक सारा नीठाजी।
हे अलवेश्वर म्हानैं लागो, परमेश्वर सा मीठाजी॥
केइ कहे गुरु करवावो गुरुजी, भेट रुपइया लीजैजी।
म्है म्हारे घर सारु धामा, खाचा खाच न कीजैजी॥
जोरे रुपयानी नही मरजी, लीजै इक चलेरोजी।
रीता हाता राजा गुरु नो, दर्शन नाहि भलेरोजी॥
केइ कहै लाखा लोग लुगाई, एहनी आणा पालेजी।
तो स्या माटै विणमी पाटै, पय अलवाणै हालेजी॥
हय रूपालो गय मतवालो, कादम्विनी सो कालोजी।
हाजर रहै हर वक्त पकलइण, गुरुनो पथ निरालोजी॥
कचन कामिनी लखि सौदामिनी त्यागी शिव अनुरागीजी।
जय-जय मूल तनय इम सविनय, वाने जै वड भागीजी॥

जहा आत्मा का अद्वैत है वही प्रेम की स्रोतस्विनी वहती है। ऐसे प्रेम में विनिमय नहीं होता। दो आत्माए आपस मे एक दृढ सूत्र में वधती हैं, उनका अनुवन्धन अमर होता हैं। भगवान् और भक्त मे यही अनुवन्ध अनुराग के रूप मे अभिव्यक्त होता है। वह अभिव्यक्ति भी अनभिव्यक्ति ही वनी रहती है। अनुराग मे मौन वोलता है, वाणी नही। यही तथ्य निम्नोक्त पद्य मे मुखरित हुआ है

गुरु आनन अवलोकत उपनो, अनुपम मुज मन प्यार।
सन्मुख वार ही वार निहारू यद्यपि दतिवय वार॥

अनुराग और प्रेम दोनो एक-दूसरे के प्रतिपक्षी हैं। अनुराग आत्मा को छूता है, प्रेम केवल वाह्य शरीर को। अनुराग मे आराध्य के प्रति एकात्मकता होती है और प्रेम मे एकात्म का आभास। एक मे अपेक्षा होती है और दूसरे मे उपेक्षा। एक गुणो की विच्छिन्न मणियो को समेटता हुआ एक सुन्दर माला की तैयारी मे तन-मन को सजोता है, दूसरा इतस्तत छिटपुट विखरे हुए अवगुणो को शतगुणित करता हुआ एकात्मक वनने का दिखावा

करता है। दोनो एक ही वस्तु को दो विभिन्न दृष्टिकोणो से देखते हैं। एक मे समता है, एक मे विषमता।

मृगा-पुत्र—एक समीक्षा

साहित्य युग का दर्पण है। युग की छोटी-मोटी घटनाए इसमे प्रतिबिम्बित होती है। घटनाओ के साथ-साथ जन-भावना की प्रतिछाया भी उसमे रहती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने आयुष्य की शृखला से बधा रहता है। जन्म को मृत्यु का वलय और मृत्यु को जन्म का वलय घेरे रहता है। इस परिवर्तन को ससार कहा जाता है। व्यक्ति ससार मे आता है और चला जाता है, परन्तु उसका साहित्य युग-युगान्तर तक अमर रहता है। सस्कार जन्मान्तरगामी होते हैं, परन्तु उनका परिपाक और परिवर्धन कालापेक्ष होता है। इसलिए उनका सर्वग्राही उपयोग नही होता, परन्तु साहित्य मे विचार अपनी भावनाओ से सदा जन-मानस को आप्लावित करते रहते हैं। हा, यह होता है कि उन विचारो की उपादेयता मे उतार-चढाव आता है, परन्तु उनकी उपयोगिता सदा बनी रहती है।

सभी देशो मे सन्त-साहित्य का स्थान सदा ऊचा रहता है। भारतीय जन-मानस अपनी जीवन सस्कृति के लिए सदा उसका ऋणी है। सन्त वाणी मे साधना की अनुभूति होती है और होता है प्रत्यक्ष-दर्शन से प्रस्फुटित अलौकिक विचार।

कलियुग को आए २३००० वर्ष बीत चुके थे। दु ख मनुष्य के जीवन से घुलता जा रहा था। वासना की रेखाए मानव हृदय मे स्फीत होती जा रही थी। नाना वादो से सकुल मार्ग पर स्थित मनुष्य किंकर्तव्यविमूढ-सा भयाकुल आखो से त्राण की टोह मे लगा था। नियतिवाद की कुहेलिका मे कर्मवाद को तिरोहित करने का प्रयास किया जा रहा था।

राजस्थान के एक छोटे-से ग्राम मे क्रान्ति की लौ जल उठी। अन्ध-तमिस्रा मे आलोक की रेखा से नूतन ज्योति का आविर्भाव हुआ। आचार्य सन्त भिक्षु इस ज्योति-पुज के सवाहक थे। अविकल भौतिक समृद्धियो मे पलकर भी उन्हे जीवन अतृप्त-सा प्रतीत हुआ। आनन्द की खोज के प्रथम चरण मे सुख मिला, परन्तु जिज्ञासाओ की अतृप्ति ने उनकी खोज-वृद्धि को कुण्ठित नही किया, उसे नुकीली बना आगे अग्रसर होने मे प्रेरणा दी।

अपनी अनवरत खोज मे जो कुछ उन्होने पाया उसे ऋषियो के अनुभव-कषोपल पर कसा। 'सौ सयाने एक मत' अनुभूति की एकात्मकता से आत्म-तोष हुआ। सत्य के स्वीकार से सत्य की अनुभूति सरस होती है और जब स्व-अनुभूति पर-अनुभूति से एकात्मक होती है तब हृदय का तोष शतगुणित हो जाता है।

इस अवस्था तक पहुचकर वे साहित्य-सर्जन की ओर मुडे। साहित्य-रचना का आधार था ऋषिवाणी और मानवीय प्रकृति के सतत अध्ययन से बनी मनोवैज्ञानिक अनुभूति।

'मिरगा-पुत्र' (मृगा-पुत्र) ऋषिवाणी के आधार पर लिखा गया प्रबन्ध-काव्य है। इसका मुख्य उद्देश्य था कि जन-मन को नियतिवाद के आवत से उबारकर उसको कर्म की सार्वभौमिक सत्ता से अवगत कराया जाय और उस कर्म-व्यूह के भेद का मन्त्र भी पढाया जाय। यह प्रबन्ध भगवान् महावीर के समसामयिक एक क्षत्रिय पुत्र से सम्बन्धित है, जिसने अपने सत्पुरुषार्थ से नियति को बदला है और कर्म-व्यूह को तोडा है।

लगभग २५००० वर्ष पहले की बात है। सतयुग का अन्त और कलियुग का प्रारम्भ अति निकट था। एक दिन ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भगवान् महावीर 'मृगाग्राम' के 'चपकपादप' उद्यान मे समवसृत हुए। समवसरण मे भगवान् देशना दे रहे थे। एक अचक्षु की श्रीहीन अवस्था को देख गणधर गौतम के मन मे जिज्ञासा उभर आयी। भगवान् से उसका समाधान करना चाहा। भगवान् ने कहा—"गौतम! इस अन्ध पुरुष से अत्यन्त दीन-हीन और विकलाग व्यक्ति इसी नगर मे रहता है।" जिज्ञासा और बढी। भगवान् के निर्देशानुसार वे उसी नगर के राजमहल मे गए।

करता है। दोनो एक ही वस्तु को दो विभिन्न दृष्टिकोणो से देखते है। एक मे समता है, एक मे विषमता।

मृगा-पुत्र—एक समीक्षा

साहित्य युग का दर्पण है। युग की छोटी-मोटी घटनाए इसमे प्रतिबिम्बित होती हैं। घटनाओ के साथ-साथ जन-भावना की प्रतिछाया भी उसमे रहती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने आयुष्य की शृखला से बधा रहता है। जन्म को मृत्यु का वलय और मृत्यु को जन्म का वलय घेरे रहता है। इस परिवर्तन को ससार कहा जाता है। व्यक्ति ससार मे आता है और चला जाता है, परन्तु उसका साहित्य युग-युगान्तर तक अमर रहता है। सस्कार जन्मान्तरगामी होते हैं, परन्तु उनका परिपाक और परिवर्धन कालापेक्ष होता है। इसलिए उनका सर्वग्राही उपयोग नही होता, परन्तु साहित्य मे विचार अपनी भावनाओ से सदा जन-मानस को आप्लावित करते रहते हैं। हा, यह होता है कि उन विचारो की उपादेयता मे उतार-चढाव आता है, परन्तु उनकी उपयोगिता सदा बनी रहती है।

सभी देशो मे सन्त-साहित्य का स्थान सदा ऊचा रहता है। भारतीय जन-मानस अपनी जीवन सस्कृति के लिए सदा उसका ऋणी है। सन्त वाणी मे साधना की अनुभूति होती है और होता है प्रत्यक्ष-दर्शन से प्रस्फुटित अलौकिक विचार।

कलियुग को आए २३००० वर्ष बीत चुके थे। दु ख मनुष्य के जीवन से घुलता जा रहा था। वासना की रेखाए मानव हृदय मे स्फीत होती जा रही थी। नाना वादो से सकुल मार्ग पर स्थित मनुष्य किकर्तव्यविमूढ-सा भयाकुल आखो से त्राण की टोह में लगा था। नियतिवाद की कुहेलिका मे कर्मवाद को तिरोहित करने का प्रयास किया जा रहा था।

राजस्थान के एक छोटे-से ग्राम मे क्रान्ति की लौ जल उठी। अन्ध-तमिस्रा मे आलोक की रेखा से नूतन ज्योति का आविर्भाव हुआ। आचार्य सन्त भिक्षु इस ज्योति-पुज के सवाहक थे। अविकल भौतिक समृद्धियो मे पलकर भी उन्हे जीवन अतृप्त-सा प्रतीत हुआ। आनन्द की खोज के प्रथम चरण मे सुख मिला, परन्तु जिज्ञासाओ की अतृप्ति ने उनकी खोज-बुद्धि को कुण्ठित नही किया, उसे नुकीली बना आगे अग्रसर होने मे प्रेरणा दी।

अपनी अनवरत खोज मे जो कुछ उन्होने पाया उसे ऋपियो के अनुभव-कपोपल पर कसा। 'सौ सयाने एक मत' अनुभूति की एकात्मकता से आत्म-तोप हुआ। सत्य के स्वीकार से सत्य की अनुभूति सरस होती है और जब स्व-अनुभूति पर-अनुभूति से एकात्मक होती है तब हृदय का तोप शतगुणित हो जाता है।

इस अवस्था तक पहुचकर वे साहित्य-सजन की ओर मुडे। साहित्य-रचना का आधार था ऋपिवाणी और मानवीय प्रकृति के सतत अध्ययन से बनी मनोवैज्ञानिक अनुभूति।

'मिरगा-पुत्र' (मृगा-पुत्र) ऋपिवाणी के आधार पर लिखा गया प्रबन्ध-काव्य है। इसका मुख्य उद्देश्य था कि जन-मन को नियतिवाद के आवर्त से उबारकर उसको कर्म की सार्वभौमिक सत्ता से अवगत कराया जाय और उस कर्म-व्यूह के भेद का मन्त्र भी पढाया जाय। यह प्रबन्ध भगवान् महावीर के समसामयिक एक क्षत्रिय पुत्र से सम्बन्धित है, जिसने अपने सत्पुरुपार्थ से नियति को बदला है और कर्म-व्यूह को तोडा है।

लगभग २५००० वर्ष पहले की बात है। सतयुग का अन्त और कलियुग का प्रारम्भ अति निकट था। एक दिन ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भगवान् महावीर 'मृगाग्राम' के 'चपकपादप' उद्यान मे समवसृत हुए। समवसरण मे भगवान् देशना दे रहे थे। एक अचक्षु की श्रीहीन अवस्था को देख गणधर गौतम के मन मे जिज्ञासा उभर आयी। भगवान् से उसका समाधान करना चाहा। भगवान् ने कहा—"गौतम! इस अन्ध पुरुप से अत्यन्त दीन-हीन और विकलाग व्यक्ति इसी नगर मे रहता है।" जिज्ञासा और बढी। भगवान् के निर्देशानुसार वे उसी नगर के राजमहल मे गए।

रानी के मार्गदर्शन से राजपुत्र को देखने गए। जन्म से अन्ध, जन्म से वधिर, हाथ, पाव, आख, नाक आदि इन्द्रियो से रहित, केवल लोढाभूत आकार वाले एक मासपिंड को देखा। आहार और पानी की सुगन्ध मात्र से उस मासपिंड मे अव्यक्त लालसा उभर आती। तव उसकी माता रानी 'मृगावती' अपने हाथो से मुह पर वने छिद्र मे आहार-पानी डाल देती। उस मासपिंड के रक्त-विकार से सारा खाद्य रुधिर मे परिणत हो, मास पिंड के खुले द्वारो से वहने लगता। उस वहते हुए रुधिर को मासपिंड पुन खाने की चेष्टा करता। प्रतिदिन कई वार स्नान कराए जाने पर भी उस मासपिंड से नि सृष्ट दुर्गन्ध से सारा भो हरा, मृत कलेवर की शतगुणित दुर्गन्ध से भर जाता। गणधर गौतम ने सारा वृत्तान्त भगवान् से कहा और इस मासपिंड रूप राजकुमार की पूर्व भवकथा और भविष्य जीवन की जिज्ञासा प्रस्तुत की। भगवान् ने अपने केवलज्ञान के आलोक मे सारा भूत-भविष्य जानकर कर्म के कटुक परिणामो का विश्लेषण करते हुए गणधर गौतम को समाधान दिया। गौतम ने पूछा—"भगवन् ! इस मृगापुत्र के जीव ने अपने पूर्व भव मे ऐसे कौन-कौन-से कर्म किए थे जिससे कि आज वह इतना दु ख पा रहा है ?"

भगवान् ने कहा—"गौतम ! इसका पूर्व भव हिंसा से परिप्लुत था। असहायो को लूटना, झूठ, कपट, चोरी मे सतत् रत रहने वाला 'एकाइरट्ठकूड' प्रथम नरक के दारुण दु खो को भोगता हुआ रानी मृगावती के गर्भ मे आया है। यहा से अपना आयुष्य पूरा कर यह नरक और तिर्यञ्च योनि मे अनन्त वार जन्म-मरण करता हुआ अनन्त काल पश्चात् मुक्त होगा।"

इस प्रवन्ध को आचार्य भिक्षु ने सुललित राजस्थानी भाषा मे सदृब्ध किया है।

"पत्तेय झभा पत्तेय सण्णा, पत्तेय पुण्ण पाव"—यह जैन-दर्शन का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण आध्यात्मिक साधना मे व्यक्ति-वैशिष्ट्य का द्योतक है। कर्मवाद का यही आधार है। जो शुभाशुभ कर्मो का कर्ता है वही इसका भोक्ता है—यह कर्तृत्व और भोक्तृत्व की एकाधार दृष्टि पाप के प्रति भय और पुण्य के प्रति उदासीन रहने का पाठ पढाती है।

पाप करने वाला दुःख पाता है—यह सनातन सत्य है। नारकीय
ना को भोगकर मृगापुत्र का जीव रानी मृगावती के गर्भ मे आया। इस
स्थ जीव का स्वरूप-वर्णन करने मे कवि ने जिन शब्दो का सचयन
या है, उनको पढने-मात्र से गर्हित स्वरूप के साक्षात् दर्शन-से होने लगते
भावना के अनुरूप ही जब शब्दो का चुनाव होता है तब कथनीय-
पूर्णरूपेण आ सकता है अन्यथा भाव की आत्मा मे शब्द बहुत दूर जा
ते हैं। कवि ने कहा—

तिण मृगापुत्र ने गर्भ थका, नाडि वहे शरीर मे आठ।
आठ नाडि शरीर बारे वहे, त्या मे राध लोहीरा थाट॥
आठ नाडया माहे राधोडा वहे, आठ नाड्या लोही वहे ताम।
छै-छै नाड्या वहे लोही राधनी, त्यारा जूआ-जूआ ठाम॥
बि-बि नाड्या वहे लोही राधरी, कानना छिद्र आतरे जाण।
आख नाक छिदर रें आत रे, इण विध दोय-दोय पिछाण॥
बि-बि कोठा हाडरै आत रें, राध लोही तणी वहें नाडि।
ए सोले नाड्या वहे रही सदा, लोही राध वहै वारु वारि॥
तिण वालक ने गर्भ थका, उपनो भसन नामे व्याधि।
ते आहार करतपाण विधस हुवै, तिणरो हुवै लोही ने राध॥
ते राध लोही बारें निकले, तेहीज आहार करे जरूड।
एहवा कर्म उपाया पाडूवा, एकाइरनकूड॥

सजन से पोषण अधिक कठिन है। पोषण मे सत्व का विभाग देना पडता है। मृगापुत्र का जन्म हुआ। उसका इतिवृत्त जनता को मालूम न हो इसलिए उसे एक भोहरे मे रखा गया। "कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति"—पुत्र कितना ही कपूत क्यो न हो, माता कभी भी उससे विमुख नही होती। इस अत्यन्त और कुरूप और दुर्गन्धयुक्त मास-पिंड को मा स्वय अपने हाथो से खिलाती और उसका पोषण करती।

पुत्र का गर्भ मे आना प्रत्येक माता के लिए आह्लादकारक होता है। परन्तु जब उस गर्भ की छाया मे भाग्य के विपरीत रेखाए बनती हैं तब अनुकूल प्रतिकूल बन जाता है, सयुक्त वियुक्त हो जाता है, प्रेम का स्थान

रानी के मार्गदर्शन से राजपुत्र को देखने गए। जन्म से अन्ध, जन्म से बधिर, हाथ, पाव, आख, नाक आदि इन्द्रियो से रहित, केवल लोढाभूत आकार वाले एक मासपिंड को देखा। आहार और पानी की सुगन्ध मात्र से उस मासपिंड मे अव्यक्त लालसा उभर आती। तब उसकी माता रानी 'मृगावती' अपने हाथो से मुह पर बने छिद्र मे आहार-पानी डाल देती। उस मासपिंड के रक्त-विकार से सारा खाद्य रुधिर मे परिणत हो, मास पिंड के खुले द्वारो से बहने लगता। उस बहते हुए रुधिर को मासपिंड पुन खाने की चेष्टा करता। प्रतिदिन कई बार स्नान कराए जाने पर भी उस मासपिंड से नि सृष्ट दुर्गन्ध से सारा भो हरा, मृत कलेवर की शतगुणित दुर्गन्ध से भर जाता। गणधर गौतम ने सारा वृत्तान्त भगवान् से कहा और इस मासपिंड रूप राजकुमार की पूर्व भवकथा और भविष्य जीवन की जिज्ञासा प्रस्तुत की। भगवान् ने अपने केवलज्ञान के आलोक मे सारा भूत-भविष्य जानकर कर्म के कटुक परिणामो का विश्लेषण करते हुए गणधर गौतम को समाधान दिया। गौतम ने पूछा—"भगवन्! इस मृगापुत्र के जीव ने अपने पूर्व भव मे ऐसे कौन-कौन-से कर्म किए थे जिससे कि आज वह इतना दु ख पा रहा है ?"

भगवान् ने कहा—"गौतम! इसका पूर्व भव हिंसा से परिप्लुत था। असहायो को लूटना, झूठ, कपट, चोरी मे सतत् रत रहने वाला 'एकाइरट्ठकूड' प्रथम नरक के दारुण दु खो को भोगता हुआ रानी मृगावती के गर्भ मे आया है। यहा से अपना आयुष्य पूरा कर यह नरक और निर्यञ्च योनि मे अनन्त बार जन्म-मरण करता हुआ अनन्त काल पश्चात् मुक्त होगा।"

इस प्रबन्ध को आचार्य भिक्षु ने सुललित राजस्थानी भाषा मे सदृब्ध किया है।

"पत्तेय झझा पत्तेय सण्णा, पत्तेय पुण्ण पाव"—यह जैन-दर्शन का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण आध्यात्मिक साधना मे व्यक्ति-वैशिष्ट्य का द्योतक है। कर्मवाद का यही आधार है। जो शुभाशुभ कर्मो का कर्ता है वही इसका भोक्ता है—यह कर्तृत्व और भोक्तृत्व की एकाधार दृष्टि पाप के प्रति भय और पुण्य के प्रति उदासीन रहने का पाठ पढाती है।

पाप करने वाला दुःख पाता है—यह सनातन सत्य है। नारकीय वेदना को भोगकर मृगापुत्र का जीव रानी मृगावती के गर्भ मे आया। इस गर्भस्थ जीव का स्वरूप-वर्णन करने मे कवि ने जिन शब्दो का सचयन किया है, उनको पढने-मात्र से गर्हित स्वरूप के साक्षात् दर्शन-से होने लगते हैं। भावना के अनुरूप ही जब शब्दो का चुनाव होता है तब कथनीय-भाव पूर्णरूपेण आ सकता है अन्यथा भाव की आत्मा मे शब्द बहुत दूर जा पडते हैं। कवि ने कहा—

तिण मृगापुत्र ने गर्भ थका, नाडि वहे शरीर मे आठ।
आठ नाडि शरीर बारे वहे, त्या मे राध लोहीरा थाट॥
आठ नाडया माहे राधोडा वहें, आठ नाड्या लोही वहे ताम।
छै-छै नाड्या वहे लोही राधनी, त्यारा जूआ-जूआ ठाम॥
बि-बि नाड्या वहें लोही राधरी, कानना छिद्र आतरे जाण।
आख नाक छिदर रैं आत रे, इण विध दोय-दोय पिछाण॥
बि-वि कोठा हाडरैं आत रैं, राध लोही तणी वहें नाडि।
ए सोले नाड्या वहें रही सदा, लोही राध वहे बारु वारि॥
तिण बालक ने गर्भ थका, उपनो भसन नामे व्याधि।
ते आहार करतपाण विघ्रस हुवै, तिणरों हुवै लोही ने राध॥
ते राध लोही बारैं निकले, तेहीज आहार करे जरूड।
एहवा कर्म उपाया पाड्वा, एकाइरत्नकूड॥

सर्जन से पोषण अधिक कठिन है। पोषण मे सत्त्व का विभाग देना पडता है। मृगापुत्र का जन्म हुआ। उसका इतिवृत्त जनता को मालूम न हो इसलिए उसे एक भोहरे मे रखा गया। "कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति"—पुत्र कितना ही कपूत क्यो न हो, माता कभी भी उससे विमुख नही होती। इस अत्यन्त ओर कुरूप और दुर्गन्धयुक्त मास-पिंड को मा स्वय अपने हाथो से खिलाती और उसका पोषण करती।

पुत्र का गर्भ मे आना प्रत्येक माता के लिए आह्लादकारक होता है। परन्तु जब उस गर्भ की छाया मे भाग्य के विपरीत रेखाए बनती हैं तब अनुकूल प्रतिकूल बन जाता है, सयुक्त वियुक्त हो जाता है, प्रेम का स्थान

द्वेष ले लेता है। मृगापुत्र के गर्भ मे व्युत्क्रान्त होते ही रानी मृगावती की दशा और मनोभावना को चित्रित करते हुए कवि का मनोवैज्ञानिक अध्ययन स्वय साकार हो जाता है और उसकी अतल गहराई का अनुमान दुरुह होता चला जाता है।

मृगाराणी रा शरीर मे, वेदन परगट हुइ आय।
ते गर्भ तणा परताप सू, घणी हुइ असाता ताहि ॥
वले विजेखत्रीराजा तणो, मृगाराणी सूं गयो मन भग।
ते लागे घणी अलखावणी, तिणरो भूल करे नही सग ॥
नाम गोत मृगाराणी तणो, काना सुण्याइ न सुहाय।
निजरा दीठा गमती लागे नही, वले गिणत न राखें काय ॥
मृगाराणी करवा लागी विचार, सारा मेरे हुतो म्हारो इधकार।
हू पटराणी मुदें थीताहि, हिवें म्हारी गिणत न दीसें काय ॥
म्हारे उदें हुआ दिसे पाप, ते सगलो छै गर्भ तणो परताप।
जिण दिन म्हारे गर्भ उपनो आय,
तिण दिन सू हुइ म्हारें वेदन अथाय ॥
ते वेदन भोगवू दिन रात, ते दु ख मोसू खमीयो नही जात।
वले राज पिण मोनें परहरी आप, ते पिण गर्भ तणो परताप ॥
म्हा सू राजा न भोगवे कामनें भोग,
वले राय न वाछे म्हारो सजोग।
म्हारो सारा मे हुतो सनमान, हिवें लागू छू जहर समान ॥
कोई दुष्ट जीव उपनो म्हारी कूख,
तिण सू हुवो मोनें दु ख मे दु ख।
तो श्रेय किल्याण छे मानें एह, इण दुष्ट सू मूल न करणो नेह ॥
ओ दुष्ट दीसें अतही हितीयारो, इनमे नही कदेइ भलीवारो।
तो इन गर्भ नें मारू गालू ने पाडू, कें इण गर्भ नें जीवा मारु ॥
एहवो विचार कियो मध्य रात, इम करता राणी नें हुवो परभात।
जव खारी करवी तोरी वस्तु अनेक प्रकार,
ते गर्भ तणी विणासणहार ॥

त्यानें राणी साधी वारू वार, गर्भ विखमणनें तिणवार।
त्या सू तो गर्भ गल्यो नाही काइ,
सरीयो परीयो मुओ पिण नाहि॥
मृगाराणी कीया अनेक उपाय,
पिण गर्भ रह्यो जीवतो कुखमाहि।
वले कोई उपाए रह्यो नही बाकी,
जब मृगाराणी जावक गइ थाकी॥
गर्भतणी आसावछा नही तिलमात,
मृगराणी रे बस न रही वात।
दुखे दुखे काढें दिन रात, वले वछ रही छें तिण री धात॥

कहा जाता है 'पूत का पग पालणा मे पिछाणो', परन्तु कवि की मर्मोक्ति है कि—'ते पालणो तो ज्याही रह्यो नाहि, पूतरा पग जोवो पेटरे माहि'—इसी तथ्य को स्पष्टता से अभिव्यजित करते हुए कवि पापी जीव और धर्मी जीव के गर्भ मे आने पर वह अपने बाह्य वातावरण को कैसे प्रभावित करता है इसका वास्तविक चित्र उपस्थित करता है -

पापी जीव जो गर्भ मे आवे, मानें इटलीया ला भावें।
घर मे आवें खाचाताण, पापी जीवराए अहलाण॥
पापी जीव गर्भ मे थका ताहि, जब माता रें सूलचाले पेट माहि।
वले दिन दिन वेदन अधकी थावें, माता दिन-दिन गलती जावें॥
ज्यू-ज्यू गर्भ हुवें कुख मे मोटो, ज्यू-ज्यू पडें घर माहे तोटो।
जठी तठी सू पडें पितारे देवालो कें, पित अकाले करजावे कालो॥
केइ पापी जी। इसरा विकराल,
गर्भ माहे थका हुवे कुलरो खेंगाल।
वले कुल माहे हुवें वेर विरोध, एक एक नें दीठा जागें किरोध॥
उतम जीव जो गर्भ मे आवें, मानें आच्छी चीजा भावें।
धर्म दया मे घणो सुहावें, जिण कीधा सिव रमणी सुख पावें॥
दिन-दिन गर्भ वढें कूख माहि, ज्यू दिन-दिन दोलत वढे ताहि।
जठी तठी सू मिले धन आय, कुरब वधें लोक माहि॥

माता पिता रें हुवें सुख समाध, नेंडा नावें रोग सोग ने व्याध।
मिट जावे घररो वाद विवाद, सारो गर्भ तणो परसाद॥

इसी प्रकार आगे चलकर गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से मृगापुत्र के भविष्यत् जीवन के बारे मे जिज्ञासा की और त्रिकालदर्शी ज्ञात पुत्र ने ब्योरेवार भविष्यत् जीवन का विस्तृत चित्र खीचा।

इस प्रवन्ध-काव्य का आधार विपाकसूत्र है। परन्तु उन्ही सनातन तथ्यो को अपनी भाषा मे परिवर्तित कर उन्हे विशेष सजीव बनाने मे कवि अवश्य ही सफल हुआ है। इस काव्य की पूर्ति विक्रम सवत १८४९ भादवा सुदी १२ बुधवार को केलवा (मेवाड) मे हुई।

सम्मत अठारे गुणचासे समे रे लाल
भादवा सुदी बारस बुधवार हो
जोड कीधी मृगापुत्र तेहनी रे
केलवा शहर मझार हो

इसमे १६ ढालें हैं और सारे पद्य २८७ हैं। वैराग्योचित रागिनियो से सदृब्ध यह प्रबन्ध-काव्य अवश्य ही विराग भाव का प्रेरक है। अत्यन्त नास्तिक व्यक्ति भी इसके मर्म-स्थलो से मर्माहित हुए विना नहीं रह सकता।

तेरापथ शासन के द्वितीयाचार्य श्री भारमलजी ने सम्भवत रचना-काल के साथ-साथ ही इसकी प्रतिलिपि की हो—ग्रन्थपूर्ति मे उन्होंने लिखा है—इति मृगापुत्रनी चौपी सम्पूर्ण सर्व गाथा २८७ समत् १८४९ रा भादवा सुदी १५ वार शुक्र पूजश्री भीखणजी स्वामी तस शिष्य लिखत ऋष भारमल देश मेवाड सहर केलवा मध्ये सय वाचनार्थे।

आचार्य भिक्षु की निर्मल प्रतिभा

आशा और निराशा जीवन की दो पगडडिया है। आशा व्यक्ति को विकास की ओर ले जाने वाली प्रेरणा है, निराशा ऊपर से नीचे लाने वाली शृखला। यह साधारण व्यक्ति की बात है। साधक साधारण नही होता। उसके जीवन के पीछे तपस्या व अहिंसा का बल होता है। वह जीवन की इन सकरी पगडडियो मे लडखडाता हुआ नही चलता। आशाओ मे उसे स्व-पर हिताय की भावना उग्र बनती है, निराशा से क्रान्ति के बीज पनपते है। क्रान्ति का उद्भव स्व से होता है किन्तु उसकी परिसमाप्ति विशाल जनसमुदाय मे होती है।

आचार्य भिक्षु सासारिक भोगो को ठुकराकर आध्यात्मिक जीवन की ओर मुडे। भागवती दीक्षा ले साधना का ऊचा आदर्श साधने की इच्छा ने पारिवारिक मोहजाल से ऊचा उठाया। साधना ही उनका सर्वोपरि लक्ष्य रहा। 'इयाणि णो जमह पुव्व मकासि पमाएण'—के मूल मत्र को आगे रखकर वे आगे बढ चले। चलते ही गए, रुकना उनके लिए कठिन था किन्तु तत्त्वज्ञान ने उनको जीवन-निरीक्षण की विशेष स्थिति की ओर मोडा। मुडने से वे नही हिचकिचाए। अब वे विशेष सावधान हो आत्मौपम्य दृष्टि से जीवनगत सस्कारो का परिमार्जन करने लगे। उन्हे जीवन मे द्वैध प्रतीत हुआ। आत्मवान व्यक्ति के लिए असह्य था अत वे नाना उपायो से इसको मिटाने मे उद्यत हुए।

साधना जगमगा उठी, अन्तरात्मा मे आलोक हुआ। सत्य के साथ आखमिचौनी खेलना आत्म-वचना का उत्कृष्ट रूप है—इसे ये सिर्फ जानते ही नही थे किन्तु उसका कण-कण उनके जीवन से अनुस्यूत था। विद्रोह किया और एक सकरी किन्तु सही पगडडी पर आगे बढ चले। यही से क्रान्ति का सूत्रपात हुआ।

सघर्ष जीवन है, निर्भीकता जीवन है, नीति जीवन है, सच्चाई जीवन है—इनका समवेत रूप एक महान् जीवन है। ये सब एकनिष्ठ हो, यह बहुत कम देखा जाता है। इनका सगम दुष्कर अवश्य है किन्तु यह असम्भव नही। आचार्य भिक्षु मे ये गुण सहजतया विद्यमान थे। तीव्र

साधना ने उन गुणो को और भी प्रकाश मे ला दिया।

सघर्ष से जीवन मे मूर्च्छित ज्योति भी जगमगा उठती है। अपनी मनोभावनाओ का उचित समाधान न पाने के कारण आचार्य भिक्षु अपने कुछ सहयोगियो के साथ अपने इष्ट मार्ग पर चल पडे। अहिंसा उनके लिए केवल पोथी की चीज नही थी, जीवन मे उसका सतत प्रयोग चालू था। निर्भीकता और सत्य का आग्रह उनके जीवन मे इतना घुल-मिल गया था कि कटु से कटु सत्य कहने मे भी कभी सकोच नही करते थे। सत्य पर मोह का आवरण उन्हें नही सुहाता था। उनके क्रान्तिकारी विचार जब पहले-पहल जनता के सामने आए तो धार्मिक समाज मे ऊहापोह होने लगा। तत्त्वो की सचाई व प्रामाणिकता से कई लोगो मे आकर्षण पैदा हुआ और कई बहुत काल से जमे हुए अपने सस्कारो के कारण उनकी गहराई व अपेक्षा भेदो को समझ नही सके। विरोध शुरू हुआ। उसके भीषण कीटाणु कुछ फैलते गए। शताब्दियो से पलने वाले अपने सस्कारो पर जब प्रहार होता है, तब वह सहसा सह्य नही होता। दर्शन का मोह महा-भयकर होता है।

पन्द्रहवी शताब्दी की घटना है, एक नौजवान यहूदी दार्शनिक के साथ मे ऐसा ही बर्ताव हुआ।

उस पर यह आरोप लगाया गया कि उसने अपने मित्रो से कहा था—

That he had said to his friends that God might have a body—the world of matter, that angels might be hallucinations, that the world soul might be merely life, and that the old testament *said nothing of immortality* ?

(Story of Philosophy, p 152)

(१) ईश्वर शरीरी भी हो सकता है।

(२) देवता भी भूल कर सकते है।

(३) आत्मा केवल जीवन है।

(४) ओल्ड टेस्टामेंट शाश्वतता के बारे मे कुछ नही बताते।

इन आरोपो के आधार पर Ecclesiastical Council ने एक आज्ञा जारी की। उसमे उन्होने लिखा —

All are admonished that none held converse with him by word of mouth, none held communication with him by writing, that no one abide under that the same roof with him No one approach within four cubits of him, and no one read any document dictated by him, or written by his hand"

(Story of Philosophy, p 153)

"सर्वसाधारण को यह मालूम कराया जाता है कि स्पिनोप्ता के साथ कोई वाचिक वातचीत न करे। पत्र-व्यवहार न करे। उसकी किसी प्रकार की सेवा न करे। एक ही छत के नीचे उसके साथ न रहे, उसके निकट न जाए और उसके लिखित या वाचिक व्याख्यान न सुने।"

यह धार्मिक जडता का एक जघन्य नमूना है। व्यक्ति मे जहा मत का आग्रह होता है, वहा वह अनुचित से अनुचित कार्य के करने मे भी नही सकुचाता। सत्य को पकडने की उसमे बुद्धि नही होती। सत्य को खोकर भी वह अपने लक्ष्य पर चिपटा रहता है।

आचार्य भिक्षु इन सब झभटो से परे रहकर आत्म-साधना करने लगे। उनके सत्य-आग्रह ने उन्हे एक उच्च कोटि के सन्तो की श्रेणी मे ला दिया। उन्होने महावीर वाणी का सत्य-स्वरूप विविध रूपो मे लोगो के सामने रखा।

आपने अपने तप पूत जीवन मे लगभग ७८ ग्रथ लिखे। उनकी श्लोक-सख्या लगभग ३८००० है। आज भी वे ग्रथ ज्यो के त्यो सुरक्षित है।

प्रत्येक व्यक्ति के प्रतिपल नए-नए विचार उत्पन्न होते हैं। कई पानी की लकीर की तरह मिट जाते हैं, उनका कोई मूल्य नही। वे विचार ही उत्तम और बहुमूल्य माने जाते हैं, जो शाश्वत वाक्य हैं और जिनमे मन, वचन और कर्म की एकता प्रतीत हो। इनकी असमजस स्थिति दूसरो को आकृष्ट नही करती। विचार मे अनन्त शक्ति होती है। प्रत्येक विचार जो मन मे आता है, उसमे जितनी पवित्रता, अभय और सत्यपरकता होगी, उतनी ही तीव्र गति से वह दूसरो पर असर डाल सकेगा। इसलिए विचारो की पवित्रता विकास की पहली मजिल है।

जहा पवित्रता है वहा अभय है, निर्भीकता है। इस पर एक सुन्दर घटना पढिए

एक वार मुनि भारमलजी (जो आगे चलकर आचार्य भिक्षु के उत्तराधिकारी वने) ने

"छव लेश्या हुती जद वीर मैं, हूता आठू ई कर्म।
छद्मस्थ चूका तिण समय जी, मूरख थापै धर्म ॥"

यह गाथा प्रस्तुत करते हुए कहा—'गुरुदेव! यह गाथा कुछ कडी है।'

आचार्य भिक्षु—'क्या उसमे वर्णित तत्त्व सत्य से परे है ?'

भारीमलजी—'नही, है तो सत्य ही किन्तु कठोर है।'

आचार्य भिक्षु—'जव सत्य है तो उसे छिपाने मे हिचकिचाहट क्यो ?'

सत्य को छिपाना हिंसा है। उसका सही चित्रण करना अहिंसा का आदर्श है। यही थी उनकी निर्भीकता।

राग-द्वेष दोनो कर्म-वन्ध के कारण है, यह शास्त्र-सम्मत वात है। किन्तु स्वार्थ-परायण लोग राग को जल्दी नही समझते, द्वेप को जल्दी पकडते हैं। जिस प्रकार द्वेप पाप है, कर्मवन्ध का हेतु है, उसी प्रकार राग भी पाप है, इस तत्त्व को समझाने के लिए आचार्यश्री भिक्षु ने कहा—'कोई एक लडका खेल रहा था। एक व्यक्ति ने उस लडके को चाटा मारा। पास मे खडे व्यक्तियो ने कुछ नही कहा। इससे यह स्पष्ट होता है कि राग की पहचान अति कठिन है। द्वेप वहुत जल्दी ही समझ मे आ जाता है। इसीलिए तो आदर्श पुरुप को वीतराग कहा है। वीत द्वेप नही। महान् वही जो राग को भी जीतकर आगे वढता है।'

दार्शनिक तत्त्वो को अति सरल वनाकर लोगो के सामने रखना वुद्धि का चमत्कार है।

'अणोरणीयान् महतो महीयान्' के तथ्य को एक ही श्लोक मे समझाने के लिए राजा भोज ने महाकवि कालिदास से आग्रह किया। तत्क्षण कवि सम्राट् ने कहा—

'यज्ञोपवीत परम पवित्र,
करेण धृत्वा शपथ करोमि।

योगे वियोगे दिवसोऽङ्गनाया,
अणोरणीयान् महतो महीयान् ॥

प्रश्न का समाधान सुन्दर, सरल व सरस शब्दो मे हो गया। यह प्रतिभा हरेक मे नही होती। आचार्य भिक्षु की यह जन्मजात प्रतिभा थी। वह निम्नोक्त घटना से स्पष्ट हो जाती है।

अठारहवी शताब्दी मे दया और दान—ये दो तत्त्व धार्मिक जगत के चर्चास्थल बने हुए थे। दया-दान का स्थूल या बाहरी रूप बच रहा था। उस जमाने की यह घटना है—"एक व्यक्ति आचार्य भिक्षु के पास आया। वह मानता था कि जो जीव मरने से बचता है वह दया-धर्म है। आचार्य भिक्षु ने उसको इस स्थूल दृष्टि से हटाकर दया-धर्म की वास्तविक दृष्टि 'किसीको पाप-वृत्ति से बचाना, उसका हृदय बदल डालना दया-धर्म है' को समझाने के लिए उससे पूछा—अच्छा बताओ, चीटी को कोई चीटी जाने यह ज्ञान है या चीटी ज्ञान है ?

व्यक्ति—चीटी को चींटी जानना ज्ञान है।

आचार्य भिक्षु—चीटी को चीटी समझना सम्यक्त्व है या चींटी सम्यक्त्व ?

व्यक्ति—चीटी को चीटी समझना सम्यक्त्व है।

आचार्य भिक्षु—किसी ने चीटी मारने के त्याग किए वह दया है या चीटी रही वह दया है ?

व्यक्ति—चीटी रही वह दया है।

आचार्य भिक्षु—वायु का झोका आया, चीटी उड गई तो क्या दया उड गई ?

व्यक्ति—नही-नही। चीटी मारने का त्याग ही दया है। चीटी रही वह दया नही।

आचार्य भिक्षु—तो बताओ रक्षा दया की होगी या चीटी की ?

व्यक्ति—दया की।

दया के वास्तविक रूप को समझाने के लिए कितना सरल व व्यावहारिक उदाहरण है—यह उनकी निर्मल प्रतिभा थी।

इस प्रकार वे शुद्ध आचार-विचार व प्रतिभा को लिए हुए साधना के

क्षेत्र मे आए और साधना उनसे तथा वे साधना से जगमगा उठे। उनका आलोक आज भी हमारा प्रकाश-स्तम्भ है।

कथ्य

देव !

मैं सोचता हू विश्वास का अनुबन्ध क्या है ? श्रद्धेय मे श्रद्धा क्यो टिकती है ? उपास्य मे उपासक क्यो बधता है ?

सूक्ष्म चिन्तन से यह जान पाता हू कि—अनुस्यूति का मूल स्वार्थ है। विश्वास, श्रद्धा या उपासना मे उसकी सूक्ष्मता को हम पकड नही सकते।

वाग्देवते !

श्रद्धा कहती है—इसका अनुबन्ध तोड दो।

तर्क कहता है—इसका अनुबन्ध मोड दो।

मोह कहता है—इसका अनुबन्ध जोड दो।

जोडने से भी कभी-कभी तोडना लाभप्रद होता है और तोडने से तो मोडना लाभप्रद है ही।

विश्वमूर्ते !

तुमने ठीक कहा।

नेतृत्व मे बुद्धि-कौशल होता है।

आत्मानुशासन मे आत्म-कौशल होता है।

आत्म-कौशल से लोकैषणा नही पनपती। बुद्धि-कौशल से वह फूलती है, फलती है और शतशाखी वट की तरह सब पर छा जाती है, परन्तु उसकी अस्थिरता उसे मिटाकर ही साम लेती है।

आत्म-कौशल भूमासुख का सुखद उत्स है, जो स्थिर है और है अनन्त।

श्रद्धे !

एक पहेली हो तुम। परमार्थ कहता है, चक्षुदात्री हो और व्यवहार कहता है, तुम स्वय अन्धी हो। नयनहीन दूसरो को नयन दे—कैसा आश्चर्य !

तुम अलौकिक हो। स्वय पिहित-नयना रहकर ही दूसरो के नयन खोलती हो। जब तुम देखने लगती हो तो लोग स्वय अन्धे बन जाते है। तुम प्रकाशपुज होकर भी गूढ हो। मनुष्य फुसक-फुसककर तुम्हारा अचल छूने लपकता है, परन्तु तुम उन्हे खूब खिजाती हो। तुम कोमल हो—परन्तु तुम्हारा अधिष्ठान कठोरतम है। घर-घर दया की भीख मागने वाला तुम्हें नही पा सकता। पुरुषार्थ पर अटूट विश्वास रखने वालो मे तुम अपने को प्रतिबिम्बित करती हो—हृद्‌भूत हो तुम।

भगवन् !

तुम्हारी गति विचित्र है। तुम अज्ञेय हो। तुम दूसरो को व्यक्त रहने का उपदेश देते हो परन्तु स्वय गूढ बने रहते हो, दूसरो को अनेकान्त का मार्ग दिखाते हो, परन्तु स्वय एकान्त का आश्रयण करते हो। जीवन मे वह विपर्यय क्यो ?

मुनि श्री पुण्यविजयजी से मिलन-१

अहमदावाद जैन सस्कृति का केन्द्र है। यहा अनेक जैन विद्वान् रहते हैं, जिन्होने जैन शासन की प्रभावना के लिए रात-दिन प्रयत्न किया है और आज भी अपनी अपूर्व मेधा से सारे वातावरण को प्रभावित कर रहे हैं।

आचार्यश्री ने इस वर्ष का चातुर्मास अहमदावाद मे बिताना निश्चित किया, उसके पीछे यह एक कारण भी विद्यमान रहा है कि यहा की जैन सस्कृति मे निकट का परिचय प्राप्त किया जाए और आगम अनुसधान कार्य में तत्रस्थ साधन सामग्री का उपयोग किया जाए।

आचार्यश्री १६ जुलाई को अहमदावाद पधारे। दूसरे ही दिन आपने

सन्तो से कहा कि 'हमे यहा त्रिविध कार्य करना है—

१ जैन समन्वय की भावना को गतिशील बनाने के लिए विविध जैन सम्प्रदायो तथा उपसम्प्रदायो के अधिकारी मुनि और श्रावको से विचार-विनिमय।

२ विभिन्न वर्गो मे नैतिकता की प्रतिष्ठापना के लिए विविध आयोजन।

३ आगम अनुसधान कार्य की विभिन्न प्रवृत्तियो मे रस लेने वाले विद्वानो से निकट सपर्क स्थापित कर विचार-विनिमय।

इन तीन उद्देश्यो को लक्ष्य कर विविध गोष्ठिया तथा आयोजन हुए।

एक दिन आचार्यश्री ने कहा—"हमे यहा मुनि पुण्यविजयजी से मिलना चाहिए। वे आगमो का कार्य बहुत वर्षो से कर रहे हैं। उनकी कार्य-पद्धति से तथा उनके प्राप्त अनुभवो से लाभ उठाना चाहिए। हमारे प्रति उनकी सहृदयता सराहनीय है। स्वर्गीय श्री मदनचन्दजी गोठी (सरदारशहर) के माध्यम से वे अपने यहा चल रहे आगम कार्य मे परिचित है किन्तु प्रत्यक्ष विचार-विनिमय का यह प्रथम अवसर है। मुनि नथमलजी ने भी उनसे मिलने की बात मुझसे कई बार कही थी, किन्तु इधर आना नही हो सका। कई बार उनको इस ओर भेजने की बात सोचता था, किन्तु अन्यान्य कार्य-बहुलता से उन्हे यहा नही भेज सका। इस बार सलक्ष्य यहा आना हुआ है, तो उनसे अवश्य मिलना चाहिए।"

एक दिन निकाय सचिव मुनिश्री नथमलजी आदि सात सन्त मुनि पुण्यविजयजी के ज्ञान-मन्दिर में गए। हम वहा मध्याह्न के लगभग दो बजे पहुचे। उस समय मुनिजी अन्य कार्य मे लगे हुए थे। हमे देख वे कार्य को छोड आये और हमे अन्दर ले गए। एक छोटा-सा हॉल था। किन्तु वह भी पुस्तको से सकुल था—चारो ओर पुस्तको का अम्बार-सा लगा हुआ था। यत्र-तत्र थोडा-थोडा अवकाश अवश्य था, जहा व्यक्ति सुखपूर्वक चल-फिर सकता था।

औपचारिक बातचीत के पश्चात् मुनिश्री नथमलजी ने कहा—"आज जब हम स्थान से चले तब आचार्यश्री ने कहा—मुनि पुण्यविजय जी जैन वाङ्मय की बहुत बडी सेवा कर रहे हैं और उनके इस कार्य मे बहुतो को प्रेरणा मिली है। हमारे कार्य मे भी उनका यथेष्ट सहयोग रहा,

है ।"

मुनि नथ—आजकल आप क्या कर रहे ह ?

मुनि पुण्य—मैं वर्तमान मे टीकाओ और चूर्णियो की प्रतियो का सशोधन कर रहा हू । आप जानते हैं कि जो चूर्णिया और टीकाए मुद्रित हुई है वे अत्यन्त अशुद्ध हैं । वहुत स्थानो पर तो अनर्थ-सा हो गया है । मैं मानता हू यह कार्य महत्त्व का है और इसे प्राथमिकता देनी चाहिए ।

मुनि नथ—यह वहुत आवश्यक कार्य है । आपने यह कार्य हाथ मे लिया है यह प्रसन्नता का विषय है । जव हम दशवैकालिक और उत्तराध्ययन पर कार्य कर रहे थे, तव हमे ऐसा लगा कि मुद्रित चूर्णियो का पाठ अशुद्ध है । निर्णय करने मे भी हमे वहुत कठिनाइया महसूस होती थी । हम पूर्वापर का अनुसन्धान करते, टीकाओ तथा सवादी स्थलो का निरीक्षण करते और तत्पश्चात किसी एक निर्णय पर पहुचते । फिर भी इन मुद्रित प्रतियो के सहारे अधिक चलना पडता था । हमने कई वार ऐसा सोचा कि इन चूर्णि-टीकाओ का पहले सशोधन किया जाए, किन्तु इस कार्य को साधन सामग्री की सुलभता न होने के कारण वैसा कर नही सके । आपने यह कार्य प्रारम्भ किया है । मैं मानता हू कि आप जैन वाङ्मय की वहुत वडी सेवा कर रहे है ।

मुनि नथ—आप इस आगम कार्य मे कव से लगे हुए हैं ?

मुनि पुण्य—लगभग पचीस वर्षों से मैं इसी कार्य मे सलग्न हू ।

मुनि नथ—क्या आप पत्र-पत्रिकाए भी पढते हैं ?

मुनि पुण्य—नही, विशेष रूप से मैं आगमो मे ही रचा-पचा रहता हू । वे ही मेरे लिए पत्र-पत्रिकाए है । हा, यदा-कदा कोई विशेष निवन्ध आ जाए तो पढ लेता हू ।

मुनि नथ—आप कितने घटे कार्य करते है ?

मुनि पुण्य—समय की कोई मर्यादा नही । मैं सारा समय इसी कार्य मे लगाता हू ।

मुनि नथ—क्या आप व्याख्यान भी देते हैं ?

मुनि पुण्य—निरन्तर नही, किन्तु आजकल चातुर्मास के कारण प्रतिदिन व्याख्यान देता हू । लगभग पाँच-सात व्यक्ति तथा बीस-तीस वहनें

सुनने आती है । मैं केवल आगम का वाचन ही करता हू, उनकी लम्बी-चौडी व्याख्याए नही करता, अत्यन्त सक्षिप्त व्याख्या करता हू। वे ही लोग व्याख्यान सुनने आते है जिन्हे मूल ग्रन्थो के स्वाध्याय मे रुचि है। मेरी प्रसिद्धि वक्ता के रूप मे नही है । लोग मुझे अनुसधाता के रूप मे अवश्य जानते है।

मुनि नथ—आपके साथ कितने मुनि कार्य-सलग्न है ?

मुनि पुण्य—मैं अकेला ही हू। मुझे वडा आश्चर्य होता है कि वहुत सारे मुनियो का आगम कार्य मे रस है ही नही। उन्हे यह कार्य जजाल-सा लगता है। इसमे जो रसानुभूति कर सके वे विरले हैं। मुझे इसमे वहुत आनन्द मिलता है । इस कार्य के आगे दूसरे सभी कार्य मेरे लिए गौण है। मैं अकेला जितना कर सकता हू वह मैंने किया है । कुछ पडित भी काम करते है। इस प्रकार जैन साहित्य की यत्किंचित सेवा हो जाती है। आपके पास तो इस विषय मे रस लेने वाले (हमारी ओर सकेत करते हुए) इतने सारे मुनि हैं। आपकी एक पूरी टीम इस कार्य मे सलग्न है। दूसरी वात यह है कि मेरा कार्य तो सीमित है, किन्तु आपका कार्य विशाल है। आप आगमो का अनुवाद, टिप्पण आदि का कार्य करते है। मैं अकेला इतना कर नही सकता।

मुनि नथ—आपने अकेले मे जितना कार्य किया है, कर रहे है वह वहुत विशाल और महत्त्वपूर्ण है । आचार्यश्री ने आगम कार्य के लिए एक सुव्यवस्थित टीम तैयार की है और अनेक साधु-साध्वियो को इस कार्य मे नियोजित कर अन्यान्य साधु-साध्वियो मे आकर्षण पैदा किया है। हमारे तेरापथ मे एक आचार्य, एक नेतृत्व का ही यह सुपरिणाम है कि हम जिस किसी कार्य के लिए अनेक-अनेक कार्यकर्त्ता जुटा सकते है। आपका कार्य भी हमारे आगम कार्य का सपूरक है। हमे इससे अपने कार्य मे काफी सुगमता मिलती है।

मुनि पुण्य—मैंने आपके दशवैकालिक का दूसरा भाग देखा है। आपने उसमे वहुत परिश्रम किया है।

मुनि नथ—अभी-अभी पाँच-छह ग्रन्थ और प्रकाशित हुए है। सभव है श्रीचन्दजी रामपुरिया ने आपको दिखाए होंगे ?

मुनि पुण्य—मैं मानता हू कि आज चारो ओर से जैन साहित्य सम्बन्धी कुछ न कुछ काय हो रहा है। अनेक सस्थान इस ओर कार्यशील है। यह शुभ बात है।

तदन्तर उन्होने हमे कई प्रतिया दिखाते हुए कहा—प्राचीन प्रतियो के लेखन मे कितने अनर्थ हुए हैं, यह आप लोग जानते हैं। सारे लिपिकर्त्ता विद्वान् नही होते थे, अत जब उन्हे कोई शब्द समझ मे नही आता तो वे मनगढन्त शब्द की रचना कर उसे वहा योजित कर देते। अभी-अभी जब मैं आवश्यक चूर्णि का पाठ-सशोधन कर रहा था तो वहा एक शब्द आया 'चाउलोदणत'। बहुत प्रयत्न करने पर भी इस शब्द की पहचान नही हो सकी और अथबोध अव्यक्त ही रहा। आगे-पीछे के प्रसगो का अनुसन्धान किया, परन्तु सब व्यर्थ। कोई भी प्रसग इस शब्द का सही अर्थबोध दे सके वैसा नही मिला। खोज चालू रही। अन्त मे स्थविर अगस्त्यसिंह द्वारा रचित दशवैकालिक चूर्णि मे तप के निरूपण की समाप्ति के बाद 'चालणेदाणि' पाठ मिला। इसी को आवश्यक चूर्णिकार ने 'चालणेदाणत' के पाठ से सूचित किया था और यही शब्द लिपि मे आते-आते 'चाउलोदणत' बन गया। इस प्रकार की कठिनाइया एक नही अनेक आती हैं। उनको पार करने मे धैर्य व सतुलन आवश्यक होता है।

हमने अपने आगम कार्य के लिए आवश्यक कई ग्रन्थ उनसे प्राप्त किए।

हमे लगा कि मुनि पुण्यविजयजी शरीर से वृद्ध है किन्तु उनकी कार्यजा शक्ति तरुण है। इतने वृद्ध और एकाकी होते पर भी उनमे अपने इस श्रमसाध्य, किन्तु महत्त्वपूर्ण काय के प्रति अपूर्व उत्साह और लगन है। उनकी व्यवहारकुशलता, सहज नम्रता, मिलनसारिता और श्रमशीलता हमारे मन मे आकर्षण पैदा कर रही थी।

मुनिश्री पुण्यविजयजी से मिलन–२

कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा का दिन था। मध्याह्न के समय निकाय सचिव मुनिश्री नथमलजी तथा हम तीन—मुनिश्री मधुकरजी, मुनिश्री हीरालालजी और मैं—मुनिश्री पुण्यविजयजी से मिलने उनके निवास-स्थान पर गये। यह मिलन दूसरी वार हो रहा था। औपचारिक बातो के पश्चात् आगमो के आलोच्य स्थलो पर चर्चाए चली।

मुनिश्री पुण्य—आगम-युग पूर्ण श्रद्धा का युग था। उसमे तर्क को स्थान नही था। आगमो के अनुशीलन से यही तथ्य पुष्ट होता है कि मूल आगमो मे तर्क का प्रवेश नही है। गणधर गौतम वार-वार भगवान् महावीर के पास जाते है और अपनी जिज्ञासाए उनके समक्ष प्रकट करते हैं। भगवान् जिज्ञासाओ का समाधान देते है। गणधर गौतम कहते है—'सेव भते! सेव भते!'—हा, भगवन्! यह ऐसे ही है। हा, भगवन्! यह ऐसे ही है। इसके अतिरिक्त उन्होने कभी यह नही पूछा कि यह क्यो? कैसे? आदि।

आज युग दूसरा है। इसमे प्रत्येक वात की कसौटी होती है। बुद्धिवाद बढा है। व्यक्ति-व्यक्ति तथ्य को विभिन्न दृष्टिकोणो से पकडने का प्रयास करता है। अमुक व्यक्ति ने ऐसे कहा है, इसलिए इसे मान लेना चाहिए—यह नियामकता आज टूट चुकी है। जब चरित्र अधिक प्रभावशाली होता है, तब तर्क उत्पन्न नही होता, जब चरित्र का प्रभाव घटता है तब तर्क आगे आ जाता है।

मुनिश्री नथ—यह सही है, ज्यो-ज्यो बुद्धिवाद बढता है, तर्क का भी विकास होता है। बुद्धि और तर्क मे सामजस्य हो तो कोई कठिनाई नही होती।

प्रसगवश आपने कहा—आगम-अनुसधान के इस दशक मे हमे यह अनुभव हुआ कि आगमो की सही व्याख्या के लिए विभिन्न परम्पराओ के साहित्य के अवलोकन से अनेक गुत्थिया सुलझी है। कई शब्दो की अर्थ-परम्परा जो हमे दिगम्बर-साहित्य मे उपलब्ध होती है, वह श्वेताम्बर साहित्य मे नही मिलती। कई व्याख्याए बौद्ध तथा वैदिक साहित्य मे

सुरक्षित है। हमने टिप्पण लिखते समय तीनो परम्पराओं के साहित्य का प्रचुर उपयोग किया है।

आगमो मे कई स्थलो पर, मुनि के विशेषण के रूप मे 'घोरतवे', 'दित्ततवे', 'घोरबभयारी' आदि-आदि शब्द प्रयुक्त हुए है। श्वेताम्बर व्याख्या-साहित्य मे इनका शब्द-स्पर्शी अर्थ मात्र मिलता है और उससे कोई विशेष जानकारी प्राप्त नही होती। दिगम्बर-साहित्य मे इन शब्दो की बहुत सुन्दर व्याख्या की गई है। वहा इन्हे लब्धि-विशेष के रूप मे मान्य किया है और यह यथार्थ भी है। इसी प्रकार अनेक शब्द बौद्ध साहित्य मे यथार्थ रूप मे व्याख्यात है और कई व्याख्याए वैदिक साहित्य मे सुरक्षित है।

मुनिश्री पुण्य—यह सही है। तीनो परम्पराए साथ-साथ चली है और एक-दूसरे मे शब्दो का सक्रमण भी हुआ है। यही कारण है कि एक परम्परा की यथार्थता को समझने के लिए दूसरी परम्पराओ के साहित्य का अनुशीलन अत्यन्त अपेक्षित हो जाता है।

तदनन्तर मुनिश्री पुण्यविजयजी ने 'उत्तराध्ययन के टिप्पण'—सस्करण को देखा। कई स्थल पढने के बाद आपने कहा—ये टिप्पण शब्द-कोश के लिए भी उपयोगी होगे।

मुनिश्री नथ—हा, हमने इन टिप्पणो के लेखन मे आयुर्वेद, अर्थ-शास्त्र आदि तथा अन्य समसामयिक ग्रथो का उपयोग किया है।

मुनिश्री पुण्य—देखिए, कही के शब्द कही मिल जाते है। जैन आगमो मे 'वुड्ढसावय' शब्द आता है। यही शब्द ज्योतिष के एक ग्रथ बृहद्जातक मे भी प्रयुक्त हुआ है। यह प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वराहमिहिर की कृति है। इस पर उत्पल भट्ट ने 'चिन्तामणि' नाम की टीका लिखी है। मूल मे 'वृद्ध' शब्द आया है और भट्ट ने 'वृद्धश्रावक' के रूप मे कुछ जानकारी प्रस्तुत की है। इस प्रकार विभिन्न ग्रन्थो के अवलोकन से भिन्न-भिन्न शब्दो के अर्थ प्राप्त हो सकते है।

मुनिश्री नथ—गत वर्ष बीदासर मे श्री जैन श्वेताम्बर तेरापथी महासभा द्वारा आयोजित दर्शन-परिषद् मे साध्वी श्री कनकप्रभाजी ने 'वुड्ढसावय' पर शोधनिबन्ध पढा था। उन्होंने अपने निबन्ध में इस विषय

मुनिश्री पुण्यविजयजी से मिलन–२

कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा का दिन था। मध्याह्न के समय निकाय सचिव मुनिश्री नथमलजी तथा हम तीन—मुनिश्री मधुकरजी, मुनिश्री हीरालालजी और मैं—मुनिश्री पुण्यविजयजी से मिलने उनके निवास-स्थान पर गये। यह मिलन दूसरी बार हो रहा था। औपचारिक बातो के पश्चात् आगमो के आलोच्य स्थलो पर चर्चाए चली।

मुनिश्री पुण्य—आगम-युग पूर्ण श्रद्धा का युग था। उसमे तर्क को स्थान नही था। आगमो के अनुशीलन से यही तथ्य पुष्ट होता है कि मूल आगमो मे तर्क का प्रवेश नही है। गणधर गौतम बार-बार भगवान् महावीर के पास जाते है और अपनी जिज्ञासाए उनके समक्ष प्रकट करते है। भगवान् जिज्ञासाओ का समाधान देते है। गणधर गौतम कहते है—'सेव भते! सेव भते!'—हा, भगवन्! यह ऐसे ही है। हा, भगवन्! यह ऐसे ही है। इसके अतिरिक्त उन्होने कभी यह नही पूछा कि यह क्यो? कैसे? आदि।

आज युग दूसरा है। इसमे प्रत्येक बात की कसौटी होती है। बुद्धिवाद बढा है। व्यक्ति-व्यक्ति तथ्य को विभिन्न दृष्टिकोणों से पकडने का प्रयास करता है। अमुक व्यक्ति ने ऐसे कहा है, इसलिए इसे मान लेना चाहिए—यह नियामकता आज टूट चुकी है। जब चरित्र अधिक प्रभावशाली होता है, तब तर्क उत्पन्न नही होता, जब चरित्र का प्रभाव घटता है तब तर्क आगे आ जाता है।

मुनिश्री नथ—यह सही है, ज्यो-ज्यो बुद्धिवाद बढता है, तर्क का भी विकास होता है। बुद्धि और तर्क मे सामजस्य हो तो कोई कठिनाई नही होती।

प्रसगवश आपने कहा—आगम-अनुसधान के इस दशक मे हमे यह अनुभव हुआ कि आगमो की सही व्याख्या के लिए विभिन्न परम्पराओ के साहित्य के अवलोकन मे अनेक गुत्थिया सुलझी है। कई शब्दो की अर्थ-परम्परा जो हमे दिगम्बर-साहित्य मे उपलब्ध होती है, वह श्वेताम्बर साहित्य मे नही मिलती। कई व्याख्याए बौद्ध तथा वैदिक साहित्य मे

सुरक्षित है। हमने टिप्पण लिखते समय तीनो परम्पराओ के साहित्य का प्रचुर उपयोग किया है।

आगमो मे कई स्थलो पर, मुनि के विशेषण के रूप मे 'घोरतवे', 'दित्ततवे', 'घोरबभयारी' आदि-आदि शब्द प्रयुक्त हुए है। श्वेताम्बर व्याख्या-साहित्य मे इनका शब्द-स्पर्शी अर्थ मात्र मिलता है और उससे कोई विशेष जानकारी प्राप्त नही होती। दिगम्बर-साहित्य मे इन शब्दो की बहुत सुन्दर व्याख्या की गई है। वहा इन्हे लब्धि-विशेष के रूप मे मान्य किया है और यह यथार्थ भी है। इसी प्रकार अनेक शब्द बौद्ध साहित्य मे यथार्थ रूप से व्याख्यात है और कई व्याख्याए वैदिक साहित्य मे सुरक्षित है।

मुनिश्री पुण्य—यह सही है। तीनो परम्पराए साथ-साथ चली है और एक-दूसरे मे शब्दो का सक्रमण भी हुआ है। यही कारण है कि एक परम्परा की यथार्थता को समझने के लिए दूसरी परम्पराओ के साहित्य का अनुशीलन अत्यन्त अपेक्षित हो जाता है।

तदनन्तर मुनिश्री पुण्यविजयजी ने 'उत्तराध्ययन के टिप्पण'—सस्करण को देखा। कई स्थल पढने के बाद आपने कहा—ये टिप्पण शब्द-कोश के लिए भी उपयोगी होगे।

मुनिश्री नथ—हा, हमने इन टिप्पणो के लेखन मे आयुर्वेद, अर्थ-शास्त्र आदि तथा अन्य समसामयिक ग्रथो का उपयोग किया है।

मुनिश्री पुण्य—देखिए, कही के शब्द कही मिल जाते है। जैन आगमो मे 'वुड्ढसावय' शब्द आता है। यही शब्द ज्योतिष के एक ग्रथ बृहद्‌जातक मे भी प्रयुक्त हुआ है। यह प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वराहमिहिर की कृति है। इस पर उत्पल भट्ट ने 'चिन्तामणि' नाम की टीका लिखी है। मूल मे 'वृद्ध' शब्द आया है और भट्ट ने 'वृद्धश्रावक' के रूप मे कुछ जानकारी प्रस्तुत की है। इस प्रकार विभिन्न ग्रन्थो के अवलोकन से भिन्न-भिन्न शब्दो के अर्थ प्राप्त हो सकते है।

मुनिश्री नथ—गत वर्ष बीदासर मे श्री जैन श्वेताम्बर तेरापथी महासभा द्वारा आयोजित दर्शन-परिषद् मे साध्वी श्री कनकप्रभाजी ने 'वुड्ढसावय' पर शोधनिबन्ध पढा था। उन्होने अपने निबन्ध मे इस विषय

की विशद जानकारी दी है।

'समवायांग' सूत्र के अनुशीलन में मुझे लगा कि इस सूत्र का अन्तिम भाग मूल नहीं है, प्रक्षिप्त प्रतीत होता है।

मुनिश्री पुण्य—हां, मेरा भी यही विचार है। जहां तक मूल 'समवाय' चलते हैं वे तो मूल हैं और उसके आगे का भाग प्रक्षिप्त होना चाहिए।

मुनिश्री नथ—'समवायांग' के अन्तिम भाग में 'कप्पस्स समोसरण नेयव्व'—ऐसा पाठ आता है। यह अङ्ग सूत्र में प्रक्षिप्त पाठ होने का सूचक है।

मुनिश्री पुण्य—कल्पसूत्र में समवसरण का प्रसंग नहीं है। यह कल्पभाष्य की ओर संकेत करना हो तो और भी विचित्र बात है।

मुनिश्री नथ—आपने एक बार कहा था कि कल्पसूत्र को भी आगम की तरह मान्य करना चाहिए। यह ठीक है, परन्तु उसमें स्थान-स्थान पर ऐसे उल्लेख मिलते हैं—

पृष्ठ ८५—समणस्स णं भगवओ महावीरस्स जाव सव्वदुक्खप्पहीणस्स नव वाससयाइं विइक्कंताइं दसमस्स य वाससयस्स अय असीइमे संवच्छर-काले गच्छइ। वायणंतरे पुण अय तेणउए संवच्छरकाले गच्छइ इति दीसइ ॥१४७॥

पृष्ठ ४९—पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणियस्स कालगतस्स जाव सव्वदुक्खप्पहीणस्स बारस वाससयाइं विइक्कंताइं तेरसमस्स य वाससयस्स अय तीसइमे संवच्छरकाले गच्छइ ॥१६०॥

ये तीर्थंकरों के विषय के उल्लेख हैं। इसी प्रकार उत्तरवर्ती आचार्यों के संवत्सरसहित उल्लेख मिलते हैं। उससे लगता है कि ये उल्लेख अर्वाचीन हैं।

मुनिश्री पुण्य—ये उल्लेख इसी प्रकार से प्रतियों में प्राप्त होते हैं, किन्तु ये बाद के मालूम पड़ते हैं। लम्बे समय तक प्रक्षेप होता रहा है, ऐसा मानना चाहिए।

मुनिश्री नथ—आपने 'सूत्रकृतांग' चूर्णि का सम्पादन किया है। पाठ चूर्णि के अनुसार ही रखा होगा ?

मुनिश्री पुण्य—हा, ऐसा ही किया है।

मुनिश्री नथ—कई व्याख्या-ग्रथो म ऐसा भी देखा है कि मूल चूर्णि या टीका कुछ और ही है तथा पाठ कुछ और ही। मूलपाठ और व्याख्या मे जब सामजस्य न हो तो सपादन का अर्थ ही क्या ? 'निशीथ-चूर्णि' के सम्पादन मे यह सतकता नही बरती गई, ऐसा प्रतीत होता है।

मुनिश्री पुण्य—आज की मुद्रित प्रतियो मे कई पाठ इतने भ्रामक मुद्रित हुए हैं कि उनसे अर्थ का अनर्थ हुआ है। मैंने 'उत्तराध्ययन-चूर्णि' तथा 'दशवैकालिक' सूत्र की अगस्त्यसिह स्थविर कृत चूर्णि का सम्पादन किया है।

अगस्त्यचूर्णि (वि० ३ ५ शताब्दी) मे एक श्लोक इस प्रकार आया है—

सुलसागवभप्पसवा कुलमाणसमुण्णता भुयगमणाहा।
रोसवमविप्पमुक्क ण पिवति विस विसायवज्जितसीला॥

यह श्लोक शुद्ध है। यही श्लोक उत्तराध्ययन चूर्णि (पृष्ठ १६२) मे दसवें अध्ययन के प्रसग मे उल्लिखित हुआ है। वह मुद्रित प्रति मे इस प्रकार है—

पुलाग (गुणगे) ज्भसमाकुलमणस्स मन्नत भुजगमण्णा वा
रोसवसविप्पसमुक्क ण पिवति विस (अगधणया) विसविवज्जियसीला।

अगस्त्यसिह का श्लोक आते-आते कितना विकृत हो गया, यह स्वत देखा जा सकता है। इस प्रकार की भूलें एक बार नही, अनेक बार हुई हैं।

मुनिश्री नथ—सूत्रकृताग की मुद्रित प्रतियो मे एक पाठ आता है—पुत्त पिता चूर्णिकार ने यहा 'पुत्त पि ता ' ऐसा मानकर व्याख्या की है। अर्थ की दृष्टि से यह उचित भी लगता है। 'पिता' और 'पि ता' मे कितना अर्थ-भेद हो जाता है, यह स्वय स्पष्ट है। ऐसे अनर्थ अनेक स्थलो पर हुए हैं।

आवश्यक सूत्र, जो आज मान्य है, का क्या यही रूप था या कुछ और ? दिगम्बर-साहित्य मे अग बाह्य के चौदह भेद माने गए हैं। उनमे पहले छह भेद ये हैं—(१) सामायिक, (२) चतुर्विशतिस्तव, (३) वदना, (४) प्रतिक्रमण, (५) कायोत्सर्ग, (६) प्रत्याख्यान। क्या ये ग्रथरूप मे

थे और बाद में उनका यह संक्षिप्त रूप अवशिष्ट रह गया ?

मुनिश्री पुण्य—यह तो ज्ञात नहीं है।

मुनिश्री नथ—आवश्यक सूत्र का आकार कितना था, इसका निर्णय अभी हम नहीं कर पाए हैं।

मुनिश्री पुण्य—मैं भी किसी एक निर्णय पर नहीं पहुंच सका हूं। शोध करने वालों के लिए यही कठिनाई है। जो शोध नहीं करते उनकी बात दूसरी है। वे तो ऐसा कह सकते हैं कि वह इतना ही था।

मैं कई बार सोचता था कि सिद्धसेन दिवाकर ने अनेक नई स्थापनाएं कीं, फिर भी उन्हें निह्नव नहीं ठहराया, यह क्या ? इसका समाधान इतना ही है कि वे समर्थ आचार्य थे और उनकी मान्यताओं का समर्थन करने वाले अनेक स्थविर आचार्य थे। जिस किसी के भी प्रबल समर्थकों का दल था, उसे निह्नव की श्रेणी में नहीं रखा गया। जिसके समर्थकों का अभाव रहा उसे निह्नव मान लिया गया।

मुनिश्री नथ—इस चातुर्मास में हमारे यहां आगम-अनुसंधान का सन्तोषजनक कार्य चला। जितना हमने सोचा था, उतना कार्य सम्पन्न हुआ। प्रचार-प्रसार की दृष्टि से भी पर्याप्त कार्य चला और हजारों लोग सम्पर्क में आए। यहां के पत्रकारों ने भी पर्याप्त सहयोग दिया। यहां कुछ विरोध भी सामने आया। हम तो यह सोचते थे कि दस-बीस वर्ष पूर्व जो हमारा विरोध होता था, वह धीरे-धीरे समाप्त हो गया है और समन्वय का वातावरण बन रहा है। ऐसा कई प्रसंगों में हुआ भी है। किन्तु यहां के विरोध को देखकर लगा कि यहां का वातावरण अभी बहुत संकीर्ण है। आप पर तो कोई दबाव नहीं है ?

मुनिश्री पुण्य—नहीं, मेरे पर दबाव डालने का प्रश्न ही नहीं उठता। मैं अपनी स्थिति में पूर्ण स्वतन्त्र हूं। मेरे साथी, साधु तथा श्रावक भी मेरी ही तरह निर्माणात्मक कार्य में विश्वास करते हैं। विरोध में उन्हें रस नहीं है। मैं कानूनी सहारों में विश्वास भी नहीं करता। मैं कहीं भी जाऊं या अपने यहां किसी को निमन्त्रित करूं—किसी को भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती। मैं किसी की आपत्ति को मानता भी नहीं। मुझे जो उचित लगता है, वह मैं करता हूं।

वातचीत के लम्बे दौरान मे प्रसगवश आपने कहा—अभी कुछ समय पहले युनिवर्सिटी वाले मेरे पास आए और बोले—हम जैसे अन्य विद्वानो का सम्मान करते है, आपका भी सम्मान करना चाहते हैं। मैंने उनसे कहा—मुझे सम्मान नही चाहिए। मुझे जो साधु का पद प्राप्त है, वही मेरे लिए पर्याप्त है। मुझे साधु ही रहने दो। इस प्रकार के सम्मान 'लोकैपणा' को जागृत करते हैं और यह साधना के लिए विघ्न है।

मुझे आचार्य वनाने के लिए भी कई वार कहा गया। मैंने एक ही उत्तर दिया कि मैं इस झझट मे जाना नही चाहता।

मुनिश्री नथ—आपने इसीलिए वृहत्कल्पभाष्य की भूमिका मे आचार्य वनाने की वार्तमानिक पद्धति को लक्ष्य कर वहुत तीखी वातें लिखी हैं। मैंने उनको पढकर आपकी मन स्थिति जान ली थी।

मुनिश्री नथमलजी ने 'उत्तराध्ययन के टिप्पण' सस्करण से 'पाओवगमण' शब्द पर लिखा टिप्पण सुनाते हुए कहा—प्राय टीकाकार इसका सस्कृत रूप 'पादपोगमन' करते हैं, किन्तु 'प्रयोपगमन' रूप उचित लगता है। इसकी पुष्टि दिगम्वर-साहित्य से भी होती है। महाभारत मे 'प्रायोप्र[illegible]' शब्द आता है। वह भी इसी अथ का द्योतक है।

[illegible]म—'पाओवगमण' के स्थान पर 'पावगमण' पाठ भी

थे और वाद मे उनका यह सक्षिप्त रूप अवशिष्ट रह गया ?

मुनिश्री पुण्य—यह तो ज्ञात नही है।

मुनिश्री नथ—आवश्यक सूत्र का आकार कितना था, इसका निर्णय अभी हम नही कर पाए है।

मुनिश्री पुण्य—मैं भी किसी एक निर्णय पर नही पहुच सका हू। शोध करने वालो के लिए यही कठिनाई है। जो शोध नही करते उनकी वात दूसरी है। वे ही ऐमा कह सकते है कि वह इतना ही था।

मैं कई वार सोचता था कि सिद्धसेन दिवाकर ने अनेक नई स्थापनाए की, फिर भी उन्हे निह्नव नही ठहराया, यह क्यो ? इसका समाधान इतना ही है कि वे समर्थ आचार्य थे और उनकी मान्यताओ का समर्थन करने वाले अनेक स्थविर आचार्य थे। जिस किसी के भी प्रवल समर्थको का दल था, उसे निह्नव की श्रेणी मे नही रखा गया। जिसके समर्थको का अभाव रहा उसे निह्नव मान लिया गया।

मुनिश्री नथ—इस चातुर्मास मे हमारे यहा आगम-अनुसधान का सन्तोषजनक कार्य चला। जितना हमने सोचा था, उतना कार्य सम्पन्न हुआ। प्रचार-प्रसार की दृष्टि से भी पर्याप्त कार्य चला और हजारो लोग सम्पर्क मे आए। यहा के पत्रकारो ने भी पर्याप्त सहयोग दिया। यहा कुछ विरोध भी सामने आया। हम तो यह मोचते थे कि दस-वीस वर्ष पूर्व जो हमारा विरोध होता था, वह धीरे-धीरे समाप्त हो गया है और समन्वय का वातावरण वन रहा है। ऐसा कई प्रदेशो मे हुआ भी है। किन्तु यहा के विरोध को देखकर लगा कि यहा का वातावरण अभी वहुत सकीर्ण है। आप पर तो कोई दवाव नही है ?

मुनिश्री पुण्य—नही, मेरे पर दवाव डालने का प्रश्न ही नही उठता। मैं अपनी स्थिति मे पूर्ण स्वतन्त्र हू। मेरे साथी, साधु तथा श्रावक भी मेरी ही तरह निर्माणात्मक कार्य मे विश्वास करते है। विरोध मे उन्हे रस नही है। मैं कानूनी भक्तो मे विश्वास भी नहीं करता। मैं कही भी जाऊ या अपने यहा किसी को निमन्त्रित करू—किसी को भी कोई आपत्ति नही हो सकती। मैं किमी की आपत्ति को मानता भी नही। मुझे जो उचित लगता है, वह मैं करता हू।

बातचीत के लम्बे दौरान मे प्रसगवश आपने कहा—अभी कुछ समय पहले युनिवर्सिटी वाले मेरे पास आए और बोले—हम जैसे अन्य विद्वानो का सम्मान करते है, आपका भी सम्मान करना चाहते है। मैंने उनसे कहा—मुझे सम्मान नही चाहिए। मुझे जो साधु का पद प्राप्त है, वही मेरे लिए पर्याप्त है। मुझे साधु ही रहने दो। इस प्रकार के सम्मान 'लोकैषणा' को जागृत करते है और यह साधना के लिए विघ्न है।

मुझे आचार्य बनाने के लिए भी कई बार कहा गया। मैंने एक ही उत्तर दिया कि मैं इस झभट मे जाना नही चाहता।

मुनिश्री नथ—आपने इसीलिए वृहत्कल्पभाष्य की भूमिका मे आचार्य बनाने की वर्तमानिक पद्धति को लक्ष्य कर बहुत तीखी बाते लिखी है। मैंने उनको पढकर आपकी मन स्थिति जान ली थी।

मुनिश्री नथमलजी ने 'उत्तराध्ययन के टिप्पण' सस्करण मे 'पाओवगमण' शब्द पर लिखा टिप्पण सुनाते हुए कहा—प्राय टीकाकार इसका सस्कृत रूप 'पादपोगमन' करते है, किन्तु 'प्रयोपगमन' रूप उचित लगता है। इसकी पुष्टि दिगम्बर-साहित्य से भी होती है। महाभारत मे 'प्रायोपविष्ट' शब्द आता है। वह भी इसी अर्थ का द्योतक है।

मुनिश्री पुण्य—'पाओवगमण' के स्थान पर 'पावगमण' पाठ भी मिलता है।

मुनिश्री नथ—सम्भव है, 'पादपोपगमन' के अनुसार ही यह पाठ रच डाला गया हो।

श्री जैन श्वेताम्बर तेरापथी महासभा के प्रधानमन्त्री तथा आगम-साहित्य प्रकाशन समिति के सयोजक श्री श्रीचन्दजी रामपुरिया भी वहा आ गए। उन्होने 'दशवैकालिक एक समीक्षात्मक अध्ययन', 'धर्म प्रज्ञप्ति' तथा 'दसवेआलिय तह उत्तरज्झयणाणि'—ये तीन ग्रथ भेंट किए तथा निर्मीयमाण ग्रथो की जानकारी दी और ग्रथो पर सम्मति लिखने के लिए कहा।

मुनिश्री पुण्य—अभी मैं व्यस्त हू। जब तक मैं ग्रथो का पूरा पारायण न कर लू तब तक उन ग्रथो के विषय मे कुछ लिखू, यह ठीक नहीं है।

मुनिश्री नथ—ग्रन्थो का निरीक्षण किए बिना जो लिखा जाता है, उससे बहुत अनर्थ होता है। कई बार अच्छे-अच्छे विद्वान् भी, बिना ग्रथ को देखे, अनुमान से ही कुछ लिख देते हैं। इससे ग्रथ का गौरव तो बढता है, परन्तु जब यथार्थता सामने आती है तब ग्रथकर्ता तथा प्रशस्ति-लेखक दोनो की आलोचना होती है। मैं 'ऋषिभाषित' सूत्र देख रहा था। एक मुनि ने उसका अनुवाद किया था और उस पर पडित दलसुखभाई मालवणिया की सुन्दर सम्मति दी है। कई प्रकरण मैंने पढे तो मुझे लगा कि अनुवाद बहुत भ्रामक है। अनेक स्थलो पर तो मूल तथ्य का स्पर्श भी नही हुआ है। इतना होने पर भी विद्वान् द्वारा उस अनुवाद की प्रशसा करना कुछ अटपटा-सा लगता है। इसलिए ग्रथो के विषय मे कुछ भी लिखने से पूर्व उनका सागोपाग पारायण होना ही चाहिए।

और-और भी बाते हुईं। अन्त मे मुनिश्री नथमलजी ने हमसे कहा—'मुनिश्री पुण्यविजयजी कितने वितृष्ण व्यक्ति है? इनके मन मे केवल कार्य करने की तमन्ना है, दूसरी कोई महत्त्वाकाक्षा नही है। आचार्यश्री के सान्निध्य मे चल रहे आगम-अनुसधान-कार्य से ये सदा परिचित रहे है। पहले स्वर्गीय श्री मदनचन्दजी गोठी से आपका सम्पर्क रहा और अब श्री श्रीचन्दजी रामपुरिया तथा श्री जयचन्दलालजी कोठारी से सम्पर्क बना हुआ है।

लगभग दो घटे तक बातचीत हुई। हमें लगा कि मुनिश्री पुण्यविजयजी गम्भीर विद्वान्, कर्मठ अनुसधाता तथा विद्याप्रेमी हैं। उनकी वितृष्णा सचमुच साधना की विशिष्ट भूमिका द्योतित करती है।

आचार्यश्री तुलसी : मेरी दृष्टि मे

शब्द परिमित है, व्यक्तित्व की रेखाए अपरिमित। परिमित मे अपरिमित को बाँधने का प्रयास गागर मे सागर भरने जैसा है। परन्तु जब यथार्थता अभिव्यक्ति पाने के लिए ललचाती है तब व्यक्ति ऐसा असभाव्य

प्रयास भी कर बैठता है। आचार्यश्री तुलसी का व्यक्तित्व कुछेक रेखाओ से निर्मित है, पर वे रेखाए अत्यन्त स्फुट हैं। समस्त रेखाए यथार्थता की परिक्रमा किये चलती हैं, अत उन्हे श्लाघा के रग से रगने की आवश्यकता नही रहती। वास्तव मे वे जो हैं, वे है। इससे अतिरिक्त और कुछ नही। उनके व्यक्तित्व का लेखा-जोखा अनुभूति मे है, शब्दो मे नही। अनुभूति चेतन है, शब्द जड। फिर भी दृश्य-लोक शब्दो के सहारे ही समग्रता-बूझता है अत हम चेतन को जड माध्यम से अभिव्यक्त करने का दुसाहस कर बैठते हैं और इसी प्रक्रिया से महान् को लघु मे बाँधने का प्रयास किया करते है। आचार्यश्री तुलसी का व्यक्तित्व-चित्रण भी कुछ ऐसा ही लघु प्रयास है।

गौर वर्ण, मझौला कद, भव्य ललाट, तेजोदीप्त नयन, प्रलम्ब कान, ग्रीवा पर उभरी तीन रेखाए और भव्य सस्थान—यह है आपका प्रथम दर्शन मे ही आकृष्ट करनेवाला दृश्य व्यक्तित्व। प्रसन्न मन, सहज ऋजुता, सबके प्रति समभाव, आत्मीयता की तीव्र अनुभूति, विशाल चिन्तन, वात्सल्य को उडेलने की उन्नतवृत्ति, विरोधी के प्रति अनुद्विग्न, आचार-निष्ठ के प्रति स्नेहसिक्त, परोपकार-परायण, सभी विवादो से मुक्त—यह है आपका अदृश्य व्यक्तित्व, जो समय-समय पर दृश्य बनकर सम्पर्क मे आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के हृदय पर अकित होकर अमिट बन जाता है।

आपका जन्म १८७१ की कार्तिक शुक्ला २ को राजस्थान के अन्तर्गत लाडनू मे हुआ। सस्कारोपगत वैराग्य भावना उभर आयी। ग्यारह वर्ष की अवस्था मे तेरापथ के अष्टम आचार्यश्री कालूगणी के पास दीक्षित हुए। अध्ययन का क्रम चला। इक्कीस हजार श्लोक कण्ठस्थ किए। अनेक मुनियो के अध्यापन का कार्यभार सभाला। दिन बीते, महीने बीते और वर्ष भी बीते। आचार और विचार मे विचक्षणता प्राप्त की। श्रीमत् कालूगणी ने आपके लघु हृदय मे एक विशालता और निपुणता के दर्शन किए। गुरु का अप्रतिम प्यार था, योग्यता विस्तीर्ण हो चली। २२ वर्ष की अवस्था मे आचार्य बने। अवस्था की लघुता ने लोगो के मन मे आशकाए भर दी। परन्तु आपकी अनेक प्रौढ प्रवृत्तियो से यह निश्चय हो गया कि 'योग्यता वय सापेक्ष नही होती'। वह विवेक जागृति के तारतम्य पर आधारित

होती है।

तेरापथ के विशाल सगठन ने इस युवक हृदय को महर्ष स्वीकार किया और प्रवृत्ति के प्रत्येक चरण मे झाकने वाले विवेक से सारा सघ नत हो गया। व्यावर मे प्रथम मर्यादा-महोत्सव था। सैंकडो साधु-साध्वी नवीन आचार्य का वर्धापन करने एकत्रित हुए। सघ मे आचार्य का स्थान सबसे ऊचा है—पर रत्नाधिक मुनियो का भी अपना विशिष्ट स्थान है। तेरापथ की यह परम्परा है कि रास्ते मे आचार्य मिले तो प्रव्रज्या मे ज्येष्ठ मुनि उन्हे बैठकर वन्दन नही करते, केवल बद्धाजलि हो, सिर झुकाते हैं। उस समय एकत्रित मुनियो मे आचार्यप्रवर से प्रव्रज्या मे ज्येष्ठ मुनि अधिक थे। सभी ज्येष्ठ मुनियो ने एक विचार किया और अपनी ज्येष्ठता युवक आचार्य मे लीन कर दी। रास्ते मे जब भी आचार्य मिलते तब सभी ज्येष्ठ मुनि नीचे भूमि पर बैठ वदना करते—यह कोई बहुत बडी बात नहीं थी परन्तु इस छोटी-सी घटना से आचार्यश्री तुलसी को २२ वर्ष की अवस्था मे प्राप्त सघ के विश्वास का स्फुट निदर्शन होता है।

दृश्य जगत् आपको तीन रूपो मे देखता है

(१) अनुशासक,

(२) धर्म-प्रचारक,

(३) साहित्यकार।

आप प्रारम्भ से ही कुशल अनुशासक रहे हैं। स्कूल मे आपके साथी विद्यार्थी आपके नेतृत्व मे रहना पसन्द करते थे। मुनि-जीवन मे विद्यार्थी मुनि आपकी देख-रेख मे जीवन-विधि का अभ्यास करना चाहते थे और आज आचार्य-जीवन मे समस्त तेरापथ का श्रमण-समुदाय आपकी अनुशासना मे सयत जीवन-यापन की शिक्षा-दीक्षा ग्रहण कर रहा है। यह सब इसलिए कि आपने अनुशासन की मर्यादाओ को जाना है, जाना ही नही उसके अनुरूप अपने जीवन को ढाला है और मुनि-जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति मे उसे प्रतिबिम्बित करने का सफल प्रयास किया है। कहा जाता है—"साध्य की प्राप्ति के लिए अपना समर्पण ही अनुशासन की इयत्ता है। साध्यहीन के लिए कोई अनुशासन नही होता।" आचार्यश्री तुलसी ने अपने शिष्य-समुदाय का साध्य निश्चित किया है इसीलिए सभी मुमुक्ष

व्यक्ति आपके अनुशासन मे रहने के लिए ललचाते है। आप उनके साथ एक दिन रह जाइये, आप देखेंगे कि उनके खाने, पीने, चलने, बैठने, सोने, लिखने, बोलने आदि प्रवृत्तियो मे अनुशासन उभर रहा है। वह इसलिए है कि आपकी सारी प्रवृत्तिया साध्य-प्राप्ति के अभिमुख होती हैं। इनमे प्रमाद नही होता।

आप महान् धर्माचार्य है। आप उपदेश देते है, आदेश नही। आदेश मे सत्ता की विवशता होती है और उपदेश मे विवेक की स्वतन्त्रता। आप धर्म का उपदेश देते है, अत धर्म-प्रचारक हैं। आप पालन करते हैं महाव्रतो का और उपदेश देते हैं अणुव्रतो का। यह है प्रचार की सही मर्यादा। आचरणहीन उपदेश आत्म-वचना है। ऐसे उपदेश मे वह तेज नही होता जो आत्म-भाव को आलोकित कर सके। आप उपदेश देते है, दूसरो को सुधारने के लिए नही, अपने भावो को जगाने के लिए, सस्कारो को दृढ करने के लिए। दूसरे लाभान्वित होते हैं, यह निश्चित सत्य है पर है उपदेश का गौणफल। उपदेश का उद्देश्य है आत्म-साधना। जैसे आप धनवान को उपदेश देते हैं, वैसे ही निर्धन को भी। राजा-रक आपके लिये समान हैं। आप न धनवान का अभिवादन करते है और न निर्धन का तिरस्कार। आप कहते है—"धर्म मे त्याग की प्रतिष्ठा है, धन की नही। धन के बाँटो से मनुष्य की गरिमा को तोलनेवाले मूढ हैं। असयमी धनकुबेर से सयमी निर्धन श्रेय है। धन प्रेय मार्ग का अनुगामी है, श्रेय मार्ग है उसका त्याग।" आपके उपदेश मे हृदय होता है, थोथा कथन नही। जिसका आप पालन नही करते या जिसके पालन में आप अपने मे सामर्थ्य नही पाते, उसका उपदेश देने मे भी हिचकते है।

उपदेश देना भी एक साधना है। उपदेष्टा को कितना गम्भीर, कष्ट-सहिष्णु, विचक्षण होना पडता है, यह वे ही जान सकते है जो इस क्षेत्र मे उतरते है या उतरने की तैयारी करते है। चिलचिलाती धूप मे सहस्रो मील चलना, रास्ते मे यथावकाश उपदेश देना, उपदेश सुननेवालो से घुल-मिल जाना—यह है आपका दैनिक-क्रम। दिन मे अठारह घटे तक कार्यरत रहना, यह है नैतिक प्रचार-प्रसार की उद्योगशीलता। आप कहते हैं—"जब मुझे जन-जागरण के लिये कुछ कहने या करने का अवसर मिलता है, तब

मेरी दैहिक आवश्यकताएँ मानसिक सतुष्टि मे लीन हो जाती हैं।"

प्रचार के तीन साधन हैं

(१) भाषण

(२) साक्षात्कार।

(३) सगीत

आप समय-समय पर बोलते हैं, एक के लिये भी, सौ के लिए भी और सहस्रो के लिए भी। भाषणो मे शब्दो का आडम्बर नही होता, उनमे होती है हृदय को झकझोरनेवाले भावो की रसमयता। जब आप बोलते हैं तब सुननेवाला सुनते रहने के लिए उत्कर्ण हो जाता है। आप मुनिजीवन से ही मजे हुए वक्ता थे। पर उस समय आप राजस्थानी भाषा मे ही बोलते थे। आप आचार्य बने, फिर भी उसी भाषा के माध्यम से विचार देते रहे। इसका कारण था आपका सीमित विहार क्षेत्र। देशाटन की भावना हुई। उपयुक्त साधन जुटाने की बात ध्यान मे आयी। हिन्दी की सार्वजनीनता प्रत्यक्ष थी ही, उसके हस्तगत करने का प्रयास हुआ। वि० स० २००५ की शरद ऋतु मे अभ्यास का क्रम चला। क्रम के नैरन्तर्य ने सफलता के द्वार खोल दिए। आपकी वक्तव्य-कला निखर उठी। गावो मे ग्राम्य हिन्दी मे बोलते, विद्वानो मे ऊची हिन्दी मे भाषण करते। जैसी परिषद् होती वैसे ही आप अपने भाव प्रस्तुत करते। सुननेवाले तादात्म्य का अनुभव करते और आपकी वाणी से एकतान हो जाते।

जो सबके साथ स्नेह-सहित घुल-मिलकर नही रहता, वह दूसरो के हृदय को जीत नही सकता। आप जिस किसी से मिलते हैं उससे घुल-मिल जाते हैं। आप जन-जन से सम्पर्क साधते हैं—गरीबो से मिलते हैं तो धनिको से भी। मजदूरो से मिलते हैं, तो मिल-मालिको से भी। राजा से मिलते हैं तो रक से भी। विद्वान् से मिलते हैं तो अनक्षर से भी। महाजन से मिलते हैं तो हरिजन से भी। गोरो से मिलते हैं तो कालो से भी। एक शब्द मे आप सबसे मिलते हैं। यह मिलन औपचारिक नही, वास्तविक होता है। जो आप से एक बार मिल जाता है वह आपका बन जाता है, इसमे अतिरेक जैसा कुछ भी नही। आप किसी को न धन देते है और न भूमि ही—फिर भी सहस्रो व्यक्ति आपका सहवास पाना चाहते हैं—यह

है आपके त्याग और तपस्या का जादू ।

प्रसार का तीसरा साधन है सगीत । भावनाओ को जब स्वरो मे गूथा जाता है तब एक नाद होता है, वही सगीत की आत्मा है । उस नाद की मधुरता होती है जो सहस्रो हृदयो को अनायास ही खीच लेती है । आप कहते हैं—"सीधे-सादे शब्दो मे कहे गये कथन का जो असर नही होता उसे ही यदि सगीत की स्वर-लहरियो मे बाँधकर उपस्थित किया जाये, तो उसका अपूर्व असर होता है ।" आप स्वय कवि हैं, सगीतज्ञ हैं, गीतकार हैं। आपकी रचनाओ मे जो आकर्षण है वह शतगुणित होकर प्रस्फुटित होता है जब आप स्वय इन गीतो को गाते हैं ।

आप साहित्यकार है । आप जो कुछ बोलते हैं वह सुभाषित हो जाता है, जो कुछ लिखते हैं, वह साहित्य बन जाता है । आप न लिखने के लिए बोलते हैं, न बोलने के लिए लिखते है । सब कुछ सहज होता है । आपकी वाणी साहित्य बनकर बाहर आती है । कोई उसे बाध दे, वह सारा साहित्य बन जाता है । जो कोई उसे तत्काल न बाधे तो वह वाणी श्रोता के विचारो मे एकार्णवीभूत बनकर समय-समय पर प्रकट होती रहती है । आप अपनी वाणी को ही सब कुछ नही समझते । आप नम्रता से कहते हैं—"मैंने नया कुछ नही कहा । ससार मे कुछ नया है ही नही । प्राचीन ऋषि-मुनियो के विचारो को ही नई पद्धति से कहने का प्रयास करता हू ।" इन वाक्यो मे कितनी निरभिमानता है ! आपकी वाणी को कोई साहित्य का रूप दे या न दे इसकी आप चिन्ता नही करते पर यह विवेक अवश्य रखते हैं कि मैं कब कहा किन-किन पात्रो मे अपनी वाणी का रस उडेल रहा हू ।

आपने दर्शन और सिद्धान्त के विषय मे लिखा तो सामयिक विषयों पर भी आपकी लेखनी निर्बाध गति से चली । आपने बडो के लिए लिखा तो छोटो के लिए भी । आपने राजस्थानी रचनाओ से तेरापथ का साहित्य-भडार भरा तो सस्कृत और हिन्दी मे भी अनेक रचनाए की । दुरुह विषय को भी सुगम बनाकर उपस्थित करने मे आपकी निपुणता के दर्शन होते हैं । आपके चिन्तन मे दर्शन स्वय स्फूत है और वह साहित्य मे भी प्रतिबिम्बित हुआ है । आप दर्शन को जीवन से विलग नहीं मानते ।

उसे उसमें अनुस्यूत मानते है, अत आपकी रचनाओं में ही दर्शन यत्र-तत्र-सर्वत्र मूर्त बनकर आया है। आप मानते हैं कि जब तक व्यक्ति अपने जीवन के प्रति दार्शनिक नहीं बन जाता तब तक वह उसे (जीवन को) भली-भांति समझ ही नहीं सकता। इसीलिए आप दर्शन की भूमिका पर खड़े होकर बोलते हैं और इसी के आधार पर लिखते हैं। पाठक कहीं-कहीं दर्शन की गहराई में डूब जाता है, उलझ जाता है पर आगे पैर बढ़ाते ही उसकी उलझन मिट जाती है और वह विषय को आत्मसात करता हुआ तीव्रता से आगे बढ़ता चला जाता है।

आप अपने जीवन-व्यवहार में विनम्र हैं, शालीन हैं—इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति में विनम्रता और शालीनता की आशा करते हैं। छोटे और बड़ों के पार्थक्य को आप एक सीमा तक स्वीकार करते हैं और मानते हैं कि छोटा छोटा है और बड़ा बड़ा। छोटा बड़ों के प्रति नम्र न रहे तो यह उसकी कमी है, बड़ा चाहे कोई भी क्यों न हो वह अन्ततः बड़ा है। उसकी अपनी मर्यादा है—उस मर्यादा का ध्यान रखना प्रत्येक छोटे का कर्तव्य है। अपने प्रति या दूसरों के प्रति भी अविनय आपको असह्य है। वह इसलिए नहीं कि वह अपने प्रति है या बड़ों के प्रति। परन्तु इसलिए कि वह अविनय है, दुर्गुण है, दोष है। साथ-साथ आप यह भी मानते है कि—छोटों के प्रति बड़ों का भी एक कर्तव्य है। छोटा होने मात्र से वह उपेक्षणीय नहीं हो जाता। बड़ों को चाहिए कि छोटों को हृदय से लगाएं, समय-समय पर उनके गुणों को प्रकट करें, वात्सल्य को उन पर उंडेलें और उन्हें स्नेहसिक्त वाणी से सदा आप्लावित करते रहें। बड़ों और छोटों के सह-अस्तित्व में आप विश्वास करते हैं और तदनुरूप व्यवस्था भी। परन्तु कभी-कभी बड़ों के लिए छोटों की उपेक्षा भी हो जाती है, जो अहेतुक न होने के कारण अखरती नहीं।

आप वज्र से कठोर और फूल से कोमल हैं। यह द्वैध इसलिए है कि आप आचार्य हैं, एक ऊंचे पद पर हैं। मूलतः आपका स्वभाव कोमल है। आप कठोर तब बनते हैं जब आपकी कोमलता का कोई दुरुपयोग करने लग जाता है। आप कठोर तब बनते हैं जब साधक साधना को अकिंचित् समझकर उसकी मर्यादा की अवहेलना करता है। आप कठोर तब बनते

है जब कोई भी व्यक्ति मर्यादा को वन्धन समझकर उसका अतिक्रमण करने का प्रयास करता है। विशेषत आप कठोर तव वनते ह जव सघ का कोई भी सदस्य सघ को कलकित करने की दूषित प्रवृत्ति मे मन, वाणी और शरीर से प्रवृत्त होता है। आपके ये दोनो रूप समय-समय पर दृश्य वनते हैं और कभी-कभी आपकी कोमलता के प्रति सन्देह उभार देते है।

जो आत्मवान् है वह विद्वान् है। आचार्यश्री तुलसी आत्मवान् ह इसलिए विद्वान् हैं। विद्वान् को गभीर होना चाहिए। आप सागर से भी ज्यादा गम्भीर हैं। इतने ज्यादा गम्भीर कि अनुत्तरदायित्वपूर्ण कोई भी वात आपके मुह से निकलती ही नही, न जाने कितनी-कितनी अनुकूल या प्रतिकूल वातो को आप पचा जाते है, भुला देते हैं। कई आवश्यक तथ्य आप चिरकाल तक याद रखते है पर इसका प्रतिभास किसी को नही होने देते। तथ्य से सम्वन्धित व्यक्ति सोचता है कि आचार्यश्री वात भूल गए हैं। परन्तु उसे अपने इसने चिंतन की अलीकता तव प्रतीत होती है जवकि आप यथावसर उस तथ्य को ज्यो का त्यो सामने ला रखते हैं। जव, जहा, जिसे, जैसा, जितना कहना होता है उतना ही कहते हैं, उससे अधिक या न्यून नही। कुछ वर्ष पूर्व की वात है, मैं प्रमादवश एक भूल कर वैठा। आचार्यश्री तक यह वात पहुची। लगभग दो-चार महीने तक मैं आपके अत्यन्त निकट ही रहा, परन्तु कभी भी मुझे इस त्रुटि का आभास नही होने दिया। मैं स्वय उस त्रुटि को भूल गया था। समय का परिपाक होने पर जव, जहा, जैसा, मुझे कहना था कहा, मैं क्षमाप्रार्थी की भावना लिए आपकी गम्भीरता की गहराई मे डूवने-उतराने लगा।

मान्य को ही अन्तिम सत्य मानकर चलना, यह आपको पसन्द नही। आप पग-पग पर रमणीयता के दर्शन करते हैं। रमणीयता तब आती है जव चरण-चरण पर परिवर्तन की रेखाए खिचती हैं। आप सदा नूतन और ररणीय वने रहने के लिए परिवर्तन करते रहते है। मूल सस्थान को विना वदले ही उसके उपकरणो मे परिवर्तन ला देना—यह आपकी विचक्षणता है। इस विचक्षणता को जाननेवाले बहुत हैं, पर पचानेवाले कम। इसलिए आपको कटु-व्यग्य सहने पडते हैं। आप मानते है कि—मान्य को ही मान्यता देना रूढि है। जव तक उससे हित सधता रहे, वह

काम्य है। जब उसकी निष्क्रियता प्रत्यक्ष हो जाए, फिर भी उससे चिपके रहना बुद्धि की जडता है। आप अपनी बुद्धि को जड नही बनने देते। उसमे सदा नव उन्मेष आते रहे, यह प्रयत्न करते रहते है। व्यक्ति और समाज को जीवित रखने का यह मूल सूत्र है। आपने तेरापथ सगठन मे इतने परिवर्तन ला दिए कि कुछेक असहिष्णु व्यक्ति उसको बदला हुआ-सा अनुभव करने लगे तो कुछेक तथ्यविद् व्यक्तियो ने उसमे नव-चेतना के दर्शन किए और यह पाया कि तेरापथ दो सौ वर्ष पूर्व जो था आज भी वह उसी रूप मे है। परिवर्तन का प्रत्येक आवर्त शासन-विकास के लिए हुआ है। अत उसका स्वागत सहस्रो-सहस्रो व्यक्तियो ने किया।

आप कहते है मनुष्य सबसे पहले मनुष्य होता है, फिर और-और। आप सबसे पहले 'मानव' है, बाद मे और-और भी। आपको मानवीय गुणो मे तथा उसकी क्षमता मे अचल विश्वास है, अत आप मानव है—साधारण नही, असाधारण। आप मनुष्य की तरह रहते है, मनुष्य की भूमिका पर ही सोचते हैं और उसी के हित के लिए आचार-सहिता का निर्माण कर मानवीय समस्याओ को सुलझा देते है।

आपको पुरुषार्थ पर अटूट विश्वास है। श्रम आपके जीवन का क्रम है। भाग्यवाद की दुहाई देनेवालो की अकर्मण्यता पर आप हँसते है और पुरुषार्थवाद की कठोर पर फलदायी छाया मे पलनेवाले को आप आशा भरी दृष्टि से देखते है।

आप से पूछा—"पुरुषार्थी कौन है ?"

आपने कहा—"जहा राह हो वहा तो सब कोई व्यक्ति आ-जा सकते है परन्तु जो नई राह ढूढ निकाले और उसको साध्य से जोड दे, वह पुरुषार्थी है। बिना राह जो चल सके, बिना आख जो देख सके, वह पुरुषार्थी है।" श्रम पुरुषार्थ का प्रतीक है। दिन-रात मे अठारह घटो तक व्यस्त रहना श्रम की पराकाष्ठा है। इस व्यस्तता मे भी आनन्द का स्राव होता है तभी तो आप उसमे सदा सलग्न रहते ह। मधुमक्षिका की उद्योगपरता आप मे अधिष्ठित है इसीलिए आपके समस्त कार्य अमृत की धारा बहा देते हैं।

आप मानते है—"सौन्दर्य वस्तु मे नही, मनुष्य की भावना मे है। आप

अपना सौन्दर्यपरता वस्तु के साथ जोड देते है और तब प्रत्येक वस्तु आपको सुन्दर ही सुन्दर दीखने लग जाती है। कितने ही आवश्यक कार्य मे आप व्यस्त क्यो न हो, कोई कलात्मक चीज आपके सामने आयी कि आप अपना कार्य एक ओर रख देंगे और उसे इस प्रकार देखेंगे मानोकि ऐसी वस्तु पहले कभी न देखी हो। इस गुण से आप प्रत्येक वस्तु के साथ तादात्म्य स्थापित कर देते हैं और तब उसकी गुण-अवगुण की सही-सही मीमासा करने मे भी समर्थ हो जाते हैं। बच्चो के प्रति आपका अनुराग है, वह इसलिए है कि बालक का अकृत्रिम सौजन्य आपके सहज सौजन्य से तादात्म्य स्थापित कर लेता है और एकमेक होकर आखो से बाहर चूने लग जाता है। बच्चो से भी आप दार्शनिक प्रश्न पूछ लेते है और उत्तर की प्रतीक्षा मे उसकी ओर ऐसे ताकते रहते है कि मानो वह गूढतम रहस्य को प्रकट कर देगा। प्रश्नोत्तर चलते है—देखनेवाले को लगता है कि आचार्यजी इतने गूढ, विद्वान् प्रचारक प्रवक्ता है, लेकिन जब आप बालक के साथ हुए वार्तालाप के रहस्य को खोलते है, तब सब कुछ स्पष्ट हो जाता है।

प्रत्येक वस्तु के मूल्याकन की यथार्थता को बनाए रखना आप पसन्द करते है। कोई भी वस्तु आपको इष्ट हो या न हो, आप उसका कभी अवमूल्यन नही करेंगे। जो है उसे वैसा ही मानेंगे। स्वय के प्रति भी यही कसौटी मान्य है। आप जैसे हैं, जितने है, वैसे और उतने ही अपने आपको मानते है। न अधिक मानते हैं और न अधिक दीखते है। कोई दूसरा व्यक्ति आपको कम माने यह उसकी इच्छा है पर निकट मे रहने वाला कोई यदि कम मानता है तो यह आपको पसन्द नही। अकन मे अतिशयोक्ति न हो, पर न्यूनता भी न हो—यह आपकी मान्यता है।

सघर्ष आपके साथ ही जन्मा, इसमे किंचित् भी अतिरेक नही। वि० स० १९७१ की बात है, कार्तिक शु० १-२ का सगम था, या यो कहे सघर्ष था। इस सन्धिवेला मे आपका जन्म हुआ। जिसका जन्म सघर्ष मे हो, वह सघर्ष मे क्यो नही जूझेगा? प्रारभ से आज तक आप सघर्ष मे पलते रहे हैं। बडे-बडे सघर्ष आए, पर आपका हृदय अपने ध्येय से सूत-मात्र भी विचलित नही हुआ। सघर्ष मे धैर्य को बनाए रखना आपकी सहज वृत्ति

है। कुछेक वर्ष पूर्व कुछेक मुनि विचार-भेद को लिए सघ मे अलग हो गए। समूचे समाज मे प्रतिक्रिया हुई। अनेक विकल्प उठे। किन्ही-किन्ही अविचारणीय व्यक्तियो ने सघ की विकलता को इसमे ढूढा। यथार्थ मे यह सघर्ष उग्र था। तेरापथ के दो सौ वर्षा मे तीसरा था और आशका को सहज उभारनेवाला था। परन्तु आचार्यश्री का धैर्य अडोल था। तूफान उपशान्त हुआ, आवेश मिटा और सघर्ष शात हो गया। बहुतो के हित के लिए आपने कुछ त्याग किया। इस उदार वृत्ति ने सघर्ष मे रत व्यक्तियो को आत्म-समर्पण के लिए प्रेरित किया और सबके हृदयो को जीतकर आप जितकाशी बन गए।

आपका विश्वास महँगा है। आप अपना विश्वास जल्दी नही बाटते और जो अपना विश्वास बाटते है उन पर जल्दी विश्वास भी नही करते। इसका यह अर्थ नही कि आप अपना विश्वास किसी को देते ही नही, और न किसी पर विश्वास ही करते हैं। परन्तु आप अपना विश्वास उसी को लुटाते है जो श्रद्धाशील है, आत्मवान् है। एक बार जिसे विश्वास दे देते हैं उसको उसका अभाव कभी खटकने नही देते। यही बात दूसरो की है। जिस पर आप अपना विश्वास जमा लेते है, उस पर सहजतया अविश्वास नही करते। आप स्वय श्रद्धाशील है और दूसरो मे भी श्रद्धा के गुण प्रस्फुट देखना चाहते है।

आप मानते हैं कि—प्राप्त का सुख न लेना और अप्राप्त की सतत चाह रखना—यह विकृति है। इसके द्योतक शब्द है—भूख और व्याधि। आज के मनुष्य को पद, यश और स्वार्थ की भूख नही, व्याधि लग गई है, जो बहुत कुछ बटोर लेने पर भी शात नही होती। भूख सहजतया मिटाई जा सकती है, व्याधि को मिटाने के लिए तीव्र प्रयत्न चाहिए। 'प्रभाकरजी' ने लिखा—'अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक सत तुलसी ने भूख और व्याधि—इन दो शब्दो मे प्राप्त की उपेक्षा और अप्राप्त की अपेक्षा इस विकृति का जो चित्र दिया है उसे हजार विद्वान् हजार-हजार पृष्ठो की हजार पुस्तको मे भी नही दे सकते।'

आप लोक-सग्रह से विमुख नही है। पर लोक-सग्रह के लिए प्रयत्न नही होता, वह अनायास ही बन जाता है। कई क्षेत्रो मे वह आदेय है, पर

आत्म-साधना मे बाधक है, यह मानते हुए भी आप उसमे अत्यन्त विलग नही हो जाते, और न ऐसा करना भी चाहते है, क्योकि समगत विचारो का फैलाव लोक-सग्रह-सापेक्ष होता है। जिसे अपने विचारो का मोह नही, वह भले ही एकान्त मे जाकर साधना करे, तब न उसका कोई सगठन रहेगा और न अनुयायी वर्ग। आपको अपने विचारो मे लगाव है और वह ...लिए है कि उनमे जीवन-हित का उपाय निहित है। कोई उसे आदर दे ...न दे, आप उसकी चिन्ता मे नही उलझते पर यह सतत सोचते रहते है ...कि प्रत्येक सभ्य व्यक्ति उन विचारो को समझने-बूझने की योग्यता तो ...प्राप्त करे ही।' इसी भावना के लिए आप अहर्निश प्रयत्नशील रहते है।

आत्महित परहित से ही सम्भव है—ऐसा आप नही मानते। पर यह जानते हैं कि परहित की भावना जब आत्म-हित की भावना से सम्पृक्त है, तब स्वार्थ के साथ-साथ परार्थ भी सध जाता है। स्वय को बिगाडकर दुनिया को सुधारना या स्वार्थ की उपेक्षा कर परार्थ को साधना—आप नहीं चाहते। 'स्व' पहले, 'पर' बाद मे। जो 'स्व' की उपेक्षा करेगा, वह 'पर' की अपेक्षा रखेगा यह कैसे माना जाय ? आप परहित मे भी स्वहित देखते हैं इसीलिए तो आपका शरीर दूसरो के लिए समर्पित हो पाया है। चिन्तन, मनन और निदिध्यासन—सभी उसी ओर वेग से बढे चले जा रहे हैं। उस तीव्र अभिलाषा ने लोगो के मन मे यह आशका पैदा कर दी कि आचार्यजी यशोलिप्सा से पीडित है, पर यह सच नही है। सच यह है कि बिना चाहे भी उन्हे यश मिल रहा है। ज्यो-ज्यो वे इस यश को बाटते हैं वह अधिक तीव्रता से पुन एकत्रित हो जाता है। विवशता है वे इसे रोक नहीं सकते।

आप व्यवहार को भी जानते है और परमार्थ को भी जानते दोनो को हैं, पर व्यवहार को ज्यादा प्रश्रय देते है, क्योकि एक सघ के सचालक जो ठहरे। स्वय की प्रवृत्ति परमार्थाभिमुख होती है, पर दूसरो के व्यवहार को भी उतना ही महत्त्व देते है। आपके समक्ष परमार्थसेवी व्यक्ति तथा व्यवहार-निपुण व्यक्ति दोनो समकक्षता का अनुभव करते है। यह अखरता है उनको जो एकागी दृष्टि से देखते है। समन्वय की दृष्टि मे यह उलझन नही होती।

परमार्थ के साथ विनिमय आपको पसन्द नही। जो उपासना प्रति-कामनाओ से सवलित है वह धोखा है, यह आपका विश्वास है। आप कहते हैं—मनुष्य ने उपासना का आलम्बन ढूढा, फलत मूर्ति की स्थापना हुई। उसमे उसने भगवान् की कल्पना की। उपासना का स्थान अधिकाश-तया वासना ने ले लिया। चार पैसे का नारियल और दो पैसे का तेल चढाकर उपासक प्रतिदान मे चाहता है—पुत्र और लाखो की सम्पत्ति। पुजारी भी है, पूज्य भी है और पूजा की सामग्री भी है, पर उपासना फल नही दे रही है। कारण साफ है—वचना भगवान् तक नही ले जाती। विनिमय से उपासना विकृत हो जाती है।

समन्वय आपके जीवन का मूल-मन्त्र है। यह केवल विचारो मे ही नही, आचरण मे भी है। समन्वय के विना जीवन मे सुख की सृष्टि नही होती। जीवन मे जब तक लगडापन रहता है, तब तक आनन्द की प्राप्ति नही होती। आपने कहा—'वर्तमान जीवन मे गतिरोध उत्पन्न हो रहा है, उसका कारण लगडापन है। उपासना है पर वासना को मिटाने का प्रयत्न नही है। चरित्र-विकास से वासना का ह्रास हो सकता है। सही वात है—उपासना भी हो और चरित्र-विकास भी। शुद्धि के लिए चरित्र आवश्यक है और उसकी स्थिरता के लिए उपासना। जीवन का गतिरोध तब मिटेगा जब दोनो का साथ-साथ विकास होगा।

अभी आप पचास की अवस्था के आस-पास पहुच रहे है, परन्तु आपके उमडते हुए उत्साह से तथा नव-नव उन्मेष वाली चिन्तनधारा से लगता है कि आप अभी तारुण्य के [illegible] ने आपमे अनेक क्षमताओ का [illegible] कुछेक अक्षयताओ को मिटा[illegible] आगे चला जा रहा है।

आप मे—अपनी [illegible]
अपनी भूला
अपनी भूलो
साथ-साथ [illegible]
क्षमता है।

दूसरो की अच्छाइयो को अपनाने की क्षमता है।
दूसरो की अच्छाइयो को स्वीकार करने की क्षमता है।
मूल को सुरक्षित रखते हुए परिवतन करने की क्षमता है।
सीमा मे रहकर असीम वनने की क्षमता है।

आचार्यश्री तुलसी व्यक्तित्व की विभिन्न धाराओ के सगम-स्थल हैं। व्यक्तित्व की एक धारा तेरापथ मे आचार्य के रूप मे प्रवाहित है तो दूसरी धारा विश्वजनीन अनुष्ठान अणुव्रत-आन्दोलन के रूप मे जन-मानस को आप्लावित करती हुई सतत गतिशील है। आज जैन जगत् आपको तेरापथ के आचार्य के रूप मे मान्यता देता है और लाखो-लाखो लोग आपको नैतिक जागरण के अग्रदूत के रूप मे जानते ह। तेरापथ सघ को प्रकाश मे लाने का आपका प्रयास तेरापथ-इतिहास मे युग-युग तक प्रेरणा देता रहेगा। आपने अपने अथक परिश्रम से तेरापथ मे विद्या का प्रसार किया। परिणामस्वरूप विद्या की आराधना मे आज तेरापथ की तेजस्वी परम्परा स्वावलम्वी और स्वयभू वन गई। आज जो तेरापथ का विराट् रूप जनता के समक्ष है उसका श्रेय एकमात्र आचायश्री तुलसी को है, जिन्होने अपनी दैहिक आवश्यकताओ की उपेक्षा कर अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की मन कामना के मिप उसमे कायविधि को जोडकर सफलता पायी है। एक दशक से पूर्व सम्भवत विद्वान् लोग तेरापथ को निष्क्रिय मगठन मानते थे और आचार्यश्री तुलसी को केवल उपदेशक या प्रचारक। परन्तु आज ये मान्यताए ढह चुकी है और विद्वानो को आचार्यश्री मे अपूर्व कायजा शक्ति तथा सकल्पो को फलवान् वनाने की प्रतिभा व तडप स्पष्ट दीख रही है।

आपने आचार्य वनते ही पहले जैन आगमो का पारायण किया। आज पचीस वर्ष वीत चुके है। सारा आगम साहित्य आपकी स्मृति मे प्रतिविम्वित-सा नजर आता है। कुछ वर्ष पूर्व आपने आगम शोध-कार्य प्रारम्भ किया। सकेत मात्र से वीसो मुनि इस कार्य मे जुट गए। परिणाम सामने आया। कार्य की सलग्नता ने कार्य मे परिष्कार चाहा। वह भी हुआ।

जैन विद्वानो ने उसे आशाभरी दृष्टि से देखा। जैन विद्वान् श्री

परमार्थ के साथ विनिमय आपको पसन्द नही। जो उपासना प्रति-कामनाओ मे सवलित है वह धोखा है, यह आपका विश्वास है। आप कहते है—मनुष्य ने उपासना का आलम्बन ढूढा, फलत मूर्ति की स्थापना हुई। उसमे उसने भगवान् की कल्पना की। उपासना का स्थान अधिकाशतया वासना ने ले लिया। चार पैसे का नारियल और दो पैसे का तेल चढाकर उपासक प्रतिदान मे चाहता है—पुत्र और लाखो की सम्पत्ति। पुजारी भी है, पूज्य भी है और पूजा की सामग्री भी है, पर उपासना फल नही दे रही है। कारण साफ है—वचना भगवान् तक नही ले जाती। विनिमय से उपासना विकृत हो जाती है।

समन्वय आपके जीवन का मूल-मन्त्र है। यह केवल विचारो मे ही नही, आचरण मे भी है। समन्वय के बिना जीवन मे सुख की सृष्टि नही होती। जीवन मे जब तक लगडापन रहता है, तब तक आनन्द की प्राप्ति नही होती। आपने कहा—'वर्तमान जीवन मे गतिरोध उत्पन्न हो रहा है, उसका कारण लगडापन है। उपासना है पर वासना को मिटाने का प्रयत्न नही है। चरित्र-विकास से वासना का ह्रास हो सकता है। सही बात है—उपासना भी हो और चरित्र-विकास भी। शुद्धि के लिए चरित्र आवश्यक है और उसकी स्थिरता के लिए उपासना। जीवन का गतिरोध तब मिटेगा जब दोनो का साथ-साथ विकास होगा।

अभी आप पचास की अवस्था के आस-पास पहुच रहे है, परन्तु आपके उमडते हुए उत्साह से तथा नव-नव उन्मेष वाली चिन्तनधारा से लगता है कि आप अभी तारुण्य के मध्य मे जी रहे है। इस अदम्य उत्साह ने आपमे अनेक क्षमताओ का स्रोत खोल दिया है, जो जीवन मे अवशिष्ट कुछेक अक्षमताओ को मिटाता व सफलता के नये-नये द्वार खोलता हुआ आगे चला जा रहा है।

आप मे—अपनी भूलो को सुनने-देखने की क्षमता है।
अपनी भूलो को स्वीकार करने की क्षमता है।
अपनी भूलो का परिमार्जन करने की क्षमता है।
साथ-साथ दूसरो की अच्छाइयो को सुनने और देखने की क्षमता है।

दूसरो की अच्छाइयो को अपनाने की क्षमता है।
दूसरो की अच्छाइयो को स्वीकार करने की क्षमता है।
मूल को सुरक्षित रखते हुए परिवर्तन करने की क्षमता है।
सीमा मे रहकर असीम बनने की क्षमता है।

आचार्यश्री तुलसी व्यक्तित्व की विभिन्न धाराओ के सगम-स्थल हैं। व्यक्तित्व की एक धारा तेरापथ मे आचार्य के रूप मे प्रवाहित है तो दूसरी धारा विश्वजनीन अनुष्ठान अणुव्रत-आन्दोलन के रूप मे जन-मानस को आप्लावित करती हुई सतत गतिशील है। आज जैन जगत् आपको तेरापथ के आचार्य के रूप मे मान्यता देता है और लाखो-लाखो लोग आपको नैतिक जागरण के अग्रदूत के रूप मे जानते है। तेरापथ सघ को प्रकाश मे लाने का आपका प्रयास तेरापथ-इतिहास मे युग-युग तक प्रेरणा देता रहेगा। आपने अपने अथक परिश्रम से तेरापथ मे विद्या का प्रसार किया। परिणामस्वरूप विद्या की आराधना मे आज तेरापथ की तेजस्वी परम्परा स्वावलम्बी और स्वयभू बन गई। आज जो तेरापथ का विराट् रूप जनता के समक्ष है उसका श्रेय एकमात्र आचार्यश्री तुलसी को है, जिन्होने अपनी दैहिक आवश्यकताओ की उपेक्षा कर अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की मन कामना के सिप उसमे कार्यविधि को जोडकर सफलता पायी है। एक दशक से पूर्व सम्भवत विद्वान् लोग तेरापथ को निष्क्रिय सगठन मानते थे और आचार्यश्री तुलसी को केवल उपदेशक या प्रचारक। परन्तु आज ये मान्यताए ढह चुकी है और विद्वानो को आचार्यश्री मे अपूर्व कार्यजा शक्ति तथा सकल्पो को फलवान् बनाने की प्रतिभा च तद्रूप स्पष्ट दीख रही है।

आपने आचार्य बनते ही पहले जैन आगमो का पारायण किया। आज पचीस वर्ष बीत चुके है। सारा आगम साहित्य आपकी स्मृति मे प्रतिबिम्बित-सा नजर आता है। कुछ वर्ष पूर्व आपने आगम शोध-कार्य प्रारम्भ किया। सकेत मात्र से बीसो मुनि इस कार्य मे जुट गए। परिणाम सामने आया। कार्य की सलग्नता ने कार्य मे परिष्कार चाहा। वह भी हुआ।

जैन विद्वानो ने उसे आशाभरी दृष्टि से देखा। जैन विद्वान् श्री

दलसुखभाई मालवणिया ने आचार्यश्री की कार्यजा शक्ति की प्रशसा करते हुए लिखा—"राजगृह मे सम्मेलन के अवसर पर अन्य जो कुछ हुआ वह तो सराहनीय है ही, परन्तु आचार्यश्री ने वैभारगिरि शिखर पर बैठकर जो आगम-पाठ-निर्धारण का सकल्प किया कि वह कार्य पाच वर्षो मे पूरा करना ही है, हम उनके इस सकल्प की बार-बार प्रशसा किए विना रह नही सकते, हमे उनके इस सकल्प की पूर्ति के विषय मे तथा उनके उस दिशा मे किए जानेवाले प्रयत्नो के विषय मे भी सन्देह नही, क्योकि वे ऐसे है कि जो काम उठाते हैं उसे निष्ठा के साथ पूरा करने मे लग जाते है, यह उनकी विशेषता हमे कई बार प्रत्यक्ष हुई है।"

आप युग-सन्त हैं, इसलिए नही कि आप महाव्रतो की साधना करते हैं या आपके लाखो अनुयायी हैं, या आप तेरापथ सगठन के एकमात्र नियन्ता हैं, परन्तु इसलिए कि आप युग की समस्याओ को युग के नेत्रो से देखते हैं और उसका समाधान भी युग के साधनो मे ही देने का प्रयास करते हैं।

दूसरी बात है—आप मे सयम है पर परुपता नही, तपस्या है पर क्रोध नही, ज्ञान है पर अहमन्यता नही, परोपकार वृत्ति है पर प्रदर्शन नही, आप देते हैं पर जताते नहीं, बटोरते हैं पर सताते नही, क्षमाशील हैं पर कायर नही, शूर हैं पर क्रूर नही, नियन्ता है पर शोपक नही। ये सारे गुण आपको युग-सन्त मानने के लिए पर्याप्त प्रमाणभूत हैं।

आपको कई चीजें अनायास ही प्राप्त हैं—जैसे वाणी और कर्म मे अविपर्यास, श्रद्धा की अविकलता, स्नेह और वात्सल्य की अकृत्रिमता, वाणी मे मित भाषण, आचार के प्रति प्रेम, अनाचार के प्रति कठोरता, दैहिक आवश्यकताओ के प्रति उदासीनता, ध्येय के प्रति जागरूकता, रहन-सहन मे कलात्मकता, समय को सार्थक बनाने की उद्योगपरता आदि-आदि।

यह आचार्यश्री तुलसी के जीवन का एक रेखाचित्र है। रेखाए अत्यन्त स्फुट हैं और अतिरेक मे अस्पष्ट हैं, अत प्रत्येक को इसमें यथार्थता के दर्शन हो, इसमे विस्मय ही क्या होगा?

"आण सरण गच्छामि"
"मेर सरण गच्छामि"

"आयरिय सरण गच्छामि"
"गण सरण गच्छामि"
"धम्म सरण गच्छामि"

आचार्यश्रीतुलसी के बत्तीस गुरु

एक साधक ने आचार्यश्री तुलसी से पूछा—"भन्ते! आपकी सुस्थिर साधना का क्या रहस्य है? जीवन-यापन की यह विधि आपने कहा से सीखी?" आचार्यश्री तुलसी ने कहा—"साधक! मेरे जीवन का अणु-अणु भगवान् महावीर की अमर साधना से अनुप्राणित है। मैं जो कुछ हू वह उनके अप्रतिम अनुग्रह का ही परिणाम है। उनके तप पूत जीवन से तथा उनके द्वारा उपदिष्ट तत्त्व-ज्ञान से मैंने अपना जीवन बनाया है। वे मेरे सर्वस्व हैं, वे मेरे आदि-अन्त हैं।

भगवान् महावीर तथा उनके प्रवचन को मैंने श्रीमत् कालूगणी के माध्यम से जाना। अत वे भी मेरे अनन्य उपास्य हैं।

साथ-साथ मेरे जीवन को सत्प्रेरणा देनेवाली इन जागतिक वस्तुओ का भी मैं आभारी हू। इनके स्वाभाविक गुणो से मैंने बहुत कुछ सीखा है और आज भी उन गुणो को विस्तीर्ण करने मे सलग्न हू। इस प्रकार मेरे बत्तीस गुरु है

१ भगवान् महावीर—इनसे मैंने सहिष्णुता, समभाव तथा तपस्या का मूलमत्र सीखा। अन्धकार मे प्रकाश को देखने की विधि जानी और पुरुषार्थवाद की अविकलता को समझा।

२ श्रीमत् कालूगणी—इन्होने मुझे बिन्दु से सिन्धु बनाया और मेरी सुसुप्त अध्यात्म धारा को बाहर प्रवाहित किया। मेरी साधना का अणु-अणु आज भी उनकी अमर गाथा गा रहा है। उन्होने मुझे ज्ञान दिया, ध्यान की प्रणाली सुझाई, गम्भीरता का मन्त्र सिखाया, अनुशासन का मन्त्र-पाठ दिया और सबमे मिलने-जुलने की कला सिखाई।

३ कासी का बर्तन—इससे मैंने नि स्नेह रहने का मन्त्र सीखा।

कास्य वर्तन स्नेह आदि से लिप्त नही होता, उसी प्रकार मोहाविल ससार मे रहता हुआ भी मैं निर्लिप्त रहता हू।

४ शख—शख अत्यन्त शुभ्र और निरजन होता है। मैंने उससे रागादि दोषो से असम्पृक्त रहने की भावना सीखी।

५ कच्छप—इस छोटे से प्राणी से मैंने गुप्तेन्द्रिय रहने का पाठ सीखा और इसकी सतत प्रेरणा से जितेन्द्रियता की ओर वढने का मार्ग खुल गया।

६ सुवर्ण—सोना तपने के वाद चमकता है। मैंने जाना कि साधक तपने के वाद ही सिद्ध होता है। मैंने अपनी वाह्याभ्यन्तर वृत्तियो को तपाना प्रारम्भ किया।

७ कमल—कमल कीचड मे उत्पन्न होता है, पर कीचड से लिप्त नही होता। मैंने सीखा ससार क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि दोषो से भरा पडा है, फिर भी साधक उससे लिप्त न हो। निर्लेप की भावना मैंने कमल से सीखी।

८ चन्द्रमा—चन्द्रमा सौम्य का प्रतीक है। वह स्वय चमकता है और साथ-साथ सहस्रो-सहस्रो नक्षत्रो को भी चमकने का, अपने अस्तित्व-ज्ञान का समान अवसर देता है। मैंने सीखा कि साधना को भी सौम्य होना चाहिए, तभी उससे अमृत का स्राव हो सकता है।

९ सूर्य—सूर्य अपरिश्रान्त होता हुआ अपने कर्तव्य-पथ पर चलता रहता है। चलना ही गति है, तपस्या है, यह उसकी कर्तव्यनिष्ठा का मूल अधिष्ठान है।

१० मन्दरगिरि—प्रलयकाल के तूफान भी मेरु पर्वत को विचलित नही कर सकते। समय-समय पर प्रचण्ड वेगवाले तूफान आते हैं पर मेरु पर्वत सदा अडोल, अकम्प खडा रहता है। मैंने जाना कि साधना का मार्ग निर्वाध नही होता। समय-समय पर तूफान आते हैं, पर जो साधक उनमे स्थिर रह जाता है वह अपने लक्ष्य को विध लेता है और जो डगमगा जाता है वह नष्ट हो जाता है। स्थिरता का यह पाठ मैंने मेरु से पढा।

११ सागर—सागर गम्भीर होता है। वह प्रतिकूल वृत्तो मे भी अक्षुब्ध रहता है। मैंने गम्भीरता और अक्षोभ का पाठ उससे सीखा।

१२ पृथ्वी—पृथ्वी सर्वसहा है। वह अनुकूल और प्रतिकूल सभी प्रहारो को सहती है। मैंने जाना साध्य सहने से मिलता है। अब मैं अनुलोम या प्रतिलोम उपसर्गो को हर्ष से सहन करता हू और इसमे मुझे लक्ष्य के दर्शन होते है।

१३ भस्माच्छन्न अग्नि—राख से ढकी हुई अग्नि का प्रखर तेज बाहरी आखें नही देख सकती। परन्तु उसकी दीप्ति के अस्तित्व को अस्वीकार नही किया जा सकता। साधक का जीवन तपस्यामय होता है। तपस्या से शरीर सूख जाता है, पर साधक की अन्तर्दीप्ति प्रज्वलित हो जाती है। वह बाहर से तेजहीन भले ही दीखे पर उसका आन्तरिक तेज अलौकिक होता है। यही यथार्थ तेज है। मैंने अन्तर्दीप्ति से प्रज्वलित रहने का मन्त्र उससे सीखा है।

१४ ज्वलित अग्नि—जलती हुई अग्नि प्रकाशवान् होती है। वह स्वय प्रकाशित रहती है और अपने आस-पास के समस्त पदार्थो को प्रकाशित कर देती है। मैंने समझा ज्ञान स्व पर प्रकाशी है। ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित करने का मैंने सकल्प किया। इस प्रकार ज्ञान की आराधना मैंने अग्नि से सीखी है।

१५ गोशीर्ष चन्दन—चन्दन स्वभाव से शीतल तथा सुगन्धयुक्त होता है। परन्तु जब वह घिसा जाता है तब उसकी महक शतगुणित हो जाती है और शीतलता सहस्रगुणी। मैंने समझा साधक को स्वभाव से शीतल और सुषमा-सम्पन्न होना चाहिए और सघर्ष-वेला मे इन गुणो को सहस्रगुणा बढाकर बटाना चाहिए।

१६ तालाब—तालाब मे बरसात का पानी भी मिलता है और गन्दा पानी भी। वह अक्षुब्ध होता हुआ दोनो को समभाव से आश्रय देता है। इससे मैंने सीखा कि साधक को प्रशसा और निन्दा मे समभाव रहना चाहिए।

१७ दर्पण—दर्पण अपने आप मे अत्यन्त स्वच्छ होता है, स्वच्छ दर्पण मे प्रतिबिम्ब भी निर्मल पडता है। मैंने समझा हृदय-दर्पण जितना स्वच्छ और निष्कपट होगा उतना ही उसमे पडनेवाला साधना का प्रतिबिम्ब भी स्वच्छ और निष्कपट होगा।

१८ हाथी—चतुरग सेना का एक प्रमुख अग है। हाथी अपने शत्रुओ को मार गिराने मे अप्रतिम बलशाली है। मैंने समझा साधक को परिषहो को जीतने के लिए हाथी जैसा वीर्य उपलब्ध करना चाहिए।

१९ वृषभ—जात्य वृषभ (बैल) अपने ऊपर आरोपित भार को मार्ग के बीच नही डाल देता, वह उसे सहर्ष गन्तव्य तक पहुचा देता है। मैंने समझा साधक को भी वृषभ-वृत्ति वाला होना चाहिए। उपसर्गों की अटूट लडाइयो मे भी वह अपने दायित्व को, श्रामण्य को, अक्षुण्ण भाव से निभाता रहे और लक्ष्य को पार कर ही सास ले।

२० सिह—सिह दुर्धर्ष होता है। वह नि शक रूप से वन मे घूमता है। इससे मैंने सीखा कि साधना का मार्ग बीहड है, कटकाकीर्ण है। इसमे साधक को सिह वृत्ति धारण करनी चाहिए, तभी वह अपनी साधना मे निर्बाध गति से परिषहो को जीतता हुआ चल सकता है।

२१ शरत्काल का पानी—शरद्-ऋतु का पानी अत्यन्त स्वच्छ होता है। मैंने जाना साधक को भी पूर्णत स्वच्छ, निष्कपट, सरल होना चाहिए।

२२ भारड पक्षी—भारड पक्षी के दो मुह होते हैं। उसे मृत्यु का भय सदा बना रहता है इसीलिए वह प्रमाद-रहित होकर जीवन यापन करता है। मैंने जान लिया कि प्रमाद जीवन की मृत्यु है। प्रमाद साधना को विफल बना देता है। मैंने अप्रमत्त रहने का मन्त्र पढा और अपनी आत्मा को उससे भावित किया।

२३ गेंडे का सीग—गेंडे के सिर पर एक ही सीग होता है। इससे मैंने यह मन्त्र सीखा कि साधक को भी एकभूत—आत्मलीन होकर ही रहना चाहिए। जहा द्वैध है—बाह्य और आभ्यन्तर वृत्तियो का झमेला है वही दु ख है, सघर्ष है। एक मे सघर्ष नही होता।

२४ स्थाणु—जमीन मे गडा हुआ ठूठ अचल होता है। मैंने जाना कि कायोत्सर्ग की भूमिका मे गडे हुए साधको को भी अकम्प रहना चाहिए।

२५ शून्यगृह—शून्यगृह की कोई भी सार-सभाल नही करता। मैंने समझा कि साधक को भी देह के प्रति अनासक्त रहना चाहिए।

२६ निर्वात प्रदीप—शून्यगृह मे रखा हुआ दीपक निर्विघ्न रूप से जलता हुआ अप्रकम्प रहकर अन्धकार को प्रकाश मे वदल देता है। मैंने समझा कि कामनाओ की शून्यता से ही साधना मे अविचलता आ सकती है और तभी साधक अपने जीवन मे अन्धकार को प्रकाश मे परिवर्तित कर सकता है।

२७ छुरे की धार—छुरे की धार एक ओर से चलती है, दोनो ओर से नही। मैंने इससे सीखा कि साधक को भी एक ही धारा को लक्ष्य कर वहना चाहिए। उसकी गति मे एकता हो, विभिन्नता नही।

२८ सर्प—सर्प को एक दृष्टिवाला कहा जाता है। इसका तात्पर्य है कि जव उसका जो लक्ष्य होता है तव वह उसी मे तल्लीन हो जाता है। मैंने जाना कि साधक को भी एक दृष्टिवाला, लक्ष्य-वेध दृष्टिवाला ही होना चाहिए।

२९ आकाश—आकाश निरालम्व होता है। इससे मैंने सीखा कि साधक को भी वाह्य आलम्वनो से रहित होना चाहिए। वाह्य आलम्वन साधना के विघ्न हैं।

३० पक्षी—पक्षी सदा विमुक्त रहता है। वह किसी के पराधीन नही रहता। मैंने सीखा कि साधक को भी स्वतन्त्र रहना चाहिए, किसी के आश्रित नही।

३१ वायु—वायु अप्रतिवद्ध होती है। मैंने समझा कि साधक को भी अप्रतिवद्ध रहना चाहिए। प्रतिवद्ध होने से आसक्ति वढती है और आसक्ति से नि सग भाव नष्ट हो जाता है।

३२ जीव—आत्मा अप्रतिहत गतिवाला है। उसकी गति निर्वाध होती है। कोई भी पदार्थ उसे रोक नही सकता। मैंने समझा साधक को भी ऐसा ही होना चाहिए।

आचार्यश्री तुलसी अहमदाबाद के पत्रो मे

आचार्यश्री तुलसी ने फाल्गुन कृष्णा ३ को बीदासर (राजस्थान) से दक्षिण यात्रा के लिए प्रस्थान किया। वहा से लाडनू, जोधपुर, बालोतरा, वाव, फतेहगढ, भुज, गाधीधाम, मोरवी, राजकोट, धागध्रा, चूडा, लीवडी, सुरेन्द्रनगर, वीरमगाम होते हुए आपाढ शुक्ला १० को अहमदाबाद पहुचे। यहा पहुचते-पहुचते हमे ११०० मील चलना पडा था। साथ मे सैकडो भाई-बहन सेवा मे थे। हजारो व्यक्ति सम्पर्क मे आए। उन्हे तेरापथ, अणुव्रत आन्दोलन और आचार्यश्री तुलसी को जानने का अवसर मिला। हजारो व्यक्ति परोक्षत परिचित थे, किन्तु प्रत्यक्ष-दर्शन या श्रवण का यह पहला अवसर था। हमने देखा, कच्छ और सौराष्ट्र की भूमि के कण-कण मे सस्कृति का अस्तित्व है और यहा का जनमानस अध्यात्म के प्रति जाग्रत है। यहा की पत्र-पत्रिकाए अध्यात्म को जितना प्रश्रय देती है, उतना राजनैतिक या अन्य विषयो को नही।

आचार्यश्री तुलसी का अहमदाबाद पदार्पण हुआ। जन-मानस मे एक हलचल-सी हुई। सबके मन मे उनके कर्तृत्व के प्रति श्रद्धा थी और सब यह जानते थे कि आचार्यश्री के इस चातुर्मासिक प्रवास से अहमदाबाद मे बहुत कुछ निष्पत्तिया होगी। प्रथम दिन टाउनहॉल मे आचार्यश्री का स्वागत हुआ। दूसरे दिन प्राय सभी पत्रो मे आचार्यश्री के स्वागत की भूरि-भूरि चर्चा थी। पत्रो ने उस स्वागत-समारोह को विशेष स्थान देकर अध्यात्म व नैतिक कार्यक्रमो के पीछे रही अपनी भावना को अभिव्यक्ति दी।

२० जुलाई वाले दैनिक 'सदेश' (यह गुजरात का मुख्य दैनिक पत्र है। इसकी प्रतिदिन ५८२३२ प्रतिया निकलती है।) मे हमने एक लेख पढा। उसका शीर्षक था—'अहमदावाद ने आगणे अणुव्रत-प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी'। इसके लेखक थे ईश्वर पेटलीकर। ये इससे पूर्व आचार्यश्री से कभी नही मिले। केवल उनके विचारो से परिचित थे। विचारो से प्रभा-

वित होकर लिखा—'पूज्य आचार्यश्री तुलसी अपने जैन सम्प्रदाय मे एक उच्चकोटि के सत और विद्वान् के रूप मे वर्षो से प्रख्यात है। ये समाज-सुधारक भी है, इसलिए इनके अमुक-अमुक क्रान्तिकारी विचारो को लेकर रूढिग्रस्त जैन समाज मे इनके विरोध मे बवडर उठे है। भारतवर्ष की आज़ादी के पश्चात् आचार्यश्री ने देश के नागरिको मे चरित्र-उत्थान के लिए अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन किया। यह असाम्प्रदायिक है। इसके प्रचार-प्रसार के लिए आपने हज़ारो मील की पद-यात्राए की है। इसलिए ये जैन धर्म के ही नही किन्तु राष्ट्रीय सत-आचार्य कक्षा मे आ चुके है। इस वर्ष आचार्यश्री का चातुर्मास अहमदाबाद मे है। इनके आन्दोलन के द्वारा जैनेतर लोग भी लाभान्वित होगे। अहमदाबाद अणुव्रत समिति के अध्यक्ष गुजरात के सत पूज्य रविशकरजी महाराज हैं, इसलिए इस आन्दोलन से अहमदाबाद की जनता अनजान नही है।

आचार्यश्री तुलसी १६ जुलाई को अहमदाबाद पधारे। टाउनहॉल मे उनका सत्कार-समारभ था। वहा मुझे दो भिन्न चित्र देखने को मिले। हॉल खचाखच भरा था। सैकडो लोग शान्ति से खडे थे। श्रोतावर्ग मे राजस्थानी लोग अधिक थे, अहमदाबाद के जैन उनसे कम और अजैन लोग उनसे भी कम। आचार्यश्री तुलसी का सम्मान अहमदाबाद के लिए गौरव का विषय था और उसने जैन आचार्य के रूप मे इनका जो विशिष्ट स्थान है, उस दृष्टि से इन्हें सम्मान दिया। किन्तु अणुव्रत आन्दोलन के प्रवर्तक के रूप मे जो आपका राष्ट्रीय कक्षा का स्थान था उसके अनुकूल वह सम्मान नही दे सका। इसमे आचार्यश्री तुलसी का कोई दोष है या गुजरात राज्य अणुव्रत समिति का, यह मैं नही कह सकता। किन्तु इतना मैं अवश्य कहूगा कि सम्प्रदाय की दीवारो को तोडकर काम करने वाले सन्तो के प्रति समाज मे जो भक्ति-भाव होना चाहिए, उसका आज अभाव है। इसका मूल कारण है तत्तद समाजगत मर्यादा। मैं विश्वास करता हू कि राष्ट्रीय सत आचार्यश्री तुलसी के इस चातुर्मास मे यह समाजगत मर्यादा कुछ शिथिल होगी और यदि ऐसा हुआ तो यह अणुव्रत-आन्दोलन के लिए भी पोषक सिद्ध होगी।

आचार्यश्री तुलसी भले ही जैन साधु हो, भले इनके सदाचार का

आधार जैन तत्वज्ञान हो और भले ही इनकी वाणी जैन धर्म की परिभापा व्यक्त करे, परन्तु आचार्य तुलसी जैन धर्मी होते हुए भी सकुचित साम्प्रदायिकता से दूर हैं। यदि ऐसा नही होता तो इनके आन्दोलन का प्रचार-प्रसार सर्वधर्म के नागरिको तक नही पहुचता। इसलिए इनका सत्सग जैन लोगो के लिए मातृभापा जैसा पोषक होगा तो जैनेतर नागरिको के लिए परभापा की ज्ञानराशि जैसा लाभदायक होगा। इमलिए राष्ट्रीय दृष्टिवाले, सर्वधर्म समभाव वाले, जैन एकता के लिए हिमायती, दार्शनिक आचार्यश्री तुलसी के पास अणुव्रत आन्दोलन का सदेश सुनने मे कोई न चूके।'

यह उक्त लेख का बहुत थोडा भाग है। यह लेख चार कॉलमो मे छपा था। ईश्वर पेटलीकर गुजरात के लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक और कथाकार है। इनके अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुके है।

२१ जुलाई को 'जनसत्ता' दैनिक पत्र मे सम्पादक ने 'आचार्य तुलसी' शीर्षक मे लिखा—'जैन तेरापथी सम्प्रदाय के आचार्य तुलसी का अहमदाबाद मे आगमन हुआ, यह कोई महत्त्व की बात नही है। ऐसे तो अहमदाबाद 'जैन नगरी' है। यहा यदा-कदा कोई न कोई जैन आचार्य, सन्त आते ही रहते है और उनका स्वागत भी होता है। आचार्य तुलसी जैन तेरापथी सम्प्रदाय के आचार्य है और इनके अनुशासन मे विशाल साधु-समुदाय है, इसलिए भी इनका महत्त्व नही है। किन्तु आपका महत्त्व इस लिए है कि आपने धर्म को सकुचित बाडे से बाहर निकालने का भगीरथ प्रयत्न किया है।

'अपने यहा धर्म-गुरु, सन्त-महन्त जिस-जिस सम्प्रदाय, पथ या मठ के होते है, वे उन्ही से सम्बद्ध रहते है और उन्ही के विषय मे चिंतन या प्रवचन करते है। वे यह भूल जाते है कि जब तक समाज का एक भी अग दूपित रहेगा तब तक समाज दूषित-रोगी रहेगा। वे समग्र जनता के उत्थान के प्रति रूचि न रखते हुए केवल अपने पथ या सम्प्रदाय तक ही दृष्टि दौडाते हैं। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि सर्व-धर्म-समन्वय नही हो सकता। ऐसी स्थित्ति मे आचार्य तुलसी ने एक नया कदम उठाया है। उन्होने ईश्वर, मुक्ति, मोक्ष आदि

की वातो को मानव जीवन को ऊर्ध्वगामी वनाने के साथ जोड़ा है और इसीलिए समाज मे व्याप्त भ्रष्टाचार के सामने अगुली उठाने का श्रेय लोगो को दिया है। आज देश मे चारो ओर मे एक ही आवाज आ रही है कि 'जनता के नैतिक अध पतन से ममाज को उवारने का उत्तरदायित्व सत-महन्त और धर्मगुरुओ पर है। किन्तु वे इस ओर अधिक ध्यान नही देते। ऐसी स्थिति मे आचार्य तुलसी ने इस अध पतन को रोकने के लिए समाज के समक्ष अणुव्रत का कार्यक्रम प्रस्तुत किया है। आचार्य तुलनी यह कहते है कि छोटे-छोटे व्रतो के पूर्ण पालन से भी समाज का नैनिक स्तर ऊचा उठ सकता है। इसलिए उन्होने अणुव्रत आन्दोलन का प्रवतन किया। इस दृष्टि से भी वे अन्यान्य आचार्यो, महन्तो और सन्तो से भिन्न पड जाते है।

आज भारत जिस परिस्थिति से गुजर रहा है उससे उसे उवारने के लिए यह पहला कर्तव्य है कि समाज का नैतिक स्तर ऊचा उठे। यह तभी सम्भव है जब कि अपने धर्माचार्य, सन्त-महन्त परलोक की वातो को कुछ ममय के लिए विश्राम दें और जिस समाज मे वे श्वास ले रहे है उसकी नैतिक शुद्धि के लिए प्रयत्न करें। आचार्य तुलसी ने इस ओर दिशा-दर्शन दिया है।

छोटे-छोटे व्रतो के पूर्ण पालन से समाज-शुद्धि के भगीरथ कार्य मे प्रत्येक व्यक्ति अणु जितना हिस्सा ले ही सकता है। इसी कार्य को गति देने के लिये आचार्य तुलसी अहमदावाद आये है, इसलिए इनका आगमन महत्त्व रखता है।'

१९ जुलाई के 'गुजरात समाचार' मे 'प्रसग पट' स्तम्भ के अन्तर्गत "समाजमा प्राचीन नैतिक मूल्योनु तरफदार अणुव्रत आन्दोलन' के शीर्षक से एक लेख छपा था। यह स्तम्भ स्वय सम्पादक लिखते है। उन्होने लिखा

' आचार्य तुलसी भी मार्क्स की तरह यह मानते है कि मनुष्य के विचार और कृत्य उसके जीवन के सयोगो मे से आकार ग्रहण करते है। इसलिए प्रत्येक समाज-सुधारक को सवसे पहले प्रत्येक अनैतिक कृत्य के पीछे रहे हुए आर्थिक, राजकीय तथा व्यक्तिगत सयोगो की पूर्ण

जाच करनी चाहिए। इसी को क्रियान्वित करने के लिए अणुव्रत विहार के अन्तर्गत एक 'अध्ययन सशोधन केन्द्र' की स्थापना की गई है।'

'इस दिशा मे अणुव्रत कार्यकर्ताओ ने साहित्य तथा फिल्मो मे अश्लीलता के प्रति एक आवाज उठाई है।'

अणुव्रत आन्दोलन समाज को स्वस्थ रखने के लिए आवश्यक है—इसमे कोई दो मत नही हो सकते। जो प्रवृत्ति समाज को नैतिक धरातल पर रखना चाहे उसको प्रशसनीय मानना चाहिए। परन्तु जैसा ऊपर कहा है कि मनुष्य और समाज का प्रत्येक कृत्य अनेक सयोगो के परिपाक से उत्पन्न होता है और ये सयोग किन्ही व्यक्तियो की सामूहिक प्रवृत्ति से पैदा होते है। भारत मे आज सदाचार के विषय मे तो 'आकाश फट गया' ऐसा दृश्य देखने को मिलता है। समाज मे नीचे के लोगो का नैतिक स्तर पूर्णत ठीक है, परन्तु ऊपर के लोग भाग्य से ही कभी नैतिकता के विषय मे सोचते है। फिल्मो मे अश्लीलता का प्रवेश कौन कराता है ? फिल्मो के वार्ता-प्रसगो मे अश्लील जीवन जीने वाला कौन-सा वर्ग अकित किया जाता है ? भारत के हज़ारो छोटे-बडे गाव तथा शहरो मे नीचे के तथा मध्यम वर्ग के लोगो को अश्लीलता के आचरण का या उसके प्रति विचार करने का समय ही नही होता। इनको दूसरे-दूसरे क्षेत्रो मे नैतिक रहने का उपदेश देना उनके प्रति इससे बढकर और क्या व्यग्य हो सकता है ? आश्चर्य की बात तो यह है कि जो वर्ग अध पतन के मार्ग पर चल रहा है, उसके आधार-स्तम्भ नेता प्राचीनता के नाम पर और धर्म की दुहाई देते हुए ऐसी नैतिक सस्थाओ को दान देकर अपना नैतिक रूप प्रदर्शित करते है। कदाचित् ऐसे वर्ग को यह भय हो कि जो बहुजन (निचले तथा मध्यम वर्ग के लोग) हैं, उनमे यदि अनैतिकता प्रसरित हो जायेगी तो आज प्रचलित आर्थिक और सामाजिक ढाचा ढह जाएगा और उसके साथ-साथ उनका (ऊचे वर्ग का) स्थान भी खिसक जाएगा। अणुव्रत विहार को इस वर्ग की ओर भी ध्यान देना चाहिए और इस वर्ग के दूषणो को प्रकट करने मे यदि उनसे मिलने वाली धनराशि मे कमी भी हो तो उसे सहन करने के लिये तैयार रहना चाहिए। आज की प्रजा नैतिकता के उपदेशो से ऊब चुकी है। आचार्य तुलसी ने अहमदाबाद मे जो नैतिक

उपदेश दिया है (दे रहे है), उससे भी लाख गुणा अधिक नैतिकता के विषय मे लोग जानते हैं।'

उपरोक्त उदाहरणो से यह स्पष्ट जाना जा सकता है कि आचार्यश्री तुलसी के विचारो की अहमदाबाद के पत्रो मे क्या प्रयिक्रियाएं हुई हैं। ऐसे तो यहा के पत्रकार आचार्यश्री तथा उनके विचारो से सर्वथा अपरिचित नही है,फिर भी अधिक निकटता से जानने का उनका यह पहला अवसर है।

यहा प्रति रविवार जो विशेष गोष्ठिया होती है, उनका सवाद सभी पत्रकार अपने मनमाने आकर्षक शीर्षको से छापते है। अभी-अभी आचार्यश्री के सान्निध्य मे पत्रकार-सम्मेलन हुआ था। उसमे नगर के सभी वरिष्ठ पत्रकार सम्मिलित हुए थे। आन्दोलन के विषय मे उन्होंने अनेक प्रश्न किए और यथार्थ समाधान पर बहुत प्रसन्न हुए।

यहा की जनता 'पत्र वाचन' प्रिय है। यही कारण है कि हिन्दी-भाषी प्रान्तो से भी यहा के दैनिक पत्रो की सख्या अधिक है और वे अधिक सख्या मे निकलते हैं। यहा के लोगो मे अपनी मातृभाषा गुजराती के प्रति अतीव अनुराग है। अहमदाबाद से अनेक गुजराती दैनिक निकालते है और उनकी छपने वाली प्रतियो की सख्या भी अधिक है।

धर्म-त्रिक के महान साधक आचार्यश्री तुलसी

आचार्य तुलसी का जीवन कुछ एक रेखाओ से बना है। समय के परिपाक से अनेक रेखाए उभरी है और अनेक रेखाए मिटी है। उभरना और मिटना शाश्वत सत्य है, इसे कोई नकार नही सकता। यही ज्वलन्त व्यक्तित्व का परिचायक है। उभरने वाली रेखाएँ ये है

अहिंसा का विकास

जब वे दस वर्ष की अवस्था मे मुनि बने, बाईस वर्ष की अवस्था मे

आचार्य बने, तब उनकी अहिंसा की रेखाए मूलत जीवो को न मारने, परितापना न देने आदि-आदि मे सीमित थी। यह अहिंसा का प्रथम किन्तु मजबूत सोपान है। उन्होने इसका अभ्यास किया और इस अभ्यास ने उनके मन को इतना वासित कर दिया कि उसमे से ममत्व का स्रोत फूट पडा। जो समता एक सीमित दायरे मे प्रयुक्त थी, वह विस्तृत हुई। मानसिक अहिंसा का विकास हुआ और स्व से इतर मे भी स्व का दर्शन होने लगा। इसमे अनेक उलझने सुलझ गई और अनेक-अनेक गाठें खुल गई। दूसरो के विचारो के प्रति सहिष्णुभाव बढा, साथ-साथ अपने विचारो मे जो छिपा हुआ भ्रान्तिभाव था, वह टूटने लगा। इसी से समन्वय का मार्ग खुला और आज वे प्रत्येक प्रवृत्ति मे समन्वय खोजते है, प्रत्येक विरोधी विचार के साथ सामजस्यपूर्ण तरीके से समन्वय बिठाते है। वे सिद्धान्तो से समझौता नही करते, किन्तु उनकी गहराई और विशालता को समझने का भरसक प्रयत्न करते हैं। इसी मे से अविरोध पनपा है और शत्रु भी मित्र बने है। वे किसी को अपना शत्रु नही मानते, यह सचाई है। किन्तु यह भी सचाई है कि जो व्यक्ति जैसा है, उसको वैसा मानते है। 'न हीणे न अइरित्ते'—उसको न कम मानते है और न अधिक, न हीन मानते है और न अतिरिक्त।

अहिंसा के क्षेत्र मे नए-नए प्रयोग करते रहते है। कभी वे प्रयोग सफल होते हैं और कभी विफल। किन्तु इन प्रयोगो से अनेक नई-नई उपलब्धिया होती है, और वे जीवन की थाती बन जाती है।

अहिंसा के पालन या प्रयोग का सबका अपना-अपना ढग होता है। एक ही व्यक्ति सभी क्षेत्रो मे एक-सा अहिंसक रह सके, यह सामाजिक जीवन मे असभव नही, तो दुष्कर अवश्य है। वह एक स्थिति मे पूर्ण अहिंसक-वृत्ति का परिचय देता है, तो दूसरी स्थिति मे उसका आशिक पालन ही कर पाता है, और तीसरी स्थिति मे वह अहिंसक रह नही सकता। यह सारा इसलिए होता है कि व्यक्ति की अपनी कमजोरिया उसे ऐसा करने को बाध्य करती है। जो व्यक्ति अहिंसा को नीति मानकर स्वीकार करता है, वास्तव मे वह अहिंसक होता ही नही।

प्रत्येक मनुष्य की अपनी-अपनी इयत्ताए होती है। ऐसी स्थिति मे

उससे पूर्णता की सभावना कैसे की जा सकती है ? असीम पूर्ण होता है, ससीम नहीं।

सत्य का विकास

आचार्य तुलसी सत्य-सधित्सु है। वही व्यक्ति सत्य-सधित्सु रह सकता है, जिसमे आदान की क्षमताए विकसित होती ह। जो ग्रहणशील होगा, उसमे अपनी उपलब्धियो के प्रति अभिनिवेश नहीं होगा। अभिनिवेश का परिणमन दुराग्रह मे होता है और दुराग्रह कभी सत्य तक पहुच नहीं सकता। आचार्य तुलसी ग्रहणशील है। जहा जो सत्य मिलता है, वहा उसे तत्काल ग्रहण करने मे तत्पर रहते हैं, फिर चाहे वह सत्य कहीं से भी निस्यन्द हुआ हो, किसी के द्वारा उद्गीत हो, और किसी भी तरीके से आ रहा हो। इस ग्रहणशीलता ने उन्हे नम्र बनाया है, और जो नम्र होता है, वह सर्वत्र प्रवेश पा सकता है। यही कारण है कि वे आज एक विशाल धर्म-सघ के अनुशास्ता होते हुए भी तटस्थ गिने जाते हैं, और उनके विचार तथा सुझाव सार्वजनिक, सार्वदेशिक माने जाते है।

सत्य-सवित्सा के साथ-साथ सत्य-सरक्षण की भावना भी उनमे प्रबल है। जिसे वे सत्य मानकर स्वीकार करते हैं, उसका कथन, उपदेश और प्रतिपादन करने मे कभी नही हिचकिचाते। सत्य पर इतने दृढ हैं कि उन्हे अपने विचारो से डिगा पाना सरल नही होता।

अभय का विकास

भय हिंसा है, अभय अहिंसा। हिंसा और भय का गठबन्धन है, वैसे ही अहिंसा और अभय की भी अनुस्यूति है। इसीलिए अहिंसक सदा अभय होता है। उसका अभय क्षेत्र, काल या व्यक्ति-सापेक्ष नही होकर आत्म-सापेक्ष होता है।

आचार्यश्री पूर्ण अभय हो गए हैं, ऐसी बात नही है। वे अभय की साधना करते हैं। भय प्राणी की एक शाश्वत सज्ञा है। इसका उद्भव मोह से होता है। अत जब तक मोह है, तब तक भय भी रहेगा ही। यह सही है कि मोह का क्षेत्र प्रति-व्यक्ति भिन्न-भिन्न होता है। किसी को परिवार

से मोह है, किसी को धन से, किसी को प्रतिष्ठा से, किसी को यश से, किसी को नाम से, किसी को उपलब्धियो मे। ममत्व अन्तत ममत्व ही है, चाहे फिर वह किसी भी वस्तु से हो—एक तिनके से या एक साम्राज्य से, एक व्यक्ति से या समूचे सगठन से।

आचार्यश्री ने मोह पर विजय पाने का उपक्रम किया है, और राग-द्वेष जो मोह की परिणतिया है, उनसे यथासभव वचते रहे है। फिर भी अनेक-अनेक अपेक्षाओ से जुडे होने के कारण राग या द्वेष से सर्वथा मुक्त नहीं हो पाते।

आज से इकतीस वर्ष पूर्व जव वे आचार्य वने तव उनमे अभय का विकास इतना नही था। क्रमश वह वढा है और आज वे अनेक क्षेत्रो मे अभय है।

मैं मानता हू कि पूर्ण अभय निर्द्वन्द्व अवस्था मे हो सकता है, क्योकि वहा निरपेक्षता स्वत फलित है। जहा किसी भी प्रकार की अपेक्षा होती है, वहा अभय की साधना की जा सकती है, परन्तु वह पूर्णरूपेण फलित हो सके, ऐसी वात नही है।

अहिसा, सत्य और अभय के आलोक मे पढनेवाला व्यक्ति आचार्य तुलसी को एक विवेकशील साधक के रूप मे पाएगा, जिनमे इन तीनो की अभिव्यक्ति सर्वत्र दृग्गोचर होती है।

आचार्यश्री तुलसी और स्वामी करुणानन्दजी

हम सस्कारो की दुनिया मे जी रहे हैं। जितने व्यक्ति है उतने ही उनके सस्कार है। सस्कारो की विभिन्नता मे भी एक विचार ऐसा है जो सभी को अनुस्यूत किए रहता है। वह विचार है—आत्म-रमण।

जव व्यक्ति मे आत्मीय भाव जागृत होते हैं तव वह जातीय, देशीय और इसी प्रकार अन्यान्य वन्धनो को तोड आगे वढता है, और अपने

विचारो के अनुकूल एक साधना-मार्ग अपना लेता है। एक साधक ने ऐसा ही किया। वे आस्ट्रेलिया मे एक अध्यापक थे। शिक्षा के साथ-साथ वे एक सफल कलाकार भी थे। पार्थिवकला मे पारगामी हो वे अध्यात्म कला की ओर मुडे। आत्मा को सवारने की भावना तीव्र हो उठी। वे स्वामी शिवानन्द के शिष्य बन गए। अब उनका नाम करुणानन्दजी रखा गया।

आचार्यश्री इन दिनो बीकानेर मे थे। स्वामी करुणानन्दजी भी कार्यवश बीकानेर आए हुए थे। लडी प्रिंसिपल स्वर्णलता के साथ वे आचार्यश्री के सम्पर्क मे आए। रात्रिकालीन कार्यक्रम रखा गया। स्वामी करुणानन्दजी का भाषण हुआ। वे अग्रेजी मे बोले। श्रीमती स्वर्णलता ने उसका हिन्दी मे अनुवाद प्रस्तुत किया। आचार्यश्री ने भी प्रवचन दिया। कार्यक्रम की सम्पन्नता के बाद वे आचार्यश्री से बातचीत करने उपर आए।

आचार्यश्री—क्या आपने जैन-दर्शन का अध्ययन किया है ?

करुणा—जैन-दर्शन के विषय मे मैं बहुत कम जानता हू, किन्तु इस दर्शन को जानने की मेरी प्रबल इच्छा है। अभी तक अवसर या पूरे साधन उपलब्ध नही हो पाए है।

आचार्यश्री—यदि आपका यहा दो-चार महीनो का निरन्तर वास हो तो जैन-दर्शन के विषय मे आपको अच्छी जानकारी करा सकते है।

करुणा—यह मेरे सौभाग्य की बात है। मैं भी यही चाहूगा। अब आप से परिचित तो हो ही गया हू। जब कभी अवकाश मिला मैं उपस्थित हो जाऊगा।

आचार्यश्री—क्या आपने अणुव्रत के विषय मे कुछ पढा है ?

करुणा—नहीं, यहा आने के बाद ही मैंने इस आन्दोलन के विषय मे जाना है।

आचार्यश्री—क्या आप अखबार नही पढते ?

करुणा—आचार्यजी ! मुझे बाह्य प्रवृत्तियो मे अधिक रुचि नही है। अखबार विक्षेप के कारण बनते है, यह मेरा अपना विचार है। दिव्य-आश्रम, जहा मैं रहता हू वहा—अखबार न पढने का सकल्प हमने स्वेच्छा से किया है।

आचार्यश्री—यह ठीक है, जो प्रवृत्तिया आत्म-रमण मे बाधक हो, उनका अनुसरण नही करना चाहिए। साधक-बाधक प्रवृत्तिया प्रत्येक व्यक्ति की भिन्न-भिन्न होती है। क्या आप कुछ लिखते भी है ?

करुणा—हा, यदा-कदा 'डिवाइन लाईफ' के लिए कुछ लिख देता हू। अभी मुझे भारतवर्ष मे आए तीन ही वर्ष हुए है। और योगाभ्यास की ओर बढने का निर्णय कर उसकी प्रगति मे सदा मग्न हू।

आचार्यश्री—अणुव्रत-आन्दोलन विगत तेरह वर्षो से भारत मे नैतिक जागरण लाने का महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा है। इसके माध्यम से वैचारिक क्रान्ति हुई, लोगो के मन आन्दोलित हुए है। हम चाहते है कि पाश्चात्य देशो मे भी इसका प्रचार हो। क्या आप इसके माध्यम बन सकते है ?

करुणा—हा, मैं प्रसन्नता से इस कार्य मे सलग्न हो सकता हू बशर्ते कि मेरे गुरु मुझे आज्ञा दें। मैंने अपना सर्वस्व गुरु-चरणो मे अर्पित कर दिया है। इसलिए उनकी आज्ञा के बिना मैं कुछ भी करना नही चाहता। मुझे विश्वास है कि गुरुजी मुझे आज्ञा दे देगे।

आचार्यश्री—क्या आप इस मिलन का जिक्र अपने गुरुजी से करेंगे ?

करुणा—हा, अवश्य। मेरे गुरुजी इसको सुनकर बहुत ही प्रसन्न होगे।

आचार्यश्री—स्वामी शिवानन्दजी से हमारा परोक्ष परिचय है। निकट भविष्य मे हम उनसे मिल सकें ऐसी सभावना नही है क्योकि वे दूर रहते है और हम पद-यात्री हैं। फिर भी साहित्य से परिचय होता रहता है। अभी-अभी धवल-समारोह के अवसर पर उन्होने अपनी श्रद्धाजलि भेजी थी।

करुणा—आचार्यजी! मैं भी पाद-यात्रा के पक्ष मे हू। परन्तु भाषा की कठिनाई के कारण मैं पाद-यात्रा कर नही सकता। कुछ पहले मैंने छह सौ मील की पाद-यात्रा की थी। उसमे मुझे बडा आनन्द मिला। अच्छा, आप अपना भोजन कैसे प्राप्त करते हैं ?

आचार्यश्री—हम मधुकरी वृत्ति से अपना निर्वाह करते है। घर-घर से थोडा-थोडा लेते हैं और अपना काम चला लेते है।

करुणा—बहुत सुन्दर। पाद-यात्रा मे मैंने भी इसका प्रयोग किया

था। परन्तु भाषाई कठिनाई के कारण मैं पूर्णत सफल नही हो सका।

आचार्यश्री—क्या आप अपने देश मे अणुव्रत-आन्दोलन का प्रचार करेंगे?

करुणा—परन्तु आचार्य जी! मेरा देश कोई है ही नही। मैंने तो सब कुछ छोड दिया है। हा, मेरे कुटुम्बी (मोह के कारण ही मैं कुटुम्बी कहता हू।)आस्ट्रेलिया मे रहते है। जब मैं जाऊगा तो आन्दोलन की बात अवश्य करूगा। सबसे बडी कठिनाई यह है कि कोई भी व्यक्ति अपने देश मे उतना मान्य नहीं होता। पश्चिमी लोग पूर्वीय व्यक्ति की बात को विशेष महत्त्व देते है और पूर्वीय लोग पश्चिमी व्यक्ति को। अपने ही देश मे अध्यात्म की बात करू तो मुझे वे पागल समझेंगे। मुझे वे पागल समझते ही हैं क्योकि प्राप्त भोग-सामग्री को छोडकर सन्यास लेना उनकी दृष्टि मे गहरा पागलपन है। परन्तु मैं इसकी परवाह नही करता। हा, मैं आन्दोलन की आप से पूरी-पूरी जानकारी करने का प्रयास करूगा और उसको पूर्णत जानकर उसके प्रचार मे भी कुछ समय दे दूगा। क्या अणुव्रत का साहित्य भी है?

आचार्यश्री—हा, हिन्दी भाषा मे अणुव्रत-साहित्य की प्रचुरता है, किन्तु अग्रेजी मे बहुत कम साहित्य प्रकाश मे आया है।

करुणा—उस साहित्य को मैं ध्यानपूर्वक पढने का प्रयास करूगा।

आचार्यश्री—उस साहित्य को पढने के पश्चात् क्या आप दूसरा साहित्य लिखेंगे?

करुणानन्द—हा, मैं अग्रेजी भाषा मे कुछ साहित्य तैयार कर आपको निवेदित कर दूगा। आपका हेड क्वार्टर कहा है?

आचार्यश्री—हेडक्वार्टर की तो बात ही क्या है, हमारा क्वार्टर भी कही नही है। जहा हम जाते हैं वही हमारा हेड क्वार्टर और क्वार्टर बन जाता है। साधुओ को स्थान विशेष से प्रतिबद्ध नही होना चाहिए।

करुणा—मेरे विचार भी ऐसे ही हैं। जब हम परमात्मा को सर्वस्व अर्पण कर चलते हैं तब स्थान आदि की चिन्ता तो होनी ही नही चाहिए।

आचार्यश्री—योगी सदा नि सग रहता है। क्या आप जैन योगसाधना से परिचित हैं?

करुणा—नही, मैं योग की सूक्ष्म बातो से विशेष परिचित नही हूं। विशेषत आसन आदि किया करता हू और प्रतिदिन ध्यान या कभी-कभी जाप भी कर लेता हू। हा, मैं मानता हू कि जब तक व्यक्ति अपने शरीर पर नियत्रण नही कर लेता तब तक वह अपने मन पर नियत्रण नही पा सकता। इसलिए हम सर्वप्रथम शारीरिक नियत्रण के लिए आसन आदि करते है और साथ-साथ ध्यान, एकाग्रता, शक्ति-सचार आदि का भी अभ्यास करते है।

आचार्यश्री—एक समय था जबकि जैन-योग साधना उत्कर्ष पर थी, परन्तु गुरु-परम्परा के विच्छिन्न हो जाने के कारण उसमे कुछ आलस्यता आयी है और आज हम उसे पुन जीवित करने का प्रयास करते है। मुनियो मे तथा गृहस्थो मे योग की रुचि बढे, अत मैंने अभी 'मनोनुशासनम्' नाम के सूत्रात्मक एक छोटे से ग्रथ का निर्माण किया है। मन पर अनुशासन कैसे किया जाय, यह आज का ज्वलन्त प्रश्न है। और मैंने इस छोटे-से ग्रन्थ मे उसका समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

प्रसिद्धि की मर्यादाए

घट भिन्द्यात् पट छिन्द्यात् कुर्यात्
रासभरोहणम्।
"येन-केन प्रकारेण प्रसिद्ध पुरुषो भवेत्" ॥

यह प्राचीन श्लोक है। इसका तात्पर्य है—"अपने या पराये बर्तनों को तोडकर या कपडो को फाडकर या गधे की सवारी करके भी—किसी भी प्रकार मनुष्य को प्रसिद्ध हो ही जाना चाहिए।

इस श्लोक को पढते ही प्रसिद्धि की भूख जागृत हो जाती है, परन्तु प्रसिद्धि के जिन साधनो का यहाँ निर्देश किया गया है उन्हे पढकर कुछ हास्य-सा भी होता है।

मनुष्य मे प्रसिद्धि की भूख क्यो होती है ? इस प्रश्न को समाहित कर

हम उसके उत्तरवर्ती पहलुओ को छूने का प्रयास करेंगे।

प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह लौकिक भूमिका मे हो या लोकोत्तर भूमिका मे, आकाक्षा और निरीहता के झूले मे झूलता रहता है। भूमिका-भेद मे इनके स्वरूप-भेद को हम सहजतया जान सकते हैं। परन्तु एक भावना दोनो भूमिकाओ मे अनुस्यूत रहती है—वह यह कि प्राप्ति के प्रति असतोप और अप्राप्ति के प्रति वढती हुई आकाक्षा। लौकिक व्यक्ति मे जीवन, धन और पुत्र की एपणा प्रवल रहती है और अलौकिक मे वन्धन-मुक्ति की आकाक्षा। दोनो की आकाक्षाओ मे तीव्रता है, एकतानता है, परन्तु उद्देश्य की विभिन्नता से इसमे सरसता का भेद पैदा हो जाता है।

व्यक्ति परिस्थितियो का निर्माता होते हुए भी परिस्थिति-जन्य वातावरण से प्रभावित हुए विना नही रह सकता। जव वह देखता है कि समाज के व्यक्ति प्रसिद्धि के वाटो से तोले जाते हैं, तव वह स्वय अभिव्यक्त होना चाहता है। अभिव्यक्ति की एपणा उसमे प्रवल होती जाती है और वह अनेकानेक साधनो को अपनाकर उस मार्ग पर अग्रसर होता है। प्रत्येक चरण पर उसमे प्राप्ति के प्रति कुछ तोप और प्राप्तव्य के प्रति मधुर लालसा उभरती है। धीरे-धीरे वह प्रसिद्ध वनता चला जाता है। इस प्रसिद्धि के व्यामोह मे वह यह भूल जाता है कि क्या वह उस प्रसिद्धि के योग्य है? इस प्रश्न के समाधान मे यह प्रतिप्रश्न भी हो सकता है कि यदि उसमे प्रसिद्धि की योग्यता नही थी तो वह प्रसिद्धि आयी कहा से? यह प्रश्न स्वाभाविक है। परन्तु इसका समाधान भी अस्वाभाविक नही है।

यह सर्वविदित तथ्य है कि मानव गतानुगतिक होता है। सर्वत्र वह अपनी तर्कणा का उपयोग नही करता। दूसरो की मान्यता और वुद्धि के पीछे ही वह अपना मत जोडता है। योग्यता के वलावल की परीक्षा मे वह नही पडता। जनश्रुतिया ही आगे वढती हैं और अपनी भुजाओ मे बहुतो को जकड लेती है। जनता की इस गतानुगतिकता के फलस्वरूप व्यक्ति ऊचा उठ जाता है और प्रसिद्धि पा लेता है।

क्या प्रसिद्धि की भावना असद् है? यह प्रश्न भी कई वार मस्तिष्क को झकझोरता है। परन्तु इस प्रश्न को रूपान्तरित कर देने से वही उसका

समाधान हो जाता है—व्यक्ति अपने स्व की प्रसिद्धि की कल्पना न करे। परन्तु स्वानुभूत सद्विचारो की प्रसिद्धि की कामना करे। इसमे प्रत्यक्षत कोई बुराई नही दीखती। यहा सद्विचारो की प्रधानता और व्यक्ति की गौणता होती है। परन्तु प्रकारान्तर से सद्विचारो की प्रसिद्धि व्यक्ति की ही प्रसिद्धि है। सद्विचार जब महान् व्यक्ति से नामांकित होकर प्रसार पाते हैं तब उनकी उपादेयता शतगुणित हो जाती है। यह श्रुति हमारे दैनदिनी जीवन मे पग-पग पर अनुभूत होती है—अत हम वास्तविकता को तिरोहित नही कर सकते। सद्विचारो की प्रसिद्धि की कल्पना यदि मिथ्याभिनिवेश से मुक्त है तो वह कोई बुरी नही है। परन्तु यदि स्वानुभूत विचारो को ही सत्य का अन्तिम चरण मानकर उसके प्रसार की आकाक्षा उभरती है तो वह असत्य ही होगी। आग्रह मे सूक्ष्म व्यामोह रहता है, जो कालान्तर मे व्यक्ति को मूढ किये विना नही रहता। व्यक्ति मे स्वविचारो के प्रचार का आग्रह न होकर यह हो कि जो सद्-विचार है उनका प्रसार हो। ऐसा करने पर उसकी आकाक्षा भी पूर्ण होती है और प्रसिद्धि के आवर्त मे फसने की भी स्थिति नही बनती।

परमार्थ के पथ पर बहुजन हिताय की भावना अकिंचित्कर है। परमार्थ की साधना व्यक्तिनिष्ठ होती है। आत्मा उससे लाभान्वित हो, यही उसका ध्येय है। समूह के लाभ का यहा कोई विचार नही होता। साधना का मापदण्ड सख्या से नही, लक्ष्य की उच्चता से होता है। यह पारमार्थिक सत्य है।

दूसरा पक्ष है—सर्वप्राणीहिताय की भावना आत्म-साधना की स्फूर्त परिणति है। जो विचार आत्म-साधना मे सहानुभूत हैं, उनके सर्वप्राणी-हिताय किये जानेवाले प्रसार मे विचारो का अह नही होता, परन्तु केवल प्राणी-कल्याण की भावना होती है। यह भावना आत्म-साधना की घटक है, विघटक नही जहा लक्ष्य की उच्चता और सख्या की उपादेयता दोनो होती है। योग्य होते हुए भी किसी व्यक्ति मे प्रसिद्ध होने की भूख तीव्र होती है और किसी मे मन्द। अयोग्य होते हुए भी कई व्यक्तियो मे नाम की भूख प्रबल होती है, और कई मे नही। यह क्यो ? इसका समाधान ज्योतिषशास्त्र के आधार पर भी किया जा सकता है। कई व्यक्तियो की

जन्म-कुण्डली मे कई ग्रहो का ऐसा सयोग होता है कि यह भावना प्रबल और निबल बनती है। योग्यता होते हुए भी यश के प्रति अत्यन्त उदासीन और योग्यता न होते हुए भी यश के लिये अत्यन्त लालायित इन दोनो रेखाओ पर दौडते हुए अनेक व्यक्तियो को हमने देखा है।

इन तथ्यो के आलोक मे इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि प्रसिद्धि की कामना सदसत् दोनो है। परन्तु इसकी मर्यादा का ज्ञान होना आवश्यक है।

इसकी मर्यादा है—

१ प्रसिद्धि की कामना स्व व्यक्तित्व ख्यापन के लिये न हो।

२ प्रसिद्धि के लिये अपनाये जानेवाले साधन असद् न हो।

३ प्रसिद्धि के लिये स्वयोग्यता का मिथ्या ज्ञापन न हो।

४ तत्त्व-प्रसार की छाया मे स्व-नाम की भूख न हो।

५ प्रसिद्धि की लालसा न हो।

इन मर्यादाओ से हमारा भला ही भला है। हम ऐसे बने कि प्रसिद्धि हमारा अनुगमन करे। यदि यह होता है तो कोई बुराई नही। बुरा है हमारा प्रसिद्धि के अभिमुख होना।

परिग्रह का आतक

अर्थ जीवन की आवश्यकताओ का साधन है, यह निर्विवाद सत्य है। इसके विना जीवन चलता नही—परन्तु उसी को सब कुछ मान बैठना एकान्त मिथ्या है।

मनुष्य धन के पीछे पडा है यह भी निष्कारण नही है। पाश्चात्य विद्वान् सॉलोमन ने कहा है—"Riches are as a stronghold, in the imagination of a richman"—धनवान यह सोचता है कि उसका धन ही उसका रक्षा-कवच है। यही भावना उसे उत्तरोत्तर धन की ओर झुकाती है।

धन के स्रोत अनेक है। वे अच्छे भी हो सकते है और बुरे भी। परन्तु बुरे स्रोतो से धन जितने वेग से आता है उतने वेग से अच्छे स्रोतो से नही—यही एक धारणा है। कुछ हद तक यह सही है। स्वच्छ पानी की कही भी बाढ आयी हो ऐसा नही सुना जाता। नीति से धन का ढेर नही लगता, जीवन की वास्तविक आवश्यकताए भले ही पूरी हो जाय। आखिर मनुष्य को रोटी, कपडा और मकान चाहिए—ये जीवन की अनिवार्य आवश्यकताए है। इनकी पूर्ति थोडे से अर्थ से हो सकती है। परन्तु मोह का उद्वेग इतना प्रबल होता है कि वह अपनी सात पीढियो की चिंता कर बैठता है। वह सोचता है—यदि मैं धन का ढेर नही लगाऊगा तो मेरे पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र अपना जीवन क्योकर बिताएगे ? भविष्य की यह चिंता उसे वर्तमान को बिगाडने पर भी उतारू कर देती है। वह येन-केन प्रकारेण धन कमाता है और अपनी तिजोरियो मे उसके प्रतिदिन दर्शन कर अपने भाग्य की सराहना करता है। बस उस अतिमात्रा मे सचित धन का इतना ही उपयोग है।

प्रश्न होता है धन क्या है ? क्या रुपया-पैसा, सोना-चादी आदि धन है ? नही—यह तो औपचारिक है। धन मनुष्य की धारणा मे होता है। वह जिस वस्तु मे धन का आरोप करता है वही उसी के लिए धन बन जाता है। एक ज़माने मे चमडे के सिक्के चलते थे। लोगो का वही धन था। फिर कभी सोना-चादी को धन मानने लगे। आज कागज़ के टुकडो (नोटो) को भी धन मानते है। जिस चीज़ मे फलदान या विनिमय की शक्ति होती है, वही परिग्रह बन जाती है। फिर चाहे वह चमडा हो, कागज हो या सोना हो।

धन के प्रति सहज आकर्षण है—यह स्थूल दृष्टि है। इसका कारण जन्मगत सस्कार है। अभ्युदय की वासनाओ से वासित अन्त करण मे धन के प्रति मूक आकर्षण रहता है। ज्यो-ज्यो धन का प्रतिबिम्ब जीवन मे गहरा होता है त्यो-त्यो सस्कार दृढ बनते जाते हैं और व्यक्ति तब स्वतन्त्र न रहकर धन का दास बन जाता है। भला नन्हा-सा बालक धन के माहात्मय को क्या जाने ? फिर भी उसका धन के प्रति सहज झुकाव रहता है—पैसा दिखाते ही वह रोना बन्द कर देता है—यह सस्कारो की

बात है।

परिग्रह के प्रति आकर्षण नही है—यह कुछ अटपटा-सा लगता है—परन्तु यह वास्तविक दृष्टि है। आकर्षण है—इन्द्रियो के भोगो के प्रति। भोग एक नही, अनन्त है। वे elastic wire की तरह बढाने से बढते है और सिकुडाने से सिकुडते है। भोगो की तृप्ति उनके भोग से नही होती। ज्यो-ज्यो इन्द्रियो के विषयो का सेवन किया जाता है त्यो-त्यो घृताहुत अग्नि की तरह भोग-लालसा उबल उठती है और वह निरन्तर बढती ही जाती है जब तक कि उसका त्याग नही किया जाता।

भोग-तृप्ति के लिए परिग्रह ही एकमात्र साधन है। परिग्रह या धन ऊपर से नही टपकता। उसके लिए हिंसा करनी पडती है। हिंसा से परिग्रह आता है और परिग्रह से हिंसा बढती है, यह क्रम है। इसका कही अन्त नही आता जब तक कि व्यक्ति उससे मुह न मोड ले।

परिग्रह (धन) बुरा नही है, बुरी है उसकी आसक्ति या व्यामोह। ससार मे परिग्रह बहुत है, परन्तु सबका सारे परिग्रह से कोई मोह नही—उसमे समष्टिवादी उत्तरदायित्व नही दीखता। जितना जिस व्यक्ति के पास होता है उसमे उसका मोह होता है—वह परिग्रह है। तिजोरी मे धन पडा है—नोटो के बडल पडे है—परन्तु यदि व्यक्ति का उसमे कोई मोह नही तो वह उसके लिए परिग्रह नही—यदि वह परिग्रह नही है तो हिंसा का कारण भी नही है। वस्तु परिग्रह नही है, परिग्रह है वस्तु के प्रति ममत्व। यह तथ्य भगवान् महावीर की वाणी मे प्रस्फुटित हुआ। उन्होने कहा—'मूर्च्छा परिग्रह है।'

सिद्धान्त की भाषा मे जो महापरिग्रही होता है वह आत्मवित् नही होता। भगवान् महावीर से पूछा—'भगवन्! आत्मवित् कौन होता है?' भगवान् ने कहा—'यस्स सद्दरूवरसगध फासा परिन्नाया भवति से आयवित्'—जो व्यक्ति इन्द्रिय विषयो—शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श को छोडता है वही आत्मवित् है—आत्मा को जाननेवाला है। आत्मा को जानने का अर्थ केवल आत्म-ज्ञान ही नही है। उसका अर्थ है आत्म-ज्ञानान्वित क्रिया। आत्माभिमुख क्रिया त्याग की है, भोग की नही। 'to yield is easy, to resist is hard'—भोगो के प्रति झुकना सरल है,

परन्तु नियन्त्रण कठिन है। आज के विश्व मे अमेरिका सबसे समृद्ध देश माना जाता है। उसके पास धन है,बुद्धि है, वैभव है, परतु उसके पास शाति नही। धन अभ्युदय का उपादान कारण हो सकता है, अध्यात्म का नही। भोगो की वृद्धि ने आज अमेरिका को नाश के कगार पर लाकर खडा कर दिया है। बाहर से वह स्वस्थ और जागरुक दीखता है, परन्तु उसका आन्तरिक भाग अनेक रोगो से सड रहा है। सर्वोदयी विचारक श्री विल्फ्रेड ने अभी-अभी श्री जयप्रकाश नारायण को, जो यूरोप की यात्रा कर रहे थे, अमेरिका के आन्तरिक साचे का चित्रण करते हुए कहा—'अमेरिका आज सबसे सम्पन्न देश माना जाता है, पर उच्च से उच्चतर जीवन-स्तर की होड मे पडकर आज वहा के अधिकाश लोग कर्ज मे दबे हुए है—विज्ञापनबाजी इतनी हद को पहुच गई है कि उसके जाल से बचना असभव हो गया है। विज्ञापनबाजी के जरिये लोगो की अस्वाभाविक और अनावश्यक आवश्यकताए भी बढती जाती हैं और इस प्रकार लोग दुष्चक्र मे फस जाते है। पश्चिम के लोग शायद इस बाढ को रोक नही सकते। इससे यह अन्दाज लगाया जा सकता है कि धन के माध्यम से जीवन-स्तर को ऊचा उठाने की कामना अवास्तविक है। वह व्यक्ति को अँधेरे की ओर ले जाती है। प्रथम दीखने वाली प्रकाश-रेखाए भी मिट जाती हैं और अन्धकार ही अन्धकार छा जाता है।

अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान् डिक कार्लसन ने लिखा है—'अमेरिका की स्थिति बहुत दयनीय है। वहा के तीस प्रतिशत व्यक्तियो के मरने के बाद कोई आय का स्रोत ही नही रहता। वहा चालीस व्यक्तियो मे से एक ही व्यक्ति ऐसा होता है जो आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र माना जा सकता है। पाच प्रतिशत व्यक्ति ही अपनी वृद्धावस्था मे सुख और चैन से जीवन यापन करते है। शेष पिचानवे व्यक्ति अपनी वृद्धावस्था मे या तो दूसरो के दान पर जीते हैं या अपने सगे-सम्बन्धियो की सहायता से जीते है। कई व्यक्ति जीवन के प्रथम भाग मे प्रचुर अर्थार्जन करते हैं परन्तु निरन्तर प्रवर्द्धमान भोग की सरिता मे उसे अधाधुन्ध बहा देते है। जीवन के अन्तिम भाग मे वे दुखी और अपनी प्रत्येक आवश्यकता के लिए दूसरो के मोहताज बन जाते है। अन्तिम

निष्कर्ष यह है कि वहा के अधिकाश लोगो की वृद्धावस्था दुखद होती है।

भगवान् महावीर ने कहा—'भोगी भमई ससारे अभोगी नोव लिप्पइ'—भोगासक्त व्यक्ति ससार मे भ्रमण करता है। भोगो मे विरक्त व्यक्ति के कोई बन्धन नही बधता। यह आर्षवाणी है। इसमे जीवन का सौन्दर्य छिपा हुआ है। परिग्रह से आसक्ति, आसक्ति से हिंसा और हिंसा से दु ख-जन्म-मरण की परम्परा का चक्र—यह दुष्चक्र अवनति की ओर ले जाता है। उन्नति की ओर ले जानेवाला क्रम है—सयम। सयम से अनासक्ति, अनासक्ति से निर्मोह अवस्था, निर्मूढ अवस्था मे आत्म-दर्शन।

आदर्श जीवन—एक तुला

आदर्श की कल्पना किसने की? इस प्रश्न के उत्तर मे महत्त्वाकाक्षी लोग अपने-अपने आराध्य का नामोल्लेख करने मे अपूर्व गौरव अनुभव करेंगे। सभी अपने-अपने उपास्य को आदर्श मानते हैं। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि ऐसा माने विना साध्य के प्रति श्रद्धा या निष्ठा की जागृति नही होती। श्रद्धा के अभाव मे साधना का नामशेष हो जाता है यह सही स्थिति है।

परन्तु आदर्श को जिन्होने जन-साधारण के आचरण की कसौटी बना-कर उपस्थित किया उन्होने वज्र भूल की है। यह ठीक है कि आदर्श केवल हवाई-महल नही है जो कल्पना के परो से उडान भरता रहे, वह वस्तुस्थिति है। परन्तु सर्वजनभोग्य न होने के कारण उसको कसौटी मान लेना वस्तु-सत्य को अपमानित करना है। इस कसौटी पर विरले ही खरे उतरते है। दूसरे तो श्रेय और प्रेय के मध्य आदर्श की उपत्यका मे चलनेवाले पथिक ही होते हैं। उनका स्वतन्त्र मूल्य होता है। उनका अवमूल्यन न्याय्य नही कहा जा सकता।

आवश्यकता है कि जो जिस भूमिका पर है उसका सही मूल्याकन हो।

एक व्यक्ति महाव्रती है—वह साधक है, सिद्ध नही। दूसरा अणुव्रती है—वह भी साधक है, सिद्ध नही। दोनो की अपनी-अपनी मर्यादाएँ हैं। साधना का पर्यवसान सिद्धि मे होता है। जब तक साधक सिद्धि को नही पा लेता तब तक वह साधक ही है, सिद्ध नही। इस दृष्टि से महाव्रत और अणुव्रत दोनो साधना के दो प्रकार हैं।

जीवन का लक्ष्य है आत्मा का चरम विकास। उस तक पहुचने के लिए अणुव्रत और महाव्रत ये दो मार्ग हैं। महाव्रत लक्ष्य तक पहुचने का निकटतम मार्ग है—परन्तु है अति दुर्गम। अत बहुत सारे व्यक्ति इस मार्ग पर चल नही सकते। अणुव्रत लक्ष्य तक पहुचने का दविष्ठ मार्ग है परन्तु है सुगम। अत अनेक व्यक्ति उस मार्ग पर चल सकते हैं। लक्ष्य की सिद्धि मे काल की ह्रस्वता या दीर्घता का विचार मूल्यवान अवश्य है परन्तु उससे भी ज्यादा स्वस्थ विचार है—साधना-पद्धति का चुनाव।

गृही जीवन मे महाव्रतो का पालन नही हो सकता। इसलिए गृहस्थ अणुव्रत स्वीकार करता है। इस स्वीकरण से उसका जीवन एक सीमा मे आवद्ध हो जाता है। सीमा सुखद भी है और दुखद भी। मनोयोग से स्वीकृत सीमा सुखद होती है। सत्ता से लादी गयी सीमा दुख देती है। व्रत स्वीकृत सीमा हैं। इससे जीवन बनता है, बिगडता नही।

अणुव्रत-आन्दोलन ने व्रतो के माध्यम से जन-जीवन मे परिवर्तन किया है। जो अणुव्रती बनना है उसे जीवन के मूल्यो मे परिवर्तन लाना होता है। धीरे-धीरे उसका जीवन एक आदर्श बन जाता है।

अणुव्रत आदर्श जीवन की झाकी—वह निरर्थक हिंसा नही करता। अपने आश्रितो के जीवन की प्रभु-सत्ता को स्वीकार कर उनसे सहृदयता-पूर्वक व्यवहार करता है—वह किसी को हीन या तिरस्कार की दृष्टि से नही देखता। वह अपनी साधना को अभ्युदय या व्यवस्था के अस्थायी मूल्यो पर नही बेचता। उनकी साधना परमार्थमूलक होती है। उसमे स्वार्थ और परमार्थ स्वय फलित होते है। वह जीवन की न्यूनतम मर्यादा को लिए चलता हैं, अतिभोग और अतित्याग से बचता हुआ मध्यम मार्ग मे अग्रसर होता है। वह मानता है बुराई मनुष्य की दुर्बलता है, स्थिति नही। सर्वमान्य स्थिति भलाई है, और उसे निरन्तर करता है। वह १५

के मार्ग पर चलता है इसलिए नही कि वह उस पर चलने के लिए विवश है, परन्तु जीवन-निर्वाह और विकास के साधन सुलभ होने पर भी वह उनको ठुकराता है, उनका त्याग करता है। यही उसके आनन्द का उत्स है। वह शान्ति की टोह मे चलते-चलते स्वय शान्ति का स्रोत बन जाता है। वह स्वय पर अकुश रखता है इसलिए उसे बाहरी नियमन की अपेक्षा नही रहती। वह न स्वय को हीन समझता है और न दूसरो को। अपने मे हीन-भावना न पनपे इसलिए वह मानता है 'य परमात्मा स एवाहम्'—उत्कर्ष न आए इसलिए 'योऽह स परमस्तत' को मानकर चलता है। जाति, वर्ण और धर्म का भेद-भाव उसे नही छूता। प्राणीमात्र मे अपने आत्म-स्वरूप की अभिव्यक्ति को देखकर वह सबको सम मानता है। वह किसी का शोषण नही करता। स्वार्थवश या बिना स्वार्थ किसी की निन्दा या आलोचना नही करता। वह स्व-प्रशसा और पर-निन्दा से प्रसन्न या पर-प्रशसा और स्व-निन्दा से अप्रसन्न नही होता। वह किन्ही अनैतिक या अवाछनीय कार्यो मे भाग नही लेता। वह सतत आत्म-जागरूक रहता है। वह मनोरजन से सर्वथा दूर तो नही रहता परन्तु उनसे बचने का प्रयत्न करता है। वह अणुदर्शी और दूरदर्शी होता है। अणुदर्शन से वह अपने आपको देखता है और धीरे-धीरे युगद्रष्टा बन जाता है। दूरदर्शिता से वह अपने वर्तमानिक जीवन को इस तरह ढालता है कि वह स्वय-भू-स्रष्टा बनते-बनते युग-स्रष्टा भी बन जाता है। वह समाज के अभ्युदय के लिए नही, परन्तु उत्थान के लिए कार्य करता है। 'मा अप्पेण लुपहा बहु'—अल्प के लिए बहुत का नाश मत करो—यह उसके जीवन का मन्त्र है। वह किसी से दया की भीख नही मागता—उसे अपने पुरुषार्थ पर विश्वास होता है। वह अपनी आवश्यकताओ को न्यूनतम करने का प्रयास करता है और उतना ही अर्जन करता है जितना कि अत्यन्त आवश्यक है। वह किसी से कलह नही करता। क्रोध या द्वेष आ जाने पर वह अत्यन्त नम्र भाव मे क्षमा-याचना कर लेता है। वह किसी को अपना शत्रु नही मानता। वह मित्र मे व्यामूढ नही होता। वह व्यापार करता है, किन्तु ईमानदारी को अक्षुण्ण रखता है। वह नौकरी करता है, परन्तु स्वाभिमान को तिलाजलि देकर नहीं। वह अपनी अणुव्रत-साधना का विनिमय नही करता। वह घृणा

करता है—बुरे व्यक्ति से नही, बुराई से। उसके रहन-महन, खान-पान, आचार-विचार, सभी सादगीपूर्ण होते है। वह घूस नही लेता। वह सरकार की चोरी नही करता। वह न स्वय को धोखा देता है और न दूसरो को। वह यथाशक्ति हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य से बचता है और अपरिग्रह की मर्यादा करता है।

अणुव्रत-भावना से प्रभावित जीवन का यह एक रेखाचित्र है। अपेक्षा है—प्रत्येक अणुव्रती का जीवन ऐसा हो। परन्तु मोह-विलय के तरतम भाव से साधना मे भी तारतम्य देखा जाता है। इसी तथ्य को श्री मज्जयाचार्य ने व्यावहारिक रूप से समझाया है—साधना मे अनन्तगुण तरतमता होती है। एक द्वितीया का चन्द्र है और दूसरा पूर्णिमा का। दोनो मे चन्द्रमा की कलाओ का समावेश है—एक अपूर्ण है और एक पूर्ण।

इसीलिए साधना की इस तरतमता मे किसी को धैर्य नही खो देना चाहिए।

साधना मे देश-काल का कोई व्यवधान नही होता। सुदूर अतीत मे पाश्चात्य विचारो को प्रभावित करनेवाले अरस्तू ने आदर्श मानव की कल्पना की थी। वह कल्पना जन-जीवन मे साकार हुई या नही—इस उलझन मे हम न उलझें। हम केवल उस विचार के कल्पना वैभव को समझें और आज के अणुव्रती-जीवन की तुलना करें।

अरस्तू के आदर्श-मानव की जीवन-झाकी—उसने कहा, "वह आदर्श—मानव केवल तत्त्ववादी ही नही होता। आवश्यकता के बिना वह अपने आप को खतरे मे नही डालता क्योकि कुछ ही चीजो के लिए उसे जागरूक रहना होता है। परन्तु कभी-कभी कुछ एक परिस्थितियो मे वह अपने प्राणो की बाजी लगाने मे भी नही हिचकता। वह मानता है कि जीना कभी-कभी श्रेयस्कर नही होता। वह न सेवा लेता है और न सेवा देता है। वह जानता है कि किसी पर दया करना अपने अह को पोषित करना है और किसी से दया की भीख मागना अपने हीनतत्त्व का प्रदर्शन है। वह कभी मनोरजन के स्थान मे नही जाता। वह अपनी इच्छाओ और अपेक्षाओ मे स्पष्ट होता है और अपनी वाणी व क्रिया मे स्वतन्त्र। वह प्रशसा के जाल मे नही फसता क्योकि उसकी आखो मे कोई चीज महान्,

प्रशसनीय नही है। वह अपने मित्र के सिवाय किसी के साथ सहयोग की भावना से नही रहता। वह मानता है कि सहयोग दास का एक गुण है। वह किसी से द्वेष नही करता। दूसरो की त्रुटियो को नजरअन्दाज कर देता है। वह अति वाचाल नही होता। उसे कभी यह अपेक्षा नही रहती कि दूसरे उसकी प्रशसा करें या दूसरो का वह तिरस्कार करे। वह कभी दूसरो की, चाहे वह शत्रु ही क्यो न हो, निन्दा नही करता। उसका आचरण पवित्र, वाणी गम्भीर और मर्यादित होती है। उसके जीवन की आकाक्षाए सीमित रहती हैं। अत वह कभी किसी कार्य मे शीघ्रता नही करता। वह तिरस्कार से दु खित नही होता, क्योकि वह मानता है कि ससार मे मुख्यामुख्य भाव कुछ नही है। जीवन की घटनाओ को वह वरदान मानकर सहन करता है और वैसे ही प्राप्त परिस्थितियो से कुछ सार निकाल ही लेता है। जैसा कि सैनिक अफसर अपने अल्प-सख्यक सैनिकों को युद्ध के लिए सुसज्जित कर परिस्थिति का लाभ उठाता है, वह अपने आपका मित्र और एकान्त प्रेमी होता है। गुणहीन और अयोग्य व्यक्ति अपने आप का दु सह शत्रु है और एकान्त से डरता है, यह उसकी भावना है। अरस्तू के अनुसार अति-मानव की यह सक्षप्ति झाकी है।

ऐसा क्यो हुआ ?

स्वप्न मे भी यह कल्पना नही थी कि ऐसा हो जाएगा। परन्तु हुआ ऐसा ही। सोचने या न सोचने से भला होनेवाली घटना कब रुकती है। 'यद् भाव्य तद् भविष्यति' इसी का स्मरण त्राण दे सकता है।

जीवन मे असगतिया होती हैं—इसलिए उतार-चढाव भी आते हैं, कई उतार-चढाव सामान्य होते हैं—उन पर विशेष ध्यान नही जाता। परन्तु जो हृदय के मर्म को छूते है वे समग्र चेतना को एकत्रित किए बिना नही रहते।

बीज मे विशाल वट-वृक्ष का विपुल वैभव अन्तर्निहित है। परन्तु

अपने साधारण नियमों की भी वह उपेक्षा नहीं कर सकता। पुष्पित और फलित होने का उसका निश्चित क्रम है। यही बात सामान्य जीवन की है। अपवाद आदर्श के प्रतीक होते हैं। उनका अपना एक विशिष्ट क्रम होता है।

खटाई की एक बूंद एक मन दूध को फाड सकती है। दोनों अचेतन हैं, जड हैं। उनमें विवेक नहीं होता—कब फटना चाहिए और कब नहीं। यह अवश्यम्भावी परिणाम है, होकर ही रहता है। परन्तु मनुष्य में यह विवेक प्रति-पल जागृत रहता है, इसीलिए तो वह इसमें व्यवहृत होता है। पर भवतव्यता भी अपने आप में एक निश्चित मर्यादा है, उसकी अवज्ञा नहीं की जा सकती। उसकी प्रबलता होने पर किसी की नहीं चलती। तब पुरुषार्थवाद पर भाग्यवाद की विजय सहज-गम्य हो जाती है।

भवतव्यता की निश्चल छाया में संयुक्त हो जाते हैं और वियुक्त-संयुक्त मित्र, शत्रु बन जाता है और शत्रु मित्र। एक शब्द में भवतव्यता की रेखा अटल है और सुस्थिर है, उसको तोडनेवाला स्वयं टूक-टूक हो जाता है, उसकी अवज्ञा स्वयं की अवज्ञा है।

ये तथ्य पुस्तकों में विकीर्ण पडे हैं। पाठक को जब तक इनकी साक्षात् अनुभूति नहीं हो जाती तब तक वे ज्ञानगत नहीं होते। केवल बौद्धिक ही बने रह जाते हैं। हां, कभी-कभी जब भौतिक तथ्य ज्ञान तत्त्वों में आलोडित-प्रत्यालोडित होते-होते स्थिर बन जाते हैं, तब उन पर विशेष प्रत्यय होने लगता है और यह व्यक्ति की स्वतंत्र-सत्ता का संवाहक बन जाता है।

परमार्थ और व्यवहार

साधना के चौराहे पर खडे साधक ने सोचा, किस ओर बढ़ूं ?

एक ओर उपदेश है, दूसरी ओर आचरण।

तीसरी ओर प्रचार है तो चौथी ओर मौन-समाधि।

निर्णय पर नहीं पहुंच पाया। सोचा—क्या चारों का संकलन ही

साधना है ?

नही-नही, यह मिथ्याभिनिवेश है ।

उसने विश्लेपण किया—

उपदेश मे गर्व होता है और आचरण मे बलिदान ।

प्रचार मे लोकैषणा है और मौन मे आत्मोपलब्धि ।

क्या उपदेश करना प्रत्येक साधक का कर्तव्य है ?

नही-नही, भला कौन किसे सुधार सकता है जो अज्ञेय है, अनन्त है । उसका उपदेश मोह-ममता मे जकडा हुआ मानव क्योकर दे सकता है । आत्मा का उद्बोधन उसका कर्तव्य है । वह करे, इसीमे उसकी सफलता है । यह एक पक्ष है, नैश्चियिक मार्ग है ।

दूसरा पक्ष है—निस्वार्थ भाव से दिए जाने वाले उपदेश मे गर्व नही, सात्विक गौरव होता है । जनहिताय किए जानेवाले नैतिक प्रचार मे लोकैपणा नही, जीवनैपणा है ।

दोनो पक्षो की अपनी-अपनी स्वतन्त्र भूमिका है । जिसको जो रुचे, उसी पक्ष मे वह खडा हो परन्तु दोनो की मर्यादाओ का विस्मरण न हो, यह अपेक्षित है, यह व्यवहार मार्ग है ।

आन्दोलन क्यो ?

क्रान्ति और आन्दोलन दोनो समानार्थक हैं । परन्तु कार्यक्षेत्र की दृष्टि से दोनो मे कुछ भिन्नता है । क्रान्ति का क्षेत्र व्यापक है और आन्दोलन का सीमित । अपनी मर्यादाओ मे दोनो पूर्ण हैं ।

व्यक्ति विचारो का पुतला है । विचार स्थायी नही होते । अवस्था व पारिपार्श्विक वातावरण से उनमे परिवर्तन आता है । क्रान्ति या आन्दोलन उस परिवर्तन का सहचर भाव है ।

राष्ट्र, देश, समाज या व्यक्ति की बद्धमूल मान्यताओ मे जब जडता आ जाती है, तब क्रान्ति का स्वर गूज उठता है । जब प्राचीन नियमोपनियम

अपनी कार्यशक्ति खो बैठते हैं, तब परिवर्तन की आकाक्षा होती है और जब वह आकाक्षा एक व्यक्ति मे सीमित न रहकर व्यापक बनती है तब उसे क्रान्ति या आन्दोलन कहते हैं। अत क्रान्ति का अर्थ है—बद्धमूल मान्यताओ मे सामूहिक परिवर्तन की आकाक्षा। इसका आरम्भ अणु-व्यक्ति से होता है और धीरे-धीरे व्यापक बनकर सारे देश या राष्ट्र को अपने अन्तस्थल मे छिपा लेता है। क्रान्तिया दो प्रकार की होती हैं—राजनैतिक या सामाजिक और आध्यात्मिक या नैतिक।

देश की सर्वांगीण उन्नति मे दोनो आवश्यक मानी जाती हैं। एकागी क्रान्ति मे अभीष्ट की प्राप्ति नही होती, ऐसी मान्यता है। उभयविध क्रान्तियो की अपनी-अपनी मर्यादा है। एक समूह-सापेक्ष है, एक व्यक्ति-सापेक्ष। एक के प्रवाह मे तीव्रता है, पर है अस्थायी। एक के प्रवाह मे मन्थरता है, पर है स्थायी। एक शरीर-ग्राही है और एक आत्म-ग्राही। एक बाह्य-शुद्धि का उपक्रम है, दूसरा आन्तरिक विशुद्धि का। दोनो भिन्न-भिन्न दिशा के अनुचर होते हुए भी दोनो के सह-अस्तित्व का निषेध नही किया जा सकता। परन्तु दोनो अन्योन्याश्रित नही है।

अणुव्रत क्रान्ति विशुद्ध नैतिक उपक्रम है। व्यक्ति के आचार-पक्ष को सुदृढ बनाना इसका उद्देश्य है। इसकी यह मान्यता है कि आचार और विचार दोनो अन्योन्याश्रित होते हुए भी आचार की प्रधानता रहती है। आचारहीन विचारो मे वह सकल्प-शक्ति नही होती जो जीवन मे आवश्यक होती है। 'शिवसकल्पमस्तु मे मन '—यह साधना की वाणी है। इसका उत्स अध्यात्म है। अध्यात्म और आचार एक है। आचार व्यक्तिनिष्ठ होता है। समूह उसकी प्रयोगभूमि है। जब बहुत सारे व्यक्ति उस आचार मे विश्वास करने लगते हैं या उसमे पलने लग जाते हैं तब वह व्यष्टि से समष्टि की ओर बढता नजर आता है। परन्तु उसकी सफलता का मूल्याकन समष्टिनिष्ठ न होकर व्यक्तिनिष्ठ होना चाहिए, अन्यथा दुहरी भूल हो जाती है। एक तो आकने की और दूसरी मिथ्याभिनिवेश की। इससे बचना चाहिए।

यह सही है कि वही आन्दोलन सफल होता है जो समूह के द्वारा अधिष्ठित है। ऐसे आन्दोलनो का व्यापक प्रभाव भी पडता है। परन्तु जो आन्दोलन केवल कुछेक व्यक्तियो मे पनपे वह सफल नही हो सकता।

उसका अवस्थान अस्थायी होता है। सम्राट् अकबर ने चाहा था कि 'दीनइलाही' सम्प्रदाय को विश्वव्यापी बनाया जाय। उसमे किसी भी धर्म विशेष के नियमो को न लेकर विश्वजनीन नियमो का गठन किया था, परन्तु उसका अधिष्ठान केवल कुछेक बुद्धिजीवी व्यक्तियो तक ही सीमित रहा। अत उसका व्यापक प्रसार न हो सका। सम्राट् अकबर के साथ ही साथ उसका भी अवसान हो गया।

आन्दोलन की सफलता का एक मत्र है कि वह समूह को आकृष्ट करे। अणुव्रत-आन्दोलन व्यक्तियो से समूह की ओर बढ रहा है। बहुत सारे लोग इसकी उपयोगिता को स्वीकार करते है। बहुत से लोग इसमे आए है और आ रहे हैं। इसकी यह एक विशेषता है कि इसमे आनेवाला प्रत्येक व्यक्ति इसमे अपने धर्म-दर्शन को देखता है। उसे विभिन्नता मालूम नही देती। इसीलिए वह उसी मे रच-पच जाता है। क्रियात्मक रूप से आन्दोलन जनव्यापी नही बना है परन्तु उसका भावनात्मक रूप समष्टिगत हो चुका है।

व्यक्ति निर्द्वन्द्व नही होता। विचारो का द्वन्द्व सदा चलता है। पुराने विचारो को वह सहसा छोड नही सकता और नए विचारो मे अपने आपको ढाल भी नही सकता। स्थिति कुछ गम्भीर बनती है और वह लडखडा जाता है। ऐसी भावनाए उत्पन्न करनी होती है जिनसे कि उसको सही सन्तोष हो सके। यह कार्य 'आन्दोलन' के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। व्यक्ति को इस प्रकार आन्दोलित किया जाय कि वह यह मानने लगे कि जो कुछ वह सोचता है वही 'अन्तिम' नही है, आगे भी कुछ है। व्यक्ति को सोचना अवश्य चाहिए, परन्तु आगे की सात पीढियो की चिन्ता कर लेना अनावश्यक है। धार्मिक अनुष्ठानो मे शीघ्रता करनी चाहिए। विलम्ब से पिछडना पडता है। ज्यो-ज्यो दिन घुलते हैं त्यो-त्यो पारिवारिक सम्मोह का आदर्श मनुष्य को अपने मे जकड लेता है और वह पदच्युत हो जाता है। इसलिए 'अभी या कभी नही' को मानकर चलनेवाला आगे बढ जाता है।

कई व्यक्ति कहते हैं—"नैतिक उपक्रमो के पीछे 'आन्दोलन' शब्द ठीक नही जँचता। नैतिकता आत्मा का स्वभाव है। उसका आन्दोलन हास्या-

स्पद लगता है।"—यह ठीक है। हम भी यह मानते हैं कि मनुष्य का वास्तविक स्वभाव 'नैतिकता' है परन्तु जब मानव स्वभाव को विभाव और विभाव को स्वभाव मान लेता है, तब स्थिति मे विपर्यय होना है और उस स्थिति मे पूर्ण सामजस्य बैठाने के लिए 'आन्दोलन' की आवश्यकता होती है। आज इस यान्त्रिक युग मे व्यक्ति का मस्तिष्क भी यान्त्रिक बन गया है। उसकी सोच-समझ देहलक्ष्य है। देह से परे कुछ है, वह नही सोचता। ऐसी स्थिति मे बाह्योपचार से कुछ नही बनता। आन्तरिक प्रेरणा आवश्यक होती है। व्यक्ति को यह महसूस होने लगे कि आमोद-प्रमोद ही जीवन नही है, जीवन उससे आगे की चीज है। जब इतना समझ मे आ जाता है, तब व्यक्ति स्वत सदाचार की ओर प्रेरित हो सकता है, आन्दोलन की आवश्यकता नही होती। परन्तु इस अध्यात्म-भावना को जन-जन के मन मे पनपाने के लिए मूल-जीवन को झकझोरना पडता है। कम्पन से जब सस्कारगत विचार झड जाते है तब नए विचार अपना स्थान सहजतया बना लेते हैं। यह स्थिति पैदा करने का एकमात्र सामर्थ्य 'आन्दोलन' मे है। इसीलिए 'अणुव्रत' के पीछे 'आन्दोलन' शब्द जुडा जो कि अर्थ-निश्चय मे सहायभूत है।

मैत्री क्यो और कैसे ?

प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र इकाई है—यह पारमार्थिक सत्य है। व्यावहारिक सत्य यह है कि वह समुदाय का एक अग है। दोनो की अपनी-अपनी मर्यादा हैं। जब व्यक्ति व्यक्ति रहता है तब क्रूरता, वध, असहिष्णुता आदि की अभिव्यक्ति नही होती, परन्तु जब उसकी इकाई समूह मे विलीन हो जाती है तब ये दोष उभर आते है। जहा दो होते हैं वही शत्रु-भाव उत्पन्न होता है और मैत्री की कल्पना भी वही होती है। एक मे मैत्री या अमैत्री की कल्पना नही होती—कारण स्पष्ट है कि व्यष्टि का जीवन निर्द्वन्द्व रहता है, उसमे कोई अपेक्षा नही रहती। समूहापेक्ष

जीवन जीनेवालो मे निर्द्वन्द्व विरले ही होते है, सभी एक-दूसरे की अपेक्षा रखते हैं।

इस अपेक्षित जीवन मे ही शत्रु-भाव या मित्र-भाव पनपते है। जहा और जब शत्रु-भाव का उत्कर्ष होता है तब जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। सर्वत्र व्यक्ति-व्यक्ति मे, कुटुम्ब-कुटुम्ब मे, समाज-समाज मे, देश-देश मे तथा राष्ट्र-राष्ट्र मे अराजकता फैल जाती है और अशान्ति की कुहेलिका मडराने लगती हैं। जन-जीवन जलता है और उसकी आहो से मिश्रित धूप की ऊर्मियो से सारा वातावरण विषमय बन जाता है। मित्र-भाव का जब उत्कर्ष होता है तब अशान्ति की अन्त्येष्टि हो जाती है, सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य छा जाता है। प्रत्येक व्यक्ति सुख से जीता है और दूसरे के सुखपूर्ण जीवन जीने के अधिकार मे कभी हस्तक्षेप नही करता है। यह सुखद जीवन का आदि सोपान है और अन्तिम सोपान है आत्मोपम्य दृष्टि का विकास।

आज इस विषम जीवन को रसमय बनाना हमारे सामर्थ्य से परे नही है। हम अनन्त शक्ति के उत्स हैं। ऐसा कोई भी कार्य नही है जो हम नही कर सकें। शान्ति के अनेक साधन हमारे पास हैं। परन्तु भिन्न-भिन्न काल मे भिन्न-भिन्न साधनो का प्रयोग हम करते है। आज शत्रु-भाव चरम सीमा पर पहुच चुका है। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सभी एक-दूसरे के शत्रु हैं। इसको मिटाने का एकमात्र साधन है—मैत्री। मैत्री के चार आधार है—अभय, अनाक्रमण, विश्वास और सहिष्णुता।

मैत्री का आधार अभय है—भय मोह से उत्पन्न होता है। मोह का जनक पदार्थाश्रित अनुराग है। जब व्यक्ति के मन मे यह आशका उत्पन्न होती है कि उसके पदार्थ, जिसे वह अपना अनन्य समझता है, लूटे जा सकेंगे, तब वह भयभीत हो जाता है। चारो ओर से भय की सम्भावनाओ का वह जाल बुनता है और उसी मे वह मकडी की तरह फस जाता है। सभी से वह डरने लगता है और निकटस्थ स्नेहासिक्त बन्धुओ को भी अविश्वास की तुला से तोलता है और वह स्वय सबके लिए अविश्वस्त बन जाता है। ऐसी अवस्था मे स्नेह, प्रेम या मैत्री बनती ही नही और कभी स्वार्थवश बन भी जाए तो टिकती नही। जीवन सूना-सा प्रतीत होता है। वेदना मे

सहानुभूति के दो शब्द भी कौन कहे ?

सस्कृत कवि ने कहा है—

शकास्थानसहस्राणि, भयस्थानशतानि च।
दिवसे-दिवसे मूढमाविशन्ति न पडितम् ॥

भय और शका का आधार मूढता है। इसकी व्याप्ति यो बनती है—जहा मूढता है, वहा भय और शका है और जहा भय और शका है वहा मूढता है। अभय का आधार निर्मोह है। मोह केवल पदार्थों मे ही नही रहता। विचारो का मोह भी दृढतर होता है। जैन-दर्शन की भाषा मे मोह का समूल नाश वीतराग अवस्था से पूर्व नही होता, परन्तु इसके नाश का क्रमिक-भाव भी अनवगत नही है। मोह की न्यूनता अभय को बढाती है और अभय से मोह की न्यूनता होती है। इस परिधि मे मैत्री की लता फैल सकती है, फूल सकती है।

मैत्री का आधार अनाक्रमण है—व्यक्ति अपने लिए, कुटुम्ब के लिए या देश के लिए प्रसरणशील बनता है। उसके प्रसर्पण का मूलाधार या तो स्वार्थ है या पर-स्वार्थों की अनभिलषणीयता है। 'स्व' की अभिव्यक्ति के लिए भी वह प्रसर्पण करता है। जब तक उसका प्रसर्पण दूसरो के स्वार्थों मे बाधक नही बनता तब तक वह आक्रमण नही कहलाता, परन्तु जब उसका स्वार्थ दूसरो पर हावी होना चाहता है तब व्यक्ति तिलमिला उठता है। मित्र भी शत्रु-सा प्रतीत होने लगता है। ऐसी स्थिति मे प्रत्येक व्यक्ति मे यह दृढ आस्था पैदा करनी होती है कि स्वार्थों और विचारो की विभिन्नता मे भी समानता की एक रसमय अनुस्यूति है जिसे हम 'उदारता' कहते है। उदात्त व्यक्ति सहनशील होता है। सहना पडे इसीलिए वह नही सहता—परन्तु 'सहना मेरा धर्म है' यह मान वह सब कुछ सहता है। ऐसी स्थिति मे आक्रमण की बात ही नही आती। अनाक्रमण की वृत्ति मे अभय की पयस्विनी बहने लगती है और जन-जन को स्नेहपकिल करती हुई चिर-चिरतरकाल तक प्रवाहित रहती है।

मैत्री का आधार विश्वास है—अभय और अनाक्रमण की भावना से विश्वास पनपता है। विश्वास से अन्तःकरण एकरूप बनता चला जाता है। एक-दूसरे की दूरी समाप्त हो जाती है। यह व्यष्टि को समष्टि मे

बाधनेवाला सूत्र है। मोहाविल व्यक्तियो मे इसका अनुबन्ध दृढतर नही होता—यह कच्चे सूत-सा बना रहता है। विचारो की असमानता के हल्के धक्के से यह टूट जाता है। उसे पुन साधा जाता है, परन्तु जो गाठ बीच मे पड जाती है, वह खुलती नही, घुलती जाती है, परन्तु जो व्यक्ति विश्वास की विशुद्ध भूमिका पर आपस मे बधते है उनका विश्वास दृढतर सूत्रो से दृढतम होता है और धीरे-धीरे वह श्रद्धा मे परिणत हो जाता है। श्रद्धा के पास तर्क का तूणीर नही होता। उसके अणु-अणु मे विश्वास की अनुस्यूति होती है। उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति मे स्वार्थपरता और प्रमाद के प्रति विद्रोह की स्फुट अभिव्यक्ति होती है। स्वार्थपरता का अभाव ही विश्वास का दृढतम अनुबन्ध है और यही मैत्री को पनपाता है। मैत्री का उत्स अभय है, परन्तु उसकी स्फुट अभिव्यजना विश्वास मे ही होती है। मैत्री के सूत्र मे भी बधनेवाले यदि परस्पर सन्देहशील या अविश्वस्त बने रहे तो उनकी मैत्री का अर्थ ही क्या रह जाता है ? मित्र वह है जो सन्देह के स्थान उपस्थित होने पर भी अपने मित्र के प्रति सन्देह न करे। प्रत्यक्ष चोट उतनी खतरनाक नही होती, जितनी चोट सन्देहशीलता की होती है। विश्वास के अभाव मे अच्छा बुरा प्रतीत होता है, स्नेह मे अस्नेह का प्रतिबिम्ब दीखने लगता है, अस्वार्थ मे स्वार्थ की झाकी होती है—तब मैत्री का सधान टूट जाता है और नाना प्रकार के दोषो का उद्भावन होता है। विश्वास मैत्री का आधार ही नही उसका पुष्ट पोषक भी है।

मैत्री का आधार सहिष्णुता है—जिसका सम्बन्ध अपने अनन्त हित से जुड चुका है वह वास्तव मे सहिष्णु है। सम्प्राप्त दैहिक कष्टो को सहने मे अनेक व्यक्ति शूर हैं परन्तु वैचारिक असमानता को सहने वाले विरले होते हैं। दैहिक कष्टो का आदि-अन्त सुगम्य होता है। अत भविष्य की मधुर कल्पनाओ की सभावनाओ से उनको सहने मे अत्युत्कृष्ट साधना की आवश्यकता नही होती। परतु अनागत आशकाओ की असहिष्णुता व्यक्ति को नोच-नोचकर खा जाती है। उस पर विजय पानेवाले को साधना के विशिष्ट क्रम से गुजरना होता है। अभय अनाक्रमणता और विश्वास पैदा हो जाने पर भी सहिष्णुता के अभाव मे इन तीनो का स्थायित्व नही होता। सहना सबको पडता है चाहे वह बडा ही क्यो न हो। जिसने कुछ

नही सहा, वह महान् नहीं हो सकता। सहना महानता की अनुपम कसौटी है। अभिन्नता मे सहने की वात नही आती, परन्तु यह दृश्य ससार भिन्नता के लिए चलता है—जितने व्यक्ति उतने ही विचार। ऐमी भिन्नता मे ही सहने की वात आती हैं। विचारो या जीवन की अन्य सुख-सुविधाओं से सघर्ष होता है, परन्तु किसी मे यह शक्ति नही कि इस भिन्नता का नाम-शेष कर दे। ममय-ममय पर इस असमानता का ह्रास या विकास अवश्य होता दीखता है, परन्तु अनुकूल उन्मूलन नही होता। ऐसी स्थिति मे दूसरो का सहना प्रत्येक का परम कर्तव्य वन जाता है। इसका यह फलित नहीं कि दुराचारो और अन्यायो को सहा जाए, परन्तु अपेक्षा की भाषा मे हम पढ़ें तो अन्याय, दुराचार आदि भी एकान्तिक नही है। दूसरो की अपेक्षा को समझकर हिताहित का निर्णय करना इस दिशा का श्रेयस्करी चरण है। एक वार एक क्रिश्चयन युवक पादरी ने आचार्यश्री से कहा—"महात्मा ईशु ने ससार के लिए यह उपदेश दिया कि अपने शत्रु से भी प्यार करो।" आचार्यश्री ने कहा—"इससे ऊची वात भगवान् महावीर ने कही कि किसी को अपना शत्रु ही मत समझो। किसी को शत्रु मानकर उसके साथ मित्र का व्यवहार करना अच्छा है, परन्तु किसी को शत्रु न मानकर सभी के साथ मित्रता का व्यवहार करना उत्कृष्ट है। रोग होने पर उपचार होने से पूर्व रोग होने ही न देना अच्छा है।"

अभय, अनाक्रमण, विश्वास और सहिष्णुता—इन चारो का सुन्दर सकलन ही मैत्री है।

मैत्री का दार्शनिक आधार आत्मज्ञता की एकात्मकता है। यह पारमार्थिक पहलू है।

मैत्री का सैद्धान्तिक आधार अपनी आत्मा की सहज स्थिति, ऊर्ध्व स्थिति है। मैत्री का मनोवैज्ञानिक आधार है—प्राणीमात्र के सुख से जीने की इच्छा। मैत्री का व्यावहारिक आधार है—आपेक्षिक जीवन।

शान्ति का स्रोत

शान्ति का उत्स कौन है ? यह प्रश्न अनादि से है। तत्त्व-द्रष्टाओ ने इसका समाधान स्वय मे ढूढा। दार्शनिको ने इसे आश्चर्य की भूमिका पर ला समाहित किया। कवियो ने सतत प्रवहमान् कल्पना-प्रयस्विनी मे वहकर ही इसका समाधान पाया। सभी ने इसे अपने-अपने माध्यम से व्यक्त किया, फिर भी इसकी जिज्ञासा ज्यो-की-त्यो वनी रही।

अनुभव के आलोक मे मैंने पाया कि व्यक्ति स्वय ही शान्ति का स्रोत है, यह उसका स्वभाव है। जब वह स्वभाव से दूर हटता है, तव अशान्त वनता है।

एक शब्द में व्यक्ति शान्ति का मूल है और समष्टि अशान्ति का। साधना के क्षेत्र मे व्यक्तिवादी भावना ही श्रेयस्कर होती है। सभी साधक अपने-अपने उत्तरदायित्व निभायें, यह अपेक्षित है। कोई दूसरे के कार्य मे हस्तक्षेप करता है, यह उसकी अनाधिकार चेष्टा है। अध्यात्म व्यक्तिवाद का समर्थक है। वह कहता है—"पत्तेय झभा, पत्तेय सन्ना, पत्तेय पुण्ण, पत्तेय पाव " यह साधना का मूल-मन्त्र ही नही, स्वय अपने आप मे सिद्धि भी है।

दूसरे की प्रवृत्ति तुम्हे अच्छी नही लगती। इसका मूल है, रुचि की विविधता। इसके आधार पर दूसरो को भला-वुरा कहना अपने आपको नीचे गिराना है। सभी अपने-अपने उत्तरदायित्व जानते हैं, उसी की सीमा मे रहकर वे कुछ करते हैं। तुम उनकी अपेक्षाओ को समझो तो स्थिति स्वय स्पष्ट हो जाएगी। अपेक्षाओ की असमझ ही कलह का मूल है। तुम अपनी अपेक्षाओ से सोचते हो और वह अपनी। तुम्हे जो अन्याय लगता है, वह उसे कर्तव्य लगता है, यह भी सम्भव है। ऐसी स्थिति मे कलह का उद्भव विवेकहीनता है। दूसरो के कृत्यो पर उद्विग्न नही होना, यह उत्तम है। परन्तु सभी इस आदश पर नही पहुच पाते। अत सभी को इसी आदश के आस-पास की भूमिका पर अपनी सीमा वनानी चाहिए,

वही शान्ति की प्रेरक बन सकेगी।

दूसरे के कार्यों का जब तक स्वय के स्वार्थ पर आघात नही होता तब तक उनके शुभाशुभ फल से प्रभावित या आतकित होना क्षुद्रता है। यह एक सीमा है, जो व्यावहारिक है और सुलभ भी।

४

आगम-सम्पादन की दिशा में

आगम-सपादन-कार्य का प्रारंभिक इतिहास

विक्रम सम्वत् २०११ को चैत्र शुक्ला नवमी का दिन था। आचार्यश्री तुलसी अपने श्वेत सघ के साथ दौलतावाद से विहार कर औरगावाद (महाराष्ट्र-खानदेश) पधारे। नागरिको ने आपका हार्दिक अभिनन्दन किया।

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के शुभ अवसर पर चतुर्विध सघ की उपस्थिति मे आचार्यश्री ने घोषणा की—"इन आनेवाले पाच वर्षो मे जैनागम-शोधकार्य हमारे अनेक लक्ष्यो मे एक प्रमुख लक्ष्य रहेगा। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए सभी साधु-साध्वियो को कार्य करना है।"

उपस्थित परिषद् ने घोषणा का हार्दिक स्वागत किया। अनेक साधु इसमे यथायोग्य शक्तिदान और बुद्धिदान देने के लिए उत्कठित हुए। साध्वियो ने भी इसमे यथायोग्य कार्य करने का सकल्प किया।

औरगावाद से विहार कर आचार्यश्री नसीरावाद, जलगाव होते हुए ज्येष्ठ शुक्ला एकादशी को 'फागणा' पधारे। यह धुलिया से दो कोस की दूरी पर एक गाव है। वहा श्री श्रीचन्दजी रामपुरिया (वर्तमान सभापति, तेरापथी महासभा) दर्शन करने आए। साहित्य-सशोधन की चर्चा चली। उन्होने सबसे पहले जैनागम-शब्दकोश तैयार करने का सुझाव रखा। आचार्यश्री को यह उचित लगा। आगमो का हिन्दी अनुवाद और शब्द-कोश—ये दो कार्य प्रारम्भणीय थे। इन दोनो कार्यो के लिए हमने सामग्री एकत्रित की। एक समस्या हमारे सामने उपस्थित हुई। कोश-निर्माण के विषय मे कई विकल्प खडे हुए। ये विकल्प अकारण नही उठे थे। हमारे सामने चार शब्दकोश आए

१ राजेन्द्रसूरि का अभिधान राजेन्द्र।
२ मुनि रत्नचन्द्रजी का अधमागधी शब्दकोश।
३ अल्प परिचित जैनागम शब्दकोश।
४ पडित हरगोविन्ददास का पाइयसद्दमहण्णवो।

हमने इनको देखा। इनके होते हुए फिर नए शब्दकोश का निर्माण

अनावश्यक लगने लगा। मुनिश्री नथमलजी ने अपने ये विचार आचार्य-श्री के सामने रखे। चिन्तन चला। सोचा जाने लगा कि क्या कोश-निर्माण के विचार को छोड दिया जाय या उसे नया रूप दिया जाय ? कई दिनो तक विचार-मन्थन होता रहा। आखिर यह निश्चय हुआ कि कोश-निर्माण का कार्य स्थगित न किया जाए। उसमे कुछ विशेषताओ को जोडकर उसकी उपयोगिता को वढा दिया जाए। यह विचार स्थिर हुआ। स्थिरता का सभाव्य रूप है।

१ पहले बने शब्दकोशो मे उद्धरणस्थलो के एक, दो या कुछेक प्रमाण हैं। इस शब्दकोश मे प्रत्येक शब्द के सभी प्रमाण रहेंगे। एक शब्द आगमो मे जितने स्थलो मे प्रयुक्त हुआ है, उसके उतने ही उद्धरण-स्थलो का निर्देश रहेगा।

२ प्रत्येक सूत्र का शब्दकोश तत्-तत् आगम के साथ रहेगा। प्रत्येक शब्द की सस्कृत-छाया भी रहेगी। इस स्वतन्त्र शब्दकोश मे वे सभी शब्द नही लिए जाएगे। उसमे पारिभाषिक या विशेष शब्द ही लिए जाएगे।

३ यह कोश कई वर्गो, सूत्रो और सूक्तों मे विभक्त होगा। उनमे एक वर्ग पारिभाषिक या विशेष शब्दो का रहेगा। शेष शब्दो का विषयानुपात से वर्गीकरण किया जाएगा। इस प्रकार एक विषय के शब्द एक ही वर्ग मे समन्वित रूप से मिल सकेंगे। उनके आधार पर उनके प्रकरण भी सरलता-पूर्वक खोजे जा सकेंगे।

४ इस शब्दकोश का एक विभाग विषयो के वर्गीकरण का होगा। यह शब्दपरक न होकर अर्थपरक होगा। आगमो मे जहा कही भी अहिंसा का प्रकरण है, उसका प्रमाण-निर्देश या आधार-स्थलो का सूचन अहिंसा क्त मे मिल जाएगा। अहिंसा शब्द का प्रयोग हुआ है या नही, इसकी अपेक्षा नही होगी, इसमे भावना का ही प्राधान्य होगा। इस प्रकार इस कोश के तीन प्रमुख भाग होगे

१ पारिभाषिक (विशेष) शब्द-सग्रह।

२ एक विषय के शब्दो का वर्गीकरण।

३ विषयो का वर्गीकरण।

एक विचार सामने आया कि उद्धरण-स्थलो के सभी प्रमाण देने ने

कोश का कलेवर बहुत अधिक बढ जाएगा। पर हमे लगा कि यह वृद्धि अन्वेषण की दृष्टि से बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगी। इन सभी दृष्टियो को आधार मानकर कोश-निर्माण की रेखाएँ सुस्थिर की गई।

महाराष्ट्र की यात्रा चल रही थी। धूलिया मे आचार्यश्री ने मध्य-भारत की यात्रा का निर्णय दे दिया। चातुर्मास मे एक महीना बाकी था। मध्यभारत की यात्रा प्रारम्भ हुई। मह होते हुए इन्दौर आगमन हुआ। आचार्यश्री ने उज्जैन मे चातुर्मास बिताने का निश्चय कर डाला। लोगो को आश्चर्य हुआ। अच्छे-अच्छे लोगो ने कहा—यह क्या? आचार्यश्री इन्दौर शहर को छोड उज्जैन जा रहे हैं। ऐसा निर्णय क्यो हुआ? कुछ दिनो तक निर्णय पर पुन विचार करने की प्रार्थनाओ का ताता लगा रहा।

आचार्यश्री जनता की माग का औचित्य समझते थे, पर निर्णय के पीछे भी बडा औचित्य था, जो उस समय लोगो की समझ मे परे था। आचार्यश्री को जैनागम-शोध की योजना को कायरूप देना था। इन्दौर मे कार्य-व्यस्तता के कारण समय की अल्पता निश्चित थी। उज्जैन मे यह बात नही थी। आचार्यश्री देवास होते हुए उज्जैन पधारे।

चातुर्मास प्रारम्भ हुआ। शोध-कार्य के लिए पुस्तकें जुटने लगीं। वहा के अनेक पुस्तकालयो से हमने पुस्तकें उपलब्ध की। सामग्री जुट गई। आचार्य श्री ने कहा—"सबसे पहले हमे बत्तीस आगमो के शब्दो का 'अनुक्रम' तैयार करना है।" आचार्यश्री ने इस कार्य के नियोजन के लिए मुनिश्री नथमलजी को आदेश दिया। मुनिश्री ने एक सुनियोजित रूप-रेखा आचार्यश्री के समक्ष रखी और तदनुरूप कार्य प्रारम्भ हो गया।

इसी बीच दूर-दूर से कार्य-निर्देशन की अज्ञात ध्वनि गूजने लगी। कार्य को गति देने मे यह भी एक शुभ सकेत था। आचार्यश्री ने यथायोग्य निर्देश दिए और बहिर्विहारी श्रमण भी इस कार्य मे सलग्न हो गए।

वि० स० २०१२ का चातुर्मास उज्जैन मे था। उस वर्ष भाद्रपद दो थे। पूरे पाच महीने का समय सामने था। आचायश्री के साथ रहनेवाले प्राय सभी साधु-साध्विया इसमे जुट गए और चातुर्मास के पूर्ण होते-होते लगभग ३२ आगमो के शब्द अनुक्रम से सकलित हो गए।

इस शब्द-सकलना मे कई साधु-साध्विया निर्देशक और निर्देशिका के रूप मे कार्य करते थे और शेष उनके सहयोगी के रूप मे। उनकी तालिका इस प्रकार है

साधुओ द्वारा किया गया कार्य

१ स्थानाग, उत्तराध्ययन

निर्देशक—स्वर्गीय मुनिश्री चौथमलजी।

सहयोगी—मुनिश्री सोहनलालजी (डूगरगढ), मुनिश्री सुमेरमल जी 'सुमन', मुनिश्री रूपचन्द्रजी, मुनिश्री मणिलालजी।

कार्यारम्भ—स० २०१२, प्रथम भाद्रपद शुक्ला १३।

सम्पूर्ति—स० २०१२ कार्तिक अमावस्या।

२ प्रज्ञापना

निर्देशक—मुनिश्री सोहनलालजी (चूरु)।

सहयोगी—मुनिश्री छत्रमलजी, मुनिश्री हनुमानमलजी (सरदारशहर), मुनिश्री नगराजजी (चूरु)।

सम्पूर्ति—मृगशिर सरदारशहर मे।

सम्पूर्ण शब्दानुक्रम की साफ प्रति मुनिश्री मानमलजी (डूगरगढ) तथा मुनिश्री चम्पालालजी (सरदारशहर) ने की।

३ भगवती, दशाश्रुतस्कन्ध, नन्दी

निर्देशक—मुनिश्री दुलीचन्दजी 'दिनकर'।

सहयोगी—मुनिश्री हसराजजी, मुनिश्री श्रीचन्द्रजी 'कमल', मुनिश्री गुलाबचन्दजी।

कार्यारम्भ—स० २०१२, श्रावण शुक्ला ४।

सम्पूर्ति—कार्तिक शुक्ला १२।

४ आचाराग (प्रथम)

निर्देशक—मुनिश्री सुखलालजी।

सहयोगी—मुनिश्री चम्पालालजी (लाडनू), मुनिश्री हीरालालजी, मुनिश्री वसन्तीलालजी।

कार्यारम्भ—स० २०१२, श्रावण शुक्ला १।

सम्पूर्ति—श्रावण शुक्ला पूर्णिमा।

५ जीवाभिगम, निशीथ, पिण्डनिर्युक्ति

निर्देशक—मुनिश्री राजकरणजी।

सहयोगी—मुनिश्री मोहनलालजी (चाडवास), मुनिश्री मागीलाल-जी।

६ राजप्रश्नीय

निर्देशक—मुनिश्री बुद्धमल्लजी।

सहयोगी—मुनिश्री रिद्धकरणजी, मुनिश्री मोहनलालजी, मुनिश्री मधुकरजी।

सम्पूर्ति—स० २०१३, दिल्ली चातुर्मास मे।

७ आवश्यक

मुनि श्री दुलहराज

८ आगम-विषय-वर्गीकरण

आचाराग आदि अनेक आगमो के विषयो का वर्गीकरण तैयार किया गया था। इसमे मुख्यत मुनिश्री सागरमलजी, मुनिश्री सुखलालजी और मुनिश्री दुलहराजजी कार्य करते थे।

साध्वियो द्वारा किया गया कार्य

१ सूत्रकृताग, समवायाग, निरयावलिका

निर्देशिका—साध्वीश्री सिरेकवरजी, साध्वीश्री सोहनाजी (लाडनू), साध्वीश्री हुलासाजी, साध्वीश्री हर्षकुमारीजी, साध्वीश्री पुण्यश्रीजी।

कार्यारम्भ—स० २०१२ उज्जैन, श्रावण कृष्णपक्ष मे।

सम्पूर्ति—कार्तिक के शुक्लपक्ष मे।

२ सूर्यप्रज्ञप्ति, अनुयोगद्वार, औपपातिक

निर्देशिका—साध्वीश्री रत्नकुमारीजी (सरदारशहर)।

सहयोगिनी—साध्वीश्री हर्षकुमारी (सरदारशहर), साध्वीश्री कानकुमारी (चूरू), साध्वीश्री जयश्री, साध्वीश्री गुणसुन्दरजी।

कार्यारम्भ—उज्जैन, स० २०१२, आषाढ कृष्ण ६।

सम्पूर्ति—आश्विन।

३ ज्ञाताधर्म कथा

निर्देशिका—साध्वीश्री रत्नकुमारी (सरदारशहर)।

सहयोगिनी—साध्वीश्री चादकुमारीजी (सरदारशहर), साध्वीश्री कमलूजी (सरदारशहर), साध्वीश्री कानकुमारी (चूरू), साध्वीश्री सोहनाजी (राजलदेसर), साध्वीश्री जतनकुमारीजी (सरदारशहर)।

कार्यारम्भ—स० २०१३, श्रावण।

सम्पूर्ति—कार्तिक।

४ वृहत्कल्प

निर्देशिका—साध्वीश्री धनकुमारीजी (सरदारशहर)।

सहयोगिनी—साध्वीश्री हर्षकुमारीजी, साध्वीश्री रत्नकुमारीजी, साध्वीश्री भीखाजी, साध्वीश्री कानकुमारीजी, साध्वीश्री सोहनाजी, साध्वीश्री पुण्यश्रीजी, साध्वीश्री विद्याकुमारीजी।

कार्यारम्भ—स० २०१२, कार्तिक शुक्ला १४।

सम्पूर्ति—उसी दिन।

५ व्यवहार।

निर्देशिका—साध्वीश्री धनकुमारीजी (सरदारशहर)।

सहयोगिनी—साध्वीश्री छगनाजी (सरदारशहर), साध्वीश्री मोहनाजी, साध्वीश्री केसरजी, साध्वीश्री हर्षकुमारी जी, साध्वीश्री जयश्रीजी।

कार्यारम्भ—आश्विन कृष्णा ६।

सम्पूर्ति—आश्विन कृष्णा १४।

६ प्रश्नव्याकरण, अनुत्तरोपपातिक, अतगड

निर्देशिका—साध्वीश्री धनकुमारीजी (सरदारशहर)।

सहयोगिनी—साध्वीश्री भीखाजी, साध्वीश्री कमलश्री, साध्वीश्री हर्षकुमारी (लाडनू)।

कार्यारम्भ—स० २०१२, श्रावण।

सम्पूर्ति—कार्तिक।

७ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति

निर्देशिका—साध्वीश्री राजीमतीजी।

सहयोगिनी—साध्वीश्री कमलूजी, साध्वीश्री भीखाजी, साध्वीश्री

फूलकुमारीजी, साध्वीश्री हुलासाजी।

८ अनुयोगद्वार

निर्देशिका—साध्वीश्री फूलकुमारी (लाडनू)।

सहयोगिनी—(नाम लिखित नही है)।

इस प्रकार लगभग तीस साधु और चालीस साध्वियो ने बत्तीस आगमो की शब्द-सूची लगभग पाच महीना मे तैयार कर दी।

इसके साथ-साथ शब्दकोश सम्बन्धी अनेक विपयो पर भी कार्य चलता रहा। मुनिश्री चम्पालालजी (लाडनू)ने आगमो मे प्रयुक्त धातुओं का सकलन किया। अन्यान्य विपयों के वर्गीकरण भी तैयार किये गए।

प्रत्येक सूत्र की 'अकारादि' अनुक्रम से शब्दसूची तैयार हो जाने पर अब निर्धारित शब्दकोश का कार्य प्रारम्भ करना था।

आचार्यश्री ने उज्जैन का चातुर्मास सम्पन्न कर राजस्थान की ओर विहार किया। भीलवाडा मे माघ-महोत्सव सम्पन्न हुआ। वि० स० २०१३ का चातुर्मास सरदारशहर मे हुआ। शोध-कार्य के अन्तगत अनुवाद आदि का कार्य चलता रहा। फिर चालीस दिवसीय दिल्ली-यात्रा सम्पन्न कर मत्री मुनि की विशेष प्रार्थना पर माघ-महोत्सव का विराट् कायक्रम सरदारशहर मे ही किया गया।

वि० स० २०१४ का चातुर्मास सुजानगढ में था। स्थान आदि की सुविधा थी। कार्ड प्रणाली से कोश का कार्य प्रारम्भ हुआ। इसमे मुनिश्री नथमलजी, मुनिश्री बुद्धिमल्लजी और मुनिश्री मीठालालजी निर्देशक के रूप मे कार्य करते थे और लगभग तेरह मुनि उनके सहयोगी थे। उनके नाम ये हैं

१ मुनिश्री सुमेरमलजी (लाडनू)
२ मुनिश्री सुमनजी
३ मुनिश्री दुलहराजजी
४ मुनिश्री श्रीचन्द्र 'कमल'
५ मुनिश्री हीरालालजी
६ मुनिश्री जतनमलजी
७ मुनिश्री मोहनलालजी
८ मुनिश्री ताराचन्द जी
९ मुनिश्री शुभकरणजी
१० मुनिश्री हसराजजी
११ मुनिश्री वसन्तीलालजी
१२ मुनिश्री हनुमानमलजी
१३ मुनिश्री मधुकरजी

उस चातुर्मास मे छह आगमो का शब्दकोश तैयार हो गया। उस वर्ष लाडनू मे माघ-महोत्सव सम्पन्न हुआ और वहा आचार्यश्री ने कलकत्ता की लम्बी यात्रा करने का निर्णय ले लिया। इसलिये शब्दकोश का कार्य स्थगित कर देना पडा। इस स्थगन का मुख्य कारण यह भी था कि पाठ-सशोधन के कार्य को प्राथमिकता दी गई और २०-२२ आगमो का पाठ-सशोधन कर लिया गया। साथ-साथ अनेक आगमो के अनुवाद, टिप्पण, शब्द-सूची भी साथ-साथ तैयार होते गए। अवशिष्ट आगमो के पाठ-सशोधन का कार्य चालू है और अनुवाद आदि भी चल रहे है।

शब्दकोश-निर्माण की यह रूपरेखा मैंने सक्षेप मे प्रस्तुत की है। इस निवन्ध मे कुछेक अगमो की शब्द-सूचियो का उल्लेख नही दिया जा सका है, क्योकि वे सूचिया अभी हमारे पास नही है, लाडनू मे हैं। उनका भी उल्लेख यथासम्भव आगे कर सकेंगे, ऐसा विश्वास है।

आगम-शोध-कार्य एक पर्यवेक्षण

आगम-शोध-कार्य को चलते-चलते लगभग एक युग वीत चला है। इस कार्य-काल मे अनेक साधु-साध्वियो ने अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार इसमे हाथ वटाया है। कार्य का प्रारम्भ एक छोटी-सी कल्पना से हुआ था; किन्तु आज वह कार्य वहुत विस्तार पा चुका है। आज भी अनेक साधु-साध्विया उसमे सलग्न हैं।

इस निवन्ध मे आगम-शोध-कार्य, उसकी पद्धति और कार्य करने-वालो के नाम प्रस्तुत किए जा रहे हैं, जिससे यह अनुमान सहजतया हो सकेगा कि श्रुति के इस महायज्ञ मे कितने-कितने व्यक्ति लगे हुए है।

१ पाठ-सशोधन तथा पाठ-निर्धारण

आगम-शोध-कार्य का प्रमुख अग है—पाठ-सशोधन तथा उसका निर्धारण। इसी की सम्पन्नता से शोध-कार्य के दूसरे-दूसरे छोटे-वडे सभी अग-उपाग सम्पन्न होते हैं। यह कार्य प्रतिदिन मध्याह्न मे लगभग दो घटे

तक चलता है। जिस आगम का पाठ-सशोधन करना होता है, उसकी प्राचीन प्रतिया प्राप्त की जाती हैं। वे प्रतिया हस्तलिखित, ताडपत्रीय या फोटो प्रिंट होती है। इनकी प्राथमिक जाच कर लेने के पश्चात् चार-पाच प्रतिया चुनकर रख ली जाती हैं और उनके आधार पर कार्य प्रारम्भ होता है। इनके साथ-साथ तत्-तत् आगमो के व्याख्या-ग्रन्थो—निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, दीपिका, टब्बा, जोडो आदि का भी यथेष्ट उपयोग किया जाता है।

इस कार्य मे प्रमुखतया आचार्यश्री तुलसी तथा निकाय सचिव मुनिश्री नथमलजी अपना बहुमूल्य समय लगाते है। शेप मुनि जो इसमे सलग्न हैं, वे ये हैं

१ मुनिश्री सुदर्शनजी
२ मुनिश्री मधुकरजी
३ मुनिश्री हीरालालजी
४ मुनिश्री बालचन्दजी

श्रावक जयचन्दलालजी कोठारी (लाडनू) भी इस कार्य मे सलग्न रहते हैं।

पाठ-निर्धारण मे प्रतियो तथा व्याख्या-ग्रन्थो के अतिरिक्त पाठ के पौर्वापर्य तथा अन्य आगमो मे उसके आवर्तन-प्रत्यावर्तन पर भी दृष्टि विशेप रूप से केन्द्रित रहती है।

यह कार्य निर्धारित समय पर तो चलता ही है, परन्तु समूचे दिन इस कार्य मे दो-तीन मुनि लगे ही रहते है। वे इस कार्य के लिए सामग्री सकलित कर निकाय सचिव मुनिश्री के निर्देशानुसार उसे यथास्थान योजित कर देते है।

२ अनुवाद और सस्कृत छाया

हमारी यह अभिलाषा रही है कि प्रत्येक आगम का प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद तथा उसकी सस्कृत छाया प्रस्तुत की जाए। अनुवाद मूलस्पर्शी हो तथा कोई भी शब्द अस्पष्ट न रहें, यह हमारा प्रयत्न रहा है। भावानुवाद भले ही सुगम हो, परन्तु कभी-कभी वह मूल से बहुत दूर चला जाता है

और पाठक मूल-भाव से भटक-सा जाता है, इसलिए हमने मूलस्पर्शी अनुवाद को प्रधानता दी है।

प्राकृत का सस्कृत मे रूपान्तर करते समय अत्यधिक सतर्कता की आवश्यकता होती है। क्योकि आगम के उपलब्ध अनेक सस्करणो मे सस्कृत छाया का आधार प्रधानत टीका रही है। परन्तु बात यह है कि टीकाकार प्रत्येक शब्द की व्याख्या देते हैं, छाया नही। कही-कही व्याख्या को ही मूल छाया मान लेने से भयकर भूलें हुई है और कभी-कभी उन व्याख्याओ के आधार पर मूल शब्द को भी परिवर्तित कर दिया जाता है। मुद्रित प्रतियो के एक नहीं अनेक स्थल इसके साक्षी है। ऐसी स्थिति मे प्राकृत शब्दो की ही मूल प्रकृति, अर्थ की सगति आदि-आदि को ध्यान मे रखकर उनका सस्कृत रूपान्तर किया जाए तो मैं मानता हू, शब्दो के साथ न्याय हो सकता है।

- दशवैकालिक (सानुवाद, सटिप्पण) छप चुका है।
- उत्तराध्ययन-सानुवाद छप रहा है।
- स्थानाग, समवायाग, उपाशकदशा, नन्दी, निरयावलिका आदि-आदि सूत्रो के अनुवाद तैयार हैं।

वर्तमान मे विभिन्न आगमो पर निम्नोक्त कार्य हो रहा है

१ औपपातिक (छाया) मुनिश्री चन्दनमलजी
२ स्थानाग (छाया) मुनिश्री दुलीचन्दजी
३ उपाशकदशा (छाया) मुनिश्री गणेशमलजी
४. आचाराग (प्रथम) (छाया तथा अनुवाद)
५ औपपातिक (अनुवाद) साध्वीश्री सघमित्राजी
६ अनुयोगद्वार (अनुवाद) साध्वीश्री कनकप्रभाजी
७ अनुयोगद्वार (छाया) साध्वीश्री यशोधराजी
८ आचाराग चूला (छाया) साध्वीश्री जतनकुमारीजी
९. निशीथ (छाया) साध्वीश्री जयश्रीजी
१० समवायाग (छाया) साध्वीश्री कनकश्रीजी

आगमगत विशेष शब्दो के अर्थ तथा विभिन्न स्थलो के स्पष्टीकरण के लिए टिप्पण लिखना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। इनके विना शब्द

तथा स्थल अत्यन्त दुरूह हो जाते है। हमने टिप्पणो के लेखन मे प्राचीन व्याख्या-ग्रन्थो तथा आधुनिक सामग्री का पूरा-पूरा उपयोग करने का प्रयत्न किया है। फिर भी यत्र-तत्र सामग्री के अभाव मे कुछेक शब्दो के अर्थ आज भी अन्वेषणीय रह जाते हैं।

उत्तराध्ययन तथा स्थानाग के विस्तृत टिप्पण तैयार है और दशवैकालिक सटिप्पण प्रकाश मे भी आ चुका है। उत्तराध्ययन प्रकाश्यमान है।

३ शब्दानुक्रम

प्रत्येक आगम के साथ उस आगम मे प्रयुक्त सभी शब्दो का एक अनुक्रम तथा सभी प्रमाण-स्थलो का निर्देश, आज के शोध की सद्यस्क अपेक्षा है। इसके बिना शोध-कार्य अधूरा रह जाता है। हमने प्रत्येक आगम के शब्दानुक्रम (सप्रमाण) को परिशिष्ट मे दिया है। इससे जिज्ञासु व्यक्तियो को शब्दो की खोज मे काफी सुगमता हो जाती है। इसके साथ-साथ नामानुक्रम आदि-आदि उपाग भी देते रहे है।

पद्यमय आगमो का पदानुक्रम तथा गद्यमय आगमो का सूत्रानुक्रम देना निश्चित किया गया है। इसी के अनुसार कार्य भी चल रहा है।

इस कार्य मे मुख्य रूप से मुनि श्रीचन्द्रजी 'कमल' लगे हुए हैं और अभी-अभी उन्होने नन्दी, आचाराग (प्रथम), आवश्यक, निशीथ तथा उत्तराध्ययन का शब्दानुक्रम, नामानुक्रम आदि तैयार किया है।

मुनिश्री हनुमानमलजी (सरदारशहर) उनके सहयोगी रहे है तथा आजकल वे आचाराग चूला के शब्दानुक्रम मे लगे हुए हैं।

मुनिश्री किशनलालजी सूत्रकृताग का 'पदानुक्रम' तैयार कर रहे हैं।

साध्वीश्री सूरजकुमारीजी, साध्वीश्री जयश्रीजी तथा साध्वीश्री कनकश्री ने उत्तराध्ययन सूत्र का पदानुक्रम तैयार किया है।

आगम-शोध-कार्य के ये प्रमुख अग है और इन पर कार्य गतिशील हैं।

इनके अतिरिक्त शोध-कार्य के अनेक उपाग भी है। उन सबकी

क्रियान्विति मे अनेक साधु-साध्विया सलग्न हैं।

साध्वीश्री कानकुमारीजी ने 'उत्तराध्ययन सूत्र का 'छन्दबोध' तैयार किया है। साध्वीश्री मजुलाजी उपासकदशा तथा साध्वीश्री सघमित्राजी औपपातिक सूत्र के विभिन्न अगो पर कार्य कर रही है।

मुनिश्री सुखलालजी उत्तराध्ययन की कथाओ के सम्पादन तथा अनुवाद मे लगे हुए हैं।

मुनिश्री सागरमलजी श्रमण' आचाराग सूत्र (प्रथम) के सशोधित पाठ की हस्तलिखित प्रति तैयार कर रहे है।

प्रत्येक सूत्र की विस्तृत भूमिका तथा समीक्षात्मक अध्ययन भी लिखे जा रहे हैं। दशवैकालिक तथा उत्तराध्यायन के समीक्षात्मक अध्ययन लिखे जा चुके है।

इस प्रकार हमारे इस कार्य मे आचार्यश्री के साथ रहने वाले तथा अन्यत्र विहारी अनेक साधु-साध्विया सलग्न है। उन सबकी सख्या लगभग बीस है। तेरापथी महासभा इसके प्रकाशन मे दत्तचित्त है। आदर्श साहित्य सघ भी इस दिशा मे कई वर्षो ने अपनी महत्त्वपूर्ण सेवाए दे रहा है। कुछेक श्रावक भी इस कार्य मे यथायोग्य सहयोग देते रहे है।

आगम-शोध-कार्य की समस्त प्रवृत्तियो के अन्तिम निर्णायक तथा वाचना-प्रमुख आचार्यश्री तुलसी हैं और इस दिशा मे उनके अनन्य सहयोगी तथा सम्पूर्ण शोध-कार्य के प्रधान निर्देशक एव सम्पादक हैं निकाय सचिव मुनिश्री नथमलजी। वस्तुत इनकी सतत् प्रेरणा और सलग्नता ने कार्य को गति दी है तथा अनेक साधुओ को श्रुत के इस महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान मे योगदान देने के लिए प्रेरित किया है।

निर्णायकता के ये दो केन्द्र हमारे शोध-कार्य के प्राण तथा प्रकाश-स्तम्भ हैं। इनकी उद्यमपरता, कार्यनिष्ठा, सूक्ष्म तत्त्वान्वेषण की मेधा तथा दूरदर्शिता से हम लाभान्वित हुए हैं, हो रहे हैं और चिरकाल तक होते रहेंगे।

शोध-कार्य मे आनेवाली समस्याए और समाधान

आगम शोध-कार्य के अनेक अग है—मूल पाठ, सशोधन, सस्कृत छाया, अनुवाद, टिप्पण, तुलनात्मक अध्ययन, समीक्षात्मक अध्ययन, शब्द-सूची का निर्माण आदि-आदि। इन सब कार्यों मे मूल-पाठ का सशोधन और निर्धारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है, क्योकि आगम-शोध-कार्य के दूसरे सारे अग इसी पर आधृत है। पाठ-सशोधन के लिए प्राचीन आदर्श उपलब्ध किए जाते हैं और एक प्रति को मुख्य मानकर कार्य आगे चलता है। परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि जितने आदर्श उतने ही पाठ-भेद। कोई भी एक प्रति ऐसी नही मिलती जिसके सारे पाठ समान रूप से मिलते हो। और यह सही है कि जहा हाथ से लिखा जाए वहा एकरूपता हो नहीं सकती, क्योकि लिपि-दोष या भाषा की अजानकारी के कारण अनेक त्रुटिया हो जाती हैं। प्राचीन आदर्शो मे प्रयुक्त लिपि मे 'य', 'ध' और 'थ' मे कोई विशेष अन्तर नही है। इस कारण से 'थ' के स्थान पर 'ध' या 'य' और 'य' के स्थान पर 'ध' या 'थ' हो जाना कोई असम्भव बात नही है। इस सभाव्यता ने अनेक महत्त्वपूण पाठो को बदल दिया और आज उनके सही रूपो को जानने का हमारे पास कोई साधन नही है। उदाहरण के लिए 'धाम' शब्द 'थाम' या 'याम' बन गया। तीनो के तीन अर्थ होते हैं, पाठक किस शब्द को मूल मानकर अर्थ करें,?

सक्षेपीकरण—आगम-सूत्रो के मूलपाठो का सक्षेपीकरण दो कारणो से हुआ है

१ स्वय रचनाकार द्वारा स्वीकृत सक्षिप्त शैली के कारण तथा

२ लिपिकर्त्ताओ द्वारा सुविधा के लिए किए गए सक्षेप के कारण।

आगमो मे दोनो प्रकार के सक्षेपीकरण के उदाहरण मिलते हैं। इन सक्षेपीकरणो से अनेक कठिनाइया भी उत्पन्न हुई है। इनसे अर्थ-सग्रहण तथा प्रतिपाद्य सहज गम्य नही होता।

सक्षेपीकरण विशेषत गद्य भाग मे अधिक हुआ है और कही-कही पद्य

भाग भी उससे अछूते नही रहे हैं। रचनाकार द्वारा स्वीकृत सक्षेपाकरण का एक उदाहरण मैं प्रस्तुत कर रहा हू।

दशवैकालिक सूत्र के आठवें अध्ययन का छव्वीमवा श्लोक इस प्रकार है

"कण्णसोक्खेहिं सद्देहिं, पेम नाभिनिवेसए।
दारुण कक्कस फास, काएण अहियामए॥

यहा पाच श्लोको का एक श्लोक मे समावेश किया गया है। ऐमी स्थिति मे पाच श्लोको को जाने विना, इम श्लोक विपयक अस्पष्टता वनी रहती है। यथार्थ मे पाचो इन्द्रियो के पाचो विपयो को समभावपूर्वक महने का उपदेश इन पाच श्लोको से अभिव्यक्त होता है। किन्तु श्लोको के अविकाश शब्दो का पुनरावर्तन होने के कारण तथा आदि, अन्त के ग्रहण से मध्यवर्ती का ग्रहण होता है—इस न्याय से रचनाकार ने वण, शब्द और स्पर्श का ग्रहण कर पाच श्लोको के विपय को एक ही श्लोक मे मन्निहित कर दिया।

चूर्णिकार तथा टीकाकार ने इम विपय की कुछ सूचना दी है, किन्तु उन्होने पाचो श्लोको का अर्थ नही किया। निशीथ चूर्णि तथा वृहत्कल्प भाष्य मे आद्यन्त के ग्रहण से मध्य का ग्रहण होता है—इसे समझाने के लिए इस श्लोक को उद्धृत कर पाच श्लोक देते हुए लिखा है '

हे चोदग ! जहा दसवेयालिते आयारपणिहीए भणिय—कण्णसोक्खेहिं मद्देहिं

एत्थ सिलोगे आदिमतग्गहण कय इहरहा उ एव वत्तव्व

१ कण्ण सोक्खेहिं सद्देहिं, पेम्म णाभिणिवेसए।
दारुण कक्कस मद्द, मोएण अहियासए॥

२ चक्खूकतेहिं रूवेहिं, पेम्म णाभिनिवेसए।
दारुण कक्कस रूव, चक्खुणा अहियामए॥

३ घाणकतेहिं गन्धेहिं, पेम्म णाभिणिवेमए।
दारुण कक्कस गध, घाणेण अहियामए॥

४ जीहकतेहिं रमेहिं, पेम्म णाभिणिवेमए।
दारुण कक्कम रस, जीहाए अहियामए॥

५ सुहफासेहिं कतेहिं, पेम्म णाभिणिवेसए।
दारुण कक्कस फास, काएण अहियासए ॥
एव रागदोषा,पचहिं इदियविसएहिं गहिता । आदि अन्तग्गहणेण मज्झिल्ला अठ्ठ विसया गहिता भवति । एव इहवि महत सुत्त मा भवउत्ति आदि अन्तग्गहिता (निशीथ भाष्य चूर्णि, भाग ३, पृ० ४८३)।

लिपिकर्त्ता द्वारा किया गया सक्षेपीकरण

दशवैकालिक सूत्र ५।१।३३,

३४ मे श्लोक इस प्रकार हैं

एव उदओल्ले ससिणिद्धे, ससरक्खेमट्टिया ऊमे।
हरियाले हिंगुलए, मणोसिला अजणेलोणे ॥
गेरुय वण्णिय सेडिय, सोरट्ठिय पिट्ठ कुक्कुस कए य।
उक्कट्ठम ससट्ठे, ससट्ठे चेव बोधव्वे ॥

टीकाकार के अनुसार ये दो श्लोक है। चूर्णि मे इनके स्थान पर सत्रह श्लोक है। टीकाभिमत श्लोको मे एव और बोद्धव्व—ये दो शब्द जो हैं वे इस बात के सूचक है कि ये सग्रह श्लोक हैं। जान पडता है कि पहले ये श्लोक भिन्न-भिन्न थे, फिर बाद मे सक्षेपीकरण की दृष्टि से उनका थोडे मे सग्रहण कर लिया गया। यह कब और किसने किया ? इसकी निश्चित जानकारी हमे नही है। इसके बारे मे इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि यह सक्षेपीकरण चूर्णि और टीका के निर्माण का मध्यवर्ती है और लिपिकारो ने अपनी सुविधा के लिए ऐसा किया है। अगस्त्यसिह की चूर्णि मे वे सत्रह श्लोक इस प्रकार हैं

'उदओल्लेण हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा।
देंतिय पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिस ॥

इसी प्रकार 'ससिणिद्धेण हत्थेण' आदि-आदि पूरे श्लोक वहा उद्धृत हैं।

३ सक्षेपीकरण का एक और उदाहरण मैं आपके समक्ष प्रस्तुत करता हू। यह सक्षेपीकरण बहुत ही विचित्र रूप से हुआ है। इसमे 'जाव', 'एव' आदि सग्राहक शब्द भी नही हैं। अत पाठक सक्षेप को पकड पाने मे

असमर्थ ही रहता है। जब तक सूत्र-पाठो से पौर्वापर्य का ज्ञान नही होता, ऐसे पाठ बहुत भ्रम पैदा कर देते है।

आचाराग सूत्र के आठवें अध्ययन के प्रथम उद्देशक मे एक पाठ है

'जे भिक्खू परक्कमेज्ज वा, चिट्ठेज्ज वा, णिम्मीएज्ज वा, तुयट्ठेज्ज वा, सुसाणम्मि वा, सुन्नागारसि वा, गिरि-गुहम्मि वा, रुक्खमूलसि वा कुम्भारायतणसि वा '

अर्थात् भिक्खू श्मशान, शून्य गृह, गिरि-गुफा, वृक्षमूल, अथवा कुम्भकार-आयतन मे जाए, ठहरे, बैठे, सोए आदि-आदि इस पाठ मे प्रयुक्त 'कुम्भारायतणसि' (स० कुम्भकारायतने) शब्द विमर्शनीय है। श्मशान आदि का उल्लेख करते-करते केवल कुम्भकार-आयतन की बात सहज समझ मे नही आती। यह शब्द श्मशान आदि चार शब्दो से विलग पड जाता है। सम्भव है यहा कुम्भकार-आयतन के साथ-साथ अन्य-अन्य आयतनो का भी उल्लेख रहा हो। यह तथ्य आचाराग चूर्णि की अर्थ-परम्परा से स्पष्ट परिलक्षित होता है। किन्तु टीकाकाल मे वे सारे शब्द छूट जाते है और टीकाकार केवल 'कुम्भारायतणसि' का अर्थ कर छोड देते है। सक्षेपीकरण के कारण पहले यहा 'जाव' शब्द का प्रयोग रहा होगा। किन्तु आगे चलकर वह भी छूट गया और बिना 'जाव' वाली प्रति से टीकाकार ने टीका लिखी होगी। इस भूल के कारण आज उस पाठ मे केवल 'कुम्भारायतणसि वा' रह गया और शेष पाठ छूट गया। शेष पाठ के अभाव मे इस एक शब्द का यहा कोई विशेष अर्थ नही रह जाता।

यात्रा और आगम-सम्पादन कार्य

इस वर्ष का मर्यादा महोत्सव बीदासर मे था। विभिन्न प्रान्तो के हजारो नर-नारी उपस्थित थे। सुदूर दक्षिण प्रान्त के भाई-बहन भी 'दक्षिण' की प्रार्थना लेकर पहुच गए थे। आचार्यश्री ने उनकी प्रार्थना सुनी। दूसरे-दूसरे प्रान्तो के लोगो ने भी दक्षिण-यात्रा के विषय मे समर्थन किया। उस दिन

सारा वातावरण दक्षिण-यात्रामय हो रहा था। सब यही कह रहे थे—'आचार्यश्री ने अपने आचार्य-काल मे अनेक प्रान्तो मे विचरण किया है। केवल दक्षिण भाग ही आचार्यश्री के चरण-स्पश से अछूता रहा है। अवस्था भी वढ रही है। अत दक्षिण-यात्रा जितनी जल्दी हो जाए उतना ही अच्छा है।' दक्षिणवासियो की प्रार्थना के शब्दो के साथ ये शब्द भी मिल गए। प्रार्थना वलवती हुई। आचायश्री ने दक्षिण-यात्रा की घोषणा कर दी। सारा वातावरण प्रफुल्लित हो उठा।

यात्रा के निर्णय के साथ-साथ आचायश्री ने कहा—'यात्रा वहुत लम्वी है। जो साहित्य कार्य हमने प्रारम्भ कर रखा है उसमे शैथिल्य न आए इसका भी हमे ध्यान रखना है। सभी साहित्यिक कार्यो मे 'आगम सम्पादन' का काय प्रधान है। उसे हम सदा प्रधानता देते रहे ह और आगे भी उस कार्य मे तीव्रता आए, यह अपेक्षित है। मैं मानता हू कि एक ओर सुदूर दक्षिण की यात्रा है और दूसरी ओर 'आगम-सम्पादन' का वृहत्तर काय। दोनो की दो दिशाए हैं। यात्रा गति-सापेक्ष है और आगम-सम्पादन कार्य स्थिति-सापेक्ष। किन्तु हमे गति मे स्थिति और स्थिति मे गति को वनाए रखकर चलना है।'

वीदासर से हम जोधपुर की ओर चले। यात्रा मे आगम-सम्वन्धी कौन से कार्य करने हैं, उनका निश्चय हुआ और तदनुसार सारे कार्यकर्त्ता साधु-साध्वी उनमे जुट गए।

प्रात आठ-दस मील का विहार कर आचार्यश्री किसी गाव मे विश्राम लेते। उस समय कुछ प्रवचन कर 'उत्तराध्ययन के समीक्षात्मक अध्ययन' का पुनरावलोकन करते। आहार और विश्राम से शीघ्र ही निवृत्त हो, पाठ सशोधन मे लग जाते। आगम सम्पादन कार्यके प्रधान सम्पादक निकाय सचिव मुनिश्री नथललजी तथा उनके सहयोगी सन्त भी पाठ-सशोधन मे लग जाते। लगभग दो घटो का समय इसमे लगता। इस यात्रा मे राय-प्रश्नीय तथा औपपातिक सूत्रो के निर्धारित पाठ का पुन अवलोकन किया गया। इनका पाठ-निर्धारण कई वर्षो पूव हो चुका था किन्तु उस समय 'जाव' आदि सक्षिप्त स्थलो की पूर्ति नही की गई थी। इस वार सव पूरक अश यथास्थान नियोजित कर दिए गए। वीदासर-चातुर्मास मे भगवती

सूत्र के पाठ-संशोधन का कार्य प्रारम्भ किया था। किन्तु भगवती में अनेक स्थलों में रायप्रश्नीय, औपपातिक, प्रज्ञापना आदि-आदि सूत्रों की 'भोलावण','जाव' आदि के द्वारा दी गई। अत हमने मूल भगवती के पाठ-संशोधन का कार्य स्थगित कर पूरक सूत्रों का पाठ-संशोधन प्रारम्भ किया।

आज के विद्वानों की यह सामान्य धारणा है कि बौद्ध साहित्य जितना विशाल और सरस है उतना जैन साहित्य नहीं है। यह धारणा कुछ दृष्टि से ठीक भी है। आज तक जितने भी मूल-पाठ के संस्करण प्रस्तुत हुए हैं, वे प्रत्येक आगम को पूर्ण रूप से प्रकट नहीं करते। उनमें वही संक्षिप्त शैली अपनायी गई है, जो कई शताब्दियो पूर्व सम्मत थी। इसी संक्षेपीकरण के कारण कई स्थल इतने नीरस और भ्रामक हो गए कि आज उनकी यथार्थ स्थिति को ढूढ निकालना भी कठिन हो गया है। हमने यथासम्भव सभी पाठो को पूरा देने का प्रयत्न किया है। इस प्रणाली से ग्रन्थ का कलेवर अवश्य बढा है, किन्तु उसकी सरसता भी उसी परिमाण से वृद्धिगत हुई है। भगवती का पाठ-संशोधन करते समय हमे अनेक बार यह अनुभव हुआ कि जो स्थल संक्षिप्त होने के कारण नीरस लगते थे, उन्हें जब पूरा कर पढा गया, तब वे बहुत ही सरस लगने लगे।

आचार्यश्री अनेक बार कहते हैं—आगम-सम्पादन के विविध कार्यों में पाठ-निर्धारण का कार्य सबसे महत्त्वपूर्ण है। पाठ-निर्धारण का अर्थ केवल यही नहीं कि प्राचीन प्रतियो के विभिन्न पाठो को शोधकर एक पाठ को मुख्य मान लिया जाए। अभी-अभी निशीथ सूत्र का पाठ-संशोधन हुआ। कई स्थलो पर पाठ का अर्थ सहजगम्य नहीं हो पा रहा था। तब एक दिन आचार्यश्री ने कहा—'हमे निशीथ सूत्रों को भाष्य व चूर्णि के साथ-साथ पढना है।'

वैशाख का महीना। चिलचिलाती धूप मे बारह मील का विहार, गुजरात का प्रदेश। हम प्रात कच्चे रास्ते से चले और लगभग सवा दस बजे मातलपुर पहुचे। विहार बहुत लम्बा था। आचार्यश्री ने निवेदन कि [illegible] ।न साधु-साध्विया हैं। इतना लम्बा विहा[illegible]

[illegible] । से पूर्व आचार्यश्री ने लम्बे विहार का

हू, इस निश्चय की घोषणा भी हो चुकी है। मुझे तो सातलपुर पहुचना ही है। जो असमर्थ है,वे दूसरे रास्ते से सायकाल तक पहुच सकते है। इस कथन से साधुओ ने कुछ सोचा और सभी लम्बे विहार के लिए चल पड़े। एक सत के घुटने मे दर्द उठा, इसलिए वे दस मील वाले गाव मे रुके और उनकी परिचर्या मे दो मुनि और रहे। शेष सभी यथासमय स्थान पर पहुच गए। साधु-साध्विया पानी लेकर दूर तक सामने आ गए थे। आचार्यश्री ने तथा सतो ने पानी पिया। आज सूर्य पीठ के पीछे था और ठण्डी-ठण्डी हवा चल रही थी। अत क्लान्ति कुछ कम हुई। विहार से आते ही आचायप्रवर ने 'शिथिलीकरण' प्रारम्भ कर दिया। साथ वाले श्रावकों ने सोचा, आज आचार्यश्री बहुत थक गए हैं, इसीलिए सो रहे हैं। कुछ विश्राम कर आचाय-प्रवर अपने कार्य मे लग गए। हमने सोचा कि आज आगम-पाठ-सशोधन का कार्य स्थगित रहेगा परन्तु विश्राम कर उठते ही आचार्यश्री ने सन्तो को बुला भेजा और पाठ-सशोधन का कार्य प्रारम्भ कर दिया।

आचार्यश्री ने कहा, 'विहार चाहे कितना ही लम्बा क्यो न हो, आगम-कार्य मे कोई अवरोध नही होना चाहिए। आगम-कार्य करते समय मेरा मानसिक तोष इतना बढ जाता है कि समस्त शारीरिक क्लान्ति मिट जाती है। आगम-कार्य हमारे लिए खुराक है। मेरा अनुमान है कि इस कार्य के परिपार्श्व मे, अनेक-अनेक साहित्यिक प्रवृत्तिया प्रारम्भ होगी जिन से हमारे शासन की बहुत प्रभावना होगी।'

साय के चार बजे थे। आचार्यश्री के पास 'निशीथ' का वाचन प्रारम्भ हुआ। अध्ययनार्थी साधु-साध्वी वाचन मे सम्मिलित हुए। प्रतिदिन लगभग एक घटे तक यह वाचन चलता है और साथ-साथ अनेक तथ्य प्रकाश मे आते जाते हैं। उदाहरण के लिए निशीथ के बीसवें उद्देशक के अनेक सूत्र ऐसे हैं जिनका हार्द मूल से स्पष्ट नही होता। भाष्य-चूर्णि के पढने से इनका हार्द स्पष्ट हुआ और यह बात ध्यान मे आयी कि कही-कही ग्रन्थकार ने अनेक सूत्रो को एक ही सूत्र मे समाहित कर दिया (देखो सूत्र १३, १४)।

आचार्यश्री ने कहा—'निशीथ सूत्र के वाचन का मेरा अभिप्राय यही था कि जो तत्त्व मूल सूत्र से स्पष्ट नही होते वे भाष्य-चूर्णि के वाचन से बहुत स्पष्ट हो जाते है और इससे मूल पाठ के निर्धारण मे सहायता मिलती है।

सूत्र के पाठ-सशोधन का कार्य प्रारम्भ किया था। किन्तु भगवती ने अनेक स्थलो मे रायप्रश्नीय, औपपातिक, प्रज्ञापना आदि-आदि सूत्रो की 'भोलावण','जाव' आदि के द्वारा दी गई। अत हमने मूल भगवती के पाठ-सशोधन का कार्य स्थगित कर पूरक सूत्रो का पाठ-सशोधन प्रारम्भ किया।

आज के विद्वानो की यह सामान्य धारणा है कि बौद्ध साहित्य जितना विशाल और सरस है उतना जैन साहित्य नही है। यह धारणा कुछ दृष्टि से ठीक भी है। आज तक जितने भी मूल-पाठ के सस्करण प्रस्तुत हुए हैं, वे प्रत्येक आगम को पूर्ण रूप से प्रकट नही करते। उनमे वही सक्षिप्त शैली अपनायी गई है, जो कई शताब्दियो पूर्व सम्मत थी। इसी सक्षेपीकरण के कारण कई स्थल इतने नीरस और भ्रामक हो गए कि आज उनकी यथार्थ स्थिति को ढूढ निकालना भी कठिन हो गया है। हमने यथासम्भव सभी पाठो को पूरा देने का प्रयत्न किया है। इस प्रणाली से ग्रन्थ का कलेवर अवश्य बढा है, किन्तु उसकी सरसता भी उसी परिमाण से वृद्धिगत हुई है। भगवती का पाठ-सशोधन करते समय हमे अनेक बार यह अनुभव हुआ कि जो स्थल सक्षिप्त होने के कारण नीरस लगते थे, उन्हे जब पूरा कर पढा गया, तब वे बहुत ही सरस लगने लगे।

आचार्यश्री अनेक बार कहते हैं—आगम-सम्पादन के विविध कार्यो मे पाठ-निर्धारण का कार्य सबसे महत्त्वपूर्ण है। पाठ-निर्धारण का अर्थ केवल यही नही कि प्राचीन प्रतियो के विभिन्न पाठो को शोधकर एक पाठ को मुख्य मान लिया जाए। अभी-अभी निशीथ सूत्र का पाठ-सशोधन हुआ। कई स्थलो पर पाठ का अर्थ सहजगम्य नही हो पा रहा था। तब एक दिन आचार्यश्री ने कहा—'हमे निशीथ सूत्रो को भाष्य व चूर्णि के साथ-साथ पढना है।'

वैशाख का महीना। चिलचिलाती धूप मे बारह मील का विहार, गुजरात का प्रदेश। हम प्रात कच्चे रास्ते से चले और लगभग सवा दस बजे मातलपुर पहुचे। विहार बहुत लम्बा था। आचार्यश्री से निवेदन किया कि साथ मे वृद्ध, बाल, ग्लान साधु-साध्विया हैं। इतना लम्बा विहार उनके लिए अशक्य है। इस प्रार्थना से पूर्व आचार्यश्री ने लम्बे विहार का निर्णय कर लिया था अत सकल्प की भाषा मे कहा—'मैं निश्चय कर चुका

हू, इस निश्चय की घोषणा भी हो चुकी है। मुझे तो सातलपुर पहुचना ही है। जो असमथ हैं,वे दूसरे रास्ते से सायकाल तक पहुच सकते है। इस कथन से साधुओ ने कुछ सोचा और सभी लम्बे विहार के लिए चल पडे। एक सत के घुटने मे दर्द उठा, इसलिए वे दस मील वाले गाव मे रुके और उनकी परिचर्या में दो मुनि और रहे। शेष सभी यथासमय स्थान पर पहुच गए। साधु-साध्विया पानी लेकर दूर तक सामने आ गए थे। आचार्यश्री ने तथा सतो ने पानी पिया। आज सूर्य पीठ के पीछे था और ठण्डी-ठण्डी हवा चल रही थी। अत क्लान्ति कुछ कम हुई। विहार मे आते ही आचार्यप्रवर ने 'शिथिलीकरण' प्रारम्भ कर दिया। साथ वाले श्रावकों ने सोचा, आज आचार्यश्री बहुत थक गए हैं, इसीलिए सो रहे है। कुछ विश्राम कर आचाय-प्रवर अपने कार्य में लग गए। हमने सोचा कि आज आगम-पाठ-सशोधन का कार्य स्थगित रहेगा परन्तु विश्राम कर उठते ही आचार्यश्री ने सन्तो को बुला भेजा और पाठ-सशोधन का कार्य प्रारम्भ कर दिया।

आचार्यश्री ने कहा, 'विहार चाहे कितना ही लम्बा क्यो न हो, आगम-काय मे कोई अवरोध नही होना चाहिए। आगम-काय करते समय मेरा मानसिक तोष इतना बढ जाता है कि समस्त शारीरिक क्लान्ति मिट जाती है। आगम-कार्य हमारे लिए खुराक है। मेरा अनुमान है कि इस कार्य के परिपाश्व मे, अनेक-अनेक साहित्यिक प्रवृत्तिया प्रारम्भ होगी जिन से हमारे शासन की बहुत प्रभावना होगी।'

साय के चार बजे थे। आचार्यश्री के पास 'निशीथ' का वाचन प्रारम्भ हुआ। अध्ययनार्थी साधु-साध्वी वाचन मे सम्मिलित हुए। प्रतिदिन लगभग एक घटे तक यह वाचन चलता है और साथ-साथ अनेक तथ्य प्रकाश मे आते जाते हैं। उदाहरण के लिए निशीथ के बीसवें उद्देशक के अनेक सूत्र ऐसे है जिनका हार्द मूल से स्पष्ट नही होता। भाष्य-चूर्णि के पढने मे इनका हार्द स्पष्ट हुआ और यह बात ध्यान मे आयी कि कही-कही ग्रन्थकार ने अनेक सूत्रो को एक ही सूत्र मे समाहित कर दिया (देखो सूत्र १३, १४)।

आचार्यश्री ने कहा—'निशीथ सूत्र के वाचन का मेरा अभिप्राय यही था कि जो तत्त्व मूल सूत्र से स्पष्ट नही होते वे भाष्य-चूर्णि के वाचन से बहुत स्पष्ट हो जाते है और इससे मूल पाठ के निर्धारण मे सहायता मिलती है।

जो यहा सुनते है, उनके लिए वाचन का अभिप्राय कुछ और हो सकता है, जैसे—ऐतिहासिक तथ्यो का ज्ञान, भाष्य, चूर्णिगत अनेक-अनेक तथ्यो की जानकारी आदि-आदि ।

पाठ-निर्धारण करते समय इस प्रकार की अनेक प्रक्रियाए काम मे ली जाती है ।

प्रतिदिन दोनो समय विहार होते है, परन्तु आगम-कार्य इसी उत्साह व वेग से आगे चलता जाता है । विभिन्न मुनि भिन्न-भिन्न कार्यो मे लगे हुए है और कार्य अपनी गति से चल रहा है ।

यात्रा के दौरान वर्तमान मे निम्न प्रकार कार्य चल रहा है

१ औपपातिक सूत्र का पाठ-निर्धारण ।

२ समवायाग सूत्र के अनुवाद, सस्कृत छाया तथा पाठ का पुन अवलोकन तथा उनके अन्तिम रूप का निर्धारण ।

३ आचाराग सूत्र का शब्दानुक्रम ।

४ 'उत्तराध्ययन एक समीक्षात्मक अध्ययन' का पुन अवलोकन तथा अन्तिम रूप का निर्धारण ।

५ दशवैकालिक तथा उत्तराध्ययन निर्युक्ति का अनुवाद ।

६ नन्दी सूत्र की भूमिका ।

आगम-पाठ-संपादन की ओर

जैन-दर्शन के जर्मन विद्वान् डा० रोथ 'भगवान् मल्लिनाथ' पर थीसिस लिख रहे थे । इसी प्रसग मे कुछेक जिज्ञासाओ को लेकर वे आचार्यश्री तुलसी के पास आए । उन दिनो आचार्यश्री सरदारशहर मे थे । आगम-कार्य चल रहा था । प्रश्नो का क्रम चला । साथ-साथ समाधान भी मिलता गया । उनकी कार्यनिष्ठा और कार्य के प्रति एकाभिमुखता प्रेरणाप्रद थी ।

आचार्यश्री के कुशल निर्देशन मे चल रहे 'आगम-सशोधन' कार्य की उन्हे जानकारी दी गई । उन्होने कार्य देखने की इच्छा व्यक्त की ।

आगम-काय मे जुटे हुए कतिपय साधु एक कमरे मे काय-सलग्न थे। मुनिश्री नथमलजी सभी को यथोचित मार्गदर्शन दे रहे थे। डा० रोथ वहा आए। उन्होने काय को देखकर प्रसन्नता प्रकट की, अनेक सुझाव भी दिए। उनके हाथ मे 'सुत्तागम' की एक प्रति थी। मुनिश्री नथमलजी ने कहा—यह पुस्तक कैसे ले रखी है ? यह तो अशुद्धि-बहुल है।

उन्होने कहा—"मुनिजी ! यह मैं जानता हू कि यह त्रुटियो से भरी पडी है। परन्तु एक ही स्थान मे आगमो का मूल पाठ एकत्र मिलता तो है, अन्यत्र वह भी दुर्लभ है। इसी से सन्तोप मान रखा है।" हमने उनकी भावना को ताडते हुए उनके विचार का समर्थन किया।

आचार्यश्री के मन मे पाठ-सशोधन की भावना प्रज्वलित थी। डा० रोथ के विचारो ने उस भावना को और उभारा। अति व्यस्त रहते हुए भी आचार्यश्री ने दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नन्दी, बृहत्कल्प, निशीथ, अनुयोगद्वार आदि छह सूत्रो का पाठ सशोधित किया। पाठ-सशोधन मे अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडा। जितनी हस्तलिखित प्रतिया थी उतने ही पाठान्तरो को देखकर पाठ-निर्धारण का कार्य दुरुह-सा प्रतीत होने लगा। परन्तु आचायश्री की बहुश्रुतता से पग-पग पर प्रकाश की रेखाए प्रस्फुटित होती दीखी। ज्यो-ज्यो अन्वेपणपूर्ण पाठ-निर्धारण का कार्य सम्पन्न हुआ।

सभी आगमो के पाठ-सशोधन के विचार आते रहे, परन्तु अर्थ-निश्चय और पौर्वापर्य के निश्चिति के बिना पाठ-निर्धारण का काय सुगम प्रतीत नही हुआ। विचार-मथन चलता रहा। दशवैकालिक सूत्र के कार्य-काल मे यह विचार सुदृढ हो गया कि अनुवाद के कुछ पूर्व ही पाठ का निर्धारण किया जाना चाहिए।

राजगृह मे 'जैन सस्कृति समारोह' का विशद आयोजन था। अनेक जैन विद्वान् और जैन-दशन मे रस लेने वाले जैनेतर विद्वान् उपस्थित थे। जैन समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियो की उपस्थिति भी अपर्याप्त नही थी। पूना से एन० वी० वैद्य आए हुए थे। 'आगम-सशोधन' के विचार-विमर्श के लिए विद्वानो की एक गोष्ठी आचायश्री के सान्निध्य मे रखी गई। प्रो० वैद्य ने इसमे पूर्ण रस लिया। उन्होने आचायश्री ने निवेदन किया—

"जैनागमो के कार्य के प्रति जैन लोगो की उपेक्षा को देख मैं हताश हो गया था। इसका मुख्य कारण था साहित्य का अभाव। सत् प्रयत्नो से पूना के कालेज मे जैन-दर्शन का कक्ष खोला गया। अधिकारी व्यक्तियो ने आगम-साहित्य मागा। ज्यो-त्यो मैंने एक-दो पुस्तकें पाठ्यक्रम के लिए दी। परन्तु माग चालू रही। मैंने बहुत प्रयास किया परन्तु उनकी माग पूरी नही कर सका। आपकी कार्यशीलता को देखकर पुन मेरे मन मे आशा की एक लहर दौड गई है। आपके कुशल निर्देशन और अनुपम सगठन से मुझे यह मानने मे कोई हिचकिचाहट नही होती कि यह कार्य आप जैसे मनीषी और चिन्तको द्वारा पूर्ण सम्पन्न होकर रहेगा। यह कार्य आपने उठाया है—यही इस कार्य की सुसम्पन्नता का परिचायक है। आगम-अनुवाद आदि कार्यों से पूर्व मूल-पाठ-निर्धारण का कार्य होना चाहिए—ऐसी मेरी नम्र प्रार्थना है। इस कार्य के लिए मैं अपने आपको प्रस्तुत करता हू और अन्यान्य विद्वानो को भी जुटाने का वादा करता हू। अभी अवकाश-ग्रहण करने मे मेरे नव वर्ष शेष है। यदि इस अवधि से पूर्व मैं अपने विद्यार्थियो को मूल आगम पाठ का सुसम्पादित भाग दे सका तो मैं अपने भाग्य को सराहे बिना नही रहूगा। आपके अभिनव सम्पर्क से मैं विश्वस्त हो गया हू कि यह कार्य शीघ्र हो जाएगा।" प्रोफेसर महोदय की भावनाओ मे उत्साह था, कार्य करने की तन्मयता थी।

वैभार पर्वत के प्राकृतिक सौन्दर्य को देखने आचार्यप्रवर ऊपर गए। 'सप्तपर्णी' गुफाओ के सामने चतुर्विध सघ की उपस्थिति भगवान् महावीर के 'समवसरण' की याद दिला रही थी। सबका दिल उमगो से भरा था। आचार्यश्री ने मधुर वाणी मे देशना दी। सघ-चतुष्टय ने भी अपनी-अपनी भावनाए रखी। आचार्यश्री ने वातावरण मे विशेष चैतन्य उडेलते हुए एक प्रतिज्ञा की कि "आगामी पाच वर्षो मे 'मूल पाठ' का सम्पादन करना है।" प्रतिज्ञा की प्रतिध्वनि मे सारा वैभार गूज उठा।

आचार्यश्री के सामने मुख्यत दो कार्य है—आगम-कार्य और अणुव्रत-प्रचार। एक स्थिति-सापेक्ष है, एक गति-सापेक्ष। एक अल्प व्यक्ति सापेक्ष है, एक समूह सापेक्ष।

आचार्यश्री मे विलक्षणता है। वे दोनो को साथ लिए चलते है। परन्तु

दोनो मे कुछ-कुछ वाधाए आती है। परन्तु आचार्यश्री की सतत् प्रेरणा और सन्तो की कार्य-निष्ठा से पर्याप्त कार्य होता है, फिर भी इस कार्य को गति देने के लिए एक स्थान पर अवस्थिति की अपेक्षा रह जाती है। इन पर सोचा भी जाता है।

कई साधु और श्रावको की इस काय के प्रति रुचि बढी है और वे कार्य करना चाहते है। यह अच्छा है। यदि सभी अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार काय को बाट लेते है तो कार्य सम्पन्न होने मे कोई बाधा नही आती। आगम काय श्रद्धा, सातत्य और दीर्घकालिता सापेक्ष है। इस कार्य से व्यक्ति की महत्त्वाकाक्षाओ की पूर्ति होती है, परन्तु वह कार्यानुषगिक है। केवल महत्त्वाकाक्षाओ के पोषण के लिए जो इस कार्य मे प्रविष्ट होते हैं वे कभी सफल नही हो सकते। आगम के कार्य-काल मे हमने देखा है कि किस प्रकार पाठ और अर्थ की निश्चिति मे आचार्यश्री को चिन्तन और मननशील रहना पडता है। इस कार्य को सहज व सरल समझ बैठना अविचारकता है।

पाठ-निर्धारण की इयत्ता यह है कि—प्राचीनतम प्रतियो से पाठ मिलाया जाए और आगम के पौर्वापर्य की सगति करते हुए किसी एक निश्चय पर पहुचा जाए। तदनन्तर विशेष विमर्श और चिन्तन के द्वारा पाठ का निर्धारण किया जाए। इसका यह मतलब नही कि जो पाठ हमने निश्चित कर लिया वह अन्तिम ही होगा। परन्तु आगे के विद्वानो के लिए भी विचार करने का क्षेत्र सदा खुला रहा है और रहेगा। भविष्य मे तत्सम्बन्धी जो विशिष्ट विचार आएगे उन पर यथासम्भव विचार किया जा सकेगा और अन्यान्य सस्करणो मे उन्हे स्थान दिया जा सकेगा।

प्रचलित जैन सम्प्रदायो में पाठ-विषयक विशेष मतभेद नही है। मत-भेद केवल अर्थ-निश्चय मे है। ऐसी स्थिति मे अन्वेषणपूर्ण प्रस्तुत किए जाने वाले पाठो का सभी सम्प्रदाय वाले स्वागत करेंगे और अपनाएगे, ऐसी आशा है।

आगम-कार्य पर एक दृष्टि

विक्रम स० २०१२ चैत्र शुक्ला १३ को आचार्यश्री तुलसी की देख-रेख मे आगम-अन्वेपण कार्य प्रारम्भ हुआ। यह कार्य ४५ आगमो की सकलना से प्रारम्भ हुआ, और लगभग ३२ आगमो की शब्द-सूची उज्जैन चातुर्मास वि० स० २०१२ के अन्त तक तैयार हो गई। इस कार्य मे अनेक साधु-साध्वी लगे थे। कुछ समय वाद आगम शब्दकोश का कार्य भी चला। छ आगमो का कार्य सम्पन्न हुआ। कार्य चल ही रहा था कि आचार्यश्री की यात्रा का कार्यक्रम वना और कलकत्ता की यात्रा प्रारम्भ हो गई। इसलिए कोश का कार्य स्थगित कर देना पडा। दशवैकालिक सूत्र का कार्य चालू था। वह कलकत्ता के यात्राकाल मे लगभग पूर्ण हो गया। उसके वाद उत्तराध्ययन, स्थानाग, समवायाग और निरयावलिका का कार्य भी क्रमश सम्पन्न हुआ। सूत्रकृताग आदि १८ सूत्रो का पाठ-निर्धारण हुआ और वर्तमान मे रायप्रश्नीय सूत्र का पाठ-सशोधन हो रहा है। यात्रा के कारण समय का अभाव और सामग्री की अल्पता रहती, फिर भी कार्य पूर्णत स्थगित नही हुआ। वह अपनी गति से चलता रहा।

इस कार्यकाल मे कार्य-पद्धति मे सशोधन, परिमार्जन होता रहा। समय-समय पर विद्वानो से विचार-विनिमय भी हुआ और आगमन कार्य की गतिविधि से अनेक विद्वान् परिचित हुए।

अनेक साधु-साध्वी इस कार्य की ओर आकृष्ट हुए। अनेक नवीन उन्मेष आए। साधुओ मे आगम-ज्ञान के विविध स्रोतो को खोज निकालने के लिए साप्ताहिक गोष्ठिया चली। प्रति सप्ताह एक-एक मुनि अपने-अपने निर्धारित विपय पर भाषण करता। प्रश्नोत्तर भी चलते और अन्त मे आगम कार्य के प्रधान निर्देशक मुनिश्री नथमलजी उपमहारात्मक भाषण करते हुए विपय पर विशद प्रकाश डालते। कभी-कभी यह गोष्ठी आचार्यश्री के सान्निध्य मे भी चलती थी।

इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप साधुओ ने एक हस्तलिखित पत्रिका के प्रकाशन की वात सोची और कुछेक साधुओ—मुनि मधुकरजी, मुनि सुखलालजी, मुनि श्रीचन्दजी ने त्रैमासिक शोध-पत्रिका 'एपणा' की रूप-

रेखा आचार्यश्री से निवेदित की। आचार्यश्री ने इस योजना पर प्रसन्नता प्रकट की और उसे स्थायित्व देने पर बल दिया। 'एषणा' का प्रथम अंक आचार्यश्री के धवल-समारोह के प्रथम चरण पर आचार्यश्री को बीदासर मे भेंट किया गया। उसमे आगम सम्बन्धी अनेक शोधपूर्ण लेख थे। आचार्यश्री ने उसका अवलोकन कर उसे विकसित करने तथा उसी प्रवृत्ति को साध्वी समाज मे कार्यान्वित करने की बात कही। 'एषणा' के अनेक अंक निकले। विविध विषयो पर लिखे गए लेखो का एक सुन्दर संकलन सहज ही हो गया। साध्वियो मे आगम तथा उसके व्याख्या ग्रन्थो की परिशीलन की प्रवृत्ति बढी। वृद्धिगत अभिरुचि हमारे आगम-कार्य म सहयोगी रही।

दशवैकालिक सूत्र का प्रकाशन श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता ने प्रारम्भ किया। कुछेक कारणो से वह कार्य अत्यन्त मन्थर गति से चलने लगा। अब दशवैकालिक प्रकाशन-कार्य लगभग पूर्ति पर है।

दशवैकालिक को दो भागो मे विभक्त किया गया है। प्रथम भाग मे दशवैकालिक सर्वेक्षण और मूल आदि है। द्वितीय भाग मे मूल पाठ, अनुवाद और टिप्पणिया है। प्रथम भाग के दशवैकालिक का समग्र दृष्टि से अध्ययन होता है और द्वितीय भाग मे गाथा-क्रम मे। प्रथम भाग मे निर्युक्ति, चूर्णि और वृत्ति के विशिष्ट स्थल हैं और द्वितीय भाग मे विशद टिप्पणिया है। दोनो भाग अपने आप मे स्वतन्त्र होते हुए भी परस्पर सम्बद्ध हैं और परस्पर सम्बद्ध होते हुए भी स्वतन्त्र हैं।

आचार्यश्री की बलवती प्रेरणा का ही यह परिणाम है कि आज अनेक साधु-साध्वी इस कार्य की दिशा मे उत्तरोत्तर प्रगति कर रहे हैं। ऐसा कोई ही दिन बीतता होगा कि जिस दिन आचार्यश्री आगम कार्य को उत्साह से सम्पन्न करने की प्रेरणा न देते हो। मुनिश्री नथमलजी अहर्निश इस कार्य मे मनोयोगपूर्वक लगे हुए है और यही कारण है कि यह गुरुतर कार्य आज कुछ सरल और सहज बन गया है।

आचार्यश्री की अपेक्षा थी कि और-और भी साधु-साध्वी इस कार्य मे जुटते परन्तु प्रचार-क्षेत्र की विस्तीर्णता तथा अन्यान्य कारणो से वैसा

नहीं हुआ। कई विद्वान् गृहस्थ भी इसमें सलग्न रहते, परन्तु यह भी नही हो पाया। परन्तु कई श्रावकों ने इस कार्य मे रुचि ली। इनमें श्री श्रीचन्दजी रामपुरिया, श्री मदनचन्दजी गोठी मुख्य थे। श्रीचन्दजी प्रारम्भ से ही इसमे सलग्न थे। उन्होंने कुछेक व्यावहारिक कठिनाइयों के बावजूद भी इस कार्य की सम्पन्नता मे मनोयोग से कार्य किया है।

आगम कार्य स्थिति-सापेक्ष है—इस तथ्य को नहीं भुलाया जा सकता। परन्तु यात्रा के अन्तराल मे ही इस कार्य की उद्भावना हुई थी और सम्भवत इसीलिए यह यात्राओ मे ही चलना चाहता था। यात्राओं मे जो कार्य चला वह पूर्णत आशातीत था। लम्बे-लम्बे विहार, ग्रीष्म ऋतु की भयंकर गर्मी, सतत चलना आदि-आदि क्रियाओं मे भी आगम कार्य की अखण्ड आराधना मनोयोग और कर्तव्य-निष्ठा की परिचायिका थी। यथेष्ट साधन-सामग्री का अभाव सदा ही बना रहता परन्तु जहा हम एक स्थान मे रहते तब वह अभाव मिट-सा जाता।

कार्य गतिशील रहे यह सभी चाहते हैं किन्तु गतिशीलता के हेतुओं को सभी नहीं समझते और जो समझते हैं वे उनकी कभी-कभी उपेक्षा भी कर बैठते हैं। यही कारण है कि कार्य में कुछ शैथिल्य आया है। अनावश्यक विलम्ब के अनावश्यक हेतु यदि न मिटेंगे तो कार्य आगे नही बढ पाएगा।

इस प्रकार यह कार्य अनेक अपेक्षाओ को लिए चल रहा है। वाचना प्रमुख आचार्यश्री तुलसी का सतत प्रयत्न, प्रधान निर्देशक मुनिश्री नथमल-जी का अविकल योग तथा साधु-साध्वियो का निरीह श्रम निश्चित ही सुन्दर फल ला पाएगा।

आगम-कार्य की दिशा मे

लगभग एक वर्ष पूर्व आचार्यश्री तुलसी ने वैभार गिरि की अधित्यका मे चतुर्विध सघ के समक्ष यह घोषणा की थी कि आगामी पाच वर्षों मे आगम पाठों का स्थिरीकरण करना है। उस समय राजगृह में समागत

जैन विद्वानो ने इस घोषणा का हार्दिक स्वागत किया था। कई विद्वानो से विचार-विमर्श भी हुआ और इस कार्य की प्रारभिक रूपरेखा वनाई गई। आचार्यश्री कलकत्ता पधारे। आठ मास की अविकल व्यस्तता से काय गतिशील नही वन सका। वहा से दो हजार मील की यात्रा कर आचार्यश्री राजनगर पधारे। तेरापथ द्विशताब्दी के महत्त्वपूर्ण कार्यों मे आपको अधिक समय लगाना पडा। पाठ-सशोधन का कार्य गतिमान नही वन सका। द्विशताब्दी महोत्सव के दो चरण सानन्द सम्पन्न हुए। आचार्यश्री की कार्य-व्यस्तता उतनी नही रही। यात्रा भी हल्की हो गई। अत आचार्यश्री ने पुन उस कार्य को गति देने के लिए तीन-चार मुनियो को पाठ-सशोधन के काय मे लगा दिया। मुनि सुमेर 'डोसी', मुनि मागीलाल 'मधुकर' तथा मुनि हीरालाल 'कर्मठ' इस कार्य मे अहर्निश सलग्न रहने लगे। उनके प्राचीन आदर्शों को सामने रख वे टीका चूर्णि आदि से आगम पाठो का मिलान करते और मुनिश्री नथमलजी से विचार-विमर्श कर मूल पाठ और पाठान्तर आदि का निर्धारण कर लेते और अन्तिम निर्णय आचार्यश्री पर छोड दिया जाता। पाठ-निर्धारण का कार्य कुछ सरल-सा प्रतीत होता है, परन्तु वह वैसा नही है। आज जितने भी प्राचीन आदर्श है उनमे प्राय पाठ-भेद मिलता है। इसके कई कारण है—प्राचीन आदर्श लेखको के सामने लिखते समय जो प्रति रही, उसी के अनुसार उन्होंने लिपि कर ली। लिखते-लिखते प्रमादवश या लिपि को पूरा न समझ सकने के कारण अक्षरो का व्यत्यय भी हुआ। कही-कही दृष्टि-दोष के कारण पद्य छूट गए या स्थानान्तर भी हो गए। यह उन लिपिकर्ताओ के विषय मे है, जो केवल लिपिकर्ता ही थे, पाठ के विमर्शक नही।

जो व्यक्ति लिपि करने के साथ-साथ पाठ के पौर्वापर्य पर भी ध्यान नही देते, वे मूलाथ को न समझ सकने के कारण तथा विपरीत समझने के कारण पाठ मे सशोधन कर देते। यह कोई दुर्वुद्धि से नही होता, सहजतया किया जाता, परन्तु इससे पाठो मे अत्यधिक विपर्यय हो गया। उन्होने अपनी विचार-सामग्री को प्रधानता देकर तथा अपने चिन्तन की प्रौढता पर अत्यधिक विश्वास कर नये पद्य अन्दर समाविष्ट किये या मूल पद्यो मे ही परिवतन ला दिया। आज भी ऐसा ही होता है। जहा-जहा सशोधन

होता है वहा वह मशोधित प्रति भी कालान्तर मे नये सशोधको के लिए पाठान्तर की कटीवाली एक प्रति वन जाती है। प्रत्येक विद्वान् अपनी-अपनी माधन-सामग्री से सशोधन करता है। इसका अर्थ यह नही कि वह सवके लिये अन्तिम है। परन्तु हा, उम विशेप सशोधक के लिए उस समय तक वह अन्तिम हो सकती है। नये-नये सशोधक अपनी-अपनी प्रचुर माधन सामग्री से कालान्तर मे उम विपय पर और भी विशेप प्रकाश डाल मके। सशोधन का कार्य नये सशोधको के लिए नये-नये द्वार उपस्थित करता है, नये-नये विराम-स्थल प्रस्तुत करता है, ताकि अन्य सशोधक उस विराम को आधार वनाकर आगे सोच सकें।

प्रत्येक धर्म सम्प्रदाय आदि मे अविभक्त ही होता है परन्तु ज्यो-ज्यो वह विस्तार पाता है, उसकी अविभक्तता नप्ट होती जाती है। वह इसलिए कि विचारो के मतत प्रवहमान प्रवाह मे नये-नये उन्मेप आते है। कई उन्मेप स्थायित्व पा लेते है और कई मिट जाते हैं। जो स्थायित्व पाते है उनको शनै-शनै विश्वास मिलता जाता है और कुछ ही समय के व्यवधान मे वे दृढ वन जाते है। यह नये सम्प्रदाय या नये विचार के प्रादुर्भाव की कहानी है। जैन धर्म सघ भी इसका अपवाद नही है। भगवान् महावीर के समय मे आज की सारी मापेक्षताए थी, विचार थे, नयवाद के आधार पर उनका समाधान भी था, परन्तु सघ अविकल था। न श्वेताम्वर-दिगम्वर का झमेला था और न अन्यान्य शाखा-प्रशाखाओ का। सघ अखण्ड था। सघ मे प्रभावशाली नेतृत्व के अभाव मे पृथक्त्व के वीज वोए, मिथ्याभिनिवेश या व्यक्ति-मोह से विचार-भेद पनपने लगे और धीरे-धीरे सघ की अखण्डता टूट गई। सघ अनेक इकाइयो मे वट गया। इतना होने पर भी आज की श्वेताम्वरीय शाखाओ मे मूल-पाठ-भेद अत्यन्त अल्प है। उनमे मतभेद है तो केवल अर्थ की परम्परा दुरुह होती है, वह मिट नही सकती और यदि मिटती है तो जडता पैदा करती है। हमारा विचार है कि अर्थ-भेद के रहते हुए भी पाठ-भेद की परम्परा को मिटाया जा सकता है। इमी भावना को मूर्त रूप देने के लिए आचार्यश्री ने दो वर्प पूर्व जैन विद्वानो को आह्वान किया था कि वे श्वेताम्वरीय आगम-पाठ-निर्धारण के विपय मे कुछ कार्यक्रम प्रस्तुत करें ताकि

शताब्दियो से चली आ रही पाठ-भेद की परम्परा एक बार समाप्त हो जाय। इस कार्य से जैन आगम की एकरूपता हो सकेगी जिससे कि रिसर्च स्कॉलर उस पर निश्चिन्तता से कार्य कर सकें। एकरूपता से स्थायित्व आता है और स्थायित्व से विश्वास पनपता है।

कार्य गतिमान है। उत्तराध्ययन पाठ-निर्धारण का कार्य चालू है और सभव है वह इसी मास के अन्त तक पूरा हो जाय। पाठ-निर्धारण की जटिलताए कम नही हैं परन्तु यह आगम कार्य का प्रथम और अत्यावश्यक सोपान है। इसकी उपेक्षा कर कोई भी विद्वान् इस क्षेत्र मे कार्य नही कर सकता।

आचार्यश्री की सतत प्रेरणा तथा समय-समय पर मिलनेवाले मार्ग-दर्शन से यह कार्य शीघ्रता से सम्पन्न होगा, इसमे तनिक भी सन्देह नही। मुनियो की नि स्वार्थ सेवा से प्रवचन प्रभावना के साथ-साथ ज्ञानवृद्धि का स्रोत भी खुलेगा, ऐसा दृढ विश्वास है।

पाठ-संशोधन—मौलिक कार्य

आचार्यश्री तुलसी अपने श्वेत सघ के साथ बम्बई मे चातुर्मास और मर्यादा-महोत्सव सम्पन्न कर खानदेश की यात्रा पर चल पड़े। पूना मे अल्पकालीन प्रवास कर नारायण गाव की ओर जाते हुए एक दिन 'मचर' मे ठहरे। विक्रम सम्वत् २०११, फाल्गुन शुक्ला १० का सुहावना दिन था। वहा बौद्धपत्र 'धर्मदूत' को देखकर आचार्यश्री के मन मे आगमो पर कुछ कार्य करने की कल्पना उठी। आपने मुनिश्री नथमलजी को बुलाकर कहा—"जैनागमो के हिन्दी अनुवाद के लिए अनेक व्यक्ति मुझसे कहते रहते हैं। मेरी स्वय की इच्छा भी है। पर एक ओर यात्रा, दूसरी ओर इतना गुरुतर कार्य, यह कैसे बने?" आचार्यश्री के हृदय को स्पर्श करते हुए मुनि श्री नथमलजी ने कहा—"यह कार्य कठिन बात नही है। अगर आचार्यश्री का ध्यान अभी-अभी आगम-शोध का कार्य आरम्भ

करने का हो तो निश्चय हो जाना चाहिए। कार्यकर्त्ता स्वय पैदा होगे। सामग्री अपने आप जुटेगी। आपके सकल्प को फलने मे सन्देह नही है।"

इस आत्म-विश्वास की वाणी को सुनकर आचार्यश्री का सकल्प और वलवान् बना और उसी दिन यह निश्चय कर लिया कि आगम-कार्य को प्रारम्भ करना है।

आज उस कार्य को प्रारम्भ किए लगभग एक युग बीत रहा है। इस लम्बी अवधि मे अनेकानेक नए अनुभव प्राप्त हुए, सैकडो ग्रन्थो का पारायण हुआ और आगम तथा व्याख्या-साहित्य को सूक्ष्मता से समझने का सुअवसर मिला।

हमारे इस शोध-कार्य के प्रमुख है आचार्यश्री तुलसी और प्रधान सम्पादक और निर्देशक है मुनि श्री नथमलजी। इस गुरुतर कार्य को सम्पन्न करने के लिए लगभग बीस साधु-साध्वी जुटे हुए है।

आचार्यश्री इस प्रवृत्ति मे अपना अधिकाश समय लगाने का यत्न करते हैं किन्तु एक प्रगतिशील धर्म-सघ के आचार्य होने के कारण अन्यान्य अनेक प्रवृत्तियो मे उन्हें सलग्न रहना पडता है। तेरापथ एक केन्द्र-शासित सघ है। आचार्य उसके केन्द्र है। अत छोटी से छोटी और बडी से बडी प्रवृत्ति मे उनकी सलग्नता आवश्यक होती है। इसीलिए वे किसी एक ही प्रवृत्ति मे अपना सारा समय नही लगा सकते। किन्तु इतना उत्तरदायित्व होते हुए भी वे आगम-कार्य के लिए निरतर चिन्तनशील और कार्य-तत्पर रहते हैं। कभी-कभी अपनी अन्यान्य प्रवृत्तियो को गौण कर इसको प्रमुखता देते हैं। इसीलिए-कृतज्ञता की भाषा मे मुनिश्री नथमलजी ने लिखा है—"आगम-कार्य की सभी प्रवृत्ति यो मे आचार्यश्री का हमे सक्रिय योग, मार्गदर्शन और प्रोत्साहन प्राप्त है। यही हमारा इस गुरुतर कार्य मे प्रवृत्त होने का शक्ति-बीज है।"

मुनिश्री नथमलजी ने इस शोध-कार्य मे अनेक नए आयाम खोले हैं और अनेक साधु-साध्वियो को इस कार्य की ओर आकृष्ट किया है। उनका समूचा समय इसी को गतिशील बनाए रखने मे व्यतीत होता है और उन्होने अपने परिपार्श्व मे इसके लिए कार्यकर्त्ताओ की एक सुन्दर कडी निर्मित की है।

अभी-अभी एक दिन राजस्थान के प्रमुख कवि श्री कन्हैयालाल सेठिया ने मुनिश्री से प्रार्थना की—"आप इस शोध-कार्य मे अपना जीवन क्यो लगा रहे हैं ? इस कार्य को विद्वानो को सौंपकर आप कुछ मौलिक देन दीजिए। आप-जैसे प्रखर प्रतिभा वालो से सारा ससार लाभान्वित हो सकता है। परन्तु मैं देखता हू कि आप इस कार्य मे इतने व्यस्त रहते हैं कि मौलिक चिन्तन-मनन के लिए समय भी नही मिलता होगा। दूसरी बात है कि व्यक्ति अमुक-अमुक वय तक ही कुछ मौलिक देन दे सकता है। उम्र के ढल जाने पर उसमे मौलिक सूझ-बूझ की कमी हो जाती है। इसीलिए आपको इस कार्य से हटकर विभिन्न विषयो पर अपना मौलिक अनुभव, चिन्तन और मनन प्रस्तुत करना चाहिए।"

मुनिश्री मुसकराए और चुप हो गए।

प्रतिदिन की भाति आज भी आचार्यश्री के समक्ष आचाराग का वाचन चल रहा था। मुनिश्री आचाराग के गूढतम सूत्रो के रहस्यो को खोल रहे थे। बीस-पचीस विद्यार्थी, साधु-साध्विया दत्तचित्त हो उनको सुन रही थी। प्रसग चला। मैंने आचार्यश्री से कहा—"पाठ-सशोधन जैसे काय मे मुनिश्री का इतना समय लगाना कुछ अटपटा-सा लगता है। आजकल मैं देख रहा हू कि मौलिक सृजन के लिए उनके पास अवकाश ही नही रह पाता। ऐसी प्रतिभाए यदाकदा ही आती है और यदि उनका समुचित उपयोग नही होता तो सघ के परिवार को तथा अन्यान्य लोगो को बहुत बडे लाभ से वचित रहना पडता है।" आचार्यश्री ने कहा—"तुम पाठ-सशोधन को मौलिक कार्य नही मानते, यह तुम्हारी भूल है। मैं मानता हू कि शोध-कार्य का सबसे प्रमुख अग है मूल पाठ का निर्धारण। और यह हरेक कर नही सकता। दूसरी बात है कि पाठ-सशोधन के क्रिया-काल मे ये कितने लाभान्वित हुए हैं—उसे इनकी जबानी ही सुनो।" मुनिश्री नथमलजी ने कहा—"पाठ-निर्धारण मे पौर्वापर्य का अनुसन्धान अत्यन्त अपेक्षित होता है और यह तभी सभव है कि एक-एक शब्द पर चिन्तन को केन्द्रित कर उसके हार्द को समझा जाए। इस प्रवृत्ति से विचारो की स्पष्टता, चिन्तन की गूढता और अर्थ-सग्रहण की प्रौढता बढती है। मैं इसे मौलिक अध्ययन मानता हू और मेरा दृढ विश्वास है कि इसके

परिपार्श्व मे जो कुछ लिखा जाएगा, वह मौलिक ही होगा।"

मैं पूर्णत इस बात को नही भी पकड सका, किन्तु इसके पीछे जो सत्य बोल रहा था, उसे समझने का यत्न करता रहा।

अभी-अभी आचार्यश्री ने तेरापथ मे निकाय-व्यवस्था का प्रवर्तन किया। धर्म-सघ की समस्त प्रवृत्तियो को चार भागो मे बाटकर साधु साध्वियो मे चार-चार निकायो की स्थापना की। वे चार निकाय है—प्रबन्ध निकाय, शिक्षा निकाय, साहित्य निकाय और साधना निकाय। प्रत्येक निकाय मे एक-एक व्यवस्थापक और एक-एक व्यवस्थापिका की नियुक्ति की गई और इन सभी निकायो के सुनियोजित सचालन के लिए मुनिश्री नथमलजी 'निकाय सचिव' के रूप मे नियुक्त हुए। यह पद केवल सम्माननीय ही नही है, इसके पीछे एक सुव्यवस्थित कार्य-शृखला है, जो कि व्यक्ति की क्षमताओ की एक कसौटी है।

सामूहिक वाचना की ओर

विचारो का इतिहास जितना पुराना है उतना ही पुराना विचार-भेद का इतिहास है। सभी के विचार एक-से मिलते हो यह कभी नही होता। इसलिए आचार्यप्रवर को कहना पडा कि 'प्रत्येक व्यक्ति अपने आप मे एक सम्प्रदाय है। जितने व्यक्ति हैं उतने ही सम्प्रदाय हैं।'

आचार्यप्रवर ने आगमो की सामूहिक वाचना के लिए जैन समाज का आह्वान किया। फलस्वरूप कुछ प्रतिक्रियाए भी हुई। परन्तु जितनी अपेक्षा थी उसका एक अशमात्र सामने आया।

काल के सुदूर व्यवधान से आगम पाठो की अस्तव्यस्तता सभी विद्वानो को चिन्तित किये हुए है। परन्तु साम्प्रदायिक अभिनिवेश के कारण किसी मे भी यह विश्वास नही रहा कि सामूहिक रूप से भी कुछ किया जा सकता है। इस अविश्वास की वृत्ति ने परस्पर के सम्बन्धो के बीच एक खाई खोद डाली है जिसको पाटना दुष्कर कार्य-सा हो रहा है। सभी

अपने आप मे एक-दूसरे के प्रति सन्देह लिए बैठे है। ऐसी अवस्था मे मिलने-जुलने की बात भी नही उठती। जब तक यह सन्देहशीलता नही मिटती तब तक वाचना की पृष्ठभूमि तैयार नही हो पाती। पृष्ठभूमि के अभाव मे कार्य बनता नही। अत आवश्यकता यह है कि इस वृत्ति को मिटाया जाय और एक-दूसरे को तटस्थता से देखने का प्रयत्न किया जाय।

साध्य एक है, पर साधन अनेक। एक साध्य की बात तो जच जाती है, परन्तु एक साधन की बात नही जच सकती। गन्तव्य एक हो सकता है, परन्तु उस तक पहुचने के साधन भिन्न-भिन्न अवश्य रहेगे। कोई किसी मार्ग को और कोई किसी मार्ग को जाना चाहेगा। यह विभिन्न रुचि की बात ही सहनशीलता को सिद्ध करती है। एक ही साधन को सब अपनाकर चलें, यह कभी सम्भव नही हो सकता।

सभी सम्प्रदायो का साध्य एक है—मुक्ति। उनकी प्राप्ति के साधन भिन्न है। कोई साकारोपासना मे अपने साध्य को देखता है तो कोई निराकार की उपासना मे। कोई तीर्थ-यात्रा से साध्य-सिद्धि मानता है तो कोई घर पर रहकर ही अध्यात्मिकता मे लीन रहकर साध्य के दर्शन करता है। कोई वस्त्र-परिधान से मुक्ति की ओर चल पडता है तो कोई नग्नत्व स्वीकार करता है। सभी ठीक हो सकते है, जहा तक कि ये साधन अध्यात्म से ओत-प्रोत हो। जहा भी या जब भी इनमे विकार आ घुसता है तब विकृति आती है और सारा ढाचा विगड जाता है।

अनेक साधनो वाली बात की पुष्टि करते हुए आचार्य विनोबा ने कहा था—"यह सोचना गलत होगा कि किसी एक ही धर्म से विश्व मे शान्ति स्थापित हो जायेगी। धर्म सभी अच्छे हैं और इसलिए जो जिसका धर्म हो वह उसी पर चले। जरूरत है धार्मिक सहिष्णुता व भ्रातृत्व की।"

साधन अनेक होते हुए भी मनोमालिन्य न हो यह अपेक्षा है। इससे प्रेम बढता है और आपसी प्रेम से विचारो का आदान-प्रदान सुगम हो जाता है। इतना हो जाने पर अपनी-अपनी मान्यताओ की सुरक्षा करते हुए भी एक निणय पर पहुचा जा सकता है।

'सामूहिक वाचना' का यह तात्पर्य नही, कि सभी की मान्यताओ को एक करने का प्रयास किया जाय। परन्तु इसका सही तात्पर्य यह है कि

कम-से-कम मूल आगम के पाठो मे सभी एकमत हो जाय ताकि आगमिक तत्त्वो की अक्षरश सुरक्षा की जा सके और उसकी एकरूपता को लोगो के सामने रखा जा सके। पाठो की विभिन्नता स्वय पाठक को सशय मे डाल देती है। तत्त्व का निरूपण जहा सशय के उच्छेद के लिए होता है वहा वह अकारण ही सशय पैदा करे यह कैसा न्याय!

जिस प्रकार 'वल्लभी वाचना' और 'माथुरी वाचना' का सकलन आचार्य देवर्द्धिगणी ने पक्षपात-रहित दृष्टि से किया था—वही हमारा आधार-स्थल बन सकता है। मूलागमो मे जहा भी पाठान्तर हैं उनका उल्लेख समुचित ढग से हो इसमे किसी को आपत्ति नही हो सकती। परन्तु यदि कोई अपनी परम्परागत मान्यताओ के आधार पर या अभिनिवेश से अपनी ही बात रखना चाहे तो वह क्षम्य नही हो सकता। जहा तक हमारा ध्यान है अग, उपाग आदि मे पाठ को लेकर विशेष मतभेद नही है। मतभेद तो केवल अर्थ करने की परम्परा मे है। ऐसी अवस्था मे पाठो का निर्णय कोई बडी बात नही है। पाठो के ऐक्य से यह भी न समझना चाहिए कि अर्थ करने की स्वतन्त्रता भी न रहेगी। सभी सम्प्रदाय सारे सूत्रो के अर्थ करने मे एकमत हो जाय यह असम्भव है। इस असभावित कार्य को उठाना तो स्वय एक नई समस्या खडी करने जैसा होगा। पाठो में मतभेद पहले नही था ऐसी बात नही है। चूर्णि, टीका आदि व्याख्यात्मक ग्रन्थ इसके साक्षी हैं। उन सबका सकलन कर देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण एक निर्णय पर पहुचे—यह उनकी विशेषता का द्योतक है। तत्पश्चात् धीरे-धीरे विभिन्न कारणो से पाठो में अन्तर आया और आज वह अन्तर बहुत दूर तक पहुच चुका है। यदि आज भी इस ओर प्रयास नही किया जायेगा तो धीरे-धीरे निर्युक्ति आदि आगमेतर ग्रन्थ भी उसमें समाविष्ट होकर मूलागम के शरीर को विकृत कर देंगे। ऐसा हो जाने पर जैन शासन की अवहेलना होगी। और इसके हम ही उत्तरदायी ठहराये जायेंगे!

अत आवश्यकता है कि सभी सम्प्रदायो के आचार्य इस ओर विशेष ध्यान दें और निरपेक्ष दृष्टि से शासन प्रभावना के लिए इस क्षेत्र में कुछ कार्य करने को सोचें। सर्वप्रथम ग्यारह अग, बारह उपाग, मूल और छेद

आदि-आदि आगम ग्रन्थो के पाठो का सशोधन और स्थिरीकरण कर लेने पर परस्पर सौहार्द का मार्ग प्रशस्त हो जायेगा और आगे भी सोचने-समझने का द्वार खुला रह सकेगा।

यह 'सामूहिक वाचना' कब, कैसे और कहा हो—यह स्वय अधिकारीगण सोचें और शीघ्र ही किसी एक निर्णय पर पहुचकर कार्य को गतिमान करें। साधनो की इस प्रचुरता के युग में यदि यह नही हो पायेगा तो अगली पीढी हमारी बुद्धि पर हँसेगी और खिल्लिया उडायेगी।

अभी-अभी एक भाई ने उस आह्वान का स्वागत करते हुए लिखा था कि—"यह सामयिक आवश्यकता अवश्य है—परन्तु आचार्य तुलसी के आह्वान पर भी लोग विश्वास नही करेंगे, क्योकि स्वय आचार्य भी एक सम्प्रदाय के घेरे में है।" उनका कहना कुछ हद तक ठीक है, परन्तु सिर्फ बद्धमूल मान्यताओ के आधार पर जीवन भर अविश्वास रखते ही जाना स्वय अपने दुरभिनिवेश का प्रदर्शन मात्र है। प्रत्यक्षीकरण और वर्तमान में उनके अनुशासन में चल रहे आगम-कार्य के अवलोकन से मेरा विश्वास है कि अविश्वास की दीवारें ढह पडेंगी।

आचार्यप्रवर ने कितनी वार कहा था कि—"आगम कार्य जिन-शासन का कार्य है। इसमें पूर्ण प्रामाणिकता और सच्चाई रहनी चाहिए। पूर्वाभिनिवेश, सम्प्रदाय का मोह या परम्परा का आग्रह कभी भी न आये।" ये शब्द आज भी आगमो के क्षेत्र में काम करनेवालो का पथ-प्रशस्त करते हैं। "Works speak louder them voice"—स्वय कार्य ही इसका प्रमाण हो सकेगा—कथन मात्र से नही। दशवैकालिक का कार्य जब जनता के समक्ष आ जायेगा तब कई भ्रान्तिया स्वय नष्ट हो जायेंगी। 'वाचना' की विस्तृत रूपरेखा हम अपनी ओर से शीघ्र ही तैयार करनेवाले है। अन्य जैन अधिकारी विद्वान् भी यदि इस विषय मे कुछ कर सकेंगे तो सोचने-समझने का अवसर मिलेगा।

आगम-कार्य और विद्वानो से परामर्श

यह 'प्रवचन-काल' की वात है। ग्रन्थ-प्रणयन मे पूर्व अध्ययन-अध्यापन का कार्य मौखिक होता था। गुरु अपने शिष्यो को मौखिक प्रवचन करते और शिष्य उन्हे सुनकर अपनी स्मृति मे अकित कर लेते। स्मृति की विशेषता थी कि जो जितना स्मृति मे रख सकता वह उतना ही विद्वान् व ज्ञानी समझा जाता।

भगवान् महावीर ने जो कुछ कहा गणधरो ने उसे ग्रहण किया और अपने उत्तरवर्ती शिष्यो को उसकी वाचना दी। यह गुरु-परम्परा अक्षुण्ण रूप से चलती रही। आप्त वचन होने के कारण जैन-वाङ्मय 'आगम' कहलाया। केवली, अवधि-ज्ञानी, मन पर्यवज्ञानी चतुर्दशपूर्वधर और दश-पूर्वधर की रचना को आगम कहा गया है। इनके द्वारा रचित आगम स्वत-प्रमाण हैं। साथ-साथ नव पूर्वधर की रचना को भी आगम कहा गया— इसकी सगति यो है कि उपर्युक्त पाच आगम रचने के अधिकारी हैं और नव-पूर्वधर आगम की रचना के अधिकारी नही, परन्तु प्रायश्चित आदि के उत्सर्ग-अपवाद नियमों की रचना मे स्वतन्त्र हैं। आगम का दूसरा नाम 'श्रुत' भी है। यह शब्द स्वय 'प्रवचन-काल' की ओर स्पष्ट सकेत है। चार दुर्लभ वस्तुओ में दूसरी वस्तु 'श्रुति' है। यह भी उसी की परिचायिका है।

कालचक्र घूमा। भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ। स्मृति कम होने लगी। जैनाचार्यो ने महावीर वाणी को सकलित करना चाहा। इसलिए तीन सगीतिया हुईं।

सर्वप्रथम पाटलिपुत्र मे वीर-निर्वाण के १६० वर्ष वाद एक परिषद् बुलाई गई। उस समय भद्रवाहु ही दृष्टिवाद के ज्ञाता रह गये थे। दुर्भिक्ष के कारण सघ छिन्न-भिन्न हो गया था। एकत्रित न हो सका। अत वह असफल रहा।

दूसरी वार वीर-निर्वाण के ८२७ और ८४० के वीच आचार्य स्कदिल की अध्यक्षता में सारा सघ एकत्रित हुआ। जितना स्मृति मे था उसको लिपिवद्ध किया गया। साथ-साथ वलभी मे आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व मे भी यह कार्य हुआ।

तीसरी वार वीर निर्वाण के ६८० वर्ष वाद आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की अध्यक्षता मे एक वैठक हुई। उन्होंने उपर्युक्त दोनो वाचनाओ मे सकलित पूर्वों का समन्वय कर पुस्तकारूढ किया।

तत्पश्चात् कोई भी सामूहिक वाचना नही हुई। लिपि-भेद या अन्यान्य कारणो से मूलागमो मे निर्युक्ति, भाष्य आदि का मिश्रण हुआ। व्याख्याओ मे अन्तर पडा, दूसरे दर्शनो के भावो का समावेश हुआ। अन्यान्य दर्शनो से लोहा लेने के लिए नाना प्रकार की रचनाए वनी, व्याख्याए हुई। इनका असर आगम की आत्मा पर पडा। परम्परा मे भेद आया। इतना होते हुए भी जैनाचार्यो ने उसकी सुरक्षा के लिए भरसक प्रयत्न किया। उपनिषदो की तरह आगमो मे क्षेपक की वहुलता को रोका। फिर भी यत्र-तत्र कुछ त्रुटिया आयी, परन्तु गत एक हजार वर्ष मे किसी भी आचार्य ने आगम पाठो के स्थिरीकरण के लिए सामूहिक प्रयास किया ही नही।

कुछ वर्ष पूर्व आचार्यश्री तुलसी ने यह काम अपने हाथ मे लिया और निरन्तर उसकी प्रगति मे चिन्तनशील वने। उनके पास उचित सामग्री है। कार्य दिनोदिन प्रगति पर है। सुसम्पन्न आचार्य द्वारा 'आगम-अन्वेषण काय' का आरम्भ सुनकर जैन विद्वानो को हर्ष हुआ और वे कार्य की गतिविधि को जानने के लिए प्रयत्नशील हुए।

कुछ दिन पूर्व वैशाली विश्वविद्यालय के असिस्टेण्ट डाइरेक्टर डा० नथमल टाटिया और दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रोफेसर श्री इन्द्रचन्द्र शास्त्री, वेदान्ताचार्य आगम कार्य को देखने के लिए कानपुर आये। त्रिदिवसीय प्रवास मे उनसे अनेक विपयो पर वातचीत हुई। दोनो जैन-दर्शन के मजे हुए विद्वान् है और जैन परम्पराओ व दार्शनिक तत्त्वो का अच्छा ज्ञान रखते हैं। आचार्यश्री ने आगम काय की गतिविधि से उन्हे अवगत कराया और सम्पन्न-प्राय दशवैकालिक सूत्र का कार्य उनके सामने रखा। उन्हें यह जानकर अत्यधिक प्रसन्नता हुई कि आगमिक शब्दो का अर्थ अन्यान्य दूसरे 'आगमो' के आधार पर ही हो ऐसा प्रयास किया जाता है और उसमे काफी सफलता भी मिली है। इससे एक तो शब्द की आत्मा सही रूप से पकडी जाती है और दूसरे अन्य आगमो का पारायण भी सहजतया हो जाता है। डा० नथमलजी ने कहा—'मैं अपने विद्यालय मे भी इसी

माध्यम से विद्यार्थियो को पढाता हू और इससे अर्थ करने मे सुगमता होती है। उन्हे एक-एक शब्द, जिसकी अथ से इति तक छानवीन होती है, की जानकारी दी गई। उन्हे वहुत आश्चर्य हुआ। अपने अल्पकालीन प्रवास मे उन्होने कई वार कहा—'आचार्यजी! हम यह नही जानते थे कि यह आगम-कार्य इतनी दृढता और निष्ठा से हो रहा है। हमने यह मान लिया था कि जिस प्रकार अन्यान्य स्थानो मे कार्य होता है उसी प्रकार यहा भी होता होगा। मेरी ही नही, परन्तु मेरे साथियो की भी यही धारणा थी, परन्तु कार्य के साक्षात्कार से हमे यह मानना पडता है कि कार्य पूर्ण परिश्रम व प्रामाणिकता से हो रहा है। यदि मुझे यह पहले मालूम पडता तो मैं कभी का आपके पास आ जाता और इस कार्य मे हाथ वटाता। आपका यह कार्य जव लोगो के समक्ष आएगा तव नि मन्देह मैं कह सकता हू कि उनकी कई वद्धमूल धारणाए नष्ट हो जाएगी। आज तक कही इस प्रकार का परिश्रम हुआ हो, मैं नही जानता। आप इस दशवैकालिक को शीघ्र पूरा कर दें, जिससे आगामी वर्ष हम अपने विद्यापीठ मे इसको पाठ्यक्रम मे रख सकें। इस एक सूत्र का सागोपाग कार्य विद्यार्थी अन्वेषको को एक नई दिशा देगा और अन्य आगमो के लिए आधारस्थल वनेगा।' इसी प्रकार और भी वहुत-सी चर्चाए हुई। मुनिश्री नथमलजी ने उन्हें कई शब्दो की टिप्पणी सुनाई। जैसे-जैसे कार्य की जानकारी वढती वैसे-वैसे वे आनन्दविभोर हो उठते। उन्होने कई वहुमूल्य सुझाव भी दिये और कहा कि—इस कार्य को सभी दृष्टियो से पूर्ण करने के लिए आपको वौद्ध-साहित्य का सागोपाग पारायण करना चाहिए, अन्यथा यह कभी विद्वानो को अखरे विना नही रहेगी।'

मुनिश्री नथमलजी के द्वारा यह कहे जाने पर कि हरेक साहित्य की उपलब्धि हमारे लिए सहज नही होती, डा० नथमलजी ने कहा—'आप वैशाली पधारिये। वहा वौद्ध व जैन साहित्य का अच्छा सकलन है। वहा आने से आपका अपना कार्य तो सुलभ होगा ही, साथ-साथ हमे भी वहुत कुछ सीखने को मिलेगा।' उन्हे मुनिश्री द्वारा रचित जैन-दृष्टि की हस्तलिखित प्रति दिखाई। स्याद्वाद, नय-निक्षेप के प्रकरण उन्हे वहुत रुचे। उन्होने कहा—'जैन दर्शन पर अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं, परन्तु सतोषप्रद

एक भी नही है। शायद आपकी यह पुस्तक उस कमी को दूर कर सके।' समयाभाव के कारण वे उसे पूरी नही पढ सके थे। किन्तु दूसरी बार यहा आने पर जैन-दृष्टि को आद्यन्त पढ जाने की जिज्ञासा व्यक्त की और उसके सम्पादन का भार भी लेना चाहा।

डा० नथमलजी श्रद्धालु व्यक्ति है। बोलते कम है परन्तु कार्यक्षमता अपूर्व है।

डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री आचार्यश्री के सम्पर्क मे कई बार आ चुके थे। वे भी मजे हुए विद्वान् है और उन्होने स्थानकवासी आचार्य जवाहरलालजी के साहित्य का सम्पादन किया है। उन्हे आगम-कार्य दिखाया गया। प्रारम्भ मे उनमे कुछ अरुचि-सी देखी। इसका कारण सम्भवत उनकी प्राचीन बद्धमूल धारणाए और परम्परागत विचार थे। परन्तु ज्यो-ज्यो उनकी जानकारी बढी, उन्हे यह विश्वास हुआ कि यदि जैन समाज मे कुछ प्रामाणिकता व निष्ठापूर्वक कार्य करने की क्षमता है तो वह केवल आचार्य तुलसी और उनके शिष्य-समुदाय मे है। मुनियो के श्रम, आचार्यवर की सूक्ष्म मेधा और कुशल अनुशासन और मुनिश्री नथमलजी की सर्वाङ्गपूर्ण विद्वत्ता से वे आकृष्ट हुए बिना नही रहे। उनकी जिज्ञासा आगे बढी। उन्होने भी इस कार्य मे हाथ बटाने के लिए अपने आपको प्रस्तुत किया।

कुछ ही दिनो बाद जैन-दर्शन के विद्वान श्री दलसुख मालवणिया भी कानपुर आए। वे डा० हीरालाल और श्री ए० एन० उपाध्याय के साथ यहा आना चाहते थे। परन्तु कार्यवश वे दोनो विद्वान् यहा नही आ सके। डा० नथमलजी टाटिया ने अपने अल्पकालीन कानपुर-प्रवास के सस्मरण पत्रो द्वारा उन्हे अवगत किये थे। उसकी प्रेरणा से और स्वयभूत जिज्ञासा से दलसुखभाई अपने दूसरे कार्यो को गौण कर आचार्यप्रवर के पास आए।

प्रात काल का समय था। बादल उमड-घुमडकर आ रहे थे। बूदा-बादी हो रही थी। बन्दन कर वे आचार्यप्रवर के पास बैठ गए। औपचारिक वार्तालाप के पश्चात् उन्होंने आगम कार्य देखने की जिज्ञासा व्यक्त की। आचार्यप्रवर प्रवचन देने पधार गए। मुनिश्री नथमलजी ने उन्हे आगम

कार्य की जानकारी दी। बीच-बीच मे मुनिश्री अपनी जिज्ञासाए भी रखते। दलसुखभाई अपने ढग से उनका समाधान करते। दलसुखभाई ने भी आगम सम्बन्धी अनेक जिज्ञासाए व्यक्त की और कहा—'मैंने पुण्यविजयजी मे भी इन जिज्ञासाओ का समाधान चाहा। उन्होंने सुन्दर समाधान दिया पर मेरी जिज्ञासा बनी ही रही। आप अपनी ओर से इनका क्या समाधान देते है?'' मुनिश्री नथमलजी ने प्रधानत श्री मज्जयाचार्य को सामने रखकर उन्ही के ग्रन्थो के आधार पर उन्हे समाधान दिया। 'भगवतीजोड' जो कि श्रीमज्जयाचार्य की अद्वितीय कृति है, के कई स्थल उन्हे सुनाए और कहा—'हमने आगमिक टीकाओ का सूक्ष्म निरीक्षण किया है। परन्तु श्री मज्जयाचार्य जैसा प्रशस्त टीकाकार हमे दूसरा नही दीखा। श्रीमज्जाचार्य मे तत्त्व की गहराई मे जाने की जो सूक्ष्म मेधा थी वह अन्य टीकाकारो मे नही पायी जाती—यह हम दावे के साथ कह सकते है। आगम सम्बन्धी उनके निर्णय आज भी जैन-जगत् के प्रकाश-स्तम्भ माने जाने योग्य हैं। परन्तु यह हमारी त्रुटि ही समझिये कि हमने उनका वास्तविक रूप लोगो के सामने रखने का इतना प्रयास नही किया जितना करना चाहिए था।' दलसुखभाई ने श्रीमज्जयाचार्य के ग्रन्थ देखे, पढे और कुछ चिन्तन के बाद कहा—'पता चलता है कि आपके सम्प्रदाय मे आगमो की पुष्ट परम्परा रही है। श्री मज्जयाचार्य ने आगम विषयक जो कार्य किया है वह सभी जैन सम्प्रदाय को मान्य हो सकता है। आवश्यकता है उनकी कृतियो को प्रकाश मे लाया जाय।'

आगे उन्होने कहा—'आजकल स्थिति ऐसी बन रही है कि कई जैन श्रमण परिश्रम तो करना नही चाहते, परन्तु अपना नाम उस कृति मे अकित देखना चाहते हैं, चाहे वह किसी के द्वारा सम्पन्न हुई हो। यह मनोभावना खटकती है। परन्तु आपका कार्य देखकर तो मुझे परम हर्ष होता है। यदि इसी निष्ठा से आपने सम्पूर्ण आगम साहित्य का पारायण किया तो वह दिन भी दूर नही जब कि जैन-जगत् ही नही, सारा ससार जैन वाङ्मय को पूर्ण रुचि से पढेगा और अन्य जैनेतर विद्वान् भी इस दिशा मे कार्य करने के लिए प्रोत्साहित होगे। आज भी जैनेतर विद्वान् चाहते हैं कि प्राकृत वाङ्मय सामने आए और उसके आधार पर प्राचीन भारत

की गौरवास्पद स्थिति का दिग्दर्शन हो। यदि हम जैन लोग उनकी रुचि व उत्साह के प्रदीप को प्रज्वलित रखने मे सफल हो सकें तो बहुत कुछ सम्भावनाए है। और यदि हम अपनी अकर्मण्यता से उनके सामने कोई उपयुक्त सामग्री उपस्थित नही कर सकेंगे तो उनका उत्साह टूट जायेगा— इसकी सारी जिम्मेदारी हमारे पर है। आपका यह कार्य उनके लिए बहुत लाभप्रद होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।'

आगमो के व्याख्यात्मक ग्रन्थ

भारतीय सस्कृति जैनागम साहित्य की सतत-प्रवाही पयस्विनी मे स्नात है। भारत की इस वसुन्धरा पर अनेक फूल खिले। अपने-अपने सौरभ से सभी ने इसकी सस्कृति को सुरभित किया। मात्रा का तारतम्य इतिहासज्ञो से अज्ञात नही है। जैनेतर-धर्म-चिन्तको के व्यावहारिक पक्ष की छाप जैन समाज पर पडी जो आज भी किसी न किसी रूप मे अवस्थित है। इसी प्रकार जैन ऋषियो के आत्मपरक चिन्तन का प्रभाव अन्यान्य दर्शनो पर पडा।

जैन-धर्म-ग्रन्थो की सज्ञा 'आगम' है। वे जन-भाषा प्राकृत मे लिखे गये हैं। उन पर अनेक व्याख्यात्मक ग्रन्थो का निर्माण हुआ है। मुख्यत उनके चार विभाग हैं

१ निर्युक्ति	३ चूर्णि
२ भाष्य	४ टीका

उत्तरवर्ती काल मे वार्तिक और टब्बे आदि व्याख्यात्मक ग्रन्थो का प्रणयन हुआ।

निर्युक्ति (निज्जुत्ति)

सूत्र[1] और अर्थ मे निश्चित सम्बन्ध बतलानेवाली व्याख्या को

---

१ सूत्रार्थयों परस्पर निर्योजन सम्बन्धन निर्युक्ति

—आव० नि० गा० ८३

निर्युक्ति कहते हैं अथवा निश्चय[1] से अर्थ का प्रतिपादन करनेवाली युक्ति को निर्युक्ति कहते हैं। आगम के व्याख्यात्मक ग्रन्थो मे यह सबसे प्राचीन है। ये प्राकृत भाषा की पद्यमय रचनाए हैं। कही-कही निर्युक्ति को समझने के लिये भाष्य आदि की परम आवश्यकता होती है। क्योकि व्याख्यात्मक ग्रन्थ होते हुए भी ये कही-कही बहुत ही सक्षेप मे लिखी गई हैं। इनमे तत्कालीन विभिन्न दर्शनो के मतमतान्तर की परम्पराओ का इतिहास तथा अनेक ऐतिहासिक तथ्यो का सकलन हुआ है।

ओघ निर्युक्ति मे साधु-जीवन की दिनचर्या का अथ से इति तक बहुत ही रोचक व हृदयस्पर्शी विवेचन मिलता है।

जर्मन[2] विद्वान् खारपेन्टियर ने निर्युक्ति की परिभाषा करते हुए लिखा है—"निर्युक्तिया, अपने प्रधान भाग से, केवल इडेक्स का काम करती हैं। वे सभी विस्तृत घटनावलियो का सक्षेप मे उल्लेख करती है।"

अनुयोगद्वार सूत्र मे निर्युक्तियो के तीन भेद किये गए हैं (१) निक्षेप-निर्युक्ति, (२) उपोद्घात-निर्युक्ति (३) सूत्रस्पर्शिक-निर्युक्ति। ये भेद विषय की व्याख्या के आधार पर किये गये है।

डा० घाट्गे[3] ने निर्युक्तियो के तीन विभाग किये हैं

१ मूल निर्युक्तिया—जिनमे काल के व्यवधान से कोई भी मिश्रण न हुआ हो, जैसे आचाराग और सूत्रकृताग की निर्युक्तिया।

२ जिनमे मूल भाष्यो का सम्मिश्रण हो गया है। फिर भी वे व्यवच्छेद्य है, जैसे—दशवैकालिक और आवश्यक सूत्र की निर्युक्तिया।

३ वे निर्युक्तिया जिनको आज 'भाष्य' या बृहद् भाष्य कहते हैं, जिनमे मूल और भाष्य मे इतना सम्मिश्रण हो चुका है कि हम दोनो को अलग-अलग नही कर सकते, जैसे—निशीथ आदि पर निर्युक्तिया। उपर्युक्त विभाव निर्युक्ति के प्राप्त रूप के आधार पर किया गया है। इनके काल-निर्णय मे सभी विद्वान् एकमत नही है। पर इतना तो अवश्य

---

१ निश्चयेन अर्थप्रतिपादिका युक्तिर्निर्युक्ति —आचा० १।२।१

२ उत्तराध्ययन की भूमिका, पृ० ५०-५१

३ Indian Historical Quarterly, vol 12, p 270

कहा जा सकता है कि वीर-निर्वाण की आठवी-नवी सदी के पूर्व इनका निर्माण हुआ था।

डा० ए० वी० देव[1] इस निर्णय पर पहुचते हैं कि निर्युक्तिया निश्चय से ही छेद सूत्रो के बाद की कृतिया हैं।

वर्तमान मे विभिन्न आगम ग्रन्थो पर दस निर्युक्तिया उपलब्ध है।

कई विद्वानो का मत है कि सभी निर्युक्तिया प्रथम भद्रबाहु—जिनका समय वीर-निर्माण की दूसरी शताब्दी है—की कृतिया है। परन्तु यह तथ्य कसौटी पर खरा नही उतरता। इसका कारण यह है कि कई निर्युक्तियो मे ऐसे व्यक्तियो का उल्लेख है जो निश्चय ही भद्रबाहु के बाद के है। उदाहरणस्वरूप उत्तराध्ययन निर्युक्ति मे स्थूलिभद्र का और आवश्यक निर्युक्ति मे वज्र स्वामी और आर्यरक्षित का उल्लेख हुआ है। यदि हम सभी निर्युक्तियो को काल मान प्रथम भद्रबाहु (वीर-निर्वाण की दूसरी शताब्दी)पर निर्धारित करते हैं तो उक्त तथ्य का खण्डन स्वय अपने तर्कों से हो जाता है।

ओघनिर्युक्ति और पिण्डनिर्युक्ति की समीक्षा से कुछ तथ्य सामने आ सकते है।

मुनि पुण्यविजयजी इस निर्णय पर पहुचते है कि छेद सूत्रकार आचार्य भद्रबाहु और निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु एक नही हैं।

डा० घाट्गे के अनुसार 'ओघ-निर्युक्ति' और 'पिण्ड-निर्युक्ति' क्रमश दशवैकालिक निर्युक्ति और आवश्यक निर्युक्ति की उपशाखाए है। परन्तु यह विचार प्रशस्त टीकाकार आचार्य मलयगिरि के विचार से नही मिलता। उनके अनुसार 'पिण्ड-निर्युक्ति' दशवैकालिक निर्युक्ति का ही एक अश है, ऐसा पिण्ड-निर्युक्ति की टीका मे स्पष्ट उल्लेख मिलता है। आचार्य मलयगिरि दशवैकालिक निर्युक्ति को चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु की कृति मानते हैं। और पिंडेषण नामक पाचवें अध्ययन पर बहु विस्तृत निर्युक्ति हो जाने के कारण उसको अलग रखकर स्वतन्त्र शास्त्र

१ History of Jain Monachism, p 32

के रूप मे 'पिण्ड-निर्युक्ति' नाम दिया गया है ऐसा मानते हैं।[1] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'पिण्ड-निर्युक्ति' दशवैकालिक निर्युक्ति का ही एक विस्तृत अश है। स्वय आचार्य मलयगिरि इसको सिद्ध करते हुए कहते है—'पिण्ड निर्युक्ति दशवैकालिक निर्युक्ति के अन्तर्गत होने के कारण ही इस ग्रन्थ के आदि मे 'नमस्कार' नही किया गया है, और दशवैकालिक निर्युक्ति के मूल के आदि मे निर्युक्तिकार नमस्कारपूर्वक ग्रन्थ को प्रारम्भ करते है।

परन्तु टीकाकार का यह तर्क भी सुदृढ हो ऐसा नही लगता। सर्वप्रथम तो 'दशवैकालिक निर्युक्ति' के रचयिता प्रथम भद्रवाहु स्वामी ही हैं, ऐसा साधारणत नही कहा जा सकता।

प्रचलित मान्यता के अनुसार दस निर्युक्तियो के कर्ता एक ही माने जाते रहे है। मतभेद इतना ही है कि निर्युक्तिकार प्रथम भद्रबाहु थे या द्वितीय भद्रवाहु। सभी निर्युक्तियो के पारायण से तो वे द्वितीय भद्रवाहु की ठहरती है। आवश्यक निर्युक्तिकार स्वय कहते है कि 'मैं निम्नोक्त दस[2] निर्युक्तियो का कथन करूगा'—

(१) आवश्यक निर्युक्ति, (२) दशवैकालिक निर्युक्ति, (३) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, (४) आचाराग निर्युक्ति, (५) सूत्रकृताग निर्युक्ति, (६) दशश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति (७) कल्प निर्युक्ति (८) व्यवहार निर्युक्ति, (९) सूर्यप्रज्ञप्ति निर्युक्ति, (१०) ऋषिभाषित निर्युक्ति।

यह प्रमाण इन दस निर्युक्तियो की एक कर्तृक मान्यता को प्रमाणित

---

१ दशवैकालिकस्यच निर्युक्ति श्चतुर्दशपूर्वं विदा भद्रवाहुस्वामिना कृता, तत्र पिण्डैपणाभिधापञ्चमाध्ययननियु क्तिरति-प्रभूतगन्थत्वात् पृथक् शास्त्रान्तरमिव व्यवस्थापिता तस्याश्च पिण्डनिर्युक्ति रिति नामकृत अतएव चादावत्र नमस्कारोऽपि न कृतोदशवैकालिकनियु क्त्य तरगतत्वेन शेपा तु निर्युक्तिदशवैकालिक निर्युक्तिरिति स्थापिता।

२ आवस्सयस्य दसकालियस्स तह उत्तरज्झ मायारे। सूयगडे निज्जुत्ति वोच्छामि तहा दसाणच॥ कप्पस्स य निज्जुत्ति ववहारस्सेवपरमनिउणस्स। सूरिअपण्णत्तीए वोच्छ इसिभासियाण च। एएसिं निज्जुत्ति वोच्छामि अह जिणोवएसेण—(आवश्यक निर्युक्ति गाथा ८४।८५।८६।

करने के लिए उपयुक्त है। शेप यह रह जाता है कि यदि हम प्रथम भद्रबाहु को इन सबके रचयिता मानते है तो बहुत-सा विसवाद आता है। कारण कि आवश्यक निर्युक्ति मे ऐसी घटनाओ और व्यक्तियो का उल्लेख हुआ है जिनका समय महावीर से लगाकर वीर-निर्वाण के ६०६ वर्ष पश्चात् तक उन्होने स्वय बतलाया है। दूसरी बात यह है कि आवश्यक निर्युक्ति मे स्वय निर्युक्तिकार 'वज्र-स्वामी' को वन्दन करते हैं। काल-क्रम के अनुसार प्रथम भद्रबाहु वीर-निर्वाण की दूसरी शताब्दी मे और 'वज्र-स्वामी' छठी शताब्दी मे हुए थे, इसलिए स्वय विरोध आता है।

दूसरा तर्क आचार्य मलयगिरि ने उपस्थित किया है—'पिण्ड-निर्युक्ति' के आदि मे 'नमस्कार' नही किया गया है। अत यह दशवैकालिक निर्युक्ति का ही अश है जिसको कारणवश स्वतन्त्र ग्रन्थ की मान्यता दे दी गई। यह ठीक है। परन्तु नमस्कार करने की परम्परा बहुत पुरानी है, ऐसा नही लगता। छेद-सूत्र या मूल सूत्रो का प्रारम्भ भी 'नमस्कार' पूर्वक नही हुआ है। टीकाकारो ने खीचातानीपूर्वक आदि मगल, मध्य मगल और अन्त मगल की योजना की। मगल वाक्य की परम्परा विक्रम की तीसरी शताब्दी के बाद की है। विपय-साम्य की दृष्टि से दशवैकालिक निर्युक्ति और 'पिण्डनिर्युक्ति' का समन्वय किया गया। परन्तु वह (पिण्ड निर्युक्ति) अन्यकर्तृक नही है इसका प्रमाण आचार्य मलयगिरि की टीका के सिवाय अन्यत्र नही मिला है।

जर्मन विद्वान् 'विन्टरनित्स'[२] के अनुसार ओघनिर्युक्ति, जिसके टीकाकार श्रीमद् द्रोणाचार्य है, को प्रथम भद्रबाहु कृत मानते हैं। किन्तु निर्युक्ति की प्रथम गाथा मे 'दशपूर्वधर' आदि को नमस्कार किया गया है। इसलिए स्वय टीकाकार यहा यह शका उपस्थित करते हैं कि 'चतुर्दश पूर्वधर' आचार्य दसपूर्वधर को क्यो नमस्कार करते है? इस प्रश्न का

---

१ चोद्दस सोलसवासा चोद्दस वीसुत्तरा य दुण्णि सया।
अट्ठावीसा य दुवे पचेव सया य चोआला॥ (७८२)
पचसया चुलसीओ छच्चेव सया नवुत्तरा हुँति।
नाणुप्पत्तीए दुवे उप्पन्ना निव्वुए सेसा॥७८३॥

२ Winternitz—of cit, p 465

समाधान स्वय वे ही 'गुणाहिए वदयण' कहकर कर देते है।

परन्तु यह समाधान औपचारिक लगता है। श्रुत-सम्पदा के आधार पर पदवियो का विभाजन होता था ऐसी जैन परम्परा रही है। ऐसी अवस्था मे विशिष्ट श्रुतधर द्वारा अल्प श्रुतधरो को नमस्कार किया जाना सगत नही लगता।

अन्तिम दशपूर्वधर व्रज स्वामी थे। द्वितीय भद्रवाहु उनके वाद हुए। इनके द्वारा दशपूर्वधरो को नमस्कार किया जाना सगत लगता है। अत इसको द्वितीय भद्रभाहु की रचना मानना ज्यादा तथ्यपूर्ण प्रतीत होता है।

दूसरी वात है निर्युक्तियो की असगत वातें। श्रीमज्जयाचार्य ने आगम ग्रन्थो की प्रामाणिकता का निर्णय करते हुए लिखा—गणधर कृत ग्यारह अग स्वत प्रमाण हैं। साथ-साथ केवली, मन पर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्दश पूर्वधर और सम्पूर्ण दशपूर्वधर की रचनाए भी प्रमाण हैं। प्रामाणिकता की यह इयत्ता बुद्धिगम्य है। किन्तु अधिक व्यापकता के लिए उन्होने यह भी लिखा कि—'इनके मिवाय अन्यान्य ग्रन्थो की वे वातें भी मुझे मान्य है जो आगामिक तथ्यो की प्रतिकृति है। आगम से विपरीत जानेवाले तथ्य कभी मान्य नही हैं, चाहे वे किसी के द्वारा क्यो न लिखे गए हो।'

इस निर्णय के आधार पर यह फलित होता है कि दशपूर्वधर तक का ज्ञान विसवादी नही होता। वे वही कहते हैं जो अगो से मिलता-जुलता है। अत उनका ज्ञान प्रमाण है।

इमलिए निर्युक्तियो को प्रथम भद्रवाहु कृत मानना स्वय आपत्तिजनक है। कारण कि निर्युक्तियो मे अनेक स्थल विसवादी हैं। उदाहरणस्वरूप कुछेक नीचे दिए जाते हैं -

१ स्थानागसूत्र मे सनत्कुमार चक्रवर्ती की अन्तक्रिया कही है और आवश्यक[1] निर्युक्ति मे कहा गया है कि चक्री सनत्कुमार तीसरे देवलोक मे गए।

ये दोनो तथ्य परस्पर मे विरोधी हैं।

---

१ अट्ठेव गया मुक्ख सुहमो बमो य सत्तवि पुढवि।
मघव सणकुमारा गया कप्प (आवश्यकनिर्युक्ति ४०१)

२ ज्ञाता[1] धर्मकथा मे उल्लेख है कि तीर्थंकर मल्लिनाथ को पौष शुक्ला एकादशी को कैवल्य प्राप्त हुआ था, परन्तु आवश्यक निर्युक्ति मे मार्ग शीर्ष शुक्ला एकादशी को कैवल्य-प्राप्ति माना गया है। यह विरुद्ध वचन है।

इसी प्रकार अन्यान्य भी बहुत से उदाहरण हैं। निबन्ध का कलेवर बढ जाने के भय से उनका विस्तार नही दिया गया। सक्षेप मे अवगाहन, आयुष्य, सचित्त भोजन आदि के विषय मे अनेक विसवाद निर्युक्तियो से सकलित किए जा सकते है। उपर्युक्त तथ्यो के आधार पर निर्युक्तियो का आनुमानिक कालमान निर्धारित किया जा सकता है। परन्तु कौन निर्युक्ति किनकी है यह जब तक निश्चय नही हो जाता या अमुक निर्युक्ति आगम सगत है या नही, यह निर्धारण नही हो जाता तब तक इनका कालमान निर्धारित करना कठिन है।

प्रो० हीरालाल जैन ने द्वितीय भद्रबाहु को ही निर्युक्तिकार माना है। श्वेताम्बर मुनिश्री चतुरविजयी 'श्री भद्रबाहु स्वामी' शीर्षक लेख[2] मे अनेक प्रमाणो द्वारा यह सिद्ध करते हैं कि निर्युक्तिकार श्री भद्रबाहु विक्रम की छठी शताब्दी मे हो गए है। वे जाति के ब्राह्मण थे। प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर इनका भाई था निर्युक्तिया आदि सर्व कृतिया इनके बुद्धि-वैभव से उत्पन्न हुई हैं वराहमिहिर का समय ईसा की छठी शताब्दी ? (५०५ से ५८ ए० डी०) है। इससे भद्रबाहु का समय भी छठी शताब्दी ही सिद्ध होता है।

भाष्य

निर्युक्तियो के बाद भाष्य बने। ये प्राकृत भाषा के पद्यो मे लिखे गए। यह बताया जा चुका है कि निर्युक्तिया सक्षेप मे लिखी गई थी। उनको समझाने के लिए तथा आगमार्थ को स्पष्ट करने के लिए भाष्यो का उद्भव हुआ। निम्नोक्त ग्यारह[3] ग्रन्थो पर भाष्य मिलते हैं

१ ज्ञाता ८

२ अनेकान्त वर्ष ३, किरण १२

३ डा० हीरालाल कापडिया रचित The Canonical Literature of the Jains, p 187

(१) आवश्यक सूत्र, (२) दशवैकालिक सूत्र, (३) उत्तराध्ययन, (४) व्यवहार, (५) निशीथ, (६) वृहत्कल्प, (७) जीतकल्प, (८) पचमगल श्रुतस्कन्ध, (९) ओघनिर्युक्ति, (१०) पचकल्प, (११) पिण्ड-निर्युक्ति।

इनमे से कई भाष्यो का कालमान और भाष्यकार का नाम अभी भी अज्ञात है। भाष्य के प्रारम्भ मे या अन्त मे कही भी नामोल्लेख नही हुआ है।

आवश्यक सूत्र पर जिनभद्र-क्षमा-श्रमण का विशेपावश्यक है। वे सातवी सदी मे हुए थे। पचकल्प पर सघदास तथा धर्मसेनगणी का भाष्य है। वे छठी शताब्दी मे हुए थे। वृहत्कल्प के भाष्यकार सघदासगणी हैं।

चूर्णि

इनकी भाषा प्राकृत या सस्कृत मिश्रित प्राकृत है। ये गद्यात्मक हैं। इनके बीच-बीच मे विषय को स्पष्ट करने के लिए निर्युक्ति और भाष्य की गाथाए भी प्रयुक्त की गई हैं। साथ-साथ अन्यान्य ग्रन्थो के श्लोक भी प्रयुक्त हैं। ये भाष्य के बाद लिखी गई थी—यह अनुमान इस आधार पर किया जा सकता है कि भाष्य तो केवल प्राकृत भाषा मे ही हैं और चूर्णिया सस्कृत मिश्रित प्राकृत भाषा मे। ज्यो-ज्यो प्राकृत भाषा का प्रभुत्व घटा त्यो-त्यो सस्कृत भाषा का प्रभुत्व बढने लगा। उसका असर साहित्य पर आया, गाथा-सस्कृत मे साहित्य का निर्माण हुआ। कुछ भी हो, साधारणत चूर्णियो का रचनाकाल निर्युक्ति और भाष्य के बाद का है—इसमे कोई विवाद नही रह जाता।

मुनिश्री नथमल ने अपनी पुस्तक 'जैन-दर्शन के मौलिक तत्त्व' मे जिन १७ चूर्णियो के नाम गिनाये हैं और उनके कर्ता तथा कालमान की चर्चा की है, वे यो हैं

निम्न आगम ग्रन्थो पर चूर्णिया मिलती हैं—

(१) आवश्यक, (२) दशवैकालिक, (३) नन्दी, (४) अनुयोगद्वार, (५) आचाराग, (६) उत्तराध्ययन, (७) सूत्रकृताग, (८) निशीथ, (९) व्यवहार, (१०) वृहत्कल्प, (११) दशाश्रुतस्कन्ध, (१२) जीवाभिगम, (१३) भगवती, (१४) महानिशीथ, (१५) जीतकल्प, (१६) पचकल्प

(१७) ओघ-निर्युक्ति।

प्रथम आठ के कर्ता जिनदास महत्तर हैं। इनका जीवनकाल विक्रम की सातवी शताब्दी है। जीतकल्प चूर्णि के कर्ता सिद्धसेन सूरि हैं। वृहत्कल्प चूर्णि प्रलम्ब सूरि की है। शेष चूर्णिकारो के विषय मे अभी जानकारी नही मिल रही है। दशवैकालिक की एक चूर्णि और है। उसके कर्ता ह अगस्त्यसिंह स्थविर।

प्रो० हीरालाल कापडिया ने बीस चूर्णियो के नाम गिनाये हैं। बहुत-सी चूर्णिया अभी भी मुद्रित नही हो पायी हैं। उनकी मूल ताडपत्रीय प्रतिया या अन्य आदर्श जैन भण्डारो मे सुरक्षित हैं। चूर्णिया सूत्र स्पर्शी ही हुई हो, ऐसी बात नही है। उनमे अनेक स्थलो पर विसवाद आया है। आगम से विरोधी बातो का सकलन इसमे हुआ है यह भली-भाति कहा जा सकता है। फिर भी चूर्णिकार विषयो को स्पष्ट करने मे तथा मूलागमो के हृदय को पकडने मे अधिक सफल हुए है। टीकाकारो से ये अधिक विश्वस्त हैं, ऐसा माना जा सकता है।

श्रीमज्जयाचार्य ने इन चूर्णियों से कई आगम-विरोधी स्थल सकलित किए है, जैसे—

(१) सूत्रो[1] मे रात्रि-भोजन का स्पष्ट निषेध है, परन्तु वृहत्कल्प के चूर्णिकार ने अपवादस्वरूप रोगादिक मे रात्रि-भोजन लेने का विधान किया है।

यही तथ्य मूल निशीथ सूत्र मे तथा निशीथ-चूर्णि मे विरोधात्मक रूप से सकलित हुआ है।

(२) निशीथ सूत्र के पन्द्रहवें उद्देशक मे सचित्त आम चूसनेवाले मुनि को चौमासी प्रायश्चित्त कहा है। परन्तु चूर्णिकार रोगादि को मिटाने के लिए अथवा ऊनोदरी से व्याकुल हो जाने पर मुनि को सचित्त आम चूसने की आज्ञा देते है। यह स्पष्टत आगम-विरुद्ध है।

टीका

आगम के व्याख्यात्मक ग्रन्थो मे चौथा स्थान टीका का है। ये सस्कृत

---

१ प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध—विसवाद अधिकार।

भाषा मे लिखा गई है। सस्कृत साहित्य मे इनका अपूर्व स्थान है। इन टीकाओ मे केवल आगमिक तत्त्वो का ही विवेचन नही हुआ है, बल्कि अन्यान्य जैन परम्पराओ और जैनेतर परम्पराओ का समुचित सकलन हुआ है। इनके अध्ययन से तात्कालिक सामाजिक, राजनीतिक तथा भौगोलिक स्थितियो का विशद ज्ञान हो सकता है। टीकाकारो का साहित्य के सभी क्षेत्रो मे प्रवेश था। वे व्याकरण तथा भाषा-विज्ञान के निष्णात् पडित थे। सामाजिक तथा परम्परागत ज्ञान से भी वे परिचित थे। इसी प्रकार इतिहास, भूगोल, रसायनशास्त्र, शरीरविज्ञान, औषधि-विज्ञान आदि का भी उनका अध्ययन था। जन्त्र, मन्त्र और तन्त्र के तो वे अच्छे ज्ञाता थे। इन सभी की स्पष्ट झाकी किसी भी सागोपाग टीका से सहजतया हो सकती है। परन्तु एक वात जरूर खटकने योग्य है। यद्यपि टीकाकारो की सार्वदिक् विद्वत्ता मे सशय नही किया जा सकता तथापि टीकाओ का वहुत-सा क्षेत्र आगम से भिन्न रहा है। एक-दो टीकाकारो को छोडकर शेष सभी टीकाकार आगमेतर ग्रन्थो की टीका करते हैं। यह क्यो ? इसका समाधान सरल नही है। आगमो के सर्वप्रथम सस्कृत टीकाकार हरिभद्र सूरि हैं। उनका जीवनकाल विक्रम की आठवी शताब्दी है। उन्होंने आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी, अनुयोगद्वार, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति और जीवा-भिगम पर टीकाए लिखी हैं। तत्त्वार्थसूत्र और दशवैकालिक पर इनकी लघुवृत्ति भी है। इनके साथ-साथ अनेक दार्शनिक ग्रन्थो पर भी उनकी टीकाए विश्रुत है। उन्होने क्षेत्र समासवृत्ति, लोकविन्दु आदि भौगोलिक ग्रन्थ भी लिखे और अनेक प्रकीर्णक ग्रन्थो की रचना की। शीलाकसूरि ने आचाराग और सूत्रकृताग पर टीकाए लिखी। इनका काल विक्रम की आठवी-नवी शताब्दी से है। अनुयोगद्वार पर मलधारी हेमचन्द्र की टीका मननीय है। इनका कालमान विक्रम की वारहवी शताब्दी है। शेष नव अगो के टीकाकार है अभयदेव सूरि। इनका जीवन-काल विक्रम की वारहवी शताब्दी है। नन्दी, प्रज्ञापना, व्यवहार, चन्द्र-प्रज्ञप्ति, जीवाभिगम, आवश्यक, वृहत्कल्प, राजप्रश्नीय आदि के टीकाकार आचार्य मलयगिरि हैं।

यह सस्कृत भाषा के उत्कर्ष-काल की कहानी है। जैनाचार्यो की सस्कृत-सेवा अद्वितीय है। सम्भवत कुछ क्षेत्रो मे सस्कृत भाषा जन-भाषा के रूप मे

स्वीकृत कर ली गई थी। अत यह आवश्यक था कि धर्माचार्य भी उसी मे लिखते या बोलते। इस काल मे अनेकानेक सस्कृत ग्रन्थो का प्रणयन हुआ। ग्रन्थ-प्रणयन की परिधि केवल आगम साहित्य तक सीमित नही रही, अन्यान्य आगमेतर साहित्य पर भी उन्होने टीकाएँ लिखी। अपने ग्रन्थो पर उनकी टीकाएँ आज भी उपलब्ध हैं। भारत के कवि शेखर वाण के महान् काव्य 'कादम्बरी' पर आज भी जैनाचार्य द्वारा रचित टीका ही सर्वमान्य है। इस ग्रन्थ पर और भी अनेक टीकाएँ हैं, परन्तु यह टीका ही सर्वोत्तम मानी जाती है और एम० ए० आदि कक्षाओ मे वही पढाई जाती है। ज्योतिष-ग्रन्थ, चिकित्सा-ग्रन्थ, भक्ति-ग्रन्थ, न्याय-ग्रन्थ, दार्शनिक-ग्रन्थ भी जैनाचार्यो की अपूर्व देन हैं। अभी-अभी मैसूर मे एक व्याकरण-ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है जो कि एक जैन मुनि की कृति है। वह अपनी कोटि का एक ही है।

टीकाकारो का काल सघर्ष का काल था। जैनेतर दार्शनिक जैन धम के उन्मूलन पर डटे हुए थे। उन्हें स्थान-स्थान पर वाद-विवाद के लिए ललकारा जाता। जैनाचाय इसमे भी पीछे नही रहे। न्याय ग्रन्थो का सुघटित ग्रन्थन हुआ और जैनेतर तर्क कार्कश्य का उन्मूलन किया गया। इन सघर्षो का प्रभाव आगम की आत्मा पर पडा। वे आगम साहित्य की समृद्धि से कुछ-कुछ उदासीन-से हुए। इसलिए उस समय जैनाचार्यो का आगम ग्रन्थो पर कुछ लिखना छूट-सा गया। कभी-कभी कोई लिख भी देते—परन्तु वह नगण्य-सा था।

इस प्रकार आगम साहित्य से सम्पर्क कम रह जाने से आगम ज्ञान की गुरुता नही रही। परम्पराओ का विच्छेद होने लगा। मन्त्र-यन्त्र के बखेडो से मूलाचार मे कमी आयी। इतना ही नही, आगमकारो का अभिप्रेत अथ भी उनकी समझ से दूर होता गया। इसीलिए टीकाओ मे आगमो से विरुद्ध अनेक तथ्यो का समावेश हुआ है।

दीपिका, वार्तिक और स्तवक (टब्बा)

टीकाए विस्तृत होती थी। वे सभी के लिए सुभोग्य नही बन सकीं। इसीलिए आचार्यो ने लघु-टीका (दीपिका) लिखी। अनेक सूत्रो पर

दीपिकाए आज भी उपलब्ध हैं। दीपिकाए केवल 'शिष्य सुबोधाय' के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुईं।

सस्कृत भाषा का प्रभाव मिटता गया। विभिन्न स्थानो मे विभिन्न भाषाओ का आधिपत्य होने लगा। सोलहवी शताब्दी से अठारहवी शताब्दी तक मराठी-भाषा का उत्कर्ष-काल माना जाता है। उसी प्रकार राजस्थानी, तेलुगु, कन्नड, तमिल आदि भाषाए भी पूर्ण उन्नत हो रही थी। उनमे साहित्य की रचना होना स्वाभाविक था।

जैनाचार्य लोक-भाषा के पोषक रहे है। तत्तद्देशीय शब्दो का सकलन मूलागमो मे तथा व्याख्यात्मक ग्रन्थो में हुआ है। इसीलिए जैन-साहित्य भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

सोलहवी-सत्रहवी शताब्दी में सस्कृत भाषा का अभ्यास अति न्यून हो गया। जैन सघ दो भागो मे, विभक्त हो गया—मूर्ति-पूजक, अमूर्ति-पूजक। एक पक्ष आगम, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका आदि को प्रमाण मानकर चलता है, दूसरा पक्ष मूलागम तथा उनसे मिलते-जुलते अर्थ को स्वीकार करता है। इस विषय में काफी सघर्ष हुआ। टब्बे लिखने की परम्परा का जन्म हुआ। अठारहवी शताब्दी में पायचन्द्र सूरि और धर्मसिह मुनि ने गुजराती मे टब्बे लिखे। 'विस्तृत टीकाओ का रसपान जिनके लिए सुगम नही था, उनके लिए ये बडे उपयोगी बने। दूसरे ज्यो-ज्यो सस्कृत का प्रसार कम हो रहा था त्यो-त्यो लोग विषय से दूर होते जा रहे थे। इनकी (टब्बो की) रचना उस कमी की पूर्ति करने में सिद्ध हुई। हजारो जैन मुनि इन्ही के सहारे सिद्धान्त के निष्णात बने।"[1]

स्तवको की भाषा राजस्थानी मिश्रित गुजराती है। इनमें मौलिक चिन्तन कम मिलता है, केवल टीकाकारो का अनुकरण ही विशेषत दृष्टिगोचर होता है।

उन्नीसवी-बीसवी शताब्दी में जैन तेरापन्थ के चतुर्थ शासनाधिपति श्री मज्जयाचार्य एक प्रशस्त टीकाकार और स्तवककार के रूप में सामने आए।

---

१ मुनिश्री नथमलजी के 'श्री जयाचाय की साहित्य-साधना पर दृष्टि' निबन्ध से।

उनकी तलस्पर्शिनी मेधा आज विद्वानो का पथ प्रशस्त कर रही है। उन्होंने मौलिक चिन्तन दिया और अपनी प्रखर प्रतिभा से मूलागमो से मारस्प नवनीत उपस्थित किया।

इस प्रकार आगमो का व्याख्यात्मक माहित्य अति प्रचुर मात्रा में लिखा गया है और समय के व्यवधान के साथ-साथ उसका विम्तार होता गया। सद्यस्क आवश्यकता है कि उन व्याख्यात्मक ग्रन्थो का हिन्दी में अनुवाद हो और वे सुसम्पादित होकर जन-सुलभ हो मकें।

व्याख्या-ग्रन्थो का अध्ययन क्यो ?

आचार्यश्री तुलसी ने वि० स० २०१२ मे आगम-मम्पादन का कार्य प्रारम्भ किया। यह तेरापन्थ शासन के लिए एक नया काय था। इससे पूर्व तेरापन्थ के किसी भी आचार्य ने आगम-सम्पादन या अनुवाद का सर्वांगीण कार्य हाथ मे नही लिया था। श्रीमज्जयाचार्य इसके अपवाद है, उन्होने कई सूत्रो का राजस्थानी भापा मे पद्यमय अनुवाद किया है तथा यत्र-तत्र टिप्पण भी लिखे हैं। 'भगवती की जोड' उनकी उत्कृष्ट कृति है।

आगम-सम्पादन कार्य के साथ-साथ व्याख्या-ग्रन्थो के अनुशीलन की प्रवृत्ति भी बढी। ऐसे तो हमारे आचार्य तथा साधु चूर्णि, टीका का वाचन करते ही थे, किन्तु वह एक सीमित उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाता था। तेरापन्थ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयगणि ने आगम के व्याख्या-ग्रन्थो का गहरा अध्ययन किया और उनका प्रचुर मात्रा मे यत्र-तत्र प्रयोग भी किया तथा सम्भव है हमारे शासन-तन्त्र की परम्पराओ के निर्माण मे चूर्णिगत तथ्यो का पुष्ट आधार रहा हो। किन्तु यह वाचन श्रीमद् जयाचार्य जैसे महान् विद्वानों तक ही सीमित रहा, वह व्यापक नही वन सका। जब वि० स० १९९३ मे आचार्यश्री ने तेरापन्थ का शासन तन्त्र सभाला तब उनके मन मे व्याख्या-ग्रन्थो के 'पठन-पाठन' के प्रति एक रुचि उत्पन्न हुई और वे इसकी पृष्ठभूमि के निर्माण मे लग गए। सस्कृत भापा का जो

बीजारोपण तेरापन्थ के आठवें आचार्य श्रीमद् कालूगणि के शासनकाल मे हुआ था, वह पल्लवित होने लगा। अनेक साधु-साध्विया सस्कृत भाषा के पठन-पाठन मे लग गए। देखते-देखते सस्कृत भाषा के अनेक पारगत तैयार हुए और ग्रन्थो का प्रणयन होने लगा। प्राकृत का अध्ययन भी होता रहा।

आगम-सम्पादन कार्य के प्रारम्भ होते ही यह प्रतीत होने लगा कि व्याख्या-ग्रन्थो के पारायण के विना सूत्रगत तथ्यो का हार्द नही पकडा जा सकता। यह धारणा पुष्ट होती गई और हमारी रुचि उस ओर तीव्र होती गई। इसके अन्तराल मे कई जैन विद्वानो ने भी हमे चूर्णि-टीकाओ के अध्ययन की बात कही। हमने अपना पारायण प्रारम्भ किया। आचार्यश्री के पास 'ओघनिर्युक्ति' का वाचन प्रारम्भ हुआ। मुनिश्री नथमलजी वाचन कर उनका हार्द समझाते और हम साधु-साध्वी श्रवण करते। उन दिनो दशवैकालिक सूत्र के सर्वांगीण सम्पादन का कार्य चल रहा था। अनुवाद और टिप्पण लिखे जा रहे थे। ओघनिर्युक्ति और पिंडनिर्युक्ति के अध्ययन ने टिप्पण लिखने या हार्द समझने मे बहुत सहयोग दिया। ओघ-निर्युक्ति का वाचन पूर्ण हुआ। पिण्ड निर्युक्ति का वाचन प्रारम्भ हुआ। एक दिन मुनिश्री ने कहा—पिण्डनिर्युक्ति को पढे विना दशवैकालिक सूत्र के पाचवें अध्ययन 'पिण्डेषणा' को सम्पूर्ण रूप से नही समझा जा सकता और ओघनिर्युक्ति के पारायण के विना उत्तराध्ययन मे वर्णित दसविध सामाचारी आदि को नही समझा जा सकता।

आगम रचना अत्यन्त सक्षिप्त शैली मे हुई है। उसका हार्द व्याख्या-ग्रन्थो से स्पष्ट होता है। उदाहरण के लिए उत्तराध्ययन-सूत्र मे प्रथम अध्ययन मे एक पद है—'तओझाएज्ज' एगओ'। इसका शाब्दिक अर्थ है—'ध्यान अकेला करे।' किन्तु इससे वास्तविक अर्थ की अभिव्यक्ति नही होती। इसका हार्द ओघनिर्युक्ति के अध्ययन से समझ मे आया। उसमे एक स्थान पर दसविध मडलियो का वर्णन है, जैसे—स्वाध्याय मडली, आहार मडली, शयन मडली, आदि। इन मडलियो का तात्पर्य यह है कि दस प्रकार के कार्य सामुदायिक होते है, मडलियो मे किए जाते हैं। किन्तु ध्यान मडलीगत नही होता। वह अकेले मे होता है। इतना ज्ञात होने पर 'तओझाएज्ज एगओ' के पीछे जो रहस्य छिपा पडा

है, वह स्पष्ट हो जाता है।

आचाराग सूत्र मे दो शब्द-युगल आते है—समणुन्न असमणुन्न, पारिहारिअ अपारिहारिअ। टीकाकार ने इनका सक्षिप्त अथ किया है। किन्तु वह अर्थ पूण परम्परा को अभिव्यक्त नही करता। अभी-अभी जब निशीथ भाष्य का वाचन हो रहा था, तब उसमे परिहारिअ, अपरिहारिअ और अणु-परिहारिअ—ये तीन शब्द आए। भाष्य तथा चूर्णिकार ने उनका विस्तार से अथ समझाया है। ये जैन शासन के विशेप शब्द हैं। इनके पीछे एक विशिष्ट परम्परा रही है, जो केवल शब्द से अभिव्यक्त नही होती। वह परम्परा यह है—

प्रायश्चित के सन्दभ मे तप दो प्रकार का होता है—शुद्ध तप और परिहार तप। जो मुनि धृति से दुवल तथा शरीर से क्षीण होता है उसे प्रायश्चित्तस्वरूप शुद्ध तप दिया जाता है और जो मुनि धृति से तथा शरीर से वलवान् होता है और जो गीतार्थ होता है उसे परिहार तप दिया जाता है। परिहार तप वहन करने वाला मुनि 'पारिहारिअ' कहलाता है।

उसके लिए दस वातो का निपेध है

१ दूसरो को सूत्र तथा अर्थ पूछने का निपेध और दूसरो द्वारा पूछने पर उन्हे सूत्र और अर्थ वताने का निपेध।

२ सूत्र और अर्थ का दूसरो के साथ परावर्तन करने का निपेध।

३ दूसरो के साथ गोचरी के लिए जाने का निपेध।

४ दूसरो के साथ वन्दन-व्यवहार का निषेध।

५ दूसरो के साथ पात्र-व्यवहार का निषेध।

६ दूसरो के उपकरण-प्रतिलेखन का निषेध।

७ दूसरो के साथ सघाटक भाव का निपेध।

८ दूसरो को भक्त-पान देने का निपेध।

९ दूसरो के साथ भोजन करने का निपेध।

१० दूसरे भी उपरोक्त वातें इसके साथ नही कर सकते।

यह पारिहारिअ' शब्द के पीछे रही अर्थ-परपरा थी। 'अनुपारिहारिअ' उसे कहा जाता था, जो 'पारिहारिअ' तप वहन करने वाले व्यक्ति को सहयोग देता। शेप व्यक्ति 'अपारिहारिअ' कहलाते थे।

यह अर्थ परम्परा का ज्ञान भाष्य, चूर्णि के अध्ययन से ही प्राप्त हो सकता है, मूल सूत्र से नही।

अत यह स्वयमेव स्पष्ट है कि आगमो को सही समझने के लिए उनके व्याख्या-ग्रन्थो का पठन-पाठन अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी है। आज हमारे अनेक साधु-साध्वी उनका तलस्पर्शी अध्ययन करते है और हमारी यह कल्पना भी है कि सभी भाष्य चूर्णियो का आधुनिक ढग से सम्पादन भी किया जाए।

कुछ समय तक हमारे सघ मे इन व्याख्या-ग्रन्थो का अध्ययन छूट-सा गया था। उसके पीछे कुछ भी कारण क्यो न रहा हो, वह अवरोध अवाछनीय ही माना जाएगा। आज स्थिति मे परिवर्तन हुआ है। आचार्यश्री इनके अध्ययन-अध्यापन के लिए साधु-साध्वियो को प्रेरित करते हैं। अभी-अभी साध्वीश्री मजुलाजी तथा साध्वीश्री कनकप्रभाजी ने उत्तराध्ययन और दशवैकालिक सूत्र की निर्युक्ति का अनुवाद प्रारम्भ किया है। इसी प्रेरणा के फलस्वरूप अनेक व्याख्या-ग्रन्थो का पारायण हो चुका है। इसके आलोक मे हम बहुत-बहुत लाभान्वित हुए है और हमारी परम्पराओ को पुष्टि मिली है।

दशवैकालिक सूत्र की कार्य-परम्परा पर एक दृष्टि

एक छोटी-सी कल्पना इतना बडा रूप धारण करेगी—यह कौन जानता था ? टिमटिमाती लौ इतना प्रकाश-पुज बिखेर देगी—यह किसने जाना ? अणु-चिन्तन एक महान् कार्य की ओर प्रेरित करेगा, यह कौन जानता था ?

'धर्मदूत' के वाचन से आचार्यश्री के चिन्तन मे एक कल्पना उठी। उस पर मन-ही-मन विचार हुआ और उन्होने सायकाल साधुओ के समक्ष

सारी कल्पना कह डाली। कल्पना का स्वागत हुआ और एक साथ सारे कठ गूज उठे—'हम यह कार्य करके रहेंगे।' आशा मे जीवन होता है, सकल्प मे वल—यह कौन नही जानता !

आगम कार्य का प्रारम्भ इसी विचार-मन्थन का नवनीत है। वर्षो से आचार्यप्रवर के चिन्तन मे यह तथ्य आता रहा है कि आगम साहित्य वहुत ही अस्त-व्यस्त पडा है—उसे यदि व्यवस्थित किया जाय तो जैन-दर्शन की वैज्ञानिकता स्वय निखर उठेगी और अनेक विद्वान् इस ओर सहजतया आकृष्ट हो सकेंगे। परन्तु एक धर्म-सघ के-अधिनायक होने के कारण अन्यान्य कार्यों की वहुलता ने इस कल्पना को साकार रूप नही देने दिया। नियति भी कुछ होती है—काल का परिपाक हुआ और देखते-देखते आगम कार्य चालू हो गया।

उज्जैन का चातुर्मास आगम कार्य के लिए वरदान सिद्ध हुआ। चातुर्मास के प्रारम्भ मे ही एक दिन आचार्यप्रवर ने साधु-साध्वियो की परिषद् मे 'आगम कार्य' पर विस्तृत प्रकाश डाला और कई साधु-साध्वियो को निर्देशक के रूप मे कार्य करने का आदेश दिया। निर्देशक के नीचे कौन-कौन साधु-साध्वी यह कार्य करे इसकी समुचित व्यवस्था कर दी गई। सर्वप्रथम सूत्रो के शब्दो का अकारादि अनुक्रमणिका के आधार पर चयन करना था। दशवैकालिक सूत्र का यह कार्य साध्वीश्री रतनकुमारी जी को सौपा गया। उन्होने अपना कार्य श्रावण कृष्णा ६ को प्रारम्भ किया और अपनी चार सहयोगी साध्वियो के साथ 'दत्तावाधन' से कार्य करती हुई भाद्र कृष्णा ३ को (२५ दिनो मे) सारा कार्य सम्पन्न कर आचार्यप्रवर को सौप दिया। शब्दो के चयन का आधार प्रोफेसर अभयकर का अग्रेजी अनुवाद वाला 'दसवैआलिय सुत्त' था। सर्वप्रथम वह प्रति प्रामाणिक मालूम हुई। इस चातुर्मास मे लगभग पचास साधु-साध्वी इस कार्य मे लगे थे और आचार्यप्रवर की प्रेरणा और साधु-साध्वियों के अदम्य उत्साह से प्राय वत्तीस सूत्रो की 'अकारादि अनुक्रमणिका' तैयार हो गई। चातुर्मास के वाद कार्य की गति कुछ मन्द हुई। इसका मुख्य कारण था कि आचार्यप्रवर कई एक सघीय कार्यो मे अति व्यस्त रहने लगे—यह आवश्यक था भी। परन्तु साथ-साथ चिन्तन-मनन चलता

यह अर्थ परम्परा का ज्ञान भाष्य, चूर्णि के अध्ययन से ही प्राप्त हो सकता है, मूल सूत्र से नही।

अत यह स्वयमेव स्पष्ट है कि आगमो को सही समझने के लिए उनके व्याख्या-ग्रन्थो का पठन-पाठन अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी है। आज हमारे अनेक साधु-साध्वी उनका तलस्पर्शी अध्ययन करते है और हमारी यह कल्पना भी है कि सभी भाष्य चूर्णियो का आधुनिक ढग से सम्पादन भी किया जाए।

कुछ समय तक हमारे सघ मे इन व्याख्या-ग्रन्थो का अध्ययन छूट-सा गया था। उसके पीछे कुछ भी कारण क्यो न रहा हो, वह अवरोध अवाछनीय ही माना जाएगा। आज स्थिति मे परिवर्तन हुआ है। आचार्यश्री इनके अध्ययन-अध्यापन के लिए साधु-साध्वियो को प्रेरित करते हैं। अभी-अभी साध्वीश्री मजुलाजी तथा साध्वीश्री कनकप्रभाजी ने उत्तराध्ययन और दशवैकालिक सूत्र की निर्युक्ति का अनुवाद प्रारम्भ किया है। इसी प्रेरणा के फलस्वरूप अनेक व्याख्या-ग्रन्थो का पारायण हो चुका है। इसके आलोक मे हम वहुत-वहुत लाभान्वित हुए है और हमारी परम्पराओ को पुष्टि मिली है।

दशवैकालिक सूत्र की कार्य-परम्परा पर एक दृष्टि

एक छोटी-सी कल्पना इतना वडा रूप धारण करेगी—यह कौन जानता था ? टिमटिमाती लौ इतना प्रकाश-पुज विखेर देगी—यह किसने जाना ? अणु-चिन्तन एक महान् कार्य की ओर प्रेरित करेगा, यह कौन जानता था ?

'धर्मदूत' के वाचन से आचार्यश्री के चिन्तन मे एक कल्पना उठी। उस पर मन-ही-मन विचार हुआ और उन्होने सायकाल साधुओ के समक्ष

सारी कल्पना कह डाली। कल्पना का स्वागत हुआ और एक साथ सौ कठ गूज उठे—'हम यह कार्य करके रहेंगे।' आशा मे जीवन होता है, सकल्प मे बल—यह कौन नहीं जानता।

आगम कार्य का प्रारम्भ इसी विचार-मन्थन का नवनीत है। वर्षों से आचार्यप्रवर के चिन्तन मे यह तथ्य आता रहा है कि आगम साहित्य बहुत ही अस्त-व्यस्त पडा है—उसे यदि व्यवस्थित किया जाय तो जैन-दर्शन की वैज्ञानिकता स्वय निखर उठेगी और अनेक विद्वान् इस ओर सहजतया आकृष्ट हो सकेंगे। परन्तु एक धर्म-सघ के अधिनायक होने के कारण अन्यान्य कार्यों की बहुलता ने इस कल्पना को साकार रूप नही देने दिया। नियति भी कुछ होती है—काल का परिपाक हुआ और देखते-देखते आगम कार्य चालू हो गया।

उज्जैन का चातुर्मास आगम कार्य के लिए वरदान सिद्ध हुआ। चातुर्मास के प्रारम्भ में ही एक दिन आचार्यप्रवर ने साधु-साध्वियो की परिषद् मे 'आगम कार्य' पर विस्तृत प्रकाश डाला और कई साधु-साध्वियों को निर्देशक के रूप मे कार्य करने का आदेश दिया। निर्देशक के नीचे कौन-कौन साधु-साध्वी यह कार्य करे इसकी समुचित व्यवस्था कर दी गई। सर्वप्रथम सूत्रो के शब्दो का अकारादि अनुक्रमणिका के आधार पर चयन करना था। दशवैकालिक सूत्र का यह कार्य साध्वीश्री रतनकुमारी जी को सौंपा गया। उन्होने अपना कार्य श्रावण कृष्णा ६ को प्रारम्भ किया और अपनी चार सहयोगी साध्वियो के साथ 'दत्तावधान' से कार्य करती हुई भाद्र कृष्णा ३ को (२५ दिनो मे) सारा कार्य सम्पन्न कर आचार्यप्रवर को सौंप दिया। शब्दो के चयन का आधार प्रोफेसर अभयकर का अग्रेजी अनुवाद वाला 'दसवैआलिय सुत्त' था। सर्वप्रथम वह प्रति प्रामाणिक मालूम हुई। इस चातुर्मास मे लगभग पचास साधु-साध्वी इस कार्य मे लगे थे और आचार्यप्रवर की प्रेरणा और साधु-साध्वियो के अदम्य उत्साह से प्राय बत्तीस सूत्रो की 'अकारादि अनुक्रमणिका' तैयार हो गई। चातुर्मास के बाद कार्य की गति कुछ मन्द हुई। इसका मुख्य कारण था कि आचार्यप्रवर कई एक सघीय कार्यों मे अति व्यस्त रहने लगे—यह आवश्यक था भी। परन्तु साथ-साथ चिन्तन-मनन चलता

रहता और कार्य को गति देने के लिए प्रयास किया जाता।

उन दिनो आचार्यप्रवर सरदारशहर मे थे। एक जर्मन विद्वान् डाक्टर रोथ जैन दर्शन सम्बन्धी कई जिज्ञासाओ को लेकर आये। आगम कार्य को देख वे अति प्रसन्न हुए और उन्होने कई सुझाव भी दिये। उनके सुझाव सुन्दर थे। कार्य मे मोड आया और कार्य पुन द्रुत गति से चलने लगा।

दशवैकालिक का पाठ-सशोधन

सबसे बडी कठिनाई पाठ-सशोधन की थी। जितने आदर्श उतने ही पाठ। एक निर्णय पर पहुचना अति कठिन था। उस समय तक अगस्त्यसिंह मुनि की चूर्णि प्राप्त नही हो सकी थी। परन्तु आचार्यश्री के पास अन्यान्य आदर्शो से पाठ-सशोधन का कार्य प्रारम्भ कर दिया गया।

'पाठ-सशोधन' के ग्रुप मे कार्य करने वाले पाँच-पाँच साधुओ को आचार्यश्री ने अपने पास बुला लिया। सभी आचार्यश्री के सामने एक-एक आदर्श ले बैठ जाते। एक साधु मूल पाठ का उच्चारण करता और सभी साधु अपने-अपने आदर्शों से उसका मिलान करते। जहा-जहाँ फर्क आता वहा-वहा अन्वेषण किया जाता—अर्थ की दृष्टि से उसका मिलान होता और सारे पाठान्तरो को अलग-अलग नाम से अकित कर लिया जाता। मुख्य रूप से चूर्णिकार जिनदास महत्तर और टीकाकार आचार्य हरिभद्र सूरि द्वारा सम्मत पाठों को विशेष महत्त्व देते। कभी-कभी चार-पाँच श्लाको मे ही सारा समय लग जाता। परन्तु कार्य की दृष्टि से यह आवश्यक था। इस प्रकार लगभग दो घटे तक कार्य चलता। साधु-साध्वियों को न्याय, दर्शन, व्याकरण आदि का अध्ययन कराने के पश्चात् आचार्यप्रवर पुन पाठ-सशोधन के कार्य मे लग जाते। लगभग एक-डेढ घटे तक कार्य चलता। बीच-बीच मे आगन्तुक सज्जन दर्शनार्थ आते। कभी-कभी उनसे बातचीत करनी पडती थी। कुछ देर उनसे बातचीत कर पुन उसी कार्य मे लग जाते। आचार्यप्रवर की उस बलवती निष्ठा से कार्यकर्त्ताओ मे स्वय स्फूर्ति और उत्साह रहता था। कभी-कभी गर्मी के कारण कार्य मे मन नही लगता, परन्तु आचार्यप्रवर के पास जाते ही हम सभी कठिनाइयो को भूल जाते और उसी उत्साह से कार्य मे जुट जाते। उपर्युक्त समय तो प्राय निर्धारित था ही, परन्तु जब

कभी अवकाश होता आचार्यप्रवर आगम कार्य मे लग जाते। रात्रि मे पुन चिन्तन चलता और पाठ को स्थिर कर लिया जाता। साथ-साथ शब्दकोश का कार्य भी चलता रहता था। जितना पाठ सशोधित होता उसके अनुसार शब्दो का चयन, अर्थ और सस्कृत छाया का कार्य पूरा किया जाता था। इस दिशा मे आचार्यप्रवर के आदेशानुसार मुनिश्री नथमलजी और मुनिश्री बुद्धमल्लजी निर्देशक के रूप मे काम करते और लगभग आठ-दस साधु उनके निर्देशानुसार शब्दो का अर्थ, सस्कृत छाया आदि करते। दो साधु शब्दानुक्रमणिका को मिलाने मे जुट जाते। कई साधु निर्देशको को कथित सामग्री जुटाने मे लगे रहते। एक साधु सशोधित पाठ की नवीन प्रति तैयार करने मे सलग्न रहते। इस प्रकार लगभग पन्द्रह साधु एक साथ काम मे लगे रहते। दृश्य देखते ही बनता था। आचार्य हेमचन्द्र की '८४ कलमो वाली' बात के प्रत्यक्षीकरण से मन प्रसन्न हो उठता था। एकमात्र आचार्यप्रवर का सरक्षण और मुनियो के सतत परिश्रम से दशवैकालिक का शब्दकोश लगभग एक महीने मे तैयार हो गया। अर्थ करने मे जहा-जहा कठिनाइया आती वहा आचार्यप्रवर अपनी बहुश्रुतता से उसे सुलझाते और दिशा-निर्देश करते रहते। कहना चाहिए कि आचार्यप्रवर का अधिक समय आगम कार्य मे लगता। सघ के एकमात्र अधिनायक होने के कारण शासन की शारणा-वारणा का सारा भार उन्ही पर रहता है। पूर्ण कुशलता से उस काय का निर्वाह करते हुए भी आप इतना समय आगम कार्य मे लगाते है, यही इस कार्य की शीघ्र समाप्ति का पूर्व सकेत है।

कई व्यक्ति आचार्यप्रवर के पास आते और पूछते—"आचार्यजी! आगमकार्य मे कितने पडित काम कर रहे हैं?" उनका आशय गृहस्थ वेतनभोगी पडितो से था। आचार्यप्रवर कहते—"एक भी नही।" उन्हे आश्चर्य होता, परन्तु नही मानने जैसी बात भी तो नही थी। प्रतिदिन होने वाले कार्य प्रत्यक्ष प्रमाण थे। आचायप्रवर कहते—"तेरापन्थ शासन मे अध्ययन-अध्यापन का सारा कार्य गुरु परम्परा से होता है। साधु-साध्वियो को पढाने के लिए कोई भी वेतनभोगी पडित नही रहता। हा! यदि कोई भोजन की तरह विद्या-दान भी करना चाहे तो हम यथावकाश उसे ले

सकते हैं । गुरु-परम्परा के कारण ही अर्थ की परम्परा अक्षुण्ण रह सकती है । केवल पडितो द्वारा किए गए कार्यों मे अनर्थ हुआ है—यह आजकल प्रकाशित आगम साहित्य से सहजतया जाना जा सकता है ।

अगस्त्यसिह मुनि की चूर्णि

यह चूर्णि हमे गत चातुर्मास मे मिली । जो पाठ और अर्थ चिन्तनीय रखे गए थे उनका समाधान इस चूर्णि से हुआ, परन्तु कई एक नये पहलू भी सामने आए जिनका उल्लेख स्वतन्त्र निबन्धो मे किया जायगा। दशवैकालिक की यह सबसे प्राचीन चूर्णि है, ऐसा विद्वानो का अभिमत है । मुनि पुण्यविजयजी के अथक परिश्रम से यह प्रकाश मे आ सकी है । इसके प्रकाशन से नए तथ्यो की ओर ध्यान गया है। पाठ सम्बन्धी कठिनाई कुछ हल अवश्य हुई हैं, फिर भी कई स्थल चिन्तनीय रह जाते हैं । उनके समाधान के लिए जैनेतर ग्रन्थो का अध्ययन अपेक्षणीय था। वह भी किया गया । उससे काफी समस्याए हल हुई । इस कार्य मे अगस्त्यसिह मुनि के पाठ और अर्थ मान्य किये गए हैं परन्तु अनेक स्थलो पर स्वतन्त्र चिन्तन से भी काम लिया गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि कई स्थलो मे अगस्त्य मुनि भी अर्थ पकडने मे सफल नही हुए हैं । यह अन्यान्य प्रमाणो से पुष्ट हो जाता है । ऐसी अवस्था मे स्वतन्त्र चिन्तन से काम नही लेना आवश्यक हो जाता है ।

शब्दो की सस्कृत छाया मे भी काफी समय लगाना पडा । सर्वप्रथम टीकाकार के आधार पर सस्कृत रूप लिखे गये, परन्तु उसमे सन्तोष नही हुआ । तब स्वतन्त्र चिन्तन से कई स्थलो को बदलना पडा और जो सस्कृत रूप निर्धारित किया गया उन पर सप्रमाण विस्तृत टिप्पणिया भी लिखी गई हैं ।

इसी प्रकार एक विषय-सूची भी तैयार कर ली गई जिससे कि विहगम दृष्टि से सारे सूत्र का प्रतिपाद्य सहजतया सामने आ सके । एक विशेष बात यह रही कि विषय-सूची के साथ-साथ पारिभाषिक शब्दो को भी अलग छाट लिया गया और चूर्णिकारो के आधार पर वे परिभाषाए भी दे दी गई जिससे पाठक को अर्थ की मौलिकता भी ज्ञात हो सके । चूर्णि

की प्रति फोटोप्रिन्ट थी। पढने मे कुछ कठिनाई भी होती, परन्तु कार्य-निष्ठा के आगे वे कठिनाइया गौण थी। कार्य बहुत ही प्रामाणिकता और तत्परता से किया गया है।

जहा कही विचारणीय स्थल आया उसे चिन्तन के लिए छोड दिया गया। तत्पश्चात् अन्यान्य स्रोतो द्वारा उस स्थल को समझने का प्रयास किया गया। समझ मे नही आने तक अन्वेषण चालू रहा और अन्यान्य विद्वानो से भी उक्त स्थलो पर परामर्श लिया गया।

यह तो सर्वमान्य है कि भगवान् महावीर का विहार-क्षेत्र विहार और उसका पार्श्ववर्ती क्षेत्र ही रहा है। सूत्रो मे स्थानीय शब्द सगृहीत हुए हैं, यह स्पष्ट है।

जब आचार्यश्री सीतापुर मे विराजते थे वहा के डाक्टर नवलविहारी मिश्र तथा उनके साथी अवधी भाषा का कोश तैयार कर रहे थे। अवधी भाषा मे प्राकृत और पाली के अनेक शब्द हैं। उनका सही अर्थ पकडने मे उन्हें कठिनाई अनुभव हो रही थी। वे आचार्यश्री के पास आए और उन्होंने अपनी कठिनाइया सामने रखी। यथाशक्य उनका समाधान किया गया। दशवैकालिक ७-२८ मे प्रयुक्त 'मइय' शब्द के अर्थ का निश्चय टीकाकार और चूर्णिकारो के आधार पर कर लिया गया, किन्तु उसका हार्द समझ मे न आ सका था। कई जानकर व्यक्तियो से पूछा गया, कृषिकारो से भी पूछा गया, परन्तु सही अर्थ या प्रणाली समझ में नही आयी। डाक्टर मिश्र से पूछे जाने पर उन्होने कहा—यहा 'मडया' शब्द का प्रयोग होता है। यह शब्द खेत मे बीज बो देने के पश्चात् एक समकाष्ठ के टुकडे से सारी जमीन को सम बनाने के अर्थ मे रूढ है। यही अर्थ टीकाकारो और चूर्णिकारो ने किया है। सारी प्रणाली समझ मे आ गई। कहने का तात्पर्य यह है कि तत्तद्देशीय शब्दो को यदि तत्तद्देशीय लोगो के द्वारा न समझा जाय तो सही अर्थ पकडने मे कठिनाई होती है। इस प्रकार का प्रयास किया गया और बहुत कुछ सफलता प्राप्त हुई।

कार्य-काल मे कई बार उतार-चढाव आए। कार्य-प्रणाली मे परिवर्तन हुए। ज्यो-ज्यो अन्वेषण का कार्य आगे बढता गया त्यो-त्यो नए-नए तथ्य सामने आए। अब दशवैकालिक सूत्र का कार्य प्राय समाप्ति पर है।

सकते है। गुरु-परम्परा के कारण ही अर्थ की परम्परा अक्षुण्ण रह सकती है। केवल पडितो द्वारा किए गए कार्यो मे अनर्थ हुआ है—यह आजकल प्रकाशित आगम साहित्य से सहजतया जाना जा सकता है।

अगस्त्यसिंह मुनि की चूर्णि

यह चूर्णि हमे गत चातुर्मास मे मिली। जो पाठ और अर्थ चिन्तनीय रखे गए थे उनका समाधान इस चूर्णि से हुआ, परन्तु कई एक नये पहलू भी सामने आए जिनका उल्लेख स्वतन्त्र निवन्धो मे किया जायगा। दशवैकालिक की यह सबसे प्राचीन चूर्णि है, ऐसा विद्वानो का अभिमत है। मुनि पुण्यविजयजी के अथक परिश्रम से यह प्रकाश मे आ सकी है। इसके प्रकाशन से नए तथ्यो की ओर ध्यान गया है। पाठ सम्बन्धी कठिनाई कुछ हल अवश्य हुई हैं, फिर भी कई स्थल चिन्तनीय रह जाते है। उनके समाधान के लिए जैनेतर ग्रन्थो का अध्ययन अपेक्षणीय था। वह भी किया गया। उससे काफी समस्याए हल हुई। इस कार्य मे अगस्त्य-सिंह मुनि के पाठ और अर्थ मान्य किये गए हैं परन्तु अनेक स्थलो पर स्वतन्त्र चिन्तन से भी काम लिया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कई स्थलो मे अगस्त्य मुनि भी अर्थ पकडने मे सफल नही हुए हैं। यह अन्यान्य प्रमाणो से पुष्ट हो जाता है। ऐसी अवस्था मे स्वतन्त्र चिन्तन से काम नही लेना आवश्यक हो जाता है।

शब्दो की सस्कृत छाया मे भी काफी समय लगाना पडा। सर्वप्रथम टीकाकार के आधार पर सस्कृत रूप लिखे गये, परन्तु उससे सन्तोष नही हुआ। तब स्वतन्त्र चिन्तन से कई स्थलो को वदलना पडा और जो सस्कृत रूप निर्धारित किया गया उन पर सप्रमाण विस्तृत टिप्पणिया भी लिखी गई हैं।

इसी प्रकार एक विषय-सूची भी तैयार कर ली गई जिससे कि विहगम दृष्टि से सारे सूत्र का प्रतिपाद्य सहजतया सामने आ सके। एक विशेष वात यह रही कि विषय-सूची के साथ-साथ पारिभाषिक शब्दो को भी अलग छाट लिया गया और चूर्णिकारो के आधार पर वे परिभाषाए भी दे दी गई जिससे पाठक को अर्थ की मौलिकता भी ज्ञात हो सके। चूर्णि

की प्रति फोटोप्रिन्ट थी। पढने मे कुछ कठिनाई भी होती, परन्तु कार्य-निष्ठा के आगे वे कठिनाइया गौण थीं। कार्य बहुत ही प्रामाणिकता और तत्परता से किया गया है।

जहा कही विचारणीय स्थल आया उसे चिन्तन के लिए छोड दिया गया। तत्पश्चात् अन्यान्य स्रोतो द्वारा उस स्थल को समझने का प्रयास किया गया। समझ मे नही आने तक अन्वेषण चालू रहा और अन्यान्य विद्वानो से भी उक्त स्थलो पर परामर्श लिया गया।

यह तो सर्वमान्य है कि भगवान् महावीर का विहार-क्षेत्र विहार और उसका पार्श्ववर्ती क्षेत्र ही रहा है। सूत्रो मे स्थानीय शब्द सगृहीत हुए हैं, यह स्पष्ट है।

जब आचार्यश्री सीतापुर मे विराजते थे वहा के डाक्टर नवलविहारी मिश्र तथा उनके साथी अवधी भाषा का कोश तैयार कर रहे थे। अवधी भाषा मे प्राकृत और पाली के अनेक शब्द हैं। उनका सही अर्थ पकडने मे उन्हें कठिनाई अनुभव हो रही थी। वे आचार्यश्री के पास आए और उन्होने अपनी कठिनाइया सामने रखी। यथाशक्य उनका समाधान किया गया। दशवैकालिक ७-२८ मे प्रयुक्त 'मइय' शब्द के अर्थ का निश्चय टीकाकार और चूर्णिकारो के आधार पर कर लिया गया, किन्तु उसका हार्द समझ मे न आ सका था। कई जानकर व्यक्तियो से पूछा गया, कृषिकारो से भी पूछा गया, परन्तु सही अर्थ या प्रणाली समझ मे नही आयी। डाक्टर मिश्र से पूछे जाने पर उन्होने कहा—यहा 'मडया' शब्द का प्रयोग होता है। यह शब्द खेत मे वीज वो देने के पश्चात् एक समकाष्ठ के टुकडे से सारी जमीन को सम बनाने के अर्थ मे रूढ है। यही अर्थ टीकाकारो और चूर्णिकारो ने किया है। सारी प्रणाली समझ मे आ गई। कहने का तात्पर्य यह है कि तत्तद्देशीय शब्दो को यदि तत्तद्देशीय लोगो के द्वारा न समझा जाय तो सही अर्थ पकडने मे कठिनाई होती है। इस प्रकार का प्रयास किया गया और बहुत कुछ सफलता प्राप्त हुई।

कार्य-काल मे कई वार उतार-चढाव आए। कार्य-प्रणाली मे परि-वर्तन हुए। ज्यो-ज्यो अन्वेषण का कार्य आगे बढता गया त्यो-त्यो नए-नए तथ्य सामने आए। अब दशवैकालिक सूत्र का कार्य ४

परम्पराओं के वाहक कुछ शब्द और उनकी मीमांसा

हम मनुष्य हैं। हमारी अभिव्यक्ति का सक्षम माध्यम है भाषा। शब्दो की सहति भाषा है। शब्दो के अनन्त पर्याय है। अत वे अनन्त अर्थो को अभिव्यक्त करने मे समर्थ होते हैं। शब्दो का अपने आपका कोई अर्थ नही है। जब उनमे अर्थ का आरोपण किया जाता, तब वे अभिव्यक्ति के घटक बन जाते है। अर्थारोपण की इयत्ता अपनी-अपनी है, परन्तु जब वे अनेकश एक ही अर्थ मे प्रचलित हो जाते हैं, तब वे रूढ बन जाते है। यह रूढता सार्वकालिक नही होती क्योकि अर्थ का उत्कर्ष या अपकर्ष होता रहता है।

"भाषा एक प्रकार का चिह्न है। चिह्न से तात्पर्य उन प्रतीको से है, जिनके द्वारा मनुष्य अपना विचार दूसरो पर प्रकट करता है। ये प्रतीक भी कई प्रकार के होते है, जैसे—नेत्रग्राह्य, श्रोत्रग्राह्य एव स्पर्शग्राह्य। वस्तुत भाषा की दृष्टि से श्रोतग्राह्य प्रतीक ही सर्वश्रेष्ठ है।"

हमारे पास शब्दो के अतिरिक्त अभिव्यक्ति का कोई साधन नही है। यह साधन पूर्ण नही, यह भी हम जानते हैं, परन्तु इसका सहारा हमे लेना पडता है। जितना हम कहना चाहते हैं, वह शब्दो से अभिव्यक्त नही होता अत कही-कही शब्द अनर्थ भी पैदा कर देते है।

यह बाधा होते हुए भी हमारा सारा पारस्परिक व्यवहार इसी पर आश्रित है।

कई शब्द ऐसे है, जिनसे केवल सामान्य अर्थ-बोध ही होता है और कई शब्द महत्त्वपूर्ण परम्पराओ के सवाहक होते हैं। प्रयोगकाल मे वे परम्पराए प्रचलित होती हैं, अत तत्-तत् शब्दो से वे अभिव्यक्त की जाती हैं। किन्तु कालान्तर मे अनेक कारणो से मूल अर्थ-बोध लुप्त हो जाता है और परम्परा को वहन करने वाले शब्द भी केवल सामान्य अर्थ के वाचक मात्र रह जाते हैं। इस शब्दगत समस्या का यह इतिहास अति प्राचीन है। इसका समाधान शक्य नही है। इसीलिए शब्दो से अनेक-अनेक विवाद उत्पन्न होते है और बढते-बढते नए-नए दर्शनो का भी उद्भव हो

जाता है।

मेरे प्रस्तुत निवन्ध का विषय कुछ एक शब्दो की ओर इगित करना मात्र है, जो विशेष परम्पराओ के वोधक रहे है और आज उनकी गरिमा को व्याख्या-ग्रन्थो की अर्थ-परम्परा से ही जाना जा सकता है।

१ *मज्झिमेण वयसा* (आचाराग—८।३।३८)

आचाराग के आठवें अध्ययन के तीसरे उद्देशक का प्रथम सूत्र है "मज्झिमेण वयसा विएगे, सवुज्झमाणा समुट्ठिता"—एक व्यक्ति मध्यम वय मे भी सवुध्यमान होकर सयम के लिए उत्थित होते हैं। यहा मध्यम-वय शब्द एक विशेष परम्परा या सिद्धान्त का द्योतक है।

भगवान् महावीर का दर्शन सार्वकालिक, सावदेशिक और सावजनिक था। उसमे काल, वय, व्यक्ति या क्षेत्रकृत वाधाए नही थी।

इसके विपरीत अन्य दर्शनो मे धर्म-प्रज्ञप्ति के लिए वय का निर्धारण मान्य था। उनमे चार आश्रमो की मान्यता वहु-प्रचलित थी। सन्यास चौथे आश्रम मे ही लिया जा सकता है—यह उद्घोप सुनाई देता था। इस इयत्ता ने धर्म-प्रज्ञप्ति मे अनेक सकट उत्पन्न कर डाले थे।

भगवान् महावीर ने कहा—"जामा तिण्णि उदाहिया"—अवस्थाए तीन हैं—प्रथम, मध्यम और पश्चिम। प्रथम अवस्था का कालमान नौ वर्ष से तीस वर्ष तक, मध्यम का तीस से साठ तक तथा तृतीय वय का कालमान साठ से ऊपर है। इन तीनो अवस्थाओ मे धर्माचरण हो सकता है, सम्वोधि प्राप्त हो सकती है—यह भगवान् महावीर का क्रान्तिकारी निर्देश था।

'मज्झिम वय'—इससे यह स्पष्ट प्रतिपादित किया गया है कि धर्म-जागरण के लिए यद्यपि अवस्था का कोई प्रतिवन्ध नही है, फिर भी 'मध्यम वय' प्रव्रज्या के लिए अत्यन्त उपयुक्त है। क्योकि प्राय तीर्थंकर, गणधर आदि इसी वय मे प्रव्रजित होते है तथा इस वय तक व्यक्ति अनेक भोगो को भोग भुक्त-भोगी हो भोगो के कटु परिणामो से सुपरिचित हो जाता है और उनके प्रति जो आकर्षण होता है, वह मिट जाता है। दूसरी वात है कि उसके मन के सभी कुतूहल शान्त हो जाते हैं और वह सुखपूवक विराग-मार्ग पर स्थित रह सकता है। उसका विज्ञान भी पटुतर होता है और अनुभव की परिपक्वता से वह दुरनुचर तथा घोर मार्ग का भी निष्ठा

से आचरण कर सकता है।

उपरोक्त कथन को हमे आगमकालीन परिस्थिति मे पढना चाहिए। आज की सामाजिक स्थिति मे चाहे वह कुछ अपर्याप्त भी मालूम पडे, फिर भी उसमे अन्तर्निहित सत्य को नही नकारा जा सकता।

२ *विसमाइए* (आचाराग—८।४।५८)

आचाराग का यह प्रयोग विशेष परम्परा का सवाहक है। जब मुनि शीत स्पर्श सहने मे अपने आपको असमर्थ माने, तब वह उस विशेष स्थिति मे वैहायस-मरण, फासी आदि के द्वारा प्राण त्याग दे। यह उल्लेख पाठक को 'आत्महत्या' को मानने के लिए बाध्य करता है।

जैन आचारवाद 'आत्महत्या' को जघन्यतम पाप मानता है किन्तु सयम-रक्षा के लिए शरीर-त्याग की अनुमति भी देता है। यह निम्नोक्त तथ्य से विदित हो जाता है।

एक बार एक व्यक्ति अपनी नवोढा पत्नी को छोडकर प्रव्रजित हुआ। कुछ वर्ष बीते। ग्रामानुग्राम विहरण करते-करते वह भिक्षु उसी ग्राम मे आ पहुचा। घरवालो ने उसे भिक्षा के लिए आमत्रित किया। वह भिक्षा लेने गया। घरवालो के मन मे मोह का ज्वार बढा। ममत्व की ऊर्मियो से वे सब पराभूत हो गए। नवोढा पत्नी का मन आसक्ति से भर गया। पूर्वाचरित भोगो की स्मृति ने उसे विह्वल बना डाला। भिक्षा देने के बहाने वह मुनि को एक कमरे मे ले गई और कपाट बन्द कर दिए। पत्नी ने भोग की प्रार्थना की। मुनि ने अपने श्रामण्य की अखण्डता का प्रतिपादन किया। स्त्री नही मानी और मुनि को विवश करने लगी। वहा से भाग निकलने के सारे द्वार बन्द थे। मुनि असहाय था। उसने कहा—यदि तू अपने विचार नही बदलेगी तो मैं प्राण दे दूगा, ऊपर से नीचे गिरकर मर जाऊगा। स्त्री अपने कथन पर दृढ थी। तब मुनि अपने सयम की रक्षा के लिए प्रासाद तल से गिरकर मर गया। भगवान् ने कहा—ऐसी स्थिति मे इस प्रकार प्राणो का विसर्जन कर देना अनुज्ञात है, सम्मत है। किन्तु हर एक स्थिति मे ऐसा करना अनुज्ञात नही है।

इस तथ्य से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि एकमात्र सयम की सुरक्षा के लिए जब अन्यान्य उपायो को अवकाश न हो, तब वैहायस-मरण, फासी

आदि साधनो द्वारा प्राण-त्याग करना, काल-पर्याय है, अन्यथा नही। यह विवशता की स्थिति है।

३ सतरुत्तरे (आचाराग—८।४।५१)

यह दो शब्दो के योग से वना है—सान्तर और उत्तर। यह दो वस्त्रो का वाचक है—अन्तरीय वस्त्र और उत्तरीय वस्त्र। इसका दूसरा अर्थ है—सान्तर—सूत का कपडा तथा उत्तर—ऊन का कपडा। जो त्रिवस्त्र-धारी भिक्षु है, वह हेमन्त के अतिक्रान्त होने पर, ग्रीष्म के आने पर जीर्ण वस्त्रो का परिष्ठापन कर दे। यदि सारे वस्त्र जीर्ण न हुए हो तो जो जीर्ण हो गए है, उन्हे छोड दे और स्वय निस्सग होकर विहरण करे। यदि शिशिर के अतिक्रान्त होने पर भी क्षेत्र, काल या अन्य प्राकृतिक कारणो से पुन शीत के प्रकोप की आशका हो तो वह 'सान्तरुत्तर' हो जाए। अर्थात् वह एक वस्त्र ओढे और एक पास मे रख दे। यह टीकाकार का अभिमत है। चूर्णिकार ने दोनो कपडो को काम मे लेने की वात सान्तरुत्तर मे गृहीत की है।

उत्तराध्ययन के 'केसिगोयमीय' अध्ययन मे अचेल और 'सान्तरुत्तर' धर्म की चर्चा हुई है। जब पार्श्व और महावीर की परम्परा के निर्ग्रन्थ एक-दूसरे को देखते है, तब उनके मन मे यह विचिकित्सा उत्पन्न होती है।

भगवान् महावीर के शिष्य सोचते हैं—हमारा धर्म अचेल है और इन पार्श्व के श्रमणो का धर्म सान्तरुत्तर है। एक ही लक्ष्य की सिद्धि के लिए प्रवृत्त दोनो के धर्म मे इतना अन्तर क्यो है ?

कल्पसूत्र, चूर्णिकार और टिप्पणकार अन्तर शब्द के तीन अर्थ करते हैं—सूतीवस्त्र, रजोहरण और पात्र तथा उत्तर शब्द के दो अर्थ होते हैं—कम्वल और ऊपर ओढने का उत्तरीय वस्त्र।

प्राचीन काल मे वर्षा के समय भीतर सूती कपडा और ऊपर ऊनी वस्त्र ओढकर वाहर जाने की परम्परा रही है। यह परम्परा अत्यन्त पुष्ट थी और आज भी यह कुछ प्रकारान्तर से मूर्तिपूजको मे प्रचलित है।

सान्तरुत्तर शब्द के चार अर्थ प्राप्त होते हैं

१ उत्तराध्ययन बृहद् वृत्ति के अनुसार श्वेत और अल्पमूल्य वस्त्र का निरूपण करने वाला धर्म सान्तरुत्तर है।

२ आचाराग वृत्ति के अनुसार, हेमन्त के अनुसार एक वस्त्र को ओढने तथा एक को पास मे रखने की आज्ञा देने वाला धर्म।

३ आचाराग चूर्णि के अनुसार हेमन्त के व्युत्सर्ग जाने पर भी शील की आशका से दो वस्त्र रखने की अनुमति देने वाला धर्म ।

४ कल्पसूत्र चूर्णि मे सूती वस्त्र को भीतर और ऊनी वस्त्र को ऊपर ओढने की व्यवस्था करने वाला धर्म।

इस प्रकार यह सान्तरुत्तर शब्द भी एक विशेष परम्परा का द्योतक है और इसीलिए भगवान् पार्श्व का धर्म इस शब्द से व्यवहृत हुआ है।

मैंने कुछेक शब्दो की ओर सकेत किया है, जो कि परम्पराओ के सवाहक हैं और जिनके पीछे परम्परा की एक लम्वी कहानी है। इन्हे हम केवल पारिभाषिक शब्द मात्र ही नही कह सकते। इन शब्दो के पीछे जो रहस्य छिपा है, वह इनकी गौरव-गाथा गाने मे पर्याप्त है।

आगम-अध्ययन की एक दिशा

जो कुछ दीखता है वही सत्य नही है, सत्य उससे परे भी है। जो कुछ मिलता है वही सत्य नही है, सत्य उससे परे भी है। जो कुछ कहा जाता है वही सत्य नही है, सत्य उससे परे भी है।

यह स्वीकरण ही पूर्ण सत्य है, अन्य सारे सत्याश है। एकान्तवाद असत्य ही नही होता, वह भी एक तथ्य का स्वीकरण है परन्तु वह इसलिए अग्राह्य है कि वह अपनी मान्यता को ही सत्य मानता है, दूसरे तथ्यो को नही, यही मिथ्या प्रवाद है। इस माध्यम से सत्य तक नही पहुचा जा सकता।

प्रत्येक व्यक्ति मे अपने प्रति, अपने सस्कारो के प्रति, अपने विचारो के प्रति मोह होता है, उन्ही मे उसे सत्य दीखता है, वास्तव मे वह पूर्ण सत्य नही, एक आपेक्षिक सत्य मात्र होता है। एक समय था जैन सघ अखण्ड था। काल-व्यवधान से उसमे विघटन हुआ। आज उसमे अनेक सम्प्रदाय

हैं। सभी सम्प्रदाय भगवान् महावीर को अपना ईष्टदेव मानते हैं और उन्ही के अनुशासन मे साधना करने का दावा करते हैं। सभी ने महावीर को पकडा है परन्तु किसी ने भी उनको समग्रता से पकडा हो, ऐसा नही है। एक रूप महावीर अनेक रूप हो गए। मूल को भूलकर शाखाओ को ही मूल मान लिया गया। विविधता का पादन्यास हुआ। जिसने जैसा चाहा उसने वैसी ही व्याख्या प्रस्तुत की। व्याख्या-भेद से विचार-भेद प्रवाहित हुआ। विचारो से सस्कार बदले और सस्कारो से सम्प्रदाय बने।

आज जैनो मे अनेक सम्प्रदाय, उप-सम्प्रदाय हैं। वे महावीर के दर्शन को अपने रगो से रगकर उपस्थित करते हैं। सर्वत्र यही होता है। श्लाघा के रग से रगे हुए महावीर या उनका दर्शन तद्तद् सम्प्रदाय को पूर्ण सत्य लगता है। इससे मूल को पकडा नही जा सकता। मूल को जाने बिना वक्तव्यता का कोई प्रामाणिक आधार नही रहता।

आज अन्वेषण का युग है, प्रत्येक क्षेत्र मे अन्वेषण हो रहे हैं। प्राचीन सूत्रो के आधार पर नए-नए तथ्य प्रकट हो रहे हैं। व्यक्ति का बुद्धिवाद बढ रहा है। अणु-अणु की छानबीन हो रही है। जो जीव-विज्ञान कुछ वर्षों पूर्व धुधला-सा था आज वह आलोक की ओर बढ रहा है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म छानबीन हो रही है। इन अन्वेषणो के निष्कर्षों को हम एकान्तत अन्यथा नही कह सकते। वे पूर्ण सत्य न भी हो परन्तु उस दिशा मे की गई प्रगति के प्रतीक है ऐसा हमे मानना होगा। सत्य अनन्त है, उसे अनन्तकाल तक पढा जाए, फिर भी वह पूर्ण नही होता। पूर्ण होने का अर्थ है शान्त होना। सत्य की उपलब्धिया सर्वसाधारण के लिए उतनी ही सत्य हैं जितनी कि सर्वज्ञ के लिए पूर्ण सत्य का दर्शन। आज अनुश्रुति का युग नही रहा। सुनी-सुनाई बातो को प्रयोग की कसौटी पर कसा जाता है और जब वे सही उतरती हैं तभी स्वीकार की जाती हैं, अन्यथा स्वीकार करने के लिए बुद्धि तत्पर नही होती। प्रत्येक पदार्थ को हेतुगम्य मानना यह बुद्धि की अल्पता है। परन्तु हेतुगम्य पदार्थ को अहेतुगम्य मानकर आग्रह किए रहना भी बुद्धिमत्ता नही कही जा सकती। अत हेतुगम्य पदार्थों को हेतुओ के द्वारा समझने का प्रयत्न करें, काल की लम्बाई पर ध्यान दें। साथ-साथ अहेतुगम्य पदार्थो को हेतुओ के द्वारा जानने का दुराग्रह भी न करें।

जैन लोगो की यह धारणा है कि विक्रम सवत् का प्रवर्तन विक्रमादित्य ने ई० पू० ५७ मे किया था। कई शताब्दियो मे यही धारणा प्रचलित है। आज तक भी हमने इसकी प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता पर ध्यान नहीं दिया। आज इतिहास स्पष्ट है। इस विषय मे अनेक अन्वेषण हुए हैं और भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानो ने इस पर प्रकाश डाला है। तथ्यो के अनुशीलन से हमे इसी निष्कर्ष पर पहुचना पडता है कि हमारी अनुश्रुति एकान्तत सत्य नही है। इस तथ्य की पूर्ण समालोचना करना इस निबन्ध का ध्येय नही है, फिर भी कुछ के तथ्य उपस्थित कर मैं बताना चाहता हू कि किस प्रकार कुछ धारणाए इतिहास के ज्ञान के अभाव मे जड बन जाती हैं।

ठाणाग सूत्र मे दस प्रकार के कल्पवृक्ष आए हैं। कल्पवृक्षो की रूढ-मान्यता यही है कि वे मन-इच्छित वस्तुओ की पूर्ति करते हैं और यह भी कहा जा सकता है कि वे मनचाहे आभूषण, भोजन, वस्त्र या अन्यान्य सुख-सुविधाए देते हैं। आगे चलकर यह भी कह दिया जाता है कि यौगलिक परम्परा के साथ-साथ कल्पवृक्ष भी लुप्त हो गए।

सर्वप्रथम इस रूढ मान्यता का कोई पुष्ट आधार नही है। यौगलिक युग मे मनुष्य स्वभावत शान्त, अल्पेच्छु और अनाकाक्षी होता था। प्रकृति मे शान्त, सरल और सहज होता था। न समाज था, न राष्ट्र था, न राजा था, न प्रजा थी, न शासन थे, न शासित थे, न अत्याचार था, न दण्ड-विधान था। उस युग के मनुष्यो की आवश्यकताए अल्प थीं। उनमे मोह, राग, द्वेष आदि की अल्पता थी। युग का वह आदिकाल था। माता-पिता की मृत्यु से पहले एक युगल पैदा होता। यौवन में वही युगल (भाई-बहन) विवाह-सूत्र मे बध जाता। वे अपनी-अपनी आवश्यकताए कल्पवृक्षो से पूरी करते। वे सभी स्त्री-पुरुष गेहाकार भवन वृक्षो मे रहते। वे वृक्ष स्वभाव से ही विशाल और आकार-प्रकार मे भी विशाल भवन के समान होते थे। उनमे आरोह और अवरोह के स्वाभाविक साधन रहते। वातायन तरह-तरह के कमरे आदि की स्वाभाविक आकृतिया होतीं। यौगलिको को उनमे रहने मे बहुत ही सुख मिलता। इन्हें 'गेहारक' कल्पवृक्ष कहा जाता।

जब उन्हें प्यास लगती तब वे 'मृताग' वृक्ष के पास जाते। इन वृक्षो

के पत्र, पुष्प या फलो की यह स्वाभाविक परिणति थी कि वे थाली-कटोरा के आकारवाले होते। यौगलिक इनको तोडते और मत्तागद कल्पवृक्षो के पास जाते और उनसे झरते हुए सुख पेय सुस्वादु मादक रस को पीकर प्यास बुझाते। इस कल्पवृक्ष के फल स्वभावत ही स्फोट को प्राप्त होते और उनसे वह सुस्वादु रस झरता रहता।

'त्रुटिताग'-कल्पवृक्ष उनके आमोद-प्रमोद के साधन थे। इन वृक्षो के फल तत वितत, घन, सुषिर आदि विभिन्न आकार वाले होते और यौगलिक उनका प्रयोग कर बाजो का आनन्द लेते।

'दीप-शिखा' और 'ज्योतिपिक' नामवाले कल्पवृक्षो से निरन्तर प्रकाश निकलता। यह उनकी विस्रसा स्वाभाविक परिणति थी। 'ज्योतिपिक' कल्पवृक्षो से सूर्य का-सा प्रकाश निकलता और सारे स्थान को प्रकाशित कर देता। इस प्रकार यौगलिको की प्रकाश-सम्बन्धी समस्या इससे समाहित हो जाती।

जब वे भूख से पीडित होते तब वे 'चित्र-रस' कल्पवृक्षो के पास जाते और उनके फल खाकर क्षुधा-निवारण करते। इन वृक्षो के फल अत्यन्त स्वादिष्ट, बल-बुद्धि के बढानेवाले, इन्द्रिय और शरीर को पुष्ट करनेवाले होते थे। इनके खाने से पक्वान्न का आनन्द आता था।

'चित्राग' कल्पवृक्ष अत्यन्त सुन्दर होते थे। उनके फूल माला के आकारवाले, मनोहारी, विविध वर्णवाले और सुरभियुक्त होते थे।

'मण्यग' कल्पवृक्षों के पत्र-पुष्प आभरणो के आकारवाले होते थे, कई पत्र-पुष्प, कुण्डल के आकारवाले, कई कटक के आकारवाले, कई बाजूबन्द के आकारवाले होते थे। यौगलिक स्त्री-पुरुप इन्ही को पहनकर आभूषणो का आनन्द लूटते थे।

'अनग्न'-कल्पवृक्षो की छाल या पत्र इतने सूक्ष्म और पतले होते थे कि वे वस्त्रों के काम मे आते। इन वस्त्रो की विभिन्नताओ से वस्त्र की परिणति मे भी विभिन्नताए आती और अति सूक्ष्म सुकुमार देवदुष्य का अनुकरण करनेवाले, मनोहर और निर्मल आभावाले (वस्त्र जैसी परिणति वाले) वस्त्र तैयार हो जाते।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि उनकी सारी आवश्यकताए

कल्पवृक्षो से पूर्ण होती थी। अत उन्हे 'कल्पवृक्ष' कह दिया गया। सभी कल्पवृक्ष वृक्षमात्र थे। विभिन्न वृक्षो के विभिन्न उपयोग होते थे परन्तु यह नही कि किसी भी वृक्ष के नीचे खडे होकर सप्तभौम महल की वाछा करने पर वह पूर्ति हो जाती हो या खीर-पूडी पकवान की अभिलाषा करने मात्र से वह कल्पवृक्ष उनको प्रस्तुत कर देता हो। ये सारी बातें उपचार से कह दी जाती है। इसलिए हम इन्हे औपचारिक सत्य भले ही कह दें, पर वास्तविक सत्य नही है। टीकाकार इस विषय मे बहुत स्पष्ट रहे हैं। परन्तु स्तवककारो की परम्परा ने इस मान्यता को कुछ अतिरजित कर सामने रखा, अत लोगो को इसके प्रति कुछ अनास्था-सी हुई।

आए दिन हम समाचारपत्रो मे वृक्षो की विचित्र बातें पढते हैं, आज उनसे हमे आश्चर्य होता है। रोनेवाले वृक्ष, हसनेवाले वृक्ष, मासाहारी वृक्ष, ध्वनि करनेवाले वृक्ष, दूध देनेवाले वृक्ष आदि-आदि के अस्तित्व से हमे यह मानना चाहिए कि ये वृक्ष भी सभवत उसी परम्परा के हैं। आज भी जगल मे रहनेवाली जातिया वृक्षो के पत्तो के वस्त्र पहनती है। उन्ही के चित्र-विचित्र आभूषण बनाकर धारण करती हैं। उन्ही के पत्र-पुष्प खाती हैं। सक्षेप मे वृक्ष ही उनके एकमात्र आधार है। इस दशा मे ये वृक्ष ही उनके लिए कल्पवृक्ष मनोवाछित पूर्ण करनेवाले कहे जाते हैं।

उपरोक्त विवरण से आगम मे वर्णित कल्पवृक्षो की यथार्थता प्रकट हो जाती है। यह मान्यता केवल काल्पनिक ही नही, बौद्धिक भी है, ऐसा ज्ञान हो जाता है। यह तभी सम्भव है जबकि हम यथार्थता को देखने का यत्न करते है या तद्विषयक इतिहास या पारिपार्श्विक उपकरणो की भी उपेक्षा नही करते। अतिरजन वस्तुस्थिति पर आवरण डाल देता है। हम अतिरजन को वस्तु के व्याख्यान मे स्थान दें परन्तु उसके आवरण को न भुला बैठें। आज के इस साधन-बहुल युग मे केवल अनुश्रुति को ही अन्तिम प्रमाण मानकर सत्य की खोज का द्वार बन्द कर देना बुद्धिमत्ता नही है।

आज भी आगम साहित्य मे ऐसे बहुत-से तथ्य है जो कि प्रयोग के अभाव मे लोगो की बुद्धि मे नही समाते। आज आवश्यकता है कि जैन विद्वान् उनका अन्वेषण करें और यथार्थता को सामने रखने का प्रयास

करें। इस प्रक्रिया से आगमो के प्रति अनास्था का प्रवाह रुकेगा और लोग आगमों के प्रति विशेष आश्वस्त होगे।

उत्तराध्ययन के तीन टीकाकार

बैसाख शुक्ला पचमी को उत्तराध्ययन सूत्र का कार्य प्रारम्भ हुआ। दशवैकालिक सूत्र के पश्चात् आचाराग का कार्य हमे लेना चाहिए था, क्योकि ये दोनो सूत्र सम्बन्धित है। दशवैकालिक सूत्र मे वर्णित साध्वाचार का विस्तार हमे आचाराग मे उपलब्ध होता है। अत दोनो परस्परापेक्षी हैं। दूसरी बात यह है कि दशवैकालिक सूत्र के वृहत्तर कार्यकाल मे आचाराग सूत्र के कई स्थलो का पारायण भी हो चुका था। विपयो की स्पष्टता प्रकाशमान थी। अत उस सूत्र पर कार्य करने मे सुविधा रहती। परन्तु हमारा चुनाव उत्तराध्ययन सूत्र ही रहा। यह भी निष्कारण नही था। क्योकि मूल सूत्र पाठ के निर्धारण के विना आचाराग या किसी भी सूत्र पर कार्य करना इतना अर्थ नही रखता। उत्तराध्ययन सूत्र का पाठ-सशोधन हो चुका था, अत उस पर ही अन्वेपण कार्य प्रारम्भ हुआ।

आगम कार्य अवस्थिति और एकान्तता सापेक्ष है। यह अपेक्षा इस महानगर कलकत्ता मे हमारे लिए सम्भव हुई। पढनेवालो को आश्चर्य अवश्य होगा परन्तु यह सही स्थिति है। जव तक आचार्यप्रवर कलकत्ता के उपनगरो मे अणुव्रत का सन्देश लिए घूम रहे थे, तव तक मुनिश्री नथमलजी तथा उनके निर्देशन मे कार्य करने वाले आठ-दस साधु महासभा भवन मे ही रहे। कई साधु बीमार थे। उन्हे भी वही रखा गया। एक ओर सयमी मुनियो की सेवा, दूसरी ओर जिन-शासन की सेवा—श्रुतसेवा थी। आनन्द का पारावार उमड रहा था। रुग्ण-परिचर्या और श्रुताराधना-दोनो कार्य साथ-साथ चलते। और जव आचार्यश्री महासभा भवन मे चातुर्मासार्थ पधारे तव मुनिश्री नथमलजी आदि छह सन्तो को हेस्टिंग्स मे (महासभा से तीन मील दूर) प्रभुदयालजी डावडीवाल के मकान मे ठहरने

का आदेश दिया। स्थान की नीरवता, स्वच्छता और एकान्तता से कार्य-गति मे वेग आया।

उत्तराध्ययन के कार्य के लिए हमारे सामने मुख्यत तीन प्रतिया थी—जिनदास की चूर्णि, शान्त्याचार्य और नेमीचन्द्र की टीकाए। इसके साथ-साथ जेकोवी, सरपेन्टियर तथा अन्यान्य भारतीय विद्वानो के उत्तराध्ययन पर किए गए कार्य भी थे। प्रस्तुत निवन्ध मे इन तीनो टीकाकारो का सक्षिप्त परिचय ही अभिप्रेत है।

शान्त्याचार्य

इनके जीवन का विस्तृत लेखा-जोखा प्राप्त नही होता। उत्तराध्ययन की टीका के अन्त मे प्रशस्ति-श्लोको मे जीवन के कुछेक पहलुओ पर प्रकाश पडता है। उन श्लोको मे इनके काल-मान का कोई नामोल्लेख नही है, परन्तु धर्मसागरगणी के गुर्वावली सूत्र मे यह उल्लेख आया है कि 'शान्तिसूरी' का देहावसान वि० स १०९६ मे हुआ। इसके अनुसार उनका कालमान ग्यारहवी शताब्दी ठहरता है। इनको 'वादिवेताल' भी कहते थे। परन्तु यह उपाधि क्यो दी गई ? इसका समुचित समाधान नही मिलता। सम्भव है ये वाद-विवाद मे प्रमुख रहे हो। अत इन्हे 'वादिवेताल' कहा गया हो। इन टीकाओ से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनका ज्ञान सर्वाङ्ग-स्पर्शी था।

कई प्रतियो मे प्रशस्ति के सात श्लोक और कइयो मे तीन ही श्लोक मिलते हैं। उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि शान्त्याचार्य धारापद्रगच्छ (थ,रापद्रगच्छ) के अनुयायी थे, जिनका उत्स था 'काथकर-नान्वय'। यह चन्द्रकुल की शाखा थी और चन्द्रकुल 'वायरी शाखा' का एक विभाग था, जो कोटिक वश से उत्पन्न हुआ था। कोटिक गण के सस्थापक आचार्य सुहस्ती के दोनो शिष्य—सुस्थित और सुप्रतिवन्ध थे। शान्तिसूरी के गुरु या अध्यापक सर्व देव और अभयदेव थे। ये अभयदेव नवागी टीकाकार अभयदेव सूरी से भिन्न हैं, क्योकि इनकी मृत्यु स० ११३५ अथवा ११३९ मे हुई थी और ये शान्तिसूरी से छोटे थे।

आगे चलकर प्रशस्ति मे शान्तिसूरी हमे यह वताते हैं कि उनके समय

मे उत्तराध्ययन पर अनेक टीकाए—वृत्तिया थी तो भी गुणसेन की प्रेरणा से उन्होने यह बृहत्तर कार्य प्रारम्भ किया और भिल्लभाल कुटुम्ब के भूषण श्री शान्त्यामात्य द्वारा सस्थापित 'अनहिलपाटन' चैत्य मे इसे लिखा। परन्तु टीका की पूर्ति कब और कहा हुई इसका उसमे कोई उल्लेख नही है। बस इतना सक्षिप्त विवरण ही प्रशस्ति श्लोको से उपलब्ध है।

इनकी टीका 'शिष्यहिता टीका' के नाम से प्रसिद्ध है और इसकी यह विशेषता है कि इसमे मूल सूत्र और निर्युक्ति दोनो की व्याख्याए उपलब्ध हैं। अनेक प्रतियो मे शिष्यहिता का उल्लेख नही हुआ है। यह कहा जा सकता है कि उत्तराध्ययन पर लिखी गई प्राचीन टीकाओ मे यह शीर्ष स्थानीय है। पाठान्तरों का इसमे समुचित सग्रह किया गया है जिससे कि उस समय की विभिन्न वाचनाओ की ओर सकेत मिलता है। सबसे बडी बात इसमे यह है कि इसमे पाठान्तरो के साथ-साथ अर्थान्तरो का भी उल्लेख है जिससे कि अर्थ के उत्कर्षापिकर्ष का भली-भाति पता लग जाता है। पाठान्तरो का उल्लेख 'पठन्ति च, पाठन्तरश्च, पाठान्तरे तु'—ऐसा कहकर करते हैं। कही-कही 'नागार्जुनीयास्तु पठन्ति' लिखकर पाठान्तर की ओर सकेत किया है और यह १।४७, ३।१२, ६।१, ८।१ मे आया है। सरपेन्टियर ने यहा यह प्रश्न उपस्थित किया है कि शान्त्याचार्य 'नागार्जुनीय' के पाठो का उल्लेख क्यो करते हैं? और इसको समाहित करते हुए लिखते हैं कि आचार्य नागार्जुन 'देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण' के परम्परा गुरु थे। अत देवर्द्धिगणी के अन्य पाठान्तरो के साथ आचार्य नागार्जुन के पाठो को भी सगृहीत किया। गुरु के प्रति विशेष श्रद्धा प्रदर्शित करते हुए उनके नामोल्लेखपूर्वक पाठान्तरो का अपनी प्रतियो मे उल्लेख किया है। इनकी टीका से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन्होने किसी एक ही पूर्वज का अनुसरण नही किया है। परन्तु उस समय मे उपलब्ध सामग्री का यथोचित उपयोग किया। यही कारण है कि एक ही शब्द के समास-भेद से या परम्परा-भेद से वे अनेक अर्थ देने मे समथ हुए है। दूसरी बात है कि टीका मे यत्र-तत्र विभिन्न ऐतिहासिक सामग्री भी मिलती हैं। शान्तिसूरी ने अपनी टीका मे विभिन्न कथाओ का सग्रह भी किया है। परन्तु ये कथाए अत्यन्त सक्षिप्त हैं। इनका विस्तृत रूप नेमीचन्द्र की सुख

बोध टीका मे मिलता है। ल्यूमेन ने इस भिन्नता को लक्षित कर यह अनुमान किया है कि देवेन्द्र (नेमीचन्द्र)ने अपनी टीका मे अन्यान्य स्रोतो से सामग्री एकत्रित की और विशेषत दृष्टिवाद के चतुर्थ भाग से, जिनमे कि पौराणिक कथाए और जीवनिया सदृब्ध थी। परन्तु शान्तिसूरी ने ऐसा नही किया। यही कारण है कि वे 'उत्तराध्ययन परम्परा' को यथार्थ रूप मे उपस्थित करते हैं और नेमीचन्द्र अन्यान्य सूत्रो की सामग्री से मिश्रित कर उसको रखते हैं।

शान्तिसूरी ने दशवैकालिक सूत्र के श्लोको का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है। इनका प्रमुख दृष्टिकोण सूत्रार्थ को स्पष्ट करने का रहा है, अन्यान्य सामग्री का विस्तार अनपेक्षित ही था। यह इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि—उत्तराध्ययन सूत्र मे आठवें अध्ययन के तेहरवें श्लोक मे लौकिक विद्या के द्योतक तीन शब्द प्रयुक्त हुए हैं—लक्खण (स० लक्षण विद्या), सुविण (स० स्वप्न-विज्ञान), अगविज्ज (स० अग विद्या)। ये तीनो विद्याए भारतीय ऋषि-मुनियो द्वारा फलित, पुष्पित और पल्लवित हुई। इन पर अनेकानेक ग्रन्थ लिखे गए, विस्तृत व्याख्याए लिखी गई और क्रियात्मक अनुभूतियो का सचलन भी हुआ। जैनो के प्राचीनतम साहित्य 'पूर्वों' मे इन विद्याओ का सर्वाङ्गीण विवेचन भरा पडा था। इसका विवरण यत्र-तत्र उत्तरवर्ती साहित्य मे उपलब्ध कई एक घटनाओ से मिलता है।

लक्षण विद्या के प्रसग मे शान्त्याचार्य केवल १ ही श्लोक प्रस्तुत करते है और नेमीचन्द्र १६ श्लोक देते हैं। इसी प्रकार स्वप्न के सम्बन्ध मे शान्त्याचार्य २ श्लोक और अगविज्जा के लिए 'सिरफुरण्णे किररज्ज इति आदि' ऐसा कहकर छोड देते है, परन्तु नेमीचन्द्र १३ और ७ श्लोक देते है। इसी प्रकार सक्षेप और विस्तार होता रहा है।

टीका का ग्रन्थाग्र १८,००० श्लोक परिमित है। ५५७ गाथाए निर्युक्ति की हैं, जिन पर भी टीका है। यदि टीका न हो तो कही-कही ये गाथाए अत्यन्त अस्पष्ट रह जाती हैं। यथा निर्युक्ति ९५, ३७५ आदि।

देवेन्द्रगणी

इन्हे नेमीचन्द्र भी कहते हैं। इनकी उत्तराध्ययन की टीका 'सुखबोध' कहलाती है। उत्तराध्ययन की टीका के अन्त मे प्रशस्ति श्लोको से यह पता चलता है कि इस टीका की समाप्ति स० ११२९ मे हुई थी। अत इनका कालमान ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी कह सकते है। ये तपागच्छ के थे और इनके गुरु अमरदेव बृहद्गच्छ के आचार्य उद्योतन के शिष्य थे। बृहद्गच्छ चन्द्रकुल के आधिपत्य मे था, जिसकी श्लाघा प्रद्युम्न, मानदेव आदि आचार्यों ने की हैं। देवेन्द्र को इस टीका लिखने की प्रेरणा अपने सतीर्थिक मुनि आचार्य मुनिचन्द्र से मिली थी और अणहिलपाटन नगर मे दोहडि सेठ की वसति मे यह सम्पूर्ण हुई। इसका ग्रन्थमान बारह हजार अनुष्टपश्लोक परिणाम है। यह टीका अपने आपमे स्वतन्त्र रचना नही है। आचार्य शान्तिसूरी की बृहद् वृत्ति का यह लघु प्रतिबिम्ब-सा है। ग्रन्थकर्ता नेमीचन्द्र स्वय अपनी टीका के प्रारम्भ मे यह लिखते है कि—

"बहूर्थाद् वृद्धकृताद्, गम्भीराद् विवरणात् समुद्धृत्य।
अध्ययनानामुत्तर-पूर्वाणामेकपाठगताम् ॥३॥
अर्थान्तराणि पाठन्तराणि सूत्रे च वृद्धटीकात ।
बोद्धव्यानि यतोऽय, प्रारम्भो गमनिकामात्रम् ॥४॥

अर्थात् उत्तराध्ययन पर वृद्ध रचित बह्वर्थक गम्भीर विवरण के आधार पर यह टीका रची गई है। अर्थान्तर और पठान्तर वृद्ध टीका से जानने चाहिए। यह तो केवल गमनिकामात्र है।

इस टीका की अपनी एक अनुपम विशेपता यह है कि इसमे कथाओ का विशिष्ट सकलन हुआ है। इसी विशेपता के कारण पाश्चात्य विद्वान् इस ओर आकृष्ट हुए है। कथाओ का सकेत शान्त्याचार्य की टीकाओ मे भी मिलता है, परन्तु वह केवल नाम मात्र का है। कही-कही दो-तीन लाइनें और कही-कही एक-एक पृष्ठ की कथाए है, जो वस्तुत किसी भावना-विशेष को स्पष्ट नही करती। परन्तु नेमीचन्द्र की टीका मे सगृहीत कथा-वस्तु विस्तृत और रुचिपूर्ण है। महाराष्ट्रीय प्राकृत की सुललित शब्दावली मे सन्दृब्ध ये कथाए बेजोड है। ये कथाए किसी प्राचीन

सामग्री से सकलित की हो—ऐसा उन्ही के शब्दो से स्पष्ट प्रतीत होता है। स्वय नेमीचन्द्र यह कहते है कि—"एतानि च चरितानि यथा पूर्व-प्रवन्धेषु दृष्टानि तथा लिखितानि"। ये (प्रत्येक-बुद्ध के कथानक) जैसे पूर्व प्रवन्धो मे देखे हैं वैसे ही लिखे है। सरपेटिन्यर ने पूर्व प्रवन्धेषु की मीमासा की है और वे इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि—यद्यपि 'पूर्वप्रवन्धेषु' का परम्परागत अर्थ ज्ञात नही है, फिर भी ल्यूमेन का यह कथन है कि यह शब्द दृष्टिवाद के किसी अश का द्योतक है, सही।[1] सर्वप्रथम इन कथाओ का परिचय डा० हरमन जेकोवी ने अपनी कृति Ausgewahete Cargah Nugen ın Maharastrı मे किया जो कि ई० १८८६ मे प्रकाशित हुई थी। ये जर्मन भाषा मे लिखी गई थी। यही कथाए १९०९ मे ले० जे० मेयर द्वारा Hındu Taıles मे अग्रेजी भाषा मे अनूदित हुई थी जिसमे कि विद्वतापूर्ण टिप्पणिया भी थी। अन्यान्य विद्वानो ने भी इन कथाओ का उपयोग किया है।

सरपेन्टियर ने नेमीचन्द्र की टीका को मुख्य मानकर पाठ निर्धारण किया है और टिप्पणिया लिखी है। उनका यह तर्क है कि इस कृति मे पाठान्तरो का झमेला नही है, अत पाठक व अन्वेषक विद्यार्थी को सुविधा मिलती है। इसमे मूल शब्दो का अर्थ अत्यन्त सक्षिप्त और सार-गर्भित है। बीच-बीच मे दशवैकालिक सूत्र के उद्धरण तथा अन्यान्य ग्रन्थो के श्लोक, गाथाए आदि भी उद्धृत किये हैं। अन्यान्य विषयो के विस्तार की अपेक्षा से यह शान्त्यासूरि की टीका से वढ-चढकर है। इसका सोदाहरण उल्लेख पिछले पृष्ठो मे किया गया है।

एक वात समझ मे नही आती कि दोनो टीकाकार अपने टीका लिखने के क्रम का निर्वाह क्यो नही करते। प्रथम कई अध्ययनो की टीका विस्तृत है और लगभग अन्तिम वारह-तेरह अध्ययनो की अत्यन्त सक्षिप्त। उनमे न अन्यान्य गाथाओ का सकलन ही है और न विशेप कथाए भी है। नेमीचन्द्र की अन्य रचनाए भी है जिनमे 'महावीर चरित्र' एक अनुपम प्राकृत ग्रन्थ-रत्न है। इसकी रचना प्राकृत पद्यो मे हुई और उसी अनाहिल पाटन नगर

के दोहड श्रेष्ठी की वसति मे वह स० ११४१ मे समाप्त हुई थी। सम्भव है उत्तराध्ययन के टीका के पश्चात वे अन्यान्य नगरो मे विहार करते हुए पुन उसी नगर मे आए और उसी श्रेष्ठी के यहा रहकर यह रचना की।[1]

जिनदास

इस चूर्णि के कर्त्ता जिनदास महत्तर है—यह सुविदित है। फिर भी सरपेन्टियर आदि यह कहते हैं कि इस चूर्णि के कर्त्ता अज्ञात है। ऐसा कहने का वे यह आधार प्रस्तुत करते हैं कि शान्तिसूरी और नेमीचन्द्र ने अपनी टीकाओ मे केवल—"चूणर्या दृश्यते, चूर्णिकार, चूर्णिकृत" इतना मात्र उल्लेख किया है। परन्तु यह आधार गलत है। यह सवविदित तथ्य है कि बहुलाश मे चूर्णि ग्रन्थ के प्रणेता जिनदास महत्तर ही है और यह स्पष्ट है कि अनेक आगमो पर उनकी चूर्णिया मिलती हैं। अत टीकाकारो ने उनका नामोल्लेख करना आवश्यक न समझा हो।

उत्तराध्ययन सूत्र की चूर्णि मे ऐतिहासिक तथ्यो का सचयन है। इसमे पाठान्तर और अर्थान्तरो का भी यत्र-तत्र उल्लेख है। अर्थ करने की इसकी स्वतन्त्र विधि है। प्राय शब्दो की व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थ किया गया है जैसे—अश्नुते सर्वं लोकेष्विति यश , वृणोति वृण्वति तमिति वण एति याति अस्मिन्निति आयु स्त्यायते इति स्तेन आदि-आदि। ये अर्थ कही-कही अत्यन्त स्पष्ट और सुवोध्य हैं, परन्तु कही-कही अत्यन्त दूर जा पडते है। कथाओ का ग्रहण भी हुआ है, परन्तु अत्यन्त सक्षिप्त। सबसे बडी विसगति यह है कि प्रारम्भिक वारह अध्ययनो की चूर्णि विस्तृत है और अगले अध्ययनो की सक्षिप्त। यह तथ्य इस प्रकाश किरण मे अत्यधिक स्पष्ट हो जाता है कि इस चूर्णि के मुद्रित पृष्ठ २८४ है। इनमे प्रथम वारह अध्ययन के २१२ पृष्ठ हैं और शेष २४ अध्ययनो के केवल ७२ पृष्ठ। ऐसा क्यो हुआ, इसका समाधान सरल नहीं है। इसका ग्रन्थाग्र ५८५० अनुष्टप श्लोक परिमाण है। यह चूर्णि अथ आदि के निश्चय मे इतनी सहायक नही वनती, जितनी शान्त्याचार्य की टीका। फिर भी कई एक

---

1 उत्तराध्ययन, प्रस्तावना पृ० २

दृष्टियो से इसके प्राथमिक अध्ययन अवश्य बोद्धव्य हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र के कार्य-काल मे हमने इन तीनो (शान्त्याचार्य और नेमीचन्द्र की टीका, जिनदास की चूर्णि) का यथायोग्य उपयोग किया है। फिर भी जहा-जहा हमे जैन परम्परा से विसगति प्रतीत हुई है वहा हमने अपना मौलिक दृष्टिकोण रखा है और टिप्पण मे उसका सकारण उल्लेख किया है। उत्तराध्ययन सूत्र का अनुवाद पूर्ण हो चुका है और पन्द्रह अध्ययनो की विस्तृत टिप्पणिया भी लिखी जा चुकी हैं। सम्भव है यह सारा कार्य चातुर्मास तक पूर्ण हो जाए। स्थान की नीरवता और एकान्तता ने इस कार्य-प्रगति मे सहायता पहुचाई है—इसमे कोई सन्देह नही। इससे अधिक आचार्यप्रवर की उत्साहवर्द्धक प्रेरणा और कुशल निर्देशन, मुनिश्री नथमलजी की कार्यनिष्ठा और सहयोगी सन्तो के श्रम से ही इतने अल्प समय मे यह गुरुतर कार्य हो सका है। अभी तो हम अन्वेषण कार्य के प्रथम सोपान पर है—मजिल दूर है, परन्तु मुनिश्री बुद्धमल्लजी की उक्ति मे "चलते हैं जब पैर, स्वय पथ बन जाता है"—हम मजिल के पास हैं—ऐसा अनुभव करते हैं। कार्यनिष्ठा का प्रत्येक चरण लक्ष्य की अविकल अनुभूति को लिए चलता है। जब वह अनुभूति पूर्णता को प्राप्त होती है तब स्वय लक्ष्य कर्मनिष्ठ बन कर्मरत व्यक्ति मे ओत-प्रोत हो जाता है।

सर्जक का कार्य है सर्जन करना। उसका उपयोग जन-मानस कितना कर सकता है यह उसी पर निर्भर है। बीच मे एक रेखा और है जो सर्जक और जन-मानस को जोडती है। वह है सत्ता की पाखो मे उडान भरने वाली—कभी सही, कभी झूठी विद्वत् वर्ग या अधिकारी वर्ग की श्रेणी। वह रचयिता की रचना को कब, कैसे जन साधारण के सामने उपस्थित करना है, यह जानती है। यदि यह तथ्य अनभिज्ञ रहता है तो वह उसे ही लील जाती है और तथ्य की अभिज्ञता होने पर भी यदि अकर्मण्यता होती है तो भी वह अपने उत्तरदायित्व के अग्निकुण्ड मे भस्म हो जाता है। उत्तरदायित्व वह है जिसके निभाने मे अपूर्व आत्मतोष होता है और उत्तरदायित्व के योग्य व्यक्ति वह है जिसमे जीवन की अनेक महत्त्वाकाक्षाए अनवरत प्रज्वलित रहती है। अकर्मण्यता, आलस्य, कलह आदि दोष

उत्तरदायी व्यक्ति को भी अनुत्तरदायी बना देते हैं—इसे कार्यकर्त्ता न भूलें।

विनय एक अनुचिन्तन

उत्तराध्ययन के प्रथम अध्ययन का नाम 'विनय-श्रुत' है। इसका अर्थ है—विनय का व्यापक श्रुत। इसमे विनय का व्यापक निरूपण हुआ है। फिर भी विनय की दो धाराए अनुशासन और नम्रता अधिक प्रस्फुटित हैं।

आगम ग्रन्थो मे 'विनय' शब्द अनेक अर्थो मे प्रयुक्त हुआ है। सुदर्शन ने थावच्चापुत्त अनगार से पूछा—"भगवन् ! आपके धर्म का मूल क्या है ?"

थावच्चापुत्त ने कहा—"सुदर्शन ! हमारे धर्म का मूल 'विनय' है। वह विनय दो प्रकार का है—आगार-विनय और अनागार-विनय। पाच अणुव्रत सात शिक्षाव्रत और ग्यारह प्रतिमाए—यह आगार-विनय है। पाच महाव्रत, अठारह पाप-विरति, रात्रि-भोजन-विरति, दसविध प्रत्याख्यान और बारह भिक्षु प्रतिमाए—यह अनागार-विनय है।"

दशवैकालिक-सूत्र मे विनय शब्द वचन-नियमन, आचार और नम्रता—अनुशासन—इन तीनो अर्थो मे प्रयुक्त हुआ है। 'विनय' जिन-शासन का मूल है। यहा विनय का अर्थ आचार है। कई इस प्रसग मे भी विनय का अर्थ 'नम्रता' करते हैं। परन्तु यह उपयुक्त नही। क्योकि निर्ग्रन्थ-प्रवचन 'विनयवादी' नही है, वह क्रियावादी है। जैन शासन मे आभ्यन्तर तप के छह प्रकारो मे विनय दूसरा प्रकार है। औपपातिक सूत्र मे उसके भेद-प्रभेदो की लम्बी शृखला है। उनका विशद विवेचन हमे टीका-ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है। विनय के मूल भेद सात हैं

१ ज्ञान-विनय, २ दर्शन-विनय, ३ चारित्र-विनय, ४ मन-विनय, ५ वचन-विनय, ६ काय-विनय, ७ लोकोपचार-विनय।

१ ज्ञान-विनय

इसका अर्थ है—ज्ञान सीखना, ज्ञान का प्रत्यावर्तन करना, ज्ञान को

आचरण में उतारना, ज्ञान तथा ज्ञानी के प्रति बहुमान करना आदि।

ज्ञान-विनय पाँच प्रकार का है

१ आभिनिबोधिक ज्ञान-विनय।

२ श्रुतज्ञान-विनय।

३ अवधि ज्ञान-विनय।

४ मनःपर्यव-ज्ञान-विनय।

५ केवलज्ञान-विनय।

२ दर्शन-विनय :

वीतराग के द्वारा समस्त भावों में यथार्थरूप से श्रद्धा करना दर्शन-विनय है।

इसके प्रधानतः दो भेद हैं

१. शुश्रूषणा-विनय—उपासना।

२ अनाशातना-विनय—प्रतिकूल व्यवहार नहीं करना।

शुश्रूषणा विनय दस प्रकार का है

१ अभ्युत्थान।

२ आसनाभिग्रह—बड़ों का आसन लेकर साथ बैठ जाना।

३ आसन प्रदान—अतिथि को आसन देना।

४ सत्कार।

५ सम्मान।

६ कृतिकर्म—अभिवादन करना, वन्दन करना।

७ अंजलिप्रग्रह—हाथ जोड़ नमस्कार करना।

८ अतिथि के आने पर सामने जाकर सत्कार करना।

९ बैठे हुए की उपासना करना।

१० जाते हुए के साथ जाना।

अनाशातना-विनय—यह अनाशातना—भक्ति, बहुमान और वर्ण संज्वलना के भेद से ४५ प्रकार की है (१५ / ३ = ४५)।

अनाशातना के पन्द्रह भेद :

अरिहन्त देव की अनाशातना, अरिहन्त देव द्वारा प्रज्ञप्त धर्म की अनाशातना, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, कुल, गण, संघ, क्रिया

(आस्तिक्य)—सभोग, सधार्मिककी अनाशातना तथा आभिनिबोधिक ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि-ज्ञान, मन पर्यव-ज्ञान तथा केवलज्ञान की अनाशातना। इसी प्रकार भक्ति-बहुमान तथा वर्ण व सज्वलनता (यथार्थ गुण-वर्णक) के भी पन्द्रह-पन्द्रह भेद होते है।

३ चारित्र-विनय

इसका अर्थ है—जिस क्रिया के द्वारा कर्म-चय का नाश किया जाता है, उसे चारित्र-विनय कहते है।

यह पाच प्रकार का है —

१ सामायिक-चारित्र-विनय।
२ छेदोपस्थापनीय-चारित्र-विनय।
३ परिहार-विशुद्ध चारित्र-विनय।
४ सूक्ष्म सपराय-चारित्र विनय।
५ यथाख्यात-चारित्र-विनय।

४ मन-विनय

यह दो प्रकार का है

१ अप्रशस्त मन-विनय—जो मन सावद्य, सक्रिय, कर्कश, कटुक, निष्ठुर, परुष, प्रमाद आदि आश्रवो का सेवन करने वाला, छेद—भेद करने वाला, परिताप, उद्रवण और प्राणियो का हनन करने वाला है, वह अप्रशस्त मन है। जब मन इनमे व्यापृत रहता है, तब वह अप्रशस्त मन-विनय है।

२ प्रशस्त मन-विनय—उपरोक्त क्रियाओ से विरत मन का प्रवर्त्तन प्रशस्त मन विनय कहलाता है।

५ वचन-विनय

मन-विनय की भाति इसके भी दो भेद है—प्रशस्त-वचन विनय और अप्रशस्त-वचन-विनय। अवान्तर भेद भी इसी की तरह है।

६ काय-विनय

यह दो प्रकार का है—प्रशस्त काय-विनय और अप्रशस्त काय-विनय।

अप्रशस्त काय-विनय यह सात प्रकार का है—

१ अनायुक्त गमन, असयमी व्यक्ति का गमन अथवा अयतनापूर्वक

गमन।

२ अनायुक्त स्थान।

३ अनायुक्त-निषीदन।

४ अनायुक्त-शयन।

५ अनायुक्त-उल्लघन।

६ अनायुक्त-प्रलघन।

७ अनायुक्त-सर्वेन्द्रिय काय-योग-युक्तता—समस्त इन्द्रियों का असयमित व्यापार।

प्रशस्त काय-विनय यह भी सात प्रकार का है। उपरोक्त गमन आदि सात क्रियाओं में जब व्यक्ति आयुक्त होता है, अथवा सयमी व्यक्ति का गमन, तब उसे प्रशस्त-काय-विनय कहा जाता है।

७ लोकोपचार-विनय :

यह सात प्रकार का है

१ अभ्यासवर्तिता—आराध्य के समीप बैठना।

२ परछन्दानुवर्तिता—आराध्य के अभिप्रायानुसार वर्तन करना।

३ कायहेतुक—ज्ञानादि के निमित्त भक्त-पान आदि का दान देना।

४ कृतप्रतिकृति—विनय के प्रयोग से प्रसादित गुरु मुझे श्रुत सिखाएगे—ऐसा सोचकर भक्तपान के दान का प्रयत्न करना।

५ आर्तगवेषणा—दुखियों की वार्ता का अन्वेषण करना।

६ देशकालज्ञता—अवसरोचित कार्य करना।

७ सर्वार्थों में अप्रतिलोमता—आराध्य के समस्त प्रयोजनों में अनुकूल रहना। उपर्युक्त भेद-प्रभेद औपपातिक सूत्र के अनुसार है।

शान्त्याचार्य ने विनय के पाच भेद किए है

१ लोकोपचार-विनय अभ्युत्थान, आसनदान, अतिथि-पूजा आदि।

२ अर्थहेतुक-विनय अभ्यासवर्तिता, छन्दानुवर्तना, देशकाल दान, अभ्युत्थान आदि।

३ कामहेतुक विनय।

४ भय-विनय।

५ मोक्ष-विनय।

यह पाच प्रकार का है

१ दर्शन-विनय ।

२ ज्ञान-विनय ।

३ चारित्र ।

४ तप ।

५ औपचारिक ।

भगवती २५।७।८०३ मे भी विनय के भेद-प्रभेदों का उल्लेख कुछेक परिवर्तन के साथ हुआ है ।

निशीथ भाष्य के कुछ शब्द-चित्र

शिष्य ने पूछा—"भगवन् ! कोई व्यक्ति अनेक अपराध करता है, तो क्या उसे प्रत्येक अपराध के लिए भिन्न-भिन्न दड दिए जाते है या एक ही ?"

आचार्य ने कहा—'वत्स ! दड देने की विधि एक नही है । अनेक प्रकार से दड दिया जा सकता है । सभी अपराधो का एक दड भी हो सकता है और अलग-अलग भी ।' शिष्य ने पूछा—'यह कैसे, भगवन् ?'

आचार्य ने कहा—'सुनो ! एक रथकार था । उसकी स्त्री ने अनेक अपराध किए । रथकार इससे अनजान था । एक बार रथकार बाजार गया हुआ था । स्त्री अपना घर खुला छोडकर पडोसी के घर मे जा बैठ गई । घर को खुला देख एक साड उसमे घुसा । इतने मे ही रथकार वहा आ पहुचा । उसने अपावृत घर और साड को देखा । उसकी पत्नी भी आ गई । रथकार ने पत्नी का अपराध समझकर उसे पीटा । पत्नी ने सोचा—इन दिनो मैंने और अनेक अपराध किए है । यदि मेरे पति को सारे ज्ञात होगे तो वह मुझे बार-बार पीटेगा । अच्छा हो मैं सारे अपराध प्रकट कर दू । उसने कहा

'बछडा गाय का स्तनपान कर गया है, आप द्वारा लाया गया कास्य

भाजन भी टूट गया। आपका वस्त्र भी कोई चुराकर ले गया—आप मुझे जितना पीटना चाहे उतना पीट लें।'

इतना सुनकर रथकार ने उसे एक ही वार मे खूब पीटा।

इसी प्रकार अनेक अपराधो के लिए एक प्रायश्चित भी हो सकता है।

एक चोर था। उसने अनेक बार चोरिया की—किसी के बर्तन चुराए, किसी के वस्त्र, किसी के सिक्के और किसी का सोना। एक बार उसने राजमहल मे सेंध लगाई और रत्न चुराकर बाहर निकला। आरक्षको ने पकडकर उसे राजा के समक्ष उपस्थित किया। दूसरे लोगो ने भी उस पर चोरी के आरोप लगाए। राजा ने सोचा, इसने राजमहल मे रत्न चुराए हैं। यह चोरी गुरुतर है। राजा ने दूसरी सारी चोरियो की उपेक्षा कर इस गुरुतर चोरी के लिए उसे मृत्युदड दिया।

इसी प्रकार अनेक छिटपुट अपराधो की उपेक्षा कर गुरुतर अपराध को मुख्य मानकर प्रायश्चित दिया जा सकता है।

आचार्य ने कहा—"शिष्य! कभी-कभी विशेष प्रयोजनवश अपराधो को क्षमा भी करना पडता है। एक गण है। आचार्य ग्लान हो गए। जो आचार्य बनने योग्य हैं, उसे अनेकविध प्रायश्चित प्राप्त हैं और वह उन्हें वहन कर रहा है। ऐसी स्थिति मे उसके प्रायश्चितो को क्षमा कर उसे आचार्य पद दिया जाता है।

'एक नगर का राजा मर गया। उसके कोई पुत्र नही था। राज्य-चिन्तको ने देवपूजन कर एक हाथी और एक घोडे को सजाया और दोनो को नगर मे छोड दिया।

उसी नगर मे उसी दिन मूलदेव नाम का एक व्यक्ति चोरी करते पकडा गया। आरक्षको ने उसे मृत्युदड दिया और वध्य मानकर उसे नगर मे घुमाने लगे। उसके साथ अठारह व्यक्ति थे। हाथी और घोडे दोनो घूमते-घूमते मूलदेव के पास आ रुके। घोडा हिनहिनाया और पीठ ऊची की। हाथी ने गर्जना की और सूड से पानी ले मूलदेव को अभिषिक्त कर उसे पीठ पर चढा लिया। सामुद्रिक आए और मूलदेव को राजा घोषित कर दिया और वह राजा बन गया। वह सभी अपराधो से मुक्त हो गया।'

शिष्य ने पूछा—'भंते! दो व्यक्ति एक-जैसा अपराध करते है, क्या

उन्हें एक-सा दड दिया जाएगा ?' आचार्य ने कहा—'वत्स ! दड के निर्णय में अनेक दृष्टियो से सोचना पडता है—धृति, सहनन, क्षेत्र, काल, अध्यवसाय आदि को ध्यान मे रखना होता है।'

आचार्य ने आगे कहा—'देखो ! दो व्यक्ति छ-छ महीनो का प्रायश्चित वहन कर रहे हैं। एक व्यक्ति को प्रायश्चित प्रारम्भ किए केवल छह दिन हुए हैं और दूसरे व्यक्ति के प्रायश्चित-समाप्ति के केवल छह दिन शेष है। इस प्रायश्चित-वहन के अन्तराल मे दोनो ने छह मास का प्रायश्चित आए, ऐसा दूसरा अपराध कर लिया। ऐसी स्थिति मे आचार्य पहले व्यक्ति को, जिसे पूव के प्रायश्चितो को वहन करते हुए केवल छह दिन ही वीते है, दूसरा प्रायश्चित भी पहले प्रायश्चित के अन्तर्गत कर केवल छह मास का ही प्रायश्चित देंगे। दूसरे व्यक्ति को, जिसके छह महीनो मे छह दिन वाकी हैं, और छह मास का प्रायश्चित देंगे। इस प्रकार उसे लगभग एक वर्ष तक प्रायश्चित वहन करना होगा।' शिष्य ने कहा—'यह राग-द्वेप क्यो ?'

आचार्य ने कहा—'यह राग-द्वेप नही है। सुनो—किसी व्यक्ति ने अग्नि जलाना प्रारम्भ किया। प्रारम्भ मे ही उसने काठ के वडे-वडे लकडे उसमे डाले। अग्नि उन्हें जलाने मे असमर्थ थी। वह तत्काल वुझ गई।

दूसरे व्यक्ति ने भी अग्नि जलाना प्रारम्भ किया। उसने प्रारम्भ मे उपले के छोटे-छोटे टुकडे, लकडी का चूरा आदि डाला। अग्नि जल उठी। जब वह दीप्त हो गई तव उसने उसमे वडी-वडी लकडिया डाली। वे भी जल गई। इसी प्रकार प्रायश्चित वहन करने वाला पहला व्यक्ति पहली अग्नि के समान है और दूसरा व्यक्ति दूसरी अग्नि के समान। पहले व्यक्ति को पूर्व अपराध के परिणामस्वरूप छह मास का प्रायश्चित है। उसे वहन करते केवल छह दिन वीते हैं और उस अन्तराल मे उसे यदि दूसरे छह मास का प्रायश्चित दिया जाए तो उसका उत्साह क्षीण हो जाता है। वह खिन्न हो जाता है और सयम से उन्मना हो सकता है। पहली अग्नि की भाति असमय मे ही वुझ जाता है।

दूसरा व्यक्ति, जो छह मास से प्रायश्चित वहन कर रहा है, केवल छह दिन शेष है, उसे यदि दूसरे छह मास का प्रायश्चित दिया जाए तो

वह दुगुने उत्साह से उसको वहन करेगा, क्योकि उसे तपोलब्धि प्राप्त है तथा उसका धैर्य भी पक चुका होता है। वह दूसरे प्रकार की अग्नि की तरह है जो बडे-बडे लकडो को भी भस्मसात् कर देती है।

विगय

जिस प्रकार मनोज्ञ-शब्द, मनोज्ञ-रूप, मनोज्ञ-रस, मनोज्ञ-स्पर्श आदि मन मे विकार उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार कई प्रकार के भोजन भी मानसिक विकृति के निमित्त बनते हैं। यह सही है कि व्यक्ति का व्यामोह ही उसके विकृति बनने का उपादान है किन्तु निमित्त कारणो से विकृति मे उभार आता है या सुपुप्त विकृत भावनाए योग्य अवसर पर उदित हो जाती हैं, यह भी सत्य है। बाह्य निमित्तो मे भोजन भी एक निमित्त है जिससे कि व्यक्ति मे उत्तेजना आती है। इसलिए साधना मे रत व्यक्ति के लिए भोजन का विवेक इतना ही आवश्यक है जितना कि प्राणवायु के ग्रहण का। जिसमे यह विवेक नही होता वह पग-पग पर कष्ट पाता है और पथच्युत सम्भावनाओ से प्रतिपल घिरा रहता है।

जैन आगम ग्रन्थो मे स्थान-स्थान पर इस विवेक का विशद उल्लेख है और वह साधक के लिए प्रकाश-स्तम्भ है। सामान्य आहार लिए बिना शरीर टिकता नही इसलिए साधक आहार ग्रहण करता है। साथ-साथ शारीरिक सस्थान को तपस्या आदि के योग्य बनाने के लिए तथा ध्यान आदि मे घटो तक अविचलित रह सके ऐसी शक्ति अर्जित करने के लिए वह कुछ पौष्टिक आहार भी लेता है। पौष्टिक आहार लेने का निषेध नही हैं किन्तु उसे कब और कैसे लिया जाय, इसका विवेक अवश्य होना चाहिए। ग्रन्थो मे यह मिलता है कि आचार्य अपने शिष्यो के आहार का सन्तुलन रखे। न उन्हे अतिमात्रा मे या प्रतिदिन विगय, घी-दूध आदि ही दे और न प्रतिदिन रूखा-सूखा ही दे। क्योकि प्रतिदिन विगय आदि देने से साधक के मन मे उत्तेजना बढती है और वह साधना से फिसल जाता है,

प्रतिदिन रूखा-सूखा देने से बुद्धि तीक्ष्ण नही बनती, रोग आदि भी उत्पन्न होते है। मूत्र की बाधा बार-बार होने से ध्यान, स्वाध्याय आदि मे विघ्न उपस्थित होते है। अत दोनो प्रकार के भोजन का सन्तुलन आवश्यक हो जाता है।

विगय-प्रतिबद्ध साधक के विशिष्ट ज्ञान-दर्शन उत्पन्न नही होते। विशिष्ट लब्धियो से वह वचित रहता है। अत विगय का ज्ञान और उनके उपयोग का विवेक उसकी सफलता का पहला सोपान है। स्थानाग सूत्र मे विकृतियो को तीन भागो मे बाटा है

१ गोरस विकृतिया।

२ स्निग्ध विकृतिया।

३ महा विकृतिया।

दूध, दही, घी, मक्खन गोरस-विकृतिया है। तेल, घृत, वसा और नवनीत स्निग्ध-विकृतिया है और मधु, मास, मद्य और नवनीत महा-विकृतिया हैं।

विकृतियो की सख्या भी सदा एक-सी नही रही है। चुल्लकप्पसूत्र (कल्पसूत्र की समाचारी) मे नौ विकृतियो का उल्लेख है, उसमे मास अन्तिम है। इस शब्द का अर्थ प्राण्यगवाची न कर पक्वान्न किया गया है। स्थानाग मे भी नौ विकृतियो का उल्लेख हुआ है। आवश्यक निर्युक्ति तथा हरिभद्र सूरकृत पचवस्तुक ग्रन्थ मे विकृतियो की सख्या दस बताई गई है—दूध, दही, नवीनत, तेल, घृत, गुड, मद्य, मधु, मास और तले हुए पदार्थ। उस समय यह भी मान्यता थी कि सभी प्रकार के दूध, दही आदि विगय नही हैं किन्तु अमुक-अमुक ही विगय की कोटि मे आते हैं।

गाय, भैंस, ऊटनी, बकरी और भेड का दूध विगय मे है, दूसरे दूध विगय मे नही गिने जाते। इसी प्रकार ऊँटनी को छोडकर बाकी के चार पशुओ के दही को विगय माना है। उष्ट्री (ऊटनी) के दूध का दही नहीं जमता।

तिल, अलसी, कुसुम, सरसो से निकाले हुए तेल विगय मे है। नालि-केर, एरेण्ड, शिशप आदि के तेल विगय मे नही है।

गुड के दो भेद हैं—द्रव गुड और पिण्ड गुड। ये दोनो विकृति है। मद्य

दो प्रकार का है—काष्ठनिष्पन्न और पिष्टनिष्पन्न। काष्ठ-निष्पन्न मद्य जैसे ईक्षु, ताड आदि से निष्पन्न तथा पिष्ट निष्पन्न जैसे चावल कोद्रव आदि से निष्पन्न—ये दोनो विकृति है। अन्य प्रकार के मद्य विकृति नही है। तीनो प्रकार के मधु-मक्षिका कृत, कुत्तिका कृत और भ्रमर कृत विगय है, दूसरे नही।

तीनो प्रकार का मास (जलचर, स्थलचर, खेचर प्राणियो का) विगय है, अथवा चर्म, वसा और शोणित—ये तीनो भी विगय मे है।

अवगाहिमक विगय की विधि यह है—जिस तेल या घृत मे एक पदार्थ तला जाता है, फिर उसी तेल या घृत मे दूसरे पदार्थ तले जाते है, फिर उसी तेल मे अन्य दूसरे पदार्थ तले जाते है तब तक वह विगय है। जब उसी तेल या घृत मे चौथी बार पदार्थ तले जाते है तब उन्हे निर्विगय मे माना गया है।

इसी प्रकार खीर को भी विगय और निर्विगय दोनो माना है। जिस खीर मे चावलो के ऊपर चार अगुल दूध चढा रहता है तब तक वह निर्विगय है और यदि उन पर पाच अगुल या और अधिक दूध चढा होता है तो वह विगय मे है। इसी प्रकार दही में जमाए-पकाए गए पदार्थो के लिए भी है।

द्रव गुड मे पकाई गई वस्तु पर यदि एक अगुल गुड चढा हुआ है तो वह विगय मे नही है, अन्यथा विगय मे है। इसी प्रकार तेल और घृत के पदार्थो को भी जानना चाहिए। मधु या मास के रस से समृष्ट पदार्थ विगय तभी है जबकि उन पर आधे अगुल से ज्यादा रस चढा हुआ हो अन्यथा वे निर्विगय है। यह प्राचीन परम्परा टीकाकारो के समय तक प्रचलित रही है और आज भी जैन परम्परा मे इनके आस-पास की मान्यताए मिलती है। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो मे इसके भिन्न भिन्न स्वरूप है और वे सारे स्वरूप अपनी-अपनी रूढ परम्पराओ के आधार पर निर्धारित किए गए है।

विकृति और विकृतिगत मे अन्तर माना गया है। विकृतिया दस है किन्तु विकृतिगत तीस है। जिनके विगय का प्रत्याख्यान होता था वे विकृतिगत का उपयोग करते थे। विकृतिगत का अर्थ है— विकृति

नही, किन्तु विकृति के आश्रित ।

दूध के पाच विकृतिगत है—१ दूध की काजी, २ मावा, वली, मल्लाई, ३ द्राक्षाओ से मिश्रित दूध, ४ जो उवाला गया हो, जिस दूध मे चावलो का आटा मिजाया गया हो, ५ खीर ।

दही के पाच विकृतिगत है

१ घोल वडा ।

२ वस्त्र से छाना हुआ दही ।

३ शिखरणी ।

४ करम्बक—दही सहित चावल ।

५ मट्ठा या रायता ।

घृत के पाच विकृतिगत हैं

१ औषधियो से पका हुआ घृत ।

२ घृत के ऊपर का मैल ।

३ घृत मे पकाई गई औषधियो पर आया हुआ घृत ।

४ जला हुआ घृत ।

५ दही की मलाई पर आया हुआ घृत ।

तेल के पाच विकृतिगत हैं

१ तेल के ऊपर का तेल ।

२ तिलकुटि ।

३ जला हुआ तेल ।

४ तेल मे पकाई गई औषधियो के ऊपर से निकला हुआ तेल ।

५ लाक्षादि द्रव्यो से पका हुआ तेल ।

गुड के पाच विकृतिगत हैं

१ आधा उवला हुआ ईक्षु रस ।

२ गुड का पानी ।

३ शकरा ।

४ खाड ।

५ चासनी ।

अवगाहिम विगय के पाच विकृतिगत हैं

१ एक पूडे से पूरी कडाई भर जाय, उस पर दूसरा पूडा डाला जाय, वह विकृतिगत है, विकृति नही।

२ तीन घाण के वाद चौथे घाण मे तला हुआ पदार्थ।

३ गुड धानी।

४ घी से लिप्त कडाही मे जल डालकर पकाई हुई लापसी।

५ घृत से लिप्त कडाही मे पकाई हुई पूडी।

ये विकृतिगत पदार्थ का प्रत्याख्यान रखनेवाले भी खाते थे तथा जो योगवाद न करते थे, उनके लिए भी यह निपिद्ध नही था। यह प्राचीन परम्परा की वात है, आज की परम्परा मे काफी मतभेद है। प्राय इन सव विकृतिगत पदार्थो को मूल विगय माना जाता है।

विकृति के विपय मे यह सक्षिप्त विवरण प्रवचन सारोद्वार और आवश्यक चूर्णि ग्रन्थ के आधार पर है। परम्पराओ मे परिवर्तन आता है और समय-समय पर उनकी नई मर्यादाए परिभापा मे वनती रहती हैं। जैन आगमो मे स्थान-स्थान पर विगय चर्चा है और साधक को उसमे विवेक रखने का स्पष्ट सकेत है।

केवल भोजन ही या केवल मन ही दुर्वलताओ या विकृतियो का साधन वनता हो, यह एकान्तत सत्य नही है। दोनो विकृति के कारण वनते हैं— 'जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन्न' और 'मन एव मनुष्याणा कारण वन्धमोक्षयो'—ये दोनो लौकिक वाक्य अपनी-अपनी अपेक्षाओ मे ही सत्य है। किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि भोजन का विवेक न रखना और मन को सत् सकल्पो से पूरित नही करना—दोनो फिसलने के हेतु हैं। अत साधक को विशेप विवेक की आवश्यकता होती है।

परीषह

जो सहा जाता है उसका नाम है 'परीषह'। सहने के दो प्रयोजन हैं—मार्गाच्यवन और निर्जरा। स्वीकृत मार्ग से च्युत न होने के लिए कुछ सहा जाता है और कुछ सहा जाता है निर्जरा के लिए।

भगवान् महावीर की धर्म-प्ररूपणा के दो मुख्य अग है—अहिंसा और कष्ट-सहिष्णुता। कष्ट सहने का अर्थ शरीर, इन्द्रिय और मन को पीडित करना नही किन्तु अहिंसा आदि धर्मों की आराधना को सुस्थिर बनाए रखना है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—

"सुहेण भाविय नाण, दुहे जादे विणस्सहि।
तम्हा जहाबल जोई, अप्पा दुक्खेहि भावए।

'सुख से भावित ज्ञान दुख उत्पन्न होने पर नष्ट हो जाता है, इसलिए योगी को यथाशक्ति अपने आपको दु ख से भावित करना चाहिए।' इसका अर्थ काया को क्लेश देना नही है। यद्यपि एक सीमित अर्थ मे काया-क्लेश भी तपरूप मे स्वीकृत है किन्तु परीषह और काय-क्लेश एक नही हैं। काय-क्लेश आसन करने, ग्रीष्म ऋतु मे आतपना लेने, वर्षा ऋतु मे तरुमूल मे निवास करने, शीत ऋतु मे अपावृत्त स्थान मे सोने और नाना प्रकार की प्रतिमाओ को स्वीकार करने, न खुजलाने, शरीर की विभूषा न करने के अर्थ में स्वीकृत है।

परीषह और काय-क्लेश

उक्त प्रकारो मे से कोई कष्ट जो स्वय इच्छानुसार झेला जाता है वह 'काय-क्लेश' है और जो इच्छा के बिना प्राप्त होता है वह 'परीषह है।

काय-क्लेश के अभ्यास से शारीरिक दुख सहने की क्षमता, शारीरिक दुखो के प्रति अनाकाक्षा और क्वचिद् जिन शासन की प्रभावना भी होती है।

परीषह सहने से स्वीकृत अहिंसा आदि धर्मों की सुरक्षा होती है। परीषह बाईस हैं

१ क्षुधा, २ पिपासा, ३ शीत, ४ उष्ण, ५ दश-मशक, ६ अचेल,

७ अरति, ८ स्त्री, ९ चर्या, १० निषधा, ११. शय्या, १२ आक्रोश, १३ वध, १४ याचना, १५ अलाभ, १६ रोग, १७ तृण-स्पर्श १८ मल, १९ सत्कार-पुरस्कार, २० प्रज्ञा, २१ अज्ञान, २२ दर्शन।

इनमे दर्शन परीषह और प्रज्ञा परीषह—ये दो मार्ग से अच्यवन मे सहायक होते हैं और शेष बीस परीषह निर्जरा के लिए होते हैं।

परीषहो का स्वरूप और उनकी विजय के उपाय

१ क्षुधा-परीषह

मुनि भूख को सहन करे किन्तु उसे मिटाने के लिए पचन-पाचन आदि न करे।

मुनि निरवद्य आहार की एषणा करता है। आहार के न मिलने पर या थोडा मिलने पर भी वह अकाल और अयोग्य देश मे आहार-ग्रहण नही करता, छह आवश्यको की थोडी भी हानि नही करता, सदा ज्ञान-ध्यान और भावना मे लीन रहता है, अनेक बार अनशन, अवमौदर्य आदि करने से तथा नीरस भोजन के सेवन से जिसका शरीर सूख गया है, क्षुधा की वेदना होने पर भी जो उसकी चिन्ता नही करता और जो भिक्षा के अलाभ को भी अपने लिए मान लेता है वह क्षुधा परीषह पर विजय पा लेता है।

२ पिपासा-परीषह

मुनि प्यास को सहन करे किन्तु उसे शान्त करने के लिए सचित्त जल का सेवन न करे।

जो मुनि स्नान का सर्वथा त्याग करता है, जो अतिक्षार, अतिस्निग्ध, अतिरूक्ष और अत्यन्त विरुद्ध भोजन के द्वारा, तथा गर्मी, आतप-दाह, ज्वर और उपवास आदि के द्वारा तीव्र प्यास लगने पर सचित्त जल पीकर उसका प्रतिकार नही करता किन्तु उसे समभाव से सहता है, वह पिपासा परीपह पर विजय पा लेता है।

३ शीत-परीषह

मुनि शीत को सहन करे, किन्तु उसके निवारण के लिए अग्नि का

सिवन न करे।

जो मुनि वस्त्रो का त्यागी है, जो अनियतवासी है, जो वृक्षमूल, पर्वत और चतुष्पथ में वास करता है, जो वायु और हिम की ठड को समभाव से सहता है, जो न स्वय अग्नि जलाता है और न दूसरो द्वारा जलाई गई अग्नि का सेवन करता है, जो जीर्ण-वस्त्र हो जाने पर भी शीत से वचने के लिए अकल्पनीय वस्त्रो को ग्रहण नही करता, वह शीत-परीषह पर विजय पा लेता है।

४ उष्ण-परीषह

मुनि गर्मी को सहन करे किन्तु उसके निवारण के लिए जलावगाहन, स्नान, पखे से हवा लेने, छत्र धारण करने की इच्छा न करे।

जो मुनि वायु और जल-रहित प्रदेश मे पत्रो से रहित सूखे वृक्ष के नीचे या पर्वतो की गुफाओ मे ग्रीष्म ऋतु मे ध्यान करता है, असाध्य पित्तोत्पत्ति के कारण जिसके अन्तर्दाह उत्पन्न हो जाता है, दावानल के दाह जैसी गर्म वायु से जिसका कठ सूख जाता है, फिर भी जो उसके प्रतिकार के लिए (सचित्त) आम्रपानक आदि का स्मरण नही करता, गर्मी से अत्यन्त तप्त होने पर भी जलावगाह, स्नान, व्यजन आदि की इच्छा नही करता और जो आतप से वचने के लिए छत्र आदि भी धारण नही करता किन्तु गर्मी को समभाव से सहता है, वह उष्ण-परीषह पर विजय पा लेता है।

५ दश-मशक-परीषह

मुनि दश-मशक आदि के द्वारा काटे जाने पर वेदना को सहन करे कन्तु उसके निवारण के लिए दश-मशको को सत्रस्त न करे, मन मे भी उनके प्रति द्वेष न लाए, उनकी उपेक्षा करे पर हनन न करे।

दश-मशक, कीडे, मकोडे, मत्कुण, विच्छु आदि के काटने पर भी जो स्थान को नही छोडता, दशमशक को हटाने के लिए धुए या पखे का प्रयोग नहीं करता, उन्हें वाधा नही पहुचाता, वह दश-मशक-परीपह पर विजय पा लेता है।

६ अचेल-परीषह्

मुनि अचेल परीषह् को सहन करे। 'वस्त्र फट गए हैं इसलिए मैं अचेल हो जाऊगा अथवा वस्त्र मिलने पर फिर मैं सचेल हो जाऊगा'—ऐसा न सोचे, दीन और हर्ष दोनो प्रकार का भाव न लाए।

श्वेताम्बर ग्रन्थो मे 'अचेल' परीषह् का उल्लेख है और दिगम्बर ग्रन्थो मे 'नागन्य' परीषह् का।

अचेल के दो अर्थ है—नागन्य और फटे हुए तथा अल्प मूल्य वाले वस्त्र। जिन काल्पिक मुनि नग्न रहते हैं और स्थविर काल्पिक मुनि फटे हुए या अल्प मूल्य वाले वस्त्र धारण करते हैं। मुनि अल्प मूल्य वाले, खडित तथा मैले वस्त्र धारण करे। अपने मनोनुकूल वस्त्र न मिलने पर दीन न वने, 'कभी वैसे मिल जाएगे,' ऐसा विचार कर हर्षित भी न हो।

७ अरति-परिषह्

मुनि सयम के प्रति उत्पन्न अधैर्य को सहन करे। विहार करते हुए या एक स्थान मे रहते हुए अरति उत्पन्न हो जाए तो सम्यग् धर्म की आराधना से उसका निवारण करे।

अरति का अर्थ है—सयम मे अधृति। जो मुनि इन्द्रिय-विषयो के प्रति उदासीन रहता है, जो शून्यगृह, देव-मन्दिर, वृक्ष-कोटर, कन्दरा आदि मे रहता है, जो स्वाध्याय, ध्यान और भावना मे रति करता है, जो सभी प्राणियो के प्रति कारुणिक होता है, जो दृष्ट-श्रुत या अनुभूत भोगो का स्मरण नही करता, जो भोग-कथाओ का श्रवण नही करता—वह अरति-परीषह् पर विजय पा लेता है।

८ स्त्री-परीषह्

मुनि स्त्री सम्वन्धी परीषह् को सहन करे। स्त्रियो के प्रति आसक्त न हो, ब्रह्मचारी के लिए स्त्रिया सग हैं—लेप हैं—ऐसा मान उनसे सयम-जीवन का घात न होने दे। स्त्रिया अखड ब्रह्मचर्य मे वाधक हैं—ऐसा माने।

जो मुनि स्त्रियो के भ्रूविलास, नेत्र-विकार और शृगार आदि को देखकर मन में विकार उत्पन्न होने नही देता, जो अपने मन को विक्षप्त करनेवाली स्त्रियो की चेष्टाओ का चिन्तन नही करता, जो काम-बुद्धि से उन्हें नही देखता, जो सदा कच्छप की भाति इन्द्रियो और मन का सयमन करता है—वह स्त्री-परीषह पर विजय पा लेता है।

९ चर्या-परीषह

मुनि चर्या से उत्पन्न कष्ट को सहन करे। मुनि ममत्व न करे, गृहस्थो से निर्लिप्त रहे, अनिकेत रहता हुआ परिव्रजन करे।

जो मुनि चिरकाल तक गुरुकुल मे रहता है, बन्ध-मोक्ष आदि का मर्म जानता है, जो सयम के लिए, यतिजन की विनय-भक्ति के लिए तथा गुरु की आज्ञा से देशान्तर जाता है, जो वायु की तरह निसग होता है, जो काय-क्लेश को सहता है, जो देश-काल के अनुसार सयम के प्रति अविरुद्ध गमन करता है, जो कण्टक आदि की बाधाओ को बाधा नही मानता, जो गृहस्था-वस्था मे प्रयुक्त वाहन आदि का चिन्तन नही करता, जो अप्रतिवद्ध विहार होता है, जो ग्राम, नगर, कुल आदि के ममत्व मे नही बधता—वह चर्या-परीषह पर विजय पा लेता है।

१० निषधा-परीषह

मुनि निषधा से उत्पन्न कष्ट को सहन करे, राग-द्वेष-रहित हो, अशिष्ट-चेष्टाओ का वर्जन करता हुआ बैठे, किसी को त्रास न दे।

जो मुनि श्मशान, वन, पर्वतो की गुफाओ मे निवास करता है, जो सिंह-हाथी आदि के शब्दो को सुनकर भयभीत नही होता, जो नियतकाल के लिए वीरासन, कुक्कुटासन आदि आसन (निषधा) को ग्रहण करता है पर देव, तिर्यंच, मनुष्य और अचेतन पदार्थों से उत्पन्न उपसर्गो से विचलित नही होता—अपकार की शका से डरकर स्थान को नही छोडता और जो मत्र आदि के द्वारा किसी प्रकार का प्रतिकार नही करता—वह निषधा-परीषह पर विजय पा लेता है।

११ शय्या-परीषह

मुनि शय्या से उत्पन्न परीषह को सहन करे किन्तु उत्कृष्ट या निकृष्ट उपाश्रय को पाकर मर्यादा का अतिक्रमण न करे—हर्ष या शोक न लाए। एक रात मे क्या होना जाना है—यह सोचकर जो भी सुख-दु ख हो, उसे सहन करे।

जो मुनि ऊची, नीची, कठोर, ककर, बालू आदि से युक्त भूमि पर, एक करवट से लकडी-पत्थर की तरह, निश्चल सोता है, भूत-प्रेत आदि के द्वारा अनेक उपसर्ग किए जाने पर भी जो शरीर को चचल नही करता, सिंह आदि से आक्रान्त स्थान को भय से छोडकर नही जाता, सो सम-विषम आगन वाले धूल से भरे हुए अत्यन्त ठडे तथा अत्यन्त गर्म उपाश्रय को तथा मृदु-कठिन या ऊचा-नीचा सस्तारक पाकर उद्विग्न नही होता—वह शय्या-परीषह पर विजय पा लेता है।

१२ आक्रोश-परीषह

मुनि आक्रोश को सहन करे। जो गाली दे उसके प्रति क्रोध न करे। परुष, दारुण और प्रतिकूल वचन सुनकर भी मौन रहे, उसकी उपेक्षा करे, मन मे न लाए।

जो मुनि दुष्ट तथा अज्ञानी जनो द्वारा कहे गये कठोर तथा निन्दा के वचनों को सुनकर क्रोधित नही होता, जो प्रतिकार करने का सामर्थ्य रखने पर भी प्रतिकार नही करता, जो यह सोचता है कि—जो यह व्यक्ति कह रहा है वह यदि सत्य है तो यह मेरा उपकारी है, और यदि उसका कथन असत्य है तो मेरे क्रोध करने से क्या लाभ ?—वह आक्रोश-परीषह पर विजय पा लेता है।

१३ वध-परीषह

मुनि ताडना को सहन करे। 'आत्मा शरीर से भिन्न है, आत्मा का नाश नही होता'—ऐसा विचार करे।

जो मुनि शस्त्रास्त्रो से आहत होने पर भी द्वेष नही करता परन्तु शरीर और आत्मा के पार्थक्य का चिन्तन करता है, जो ताडना-तर्जना को अपने

कर्मों का विपाक मानता है, जो यह सोचता है—

आक्रुष्टोऽहं हतो नैव, हतो वा न द्विधा कृत ।
मारितो न हृतो धर्मो, मदीयोऽनेन बन्धुना ।'

इसने मुझे गाली दी—पीटा तो नही, इसने मुझे पीटा-मारा तो नही, इसने मुझे मारा पर मेरा धर्म तो नही छीना ।—वह वध-परीषह पर विजय पा लेता है ।

१४ याचना-परीषह

मुनि याचना से उत्पन्न लज्जा आदि के कष्टो को सहन करे। मुनि को प्रत्येक वस्तु याचित ही मिलती है। अपनी शालीनता के कारण उसे याचना करने मे लज्जा का अनुभव होता है परन्तु कार्य उपस्थित होने पर अपने धर्म-शरीर की रक्षा के लिए अवश्य याचना करे।

तपस्या के द्वारा शरीर सूख जाने पर, अस्थिपजर मात्र शरीर शेष रहने पर भी जो मुनि दीन वचन, मुख वैवर्ण्य आदि-आदि सज्ञाओ द्वारा भोजन आदि पदार्थों की याचना नही करता, वह याचना-परीषह पर विजय पा लेता है।

१५ अलाभ-परीषह

मुनि अलाभ को सहन करे। अभिलषित वस्तु की प्राप्ति न होने पर दीन न बने।

जो मुनि अनेक दिनो तक आहार की प्राप्ति होने पर भी मन मे खिन्न नही होता, जो लाभ से अलाभ अच्छा है—तप का हेतु है, ऐसा मानता है, जो न मिलने पर दीन नही होता, जो ऐसा सोचता है कि गृहस्थ के घर मे अनेक पदाथ होते हैं, वह उन्हे दे या न दे—यह उसकी अपनी इच्छा है—वह अलाभ-परीषह पर विजय पा लेता है।

१६ रोग-परीषह

मुनि रोग की वेदना को समभाव से सहन करे। दीन न बने। व्याधि से विचलित होती हुई प्रज्ञा को स्थिर बनाए और प्राप्त दुख को प्रसन्नता

से सहे।

जो मुनि शरीर को असुचि प्रधान, अत्राण और अनित्य मानता है, जो शरीर का परिकर्म नही करता, जो शरीर को सयम-पालन का साधन मानकर उसकी रक्षा के लिए अनासक्त भाव से भोजन करता है, जो कभी अपथ्य आहार के सेवन से रोग होने पर भी अधीर नही होता, जो रोग का उपशमन करने वाली लब्धियो से सम्पन्न होने पर भी, काम-निस्पृह होने के कारण, उनका प्रयोग नही करता, जो चिकित्सा को आवश्यकता होने पर शास्त्रोक्त विधि से वर्तन करता है—वह रोग-परीषह पर विजय पा लेता है।

मूल सूत्रो मे कहा है—'चिकित्सा का अभिनन्दन न करे।' प्रवचन सारोद्धार की वृत्ति मे लिखा है कि चिकित्सा की आवश्यकता होने पर शास्त्रोक्त विधि से वर्तन करे। किन्तु यह शास्त्रोक्त विधि क्या है ? इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नही है।

१७ तृण-स्पर्श-परीषह

मुनि तृण आदि के स्पर्श से उत्पन्न वेदना को सहन करे। उसकी चुभन और गर्मी से पीडित हो वस्त्र का सेवन न करे।

'मुनि चर्या, शय्या और निषद्या मे प्राणी-हिंसा का वर्जन करता हुआ सदा अप्रमत्त रहे और तृण, काटे आदि से उत्पन्न वेदना को समभाव से सहे।

'गच्छनिर्गत या गच्छवासी मुनि उन तृणो को कुछ गीली भूमि पर बिछाकर सस्तारक और उत्तरपट्टक को उस पर रखकर सोते है अथवा जिन मुनियो के वस्त्र चोरो ने अपहरण कर लिए हो वे मुनि अत्यन्त जीर्ण या छोटे से वस्त्र को उस बिछी हुई घास पर बिछाकर सोते हैं तब दर्भ के अत्यन्त तीक्ष्ण अग्रभाग से उनके शरीर मे पीडा उत्पन्न होती है। जो उस वेदना से अधीर नही होता, वह तृण-स्पर्श-परीषह पर विजय पा लेता है।

यह वस्त्र बिछाने की विधि भी उत्तरकालीन हो सकती है। मूल मे यह आशय प्राप्त नही है।

१८ मल-परीषह

मुनि मल, रज या ग्रीष्म के परिताप से शरीर के क्लिन्न हो जाने पर सुख के लिए विलाप न करे।

मुनि जीवन-पर्यन्त अस्नान व्रतधारी होता है। शरीर मे पसीना आने पर और उस पर धूल जम जाने पर भी नही खुजलाता, जो ऐसा विचार नही करता कि मेरा शरीर मल-सहित है और इसको मल-रहित (मैल से उत्पन्न दुर्गन्ध को दूर) करने के लिए स्नान की अभिलाषा नही करता—वह मल-परीषह पर विजय पा लेता है।

१९ सत्कार-पुरस्कार परीषह

मुनि सत्कार-पुरस्कार की इच्छा न करे। दूसरे को सम्मानित होते देख अनुताप न करे।

सत्कार का अर्थ है—प्रशसा करना और पुरस्कार का अर्थ है किसी कार्य मे किसी को प्रधान बनाना, परामर्श के योग्य बनाना। अन्य व्यक्तियो द्वारा सत्कार-पुरस्कार न किए जाने पर जो मुनि ऐसा विचार नही करता कि मैं चिर तपस्वी हू, मैंने अनेक बार प्रतिवादियो को शास्त्रार्थ मे पराजित किया है, फिर भी कोई मुनि मेरी भक्ति नही करता, आसन आदि नही देता, वन्दना नही करता। वे मिथ्यादृष्टि अच्छे हैं जो अपने पक्ष के अल्पशास्त्रज्ञ तपस्वी को या गृहस्थ को भी सर्वज्ञ की सम्भावना से सम्मानित करते हैं, पूजा करते हैं, परन्तु ये मेरे तत्त्वज्ञ साधु अपने प्रवचन की प्रभावना के लिए भी मुझ जैसे तपस्वी का सत्कार नही करते। जो तपस्वी होता है, उसकी देवता भी पूजा करते हैं—यह बात मिथ्या है। यदि यह बात मिथ्या नही है तो मेरे जैसे तपस्वियो की देव-पूजा-अर्चा क्यो नही करते? जो इस प्रकार दुर्ध्यान नही करता, वह सत्कार-पुरस्कार-परीषह पर विजय पा लेता है।

२० प्रज्ञा-परीषह

मुनि प्रज्ञा-परीषह को सहन करे। मनोज्ञ-प्रज्ञा होने पर भी गर्व न

करे। बुद्धि का अतिशय न होने पर भी दीन न बने, उसे कर्म का विपाक मानकर सहे।

प्रज्ञा का अर्थ है—बुद्धि का अतिशय। जो मुनि तर्क, व्याकरण, साहित्य, छन्द आदि विद्याओं में निपुण होने पर भी ज्ञान का मद नहीं करता, जो यह गर्व नहीं करता कि प्रवादी मेरे सामने से उसी प्रकार से भाग जाते हैं जिस प्रकार सिंह के शब्द को सुनकर हाथी। 'मैं कुछ नहीं जानता, मैं मूर्ख हू, मैं सबसे पराजित हू'—इस प्रकार के विचारों से जो संतप्त नहीं होता—वह प्रज्ञा-परीषह पर विजय पा लेता है।

२१. अज्ञान-परीषह

मुनि अज्ञान से उत्पन्न कष्ट को समभाव से सहे। मैं तपस्या, उपधान आदि विशद चर्या में विहरण करता हू, फिर भी मेरा छद्म (ज्ञानावरणीय कर्म) निवर्तित नहीं होता, ऐसा चिन्तन न करे।

'मैं मैथुन से निवृत्त हुआ, मैंने इन्द्रिय और मन का संवरण किया', 'यह सब निरर्थक है', क्योंकि 'धर्म कल्याणकारी है'—'यह मैं साक्षात् नहीं जानता'—मुनि ऐसा न सोचे।

जो मुनि सकल शास्त्रों में मैं शून्य हू—ऐसा सोच खेद नहीं करता वह अज्ञान-परीषह पर विजय पा लेता है।

२२ दर्शन-परीषह

मुनि दर्शन के परीषह को समभाव से सहे। अपनी दृष्टि को सम्यक् बनाए रखे।

मुनि ऐसा न सोचे कि 'परलोक नहीं है, तपस्वी की ऋद्धि भी नहीं है। मैं ठगा गया हू। जिन हुए थे, जिन हैं, अथवा जिन होंगे—ऐसा जो कहते हैं वे झूठ बोलते है।' क्रियावादियों के विचित्र मत को सुनकर भी जो सम्यग्-दर्शन से विचलित नहीं होता, जो आत्मा-परलोक आदि की विचरणा में मूढ नहीं होता—वह दर्शन-परीषह पर विजय पा लेता है।

●